सर्वार्थसिद्धि

सम्पादक

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक १३

श्रीमदाचार्यपूज्यपादविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

[श्रीमदाचार्यगृद्धपिच्छप्रणीतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तिः]

सम्पादक
पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९६ : विक्रम संवत् २०२७ : सन् १९७१
द्वितीय संस्करण : मूल्य १८.००

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फरवरी १९४४



भारतीय ज्ञानपीठ

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : S nskrit Grantha No. 13

SARVĀRTHASIDDHI

of

PŪJYAPĀDA

[The Commentary on Āchārya Gṛiddhapiccha's Tattwārtha Sūtra]

Edited by

Pt. Phoolchandra Siddhant Shastry

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṀVAT 2496 : V. SAṀVAT 2027 : 1971 A. D.
Secend Edition : Price Rs. 18/–

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAṀŚA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THESE RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

●

General Editors

Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.

Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

●

Published by

Bharatiya Jnanapitha

Head office : 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi–6

Publication office : Durgakund Road, Varanasi–5.

●

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000. 18th Febr. 1944

प्राथमिक

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्मका एक प्राचीनतम ग्रन्थ है और संस्कृतमें सूत्ररूप रचना द्वारा जैन सिद्धान्तका विधिवत् संक्षेपमें परिचय करानेवाला संभवतः सर्वप्रथम ग्रन्थ है। यह रचना अपने विषयकी इतनी सुन्दर हुई है कि आजतक दूसरा कोई ग्रन्थ उसकी तुलना नहीं कर पाया। इस ग्रन्थकी महिमा इससे भी प्रकट है कि इसका प्रचार जैन समाजके समस्त सम्प्रदायों—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदिमें समान रूपसे पाया जाता है। लोकप्रियतामें भी यह जैन साहित्यका अद्वितीय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थकी समय-समयपर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें उसकी देवनन्दी पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति सर्वप्राचीन मानी जाती है। इसका प्रकाशन इससे पूर्व अनेक बार हो चुका है। किन्तु प्राचीन प्रतियोंका समालोचनात्मक ढंगसे अध्ययन कर पाठ निश्चित करनेका प्रयास इससे पूर्व नहीं हो सका था। इस दिशामें पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीने जो यह प्रयत्न किया है उसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

ग्रन्थका सम्पादन व मुद्रण आदितः ज्ञानपीठसे प्रकाशनके लिए नहीं किया गया था, इसलिए इसकी सम्पादन-प्रणाली आदिमें इस मालाके सम्पादकोंका कोई हाथ नहीं रहा। पण्डितजी की प्रस्तावना आदि भी उनकी अपनी स्वतंत्रतासे लिखी और छापी गयी है। उसमें मल्लि तीर्थंकर, श्वेताम्बर आगमकी प्रामाणिकता आदि सम्बन्धी विचार पण्डितजीके अपने निजी हैं और पाठकोंको उन्हें उसी रूपसे देखना-समझना चाहिए। हमारी दृष्टिसे वे कथन यदि इस ग्रन्थमें न होते तो अच्छा था क्योंकि जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह रचना जैन समाज भरमें लोकप्रिय है, उसका एक सम्प्रदाय-विशेष सीमित क्षेत्र नहीं है। अतः उसी उदात्त भूमिका पर इस ग्रन्थको सदैव प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है। हमें आशा और भरोसा है कि पाठक उसी उदार भावनासे इस प्रकाशनका आदर और उपयोग करेंगे।

—हीरालाल जैन
—आ० ने० उपाध्याय
ग्रन्थमाला-सम्पादक

द्वितीय संस्करण

सर्वार्थसिद्धिका यह संस्करण विषय-सामग्रीकी दृष्टिसे प्रथम संस्करणका पुनर्मुद्रण है। प्रस्तुति आदिमें कुछ परिवर्तन किये गये हैं—

१. मूल तथा अनुवादमें पैराग्राफ दे दिये गये हैं, जिससे विषयको समझनेमें अधिक आसानी रहे।
२. मूल संस्कृतको ज्ञानपीठके अन्य संस्कृत-प्राकृत प्रकाशनोंकी तरह एकरूपता देनेका प्रयत्न किया गया है।
३. परिशिष्टमें आचार्य प्रभाचन्द्रकृत संस्कृत टिप्पण जोड़ दिये गये हैं, जो अब तक अप्रकाशित थे। पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने इनका इस संस्करणके लिए विशेष रूपसे सम्पादन किया है।

ग्रन्थमाला सम्पादक

दो शब्द

१ सम्पादनका कारण

सर्वार्थसिद्धिको सम्पादित होकर प्रकाशमें आनेमें अत्यधिक समय लगा है। लगभग आठ नौ वर्ष पूर्व विशेष वाचनके समय मेरे ध्यानमें यह आया कि सर्वार्थसिद्धिमें ऐसे कई स्थल हैं जिन्हें उसका मूल भाग माननेमें सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्यांश, पद या पदांश लिपिकारकी असावधानी या अन्य कारणसे किसी ग्रन्थका मूल भाग बन जाता है तब फिर उसे बिना आधारके पृथक् करनेमें काफी अड़चनका सामना करना पड़ता है। सर्वार्थसिद्धिके वाचनके समय भी मेरे सामने यह समस्या थी और इसीके फलस्वरूप इसके सम्पादनकी ओर मेरा झुकाव हुआ था।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य पूज्यपादने **तत्त्वार्थसूत्र** प्रथम अध्यायके **'निर्देशस्वामित्व'** और **'सत्संख्या'** इन दो सूत्रोंकी व्याख्या **षट्खण्डागम**के आधारसे की है। इसका विचार आगे चलकर प्रस्तावना-में हम स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर करनेवाले हैं। यहां केवल यह देखना है कि इन सूत्रोंकी व्याख्यामें कहीं कोई शिथिलता तो नहीं आने पायी और यदि शिथिलताके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो उसका कारण क्या है?

'निर्देशस्वामित्व-' सूत्रकी व्याख्या करते समय आचार्य **पूज्यपादने** चारों गतियोंके आश्रयसे सम्य-ग्दर्शनके स्वामीका निर्देश किया है। वहाँ तिर्यञ्चिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके अभावके समर्थनमें पूर्व मुद्रित प्रतियोंमें यह वाक्य उपलब्ध होता है—

'कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भको भवति। क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्तमभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु; द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिका-संभवात्। एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम्।'

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आगममें इस प्रकारके नियमका निर्देश है कि सम्यग्दृष्टि मर कर किसी भी गतिके स्त्रीवेदियोंमें उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु श्वेताम्बर आगम ज्ञाताधर्मकथा नामके छठवें अंगमें मल्लिनाथ तीर्थङ्करकी कथा[1] के प्रसंगसे बतलाया गया है कि मल्लिनाथ तीर्थङ्करने अपने पिछले महाबलके भवमें मायाचारके कारण [2]स्त्रीनामकर्म गोत्रको निष्पन्न किया जिससे वे तीर्थङ्करकी पर्यायमें स्त्री हुए। और इसी कारण पीछेके श्वेताम्बर टीका-कारोंने उक्त नियमका यह खुलासा किया है कि 'सम्यग्दष्टि मरकर स्त्री नहीं होता यह बाहुल्यकी अपेक्षा कहा है।'

यहाँ हमें इस कथाके सन्दर्भ पर विचार न कर केवल इतना ही देखना है कि यह स्त्री नामकर्म गोत्र क्या वस्तु है। क्या यह नौ नोकषायोंमेंसे स्त्रीवेद नामक नोकषाय है या इस द्वारा अङ्गोपाङ्गका निर्देश किया गया है? जब महाबलकी पर्यायमें इस कर्मका बन्ध होता है तब वे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु थे और सम्यग्दृष्टिके स्त्रीवेदका बन्ध नहीं होता ऐसा कर्मशास्त्रका नियम है। इसलिए यह बँधनेवाला कर्म स्त्रीवेद नामक नोकषाय तो हो नहीं सकता। रही अङ्गोपाङ्गकी बात सो एक तो अङ्गो-पाङ्गमें ऐसा भेद परिलक्षित नहीं होता। कदाचित् ऐसा भेद मान भी लिया जाय तो कर्मशास्त्रके नियमा-नुसार अशुभ अङ्गोपाङ्गका बन्ध प्रमत्त-संयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें होता है यह कहना कठिन है।

---

१. देखो अध्ययन ८। २. तए णं से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेणं इत्थिणामकम्मं गे यं विध्वंतिसु। ज्ञाता० पृ० ३१२।

इसलिए प्रस्तुत प्रकरणमें न तो ज्ञाताधर्मकथाकी इस कथाको आधार माना जा सकता है और न ही इस आधारसे श्वेताम्वर टीकाकारोंका यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता यह बाहुल्य की अपेक्षा कहा है।'

इतने विचारके बाद जब हम सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथन पर ध्यान देते हैं तो हमें उसमें सन्देह होता है। उसमें तिर्यञ्चिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन न होनेके हेतुका निर्देश किया गया है। यह तो स्पष्ट है कि जो मनुष्य तिर्यञ्चायुका बन्ध कर सम्यग्दृष्टि हो क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह उत्तम भोगभूमिके पुरुष-वेदी तिर्यञ्चोंमें ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यञ्चोंमें नहीं। किन्तु इसके समर्थनमें जो **'द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात्'** यह युक्ति दी गयी है वह न केवल लचर है अपि तु भ्रमोत्पादक भी है।

इस युक्तिके आधारसे पूरे वाक्यका यह अर्थ होता है कि तिर्यञ्च द्रव्यवेदवाली स्त्रियोंमें चूँकि क्षायिक सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है इसलिए क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्तम भोगभूमिके तिर्यञ्च पुरुषोंमें ही उत्पन्न होते हैं। अब थोड़ा बारीकीसे पूरे सन्दर्भ पर विचार कीजिए। जो प्रश्न है, एक तरहसे वही समाधान है। तिर्यञ्चिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता इसका विचार करना है। किन्तु उसके उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त था कि बद्धतिर्यञ्चायु मनुष्य यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तो वह मरकर उत्तम भोग-भूमिके तिर्यञ्च पुरुषोंमें ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम है वहाँ समर्थनमें **'द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिका-संभवात्'** इस हेतु कथनकी क्या आवश्यकता थी। इसीको कहते हैं वही प्रश्न और वही उत्तर।

दूसरे यहाँ **'द्रव्यवेदस्त्रीणां'** यह वाक्य रचना आगम परिपाटीके अनुकूल नहीं है अतएव भ्रमोत्पादक भी है, क्योंकि आगममें तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी और मनुष्य, मनुष्यिनी ऐसे भेद करके व्यवस्था की गयी है तथा इन संज्ञाओंका मूल आधार वेद नोकषायका उदय बतलाया गया है।

हमारे सामने यह प्रश्न था। हम बहुत कालसे इस विचारमें थे कि यह वाक्य ग्रन्थका मूलभाग है या कालान्तरमें उसका अङ्ग बना है। तात्त्विक विचारणाके बाद भी इसके निर्णयका मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थीं। तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी प्रतियोंका संकलन कर शंकास्थलोंका मुद्रित प्रतियोंसे मिलान करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली। यद्यपि सब प्रतियोंमें इस वाक्यका अभाव नहीं है पर उनमेंसे कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थीं जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है।

इसी सूत्रकी व्याख्यामें दूसरा वाक्य **'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव'** मुद्रित हुआ है। यहाँ मनुष्यिनियोंके प्रकरणसे यह वाक्य आता है। बतलाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियोंके ही तीनों सम्यग्दर्शनोंकी प्राप्ति सम्भव है अपर्याप्त मनुष्यिनियोंके नहीं। निश्चयतः मनुष्यिनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेदकी मुख्यतासे ही कहा है यह द्योतित करनेके लिए इस वाक्यकी सृष्टि की गयी है।

किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आगममें 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य गतिके जीवके लिए ही आता है। जो लोकमें नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दोंके द्वारा व्यवहृत होता है, आगमके अनुसार मनुष्यिनी शब्दका अर्थ उससे भिन्न है। ऐसी अवस्थामें उक्त वाक्यको मूलका मान लेने पर मनुष्यिनी शब्दके दो अर्थ मानने पड़ने हैं। उसका एक अर्थ तो स्त्रीवेदका उदयवाला मनुष्य जीव होता ही है और दूसरा अर्थ महिला मानना पड़ता है चाहे उसके स्त्रीवेदका उदय हो या न हो।

ऐसी महिलाको भी जिसके स्त्रीवेदका उदय होता है मनुष्यिनी कहा जा सकता है और उसके क्षायिक सम्यग्दर्शनका निषेध करनेके लिए यह वाक्य आया है, यदि यह कहा जाय तो इस कथनमें कुछ भी तथ्यांश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि आगममें मनुष्यिनी शब्द भाववेदकी मुख्यतासे ही प्रयुक्त हुआ है, अतएव वह केवल अपने अर्थमें ही चरितार्थ है। अन्य आपत्तियोंका विधि-निषेध करना उसका काम नहीं है।

हमने इस वाक्य पर भी पर्याप्त ऊहापोह कर सब प्रतियोंमें इसका अनुसन्धान किया है। प्रतियोंके मिलान करनेसे ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सब प्रतियोंमें नहीं उपलब्ध होता।

इसी प्रकार एक वाक्य 'सत्संख्या'—इत्यादि सूत्रकी व्याख्याके प्रसंगसे लेश्या प्रकरणमें आता है। जो इस प्रकार है—

'द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते, इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव। अथवा येषां मते सासादनएकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया पञ्चैव।'

प्रकरण कृष्ण आदि लेश्यावाले सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके स्पर्शनका है। तिर्यंच और मनुष्य सासादनसम्यग्दृष्टि जीव मर कर नरकमें नहीं उत्पन्न होते। जो देवगतिमें जाते हैं या देवगतिसे आते हैं उनके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ नहीं होतीं। नरकसे आनेवालोंके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ और सासादनसम्यग्दर्शन दोनों होते हैं। इसी अपेक्षासे यहाँ कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन क्रमसे कुछ कम पाँच बटे चौदह राजु, कुछ कम चार बटे चौदह राजु और कुछ कम दो बटे चौदह राजु कहा गया है।

यह **षट्खण्डागमका** अभिमत है। सर्वार्थसिद्धिमें सत्, संख्या और क्षेत्र आदि अनुयोगद्वारोंका निरूपण इसी अभिप्रायसे किया गया है। **कषायप्राभृतका** अभिमत इससे भिन्न है। उसके मतसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव मर कर एकेन्द्रियोंमें भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस अपेक्षासे कृष्ण लेश्यामें सासादनसम्यग्दृष्टिका कुछ कम बारह बटे चौदह राजु स्पर्शन भले ही बन जावे, परन्तु **षट्खण्डागमके** अभिप्रायसे इन लेश्याओं में यह स्पर्शन उपलब्ध नहीं होता।

हमारे सामने यह प्रश्न था। सर्वार्थसिद्धिमें जब भी हमारा ध्यान **'द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते'** इत्यादि वाक्य पर जाता था, हम विचारमें पड़ जाते थे। प्रश्न होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकारको मतभेदकी चर्चा करना इष्ट था तो सत्प्ररूपणामें उन्होंने इस मतभेदका निर्देश क्यों नहीं किया? अनेक प्रकारसे इस वाक्यके समाधानकी ओर ध्यान दिया पर समुचित समाधानके अभावमें चुप रहना पड़ा। यह विचार अवश्य होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकी प्राचीन प्रतियोंका आश्रय लिया जाय तो सम्भव है उनमें यह वाक्य न हो। हमें यह संकेत करते हुए प्रसन्नता होती है कि हमारी धारणा ठीक निकली। मूडबिद्रीसे हमें जो ताड़पत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हुईं उनमें यह वाक्य नहीं है। इस आधारसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह वाक्य भी सर्वार्थसिद्धिका नहीं है।

सर्व-प्रथम सर्वार्थसिद्धिमूलका मुद्रण **कल्लप्पा भरमप्पा निटवेने कोल्हापुरसे** किया था। दूसरा मुद्रण **श्री मोतीचन्द्र गोतमचन्द्र** कोठारी द्वारा सम्पादित होकर **सोलापुरसे** हुआ है। तथा तीसरी बार श्रीमान् **पं० वंशीधरजी सोलापुरवालोंने** सम्पादित कर इसे प्रकाशित किया है। पण्डितजी ने इसके सम्पादित करनेमें पर्याप्त श्रम किया है और अन्य संस्करणोंकी अपेक्षा यह संस्करण अधिक शुद्ध है। फिर भी जिन महत्त्वपूर्ण शंकास्थलोंकी ओर हमने पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है वे उस संस्करणमें भी यथास्थान अवस्थित हैं।

सर्वार्थसिद्धिके नीचे जो टिप्पणियाँ उद्धृत की गयी हैं वे भी कई स्थलों पर भ्रमोत्पादक हैं। उदाहरणार्थ कालप्ररूपणामें अनाहारकोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टियोंका उत्कृष्ट काल आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण बतलाया गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए टिप्पणकार लिखते हैं—

'आवलिकाया असंख्येयभाग इति—स च आवलिकाया असंख्येयभागः समयमात्रलक्षणत्वात् एकसमय एव स्यात्, आवल्याः असंख्यातसमयलक्षणत्वात्।'

इसका तात्पर्य यह है कि वह आवलिका असंख्यातवाँ भाग एक समय लक्षणवाला होनेसे एक समय प्रमाण ही होता है, क्योंकि एक आवलिमें असंख्यात समय होते हैं, अतः उसका असंख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा।

स्पष्ट है कि यदि यहाँ आचार्योंको एक समय काल इष्ट होता तो वे इसका निर्देश 'एक समय' शब्द द्वारा ही करते। जीवस्थान कालानुयोगद्वारमें आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण कालका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भाव यह है कि कई सासादनसम्यग्दृष्टि दो विग्रह करके दो समय तक अनाहारक रहे और तीसरे समयमें अन्य सासादनसम्यग्दृष्टि दो विग्रह करके अनाहारक हुए। इस प्रकार निरन्तर आवलिके असंख्यातवें

भाग बार जीव दो-दो समय तक अनाहारक होते रहे। इसलिए आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण काण्डकोंको दो से गुणा करने पर अनाहारक सासादनसम्यग्दृष्टियोंका कुल काल उपलब्ध होता है।[1]

अधिकतर हस्तलिखित प्रतियोंमें यह देखा जाता है कि पीछेसे अनेक स्थलों पर विषयको स्पष्ट करनेके लिए अन्य ग्रन्थोंके श्लोक, गाथा, वाक्यांश या स्वतन्त्र टिप्पणियाँ जोड़ दी जाती हैं और कालान्तरमें वे ग्रन्थका अंग बन जाती हैं। सर्वार्थसिद्धिमें यह व्यत्यय बहुत ही बड़ी मात्रामें हुआ है। ऐसे तीन उदाहरण तो हम इस वक्तव्यके प्रारम्भमें ही उपस्थित कर आये हैं। कहना न होगा कि यह किसी टिप्पणकारकी सूझ है और उसने अपनी दृष्टिसे विषयको स्पष्ट करनेके लिए पहले वे वाक्य फुटनोटके रूपमें हासियामें लिखे होंगे और आगे चलकर उसपर-से दूसरी प्रति तैयार करते समय वे ही मूल ग्रन्थके अंग बन गये होंगे। इसके सिवा आगे भी ऐसे कई वाक्यांश या गाथाएँ मिली हैं जो अधिकतर हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं होतीं और जिन्हें दूर कर देनेसे प्रकरणकी कुछ भी हानि नहीं होती। यहाँ हम कुछ ऐसे उपयोगी वाक्यांशोंके दो-तीन उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं जो प्राचीन संस्करणोंमें थे और इस संस्करणमें-से अलग करने पड़े हैं—

१. कुछ प्रतियोंमें तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें **'घनं च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थः'** आदि पाठ उपलब्ध होता है। अब तककी मुद्रित प्रतियोंमें भी यह पाठ प्रकाशित हुआ है। हमारे सामने जो प्रतियाँ थीं उनमें से अधिकतर प्रतियोंमें यह पाठ नहीं है और वृत्तिको देखते हुए वह वृत्तिकारका प्रतीत भी नहीं होता, इसलिए इस पाठको ऊपर न देकर नीचे टिप्पणीमें दिखा दिया है।

२. नौवें अध्यायके नौवें सूत्रके मलपरीषहके व्याख्यानके अन्तमें **'केशलुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेद-सहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्।'** यह वाक्य मुद्रित प्रतियोंमें उपलब्ध होता है। किन्तु हमारे सामने जो हस्तलिखित प्रतियाँ थीं उनमें यह वाक्य नहीं पाया जाता। वाक्य-रचनाको देखते हुए यह सर्वार्थसिद्धिकारका प्रतीत भी नहीं होता। तथा किसी परीषहका स्वरूपनिर्देश करनेके बाद सर्वार्थसिद्धिमें पुनः उस परीषहके सम्बन्धमें विशेष स्पष्टीकरण करनेकी परिपाटी भी नहीं दिखाई देती, इसलिए हमने इस वाक्यको मूलमें न देकर टिप्पणीमें अलगसे दिखा दिया है।

२ प्रस्तुत संस्करणमें स्वीकृत पाठकी विशेषता

यह हम पहले ही निर्देश कर आये हैं कि प्रस्तुत संस्करणके पहले सर्वार्थसिद्धिके अनेक संस्करण प्रकाशमें आ चुके थे। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत संस्करणके सम्पादनके समय किसी पाठको स्वीकार करने या अस्वीकार करनेमें हमारे सामने बड़ी कठिनाई रही है। साधारणतः हमने इस बातका ध्यान रखा है कि मुद्रित प्रतियोंमें जो पाठ उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम उन्हें ही प्रमुखता दी जाय। किन्तु इस नियमका हम सर्वत्र पालन नहीं कर सके। यदि हमें उनसे उपयुक्त पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध हुए तो उन्हें स्वीकार करनेमें हमने संकोच नहीं किया। यहाँ तुलनात्मक ढंगसे मात्र प्रथम अध्यायके कुछ ऐसे पाठ दे रहे हैं जिनसे उनका महत्त्व पाठकोंके ध्यानमें आ जाय।

पृ०	पं०	पुरानी मुद्रित प्रति	प्रस्तुत संस्करण
३	३	—वत्। एवं व्यस्तज्ञाना—	—वत् व्यस्तं ज्ञाना—
६	१	स्वयं पश्यति दृश्यतेऽनेनेति	पश्यति दृश्यतेऽनेन
६	१	ज्ञप्तिमात्रं	ज्ञातिमात्रं
१७	४	पुरुषाकारा—	पुरुषकारा—
१८	१	—र्थानामजीवानां नामा—	—र्थानां नामा—
१९	१	—विधिना नामशब्दा—	—विधिना शब्दा—

१. देखो, जीवस्थान पु० ४, पृ० ४३५।

२०	१	तत्त्वं प्रमाणेभ्यो	तत्त्वं प्रमाणाभ्याम्
२९	६	–निर्देशः । प्रशंसा–	–निर्देशः । स प्रशंसा–
३०	२	संक्षेपरुचयः । अपरे	संक्षेपरुचयः । केचित् विस्तररुचयः । अपरे
३४	१	द्विविधा सामान्येन तावत्	द्विविधाः सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत्
४४	५	–संख्येयभागः	–संख्येया भागाः
४९	७	–स्पृष्टः अष्टौ नव चतु–	स्पृष्टः अष्टौ चतु–
५०	३	–ख्येयभागः स्पृष्टः । सासादन–सम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोनाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयत–	–ख्येयभागः । असंयत–
५९	२	–ख्येयः कालः । वन–	–ख्येया लोकाः । वन–
६४	११	–ज्ञिनां मिथ्यादृष्टेर्नाना–	–ज्ञिनां नाना–
७१	१०	–भ्यधिके । चतुर्णा–	–भ्यधिके । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । चतुर्णा–
८३	७	–भागा असंख्येया उत्स–	–भागोऽसंख्येयासंख्येया उत्स–
८८	७	–संयता संख्ये–	–संयता असंख्ये–
८९	५	–भावः । इन्द्रियं प्रत्युच्यते । पञ्चेन्द्रियाद्येकेन्द्रियान्ता उत्तरोत्तरं बहवः । पञ्चे–	–भावः । पञ्चे–
८९	७	–भावः कायं प्रत्युच्यते । सर्वतस्तेजः–कायिका अल्पाः । ततो बहवः पृथिवी–कायिकाः । ततोऽप्यप्कायिकाः । ततो वातकायिकाः । सर्वतोऽनन्तगुणा वन–स्पतयः । त्रस–	–भावः । त्रस–
९०	६	–दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति–	–दृष्टयोऽनन्तगुणाः विभंगज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति–
९०	९	–यताः संख्ये–	–यताः असंख्ये–
९०	९	–ष्टयः संख्ये–	–ष्टयः असंख्ये–
९१	५	दृष्टयोऽसंख्ये–	–दृष्टयः संख्येय–
९१	१२	–संयता संख्ये–	–संयता असंख्ये–
९२	१	–दृष्टयः संख्ये–	–दृष्टयोऽसंख्ये–
९२	२	–दृष्टयोऽसंख्ये	–दृष्टयः संख्ये–
९२	७	–यताः संख्ये–	–यताः असंख्ये–
९२	९	–यताः संख्ये–	–यताः असंख्ये–
९२	१०	–बहुत्वम् । विपक्षे एकैक–गुणस्थानग्रहणात् । संज्ञा–	–बहुत्वम् । संज्ञा–

९३	११	–स्वमर्थान्मन्यते	–स्वमर्थो मन्यते
९४	१	अनेनेति तत्	अनेन तत्
९८	१	–ल्पाज्ञानभावः अज्ञाननाशो	–ल्पाज्ञाननाशो
९८	३	–धिगमे अन्य–	–धिगमे च अन्य–
९८	५	हेतुः तत्स्वरूप–	हेतुः स्वस्वरूप–
१००	१	–त्यर्थः उपमानार्थापत्त्यादीना–मत्रैवान्तर्भावादुक्तस्य	–त्यर्थः । उक्तस्य
१०३	३	–ज्ञानमपि प्रति	–ज्ञानमक्षमेव प्रति
१०४	१	एवं प्रसक्त्या आप्तस्य	एवं सति आप्तस्य
१०७	२	संज्ञाः । सम–	संज्ञाः । सम–
१०७	४	नातिवर्तत इति	नातिवर्तन्त इति
११०	१	–र्गतं करणमित्यु–	–र्गतं करणमन्तःकरणमित्यु–
१११	६	पताकेति ।	पताका वेति ।
१११	७	अपैतस्य	अवेतस्य
११३	७	बहुषु बहुविधेष्वपि	बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि
११७	३	द्वित्रिसिक्तः	द्वित्रासिक्तः
११७	५	द्वित्र्यादिषु	द्वित्रादिषु
१२०	५	प्रतीत्या व्यु–	प्रतीत्य व्यु
१३१	३	ताभ्याम् । तयोः	ताभ्यां विशुद्धचप्रतिपाताभ्याम् । तयोः
१३४	१०	नारूपेष्विति	नारूपिष्विति
१४०	१	–ज्ञानमवध्यज्ञानं	–ज्ञानं विभंगज्ञानं
१४०	८	–प्रवणप्रयोगो	–प्रवणः प्रयोगो

३ प्रति परिचय

और भी ऐसी अनेक कई बातें थीं जिनके कारण हमने कई प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसे पुनः सम्पादित करनेका निश्चय किया इसके लिए हमने मूडबिद्रीकी दो ताडपत्रीय प्रतियाँ, दिल्ली भाण्डारसे दो हस्तलिखित प्रतियाँ और जैन सिद्धान्तभवन आरासे एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। मुद्रित संस्करणोंमें से हमारे सामने श्री पं० कल्लप्पा भरमप्पा निटवे द्वारा सम्पादित और श्री पं० वंशीधरजी सोलापुर द्वारा सम्पादित प्रतियाँ थीं। इस काममें मूडबिद्रीकी एक ताडपत्रीय प्रति और दिल्ली भाण्डारकी एक हस्तलिखित प्रति विशेष उपयोगी सिद्ध हुईं। अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा ये अधिक शुद्ध थीं। फिर भी आदर्श प्रतिके रूपमें हम किसी एक को मुख्य मानकर न चल सके। हम यह तो नहीं कह सकते कि सर्वार्थसिद्धिका प्रस्तुत संस्करण सब दृष्टियोंसे अन्तिम है फिर भी इसे सम्पादित करते समय इस बातका ध्यान अवश्य रखा गया है कि जहाँ तक बने इसे अधिक परिशुद्ध और मूलग्राही बनाया जाय।

प्रतियोंका परिचय देनेके पहले हम इस बातको स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिको सम्पादित होकर प्रकाशमें आनेमें आवश्यकतासे अधिक समय लगा है। इतने लम्बे कालके भीतर हमें अनेक बार गृह-परिवर्तन करना पड़ा है और भी कई अड़चनें आगी हैं। इस कारण हम अपने सब कागजात सुरक्षित न रख सके। ऐसे कई उपयोगी कागज पत्र हम गँवा बैठे जिनके न रहने से हमारी बड़ी हानि हुई है। उन कागज-पत्रोंमें प्रतिपरिचय भी था, इसलिए प्रतियोंका जो पूरा परिचय हमने लिख रखा था वह तो इस समय हमारे सामने नहीं है। वे प्रतियाँ भी हमारे सामने नहीं हैं जिनके आधारसे हमने यह कार्य किया है। फिर भी

हमारे मित्र श्रीयुक्त पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्री और पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य दिल्ली की सत्कृपासे उक्त स्थानोंकी प्रतियोंका जो परिचय हमें उपलब्ध हुआ है वह हम यहाँ दे रहे हैं—

(१) ता०—यह मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र ११६ हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमें पंक्ति १० और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर लगभग ७१ हैं। प्रति शुद्ध और अच्छी हालतमें है। सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण कुन्दकुन्दान्वयके आ० वसुन्धरने भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा शालि० शक १५५१ विलम्बि संवत्सरके दिन इसकी लिपि समाप्त की थी। हमारे सामने उपस्थित प्रतियोंमें यह सबसे अधिक प्राचीन थी। इसका संकेताक्षर ता० है।

(२) ना०—यह भी मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र १०१ हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमें पंक्ति ९ और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर लगभग १०७ हैं। प्रति शुद्ध और अच्छी अवस्थामें है। इसमें लिपिकर्ता तथा लिपिकालका निर्देश नहीं है। इसका संकेताक्षर ना० है।

(३) दि० १—यह श्री लाला हरसुखराय सुगनचन्दजीके नये मन्दिरमें स्थित दि० जैन सरस्वती भाण्डार धर्मपुरा दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र संख्या २०१ है। प्रत्येक पत्रमें १८ पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ३३ अक्षर हैं। पत्रकी लम्बाई ११ इंच और चौड़ाई ५ इंच है। चारों ओर एक-एक इंच हासिया छोड़कर बीचमें प्रतिलिपि की गयी है। कागज पुष्ट है, अक्षर भी बड़े सुन्दर हैं जो बिना किसी कष्टके आसानीसे पढ़े जाते हैं। लेखनकार्य संवत् १७५२ आषाढ़ सुदि ११ गुरुवारको समाप्त हुआ था। प्रतिके अन्तमें यह प्रशस्ति उपलब्ध होती है—

'प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं वरविग्रहरूपरञ्जितसुरेन्द्रं। सद्‌गुणसुधासमुद्रं वक्ष्ये सस्तां प्रशस्तिमहां ॥ १ ॥ जगत्सारे हि सारेऽस्मिन्नहिंसाजलसागरे। नगरे नागराकीर्णे विस्तीर्णापणपण्यके ॥ २ ॥ छ ॥ संवत् १७५२ वर्षे आषाढ़ सुदि ११ गुरौ लिषायिताध्यात्मरतपरसाशेषज्ञानावरणीयक्षयार्थं लिखितं।'

इसका संकेताक्षर दि० १ है।

(४) दि० २—यह भी पूर्वोक्त स्थानकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र संख्या १११ है। प्रत्येक पत्रमें १२ पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ५० अक्षर हैं। मात्र प्रथम और अन्तिम पत्रमें पंक्ति संख्या कम है। पत्रकी लम्बाई ११। इंच और चौड़ाई ५ इंच है। अगल-बगलमें सवा इंच और ऊपर-नीचे पौन इंच हाँसिया छोड़कर प्रतिलिपि की गयी है। प्रतिके अन्तमें आये हुए लेखसे विदित होता है कि यह प्रति सं० १८७५ आश्विन वदि १४ मंगलवारको लिखकर समाप्त हुई थी। लेख इस प्रकार है—

'संवत् १८७५ मासोत्तममासे अश्विनीमासे कृष्णपक्षे तिथौ च शुभ चतुर्दशी भूमिवासरेण लिखितं जैसिंहपुरामध्ये पिरागदास मोहाका जैनी भाई।'

इस प्रतिके देखनेसे विदित होता है कि यह सम्भवतः दि० १ के आधारसे ही लिखी गयी होगी। प्रतिकार श्री पिरागदास जी जैन हैं और नरसिंहपुरा (नयी दिल्ली) जिन मन्दिरमें बैठकर यह लिखकर तैयार हुई है। इसका संकेताक्षर दि० २ है।

इन प्रतियोंके सिवा पाँचवीं प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। जो प्रति वाचनके समय उपयोगमें ली गयी है। तथा मुद्रणके समय मध्यप्रदेश सागर जिलाके अन्तर्गत खिमलासा गाँवकी प्रति भी सामने रही है। यह गाँव पहले समृद्धिशाली नगर रहा है। यह बीना इटावासे मालथौनको जानेवाली सड़कपर स्थित है और बीना इटावासे लगभग १२ मील दूर है। प्राचीन उल्लेखोंसे विदित होता है कि इसका प्राचीन नाम क्षेमोल्लास है। खिमलासा उसीका अपभ्रंश नाम है। नगरके चारों ओर परकोटा और खण्डहर प्राचीनकालीन नगरकी समृद्धिके साक्षी हैं। यहाँका जिनमन्दिर दर्शनीय है। इसमें एक सरस्वतीभवन है। जिसमें अनेक ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ अब भी मौजूद हैं।

४ प्रकाशनमें ढिलाईका कारण

सर्वप्रथम इसका सम्पादन हमने स्वतन्त्र भावसे किया था। सम्पादनमें लगनेवाली आवश्यक सामग्री हमें स्वयं जुटानी पड़ी थी। एक बार कार्यके चल निकलने पर हमें आशा थी कि हम इसे अतिशीघ्र प्रकाशमें ले आवेंगे। एक दो साहित्यिक संस्थाएँ इसके प्रकाशनके लिए प्रस्तुत भी थीं परन्तु कई प्रतियोंके आधारसे मूलका मिलान कर टिप्पण लेना और अनुवाद करना जितने जल्दी हम सोचते थे उतने जल्दी कर नहीं सके। परिणाम स्वरूप वह काम आवश्यकतासे अधिक पिछड़ता गया। इसी बीच वि० सं० २००३ में श्री पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीकी सेवाओंके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना की गयी और सोचा गया कि सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालाकी ओरसे किया जाय। तदनुसार श्री भार्गव भूषण प्रेस में यह मुद्रणके लिए दे दी गयी। किन्तु प्रेसकी ढिलाई और ग्रन्थमालाके सामने उत्तरोत्तर दूसरे कार्योंके आते रहनेके कारण इसके प्रकाशनमें काफी समय लग गया।

५ भारतीय ज्ञानपीठ

इस साल किसी तरह हम इसके मुद्रणका कार्य पूरा करनेकी स्थितिमें आये ही थे कि कई ऐसी आर्थिक व दूसरी अड़चनें ग्रन्थमालाके सामने उठ खड़ी हुईं जिनको ध्यानमें रखकर ग्रन्थमालाने मेरी सम्मतिसे इसका प्रकाशन रोक दिया और मुझे यह अधिकार दिया कि इस कार्यको पूरा करनेका उत्तरदायित्व यदि भारतीय ज्ञानपीठ ले सके तो उचित आधारों पर यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठको साभार सौंप दिया जाय। ग्रन्थमालाकी इस मनसाको ध्यानमें रखकर मैंने भारतीय ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्रीमान् पं० अयोध्याप्रसादजी गोयलीयसे इस सम्बन्धमें बातचीत की। गोयलीयजीने एक ही उत्तर दिया कि अर्थाभाव या दूसरे किसी कारणसे यदि सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनमें श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला कठिनाई अनुभव करती है तो भारतीय ज्ञानपीठ उसे यों ही अप्रकाशित स्थितिमें नहीं पड़ा रहने देगा। वह मुद्रण होनेके बाद शेष रहे कार्यको तो पूरा करायेगा ही साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाका इसपर जो व्यय हुआ है उसे भी वह सानन्द लौटा देगा। साधारणतः बातचीतके पहले भारतीय ज्ञानपीठसे यह कार्य करा लेना हम बहुत कठिन मानते थे, क्योंकि उसके प्रकाशनोंका जो क्रम और विशेषता है उसका सर्वार्थसिद्धिके मुद्रित फार्मोंमें हमें बहुत कुछ अंशोंमें अभाव सा दिखाई देता है। किन्तु हमें यहाँ यह संकेत करते हुए परम प्रसन्नता होती है कि ऐसी कोई बात इसके बीच में बाधक सिद्ध नहीं हुई। इससे हमें न केवल श्री गोयलीयजी के उदार अन्तःकरणका परिचय मिला अपि तु भारतीय ज्ञानपीठके संचालनमें जिस विशाल दृष्टिकोणका आश्रय लिया जाता है उसका यह एक प्रांजल उदाहरण है।

६ अन्य हितैषियोंसे

सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हुआ है यह देख कर हमारे कतिपय मित्रों और हितैषियोंको, जिन्होंने इसके प्रकाशनमें ग्रन्थमालाको आर्थिक व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचायी है, अचरज होगा। परन्तु यह बहुत ही छोटा प्रश्न है कि इस ग्रन्थका प्रकाशन किस संस्थासे हो रहा है। उनके देखनेकी बात तो केवल इतनी-सी है कि उन्होंने साहित्यकी श्रीवृद्धिके लिए जो धन या दूसरे प्रकार की सहायता दी है उसका ठीक तरह से उपयोग हो रहा है या नहीं। साधारणतः प्रबन्ध और कार्यकर्ताओंकी सुविधाकी दृष्टिसे ही अलग-अलग संस्थाओंकी स्थापना की जाती है। परन्तु हैं वे सब एक ही महावृक्षकी शाखा-प्रशाखाएँ। अमुक फल अमुक शाखामें लगा और अमुक फल अमुक शाखामें यह महत्त्वकी बात नहीं है। महत्त्वकी बात तो यह है कि उस महावृक्षकी हर एक शाखा-प्रशाखा तथा दूसरे अवयव अपने-अपने स्थानमें उचित कार्य कर रहे हैं या नहीं। नाम रूपका आग्रह जैन परम्पराको न कभी इष्ट रहा है और न रहना चाहिए। केवल व्यवहारके संचालन हेतु इसको स्थान दिया जाता है। इसलिए सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन क्या वर्णी ग्रन्थमालासे हुआ क्या भारतीय ज्ञानपीठसे दोनों चीजें एक हैं।

७ आभार प्रदर्शन

फिर भी यहाँ कई दृष्टियोंसे हमें अपने सहयोगियों, मित्रों व हितैषियोंके प्रति आभारस्वरूप दो शब्द अंकित कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यह एक निश्चित सी बात है कि जैन समाजका ध्यान जैन साहित्यके प्रकाशनकी ओर अभी उतना नहीं गया है जितना कि जाना चाहिए था। प्राचीन कालमें मन्दिर प्रतिष्ठा और शास्त्रोंको लिपिबद्ध कराकर यत्र तत्र प्रतिष्ठित करना ये दोनों कार्य समान माने जाते थे। अभी तक शास्त्रोंकी रक्षा इसी पद्धतिसे होती आयी है। हमारे पूर्वज चाहे उन शास्त्रोंके ज्ञाता हों चाहे न हों किन्तु वे शास्त्रों की प्रतिलिपि करा कर उनकी रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे और इस कार्यमें प्रयत्नशील भी रहते थे, किन्तु जबसे मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ है तबसे एक तरहसे समाजने इस ओरसे अपनी आँख ही मूंद ली है। अब प्रतिलिपि कराना तो दूर रहा वे उनकी एक-एक मुद्रित प्रति निछावर देकर खरीदनेमें भी हिचकिचाने लगे हैं। इस मदमें व्यक्तिगत खर्च करनेकी बातको तो छोड़ो, वे सार्वजनिक धनसे भी यह कार्य सम्पन्न नहीं करना चाहते हैं जब कि वे इस धनका उपयोग दूसरे दिखावटी और अस्थायी कार्योंमें करते रहते हैं। उनका तर्क है कि इतने बड़े ग्रन्थोंको हमारे यहाँ समझनेवाला ही कौन है? हम उनको मन्दिरमें रख कर क्या करेंगे? यदि इसी तर्कसे प्राचीन पुरुषोंने काम लिया होता तो क्या साहित्यकी रक्षा होना सम्भव था? यह कहना तो कठिन है कि हमने अपना पूरा साहित्य बचा लिया है। तथापि जो कुछ भी बचा लिया गया है वह भी पर्याप्त है। भगवान् महावीरकी चर्या और उनके उपदेशोंसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता रखनेवाला एकमात्र साधन यह साहित्य ही है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इसकी संरक्षाके लिए हर एक सम्भव उपाय काममें लावे।

प्रसन्नता है कि इस ओर भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक व दूसरे कार्यकर्ताओंका पर्याप्त ध्यान गया है और वे इस बातका विचार किये बिना कि इसके प्रकाशन आदि पर पड़नेवाला व्यय वापस होगा या नहीं, सब प्रकारके प्राचीन साहित्यके प्रकाशनमें दत्तावधान हैं। सर्वार्थसिद्धिका भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होना उनकी इसी शुभ भावनाका सुफल है, इसलिए सर्वप्रथम हम नम्र शब्दोंमें उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिके सम्पादक होनेके नाते तो हमें यह कार्य करना ही है, साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाके संचालक होनेके नाते भी हमें इसका निर्वाह करना है।

श्री ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला एक ऐसी संस्था है जिसे समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंका पृष्ठबल प्राप्त है इसलिए सर्वार्थसिद्धिका उस द्वारा प्रकाशित हो जाना कठिन कार्य नहीं था फिर भी जो कठिन परिस्थिति उसके सामने थी उसे देखते हुए उसने जिस अनुकरणीय मार्गका श्रीगणेश किया है इसके लिए हम वर्णी ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

यहाँ हम उन महानुभावोंके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने एक मात्र सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनके प्रति अभिरुचि होनेके कारण अपनी उदार सहायता वर्णी ग्रन्थमाला को दी थी। देनेवाले महानुभाव ये हैं....

१. पूज्य श्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी महाराजके सदुपदेशसे श्रीमान् ब्र० लक्ष्मीचन्द्रजी वर्णी। वर्णीजी ने १५००) इस कामके लिए दिल्लीकी पहाड़ी धीरज व डिप्टीगंजकी समाजसे भिजवाये थे।

२. वर्णी ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष बाबू रामस्वरूपजी बरुआसागर। आपने इस कामके लिए १६०१) प्रदान किये हैं।

३. उदारचेता श्रीमान् नेमचन्द बालचन्दजी सा० वकील उस्मानाबाद। आपकी पौत्री ब्र० गजराबाई हमारे पास लब्धिसार क्षपणासार पढ़ने बनारस आयी थीं और लगभग २ माह यहाँ रही थीं। इसीके परिणाम-स्वरूप बहिन गजराबाईकी प्रेरणासे वकील सा० ने १०००) ग्रन्थमालाको प्रदान किये थे।

हस्तलिखित प्रतियोंके प्राप्त करनेमें हमें श्रीमान् पं० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली, पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य जैन सिद्धान्त भवन आरा, पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्री और पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य दिल्लीसे पूरी सहायता मिली है, अतएव हम इनके भी आभारी हैं।

भारतीय ज्ञानपीठके मैनेजर चि० श्री बाबूलालजी फागुल्ल उसके प्रकाशनोंको सुन्दर और आकर्षक बनानेमें पर्याप्त श्रम करते रहते हैं। सर्वार्थसिद्धिको इस योग्य बनानेमें व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचानेमें भी उन्होंने हमें सहयोग दिया है, अतएव हम उनके भी आभारी हैं।

सर्वार्थसिद्धिके परिशिष्ट और विषयसूची हमारे सहपाठी पं० हीरालालजी शास्त्रीने तैयार किये हैं और आवश्यक संशोधनके साथ वे इसमें दिये गये हैं, अतएव हम इनका जितना आभार मानें थोड़ा है।

तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध टीकाओंमें सर्वार्थसिद्धि प्रथम टीका है। इसमें प्रमेयका विचार आगमिक, दार्शनिक आदि सभी पद्धतियोंसे किया गया है। हमें आशा है कि इस सम्पादनसे समाजमें इसका मान और अधिक बढ़ेगा।

—फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

'मैं कौन हूँ, मेरा स्वभाव क्या है, मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे उपादेय क्या है और उसकी प्राप्ति किन निमित्तोंके मिलने पर होती है ? जो मनुष्य इन बातोंका विचार नहीं करता वह अपने गन्तव्य स्थानको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।'

आचार्य वादीभसिंहने क्षत्रचूड़ामणिमें तत्त्वज्ञानके प्रसंगसे यह वचन कहा है। यह मनुष्यके कर्त्तव्यका स्पष्ट बोध कराता है। कर्तव्यका विचार ही जीवनका सार है। जो तिर्यञ्च हैं वे भी अपने कर्तव्यका विचार कर प्रवृत्ति करते हैं फिर मनुष्यकी तो कथा ही अलग है।

प्रत्येक प्राणीके जीवनमें हम ऐसे-ऐसे विलक्षण परिणमन देखते हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ? ऐसा क्यों होता है ? क्या इसके लिए केवल बाह्य परिस्थिति ही एकमात्र कारण है ? एक पिताके दो बालक होते हैं। उनका एक प्रकारसे लालन-पालन होता है। एक पाठशालामें उन्हें शिक्षा मिलती है फिर भी उनके शील-स्वभावमें विलक्षण अन्तर होता है। क्यों ? इसका शारीरिक रचनाके सिवा कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। साधकोंने इस प्रश्नका गहरा मन्थन किया है। उत्तरस्वरूप उन्होंने विश्वको यही अनुभव दिया है कि पुराकृत कर्मोंके कारण प्राणियोंके जीवनमें इस प्रकारकी विविधता दिखाई देती है।

विश्वकी विविधताका अवलोकन कर उन्होंने कहा है कि इस प्राणीकी प्रथम अवस्था निगोद है। अनादि कालसे यह प्राणी इस अवस्थाका पात्र बना हुआ है। विस्तृत बालुकाराशिमें गिरे हुए वज्र सिकताकण का मिलना जितना दुर्लभ है, इस पर्यायसे निकल कर अन्य पर्यायका प्राप्त होना उतना ही दुर्लभ है। अन्य पर्यायोंकी भी कोई गिनती नहीं। उनमें परिभ्रमण करते हुए इसका पञ्चेन्द्रिय होना इतना दुर्लभ है जितना कि अन्य सब गुणोंके प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्यको कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह पञ्चेन्द्रिय भी हो जाता है तो भी इससे इसका विशेष लाभ नहीं, क्योंकि एक मनुष्य पर्याय ही वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर यह अपनी उन्नतिके सब साधन जुटा सकता है। किन्तु इसका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। एक दृष्टान्त द्वारा साधकोंने इसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी चौपथ पर रखी हुई रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है उसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें परिभ्रमण करते हुए इसे मनुष्य पर्यायका मिलना दुर्लभ है। कदाचित् इसे मनुष्य पर्याय भी मिल जाती है तो भी उसे प्राप्त कर अपने कर्तव्याकर्तव्यके बोध द्वारा कर्तव्यके मार्गका अनुसरण करना और भी दुर्लभ है।

मनुष्य होने पर यह प्राणी नहीं मालूम कितनी ममताओंमें उलझा रहता है। कभी यह पुत्र, स्त्री और घर-द्वारकी चिन्ता करता है तो कभी अपनी मानप्रतिष्ठाकी चिन्तामें काल यापन करता है। स्वरूप सम्बोधन की ओर इसका मन यत्किञ्चित् भी आकर्षित नहीं होता। जो इसका नहीं उसकी तो चिन्ता करता है और जो इसका है उसकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। फल यह होता है कि यह न केवल परम दुर्लभ इस मनुष्य पर्यायको गवाँ बैठता है अपितु सम्यक् कर्तव्यका बोध न होनेसे इसे पुनः अनन्त यातनाओंका पात्र बनना पड़ता है।

इस स्थितिसे इस प्राणीका उद्धार कैसे हो, इस प्रश्नके समाधान स्वरूप साधकोंने अनेक मार्ग दरसाये हैं उनमें सम्यक् श्रुतका अध्ययन मुख्य है। श्रुत दो प्रकारका है—एक वह जो ऐहिक इच्छाओंकी पूर्तिका मार्गदर्शन करता है और दूसरा वह जो विषय और कषायके मार्गको अनुपादेय बतला कर आत्महितके मार्गमें लगाता है। आत्माका हित क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि हमें संक्षेपमें प्राप्त करना है तो यही कहा जा

सकता है कि 'मोक्ष'। अतएव मोक्षप्राप्तिके साधनोंका जिसमें सम्यक् प्रकारसे ऊहापोह किया गया है वही शास्त्र सम्यक् श्रुत कहलानेकी पात्रता रखता है।

इस दृष्टिसे जब हम प्राचीन साहित्यको देखते हैं तो सर्वप्रथम हमारी दृष्टि अङ्गश्रुत पर जाती है। इसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे है। ऐसी मान्यता है कि जितने भी तीर्थङ्कर होते हैं वे अर्थका उपदेश देते हैं और उनके प्रमुख शिष्य, जिन्हें कि गणधर कहते हैं, ग्रन्थ रूपमें अङ्गश्रुतकी रचना करते हैं। यह मुख्य रूपसे बारह आरों—विभागोंमें विभक्त होनेके कारण इसे द्वादशार कहते हैं और संघके मुख्य अधिपति गणधरों—गणियोंके द्वारा इसकी रचना की जानेसे इसका दूसरा नाम गणिपिटक भी है।

भगवान् महावीरके मोक्ष जानेके बाद तीन अनुबद्ध केवली और पाँच श्रुतकेवली हुए हैं। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन तक यह अङ्गश्रुत अपने मूलरूपमें आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्तिके क्षीण होते जानेसे तथा पुस्तकारूढ़ किये जानेकी परिपाटी न होने से क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ अंगश्रुतका अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुतपरम्पराको अविच्छिन्न बनाये रखनेके लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे बनाये रखनेके लिए प्रयत्न भी होते रहे हैं। अंगश्रुतके बाद दूसरा स्थान अनंगश्रुतको मिलता है। इसको अंगबाह्य भी कहते हैं। इसके मूल भेद ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। इनमेंसे सर्वार्थसिद्धिमें उत्तराध्ययन और दशवैकालिक केवल इन दो का ही उल्लेख किया है। श्री धवला टीकाके आधारसे विदित होता है कि इनकी रचना भी गणधरोंने ही की थी और अंगश्रुतके अस्तित्वकालमें ये उपस्थित थे। किन्तु धीरे-धीरे अंगश्रुतके समान इनको भी धारण करनेकी शक्तिवाले श्रमणोंके न रहनेसे इनका भी अभाव होता गया। फल यह हुआ कि एक प्रकारसे हम मूलश्रुतसे सर्वथा वंचित हो गये। श्वेताम्बर परम्परामें जो आचारांग आदि अंगश्रुत और उत्तराध्ययन आदि अनंगश्रुत उपलब्ध होता है। वह विक्रम पाँचवीं शताब्दिके बादका संकलन है इसलिए वह मूलश्रुतकी दृष्टिसे विश्वास योग्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अंगश्रुत और अंगबाह्यश्रुतके विच्छिन्न होनेमें कुल ६८३ वर्ष लगे हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उत्तरकालमें भगवान् महावीरकी वाणीका कहिए या द्वादशांग वाणीका कहिए वारसा हमें किसी रूपमें मिला ही नहीं। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके कालमें ही जैन परम्परा दो भागोंमें विभाजित हो गयी थी। पहली परम्परा जो भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंके आचारको बिना किसी प्रकारके संशोधनके ग्राह्य मानती रही वह उस समय दिगम्बर परम्परा या मूल संघके नामसे प्रसिद्ध हुई और जिसने परिस्थितिवश संशोधन कर उसमें नये आचारका प्रवेश किया वह श्वेताम्बर परम्पराके नामसे प्रसिद्ध हुई। इस कारण मूल अंगश्रुत और अनंगश्रुतको तो लिपिबद्ध नहीं किया जा सका किन्तु कालान्तरमें ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने अङ्गश्रुतके आश्रयसे श्रुतकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी रचना उन प्रयत्नोंमेंसे सर्वप्रथम है। आचार्य कुन्दकुन्द लगभग उसी समय हुए हैं जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शैली द्वारा जीवादि तत्त्वोंका और मोक्षमार्गके अनुरूप आचारका विचार करते हुए न केवल तीर्थङ्करोंके स्वावलम्बी मार्गकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है अपितु उसमें बहुत कुछ अंशमें स्थिरता भी लायी है। इस तरह आरातीय आचार्यों द्वारा मूल श्रुतके अनुरूप श्रुतका निर्माण कर उसकी रक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। अखिल जैन परम्परामें रचनाकी दृष्टिसे जिस श्रुतकी सर्वप्रथम गणना की जा सकती है उसका संक्षेपमें विवरण इस प्रकार है—

ग्रन्थ नाम	कर्त्ता	रचनाकाल
षट्खण्डागम	आ० पुष्पदन्त भूतबलि	विक्रमकी दूसरी शताब्दि या इसके पूर्व
कषायप्राभृत	आ० गुणधर	,, ,, समकालीन

कषायप्राभृत की चूर्णि	आ० यतिवृषभ[1]	आचार्य गुणधरके कुछ काल बाद
समयप्राभृत, प्रवचनसारप्राभृत पञ्चास्तिकायप्राभृत व अष्ट-प्राभृत	आ० कुन्दकुन्द[2]	विक्रमकी पहली दूसरी शताब्दि
मूलाचार (आचारांग)	आ० वट्टकेर	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन
मूलाराधना	आ० शिवार्य	,, ,,
तत्त्वार्थसूत्र	आ० गृद्धपिच्छि	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन या कुछ काल बाद

इसके बाद भी श्रुतरक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। श्वेताम्बर अंगश्रुतका संकलन उन प्रयत्नोंमें से एक है। यह विक्रमकी ६वीं शताब्दिमें संकलित होकर पुस्तकारूढ़ हुआ था।

१ तत्त्वार्थसूत्र

इनमेंसे प्रकृतमें तत्त्वार्थसूत्रका विचार करना है। यह जैन दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें जैनाचार और जैन तत्त्वज्ञानके सभी पहलुओं पर सूत्र शैलीमें विचार किया गया है। यह सुनिश्चित है कि जैन आगम-श्रुतकी मुख्य भाषा प्राकृत रही है तथा इसके आधारसे आरातीय आचार्योंने जो अंगबाह्य श्रुत लिपिबद्ध किया है वह भी प्रायः प्राकृत भाषामें ही लिखा गया है। प्राकृत भाषाके जो विविध स्थित्यन्तर उपलब्ध होते हैं उनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि यह भगवान् महावीर और उनके आगे-पीछे बहुत काल तक बोल-चालकी भाषा रही है। पाली, जिसमें कि प्राचीन महत्त्वपूर्ण बौद्ध साहित्य उपलब्ध होता है, प्राकृतका ही

---

१. इनके समयके विषयमें बड़ा विवाद है। वीरसेन स्वामीने इन्हें वाचक आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्य लिखा है। इन दोनोंका श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें उल्लेख आता है। सम्भवतः ये और श्वेताम्बर परम्परामें उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ति अभिन्न व्यक्ति हैं और वे ही आ० यतिवृषभके गुरु प्रतीत होते हैं। जीवस्थान क्षेत्रप्रमाणानुगमकी धवला टीकामें आचार्य वीरसेनने जिस तिलोयपण्णत्तिका उल्लेख किया है वह वर्त्तमान तिलोयपण्णत्तिसे भिन्न ग्रन्थ है। यह हो सकता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें उसका कुछ भाग सम्मिलित कर लिया गया हो पर इससे दोनोंकी अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावनामें जैनसिद्धान्त भास्करके एक अंकमें प्रकाशित मेरे लेखका खण्डन करते हुए जो वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी प्राचीन तिलोयपण्णत्तिसे अभिन्नता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह उनका उचित प्रयत्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें लोकके जिस आकारकी चर्चा की गयी है उसका प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमें उल्लेख नहीं है और इस आधारसे यह मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके आधारसे जो राजकाल गणनाके बाद आचार्य यतिवृषभकी स्थिति मानी जाती है वह भी उचित नहीं है। इसके लिए पहले यह सिद्ध करना होगा कि इस राजकाल गणनाका उल्लेख प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमें भी पाया जाता है तभी यह मान्यता समीचीन ठहर सकेगी कि आचार्य यतिवृषभ महावीर संवत्से हजार वर्ष बाद हुए हैं। तत्काल धवलाके उल्लेखके अनुसार आचार्य यतिवृषभको महा-वाचक आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्य होनेके नाते उन्हें उस समयका ही मानना चाहिए जिस समय उन दो महान् आचार्योंने इस भूमण्डलको अलंकृत किया था। २. इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागम पर आ० कुन्दकुन्दकी टीकाका भी उल्लेख किया है। इस आधारसे षट्खण्डागमका रचनाकाल प्रथम शताब्दिसे भी पूर्व ठहरता है। अधिकतर विचारक ६८३ वर्षकी परम्पराके बाद इन ग्रन्थोंको स्थान देते हैं किन्तु मेरे विचारसे श्रुतकी परम्परा किस क्रमसे आई इतना मात्र दिखाना उसका प्रयोजन है। षट्खण्डागम आदिके रचयिता ६८३ वर्ष पूर्व हुए हों तो इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं है।

एक भेद है। प्रारम्भसे जैनों और बौद्धोंकी प्रकृति जनताको उनकी भाषामें उपदेश देनेकी रही है। परिणामस्वरूप इन्होंने अधिकतर साहित्य रचनाका कार्य जनताकी भाषा प्राकृतमें ही किया है। किन्तु धीरे-धीरे भारतवर्षमें ब्राह्मण धर्मका प्राबल्य होनेसे और उनकी साहित्यिक भाषा संस्कृत होनेसे बौद्धों और जैनोंको संस्कृत भाषामें भी अपना उपयोगी साहित्य लिखनेके लिए बाध्य होना पड़ा है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना करते समय वह संस्कृत भाषामें लिखा गया है। जैन परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें संस्कृत भाषामें रचा गया यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसके पहले केवल संस्कृत भाषामें जैन साहित्यकी रचना हुई हो इसका कोई निश्चित आधार उपलब्ध नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्र लघुकाय सूत्रग्रन्थ होकर भी इसमें प्रमेयका उत्तमताके साथ संकलन हुआ है। इस कारण इसे जैन परम्पराके सभी सम्प्रदायोंने समान रूपसे अपनाया है। दार्शनिक जगत्में तो इसे ख्याति मिली ही, आध्यात्मिक जगत्में भी इसका कुछ कम आदर नहीं हुआ है। इस दृष्टिसे वैदिकोंमें गीताका, ईसाइयोंमें बाइबिलका और मुसलमानोंमें कुरानका जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका माना जाता है। अधिकतर जैन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और कुछ अष्टमी-चतुर्दशीको। दशलक्षण पर्वके दिनोंमें इसके एक-एक अध्याय पर प्रतिदिन प्रवचन होते हैं जिन्हें आम जनता बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण करती है। इसके सम्बन्धमें ख्याति है कि जो कोई गृहस्थ इसका एक बार पाठ करता है उसे एक उपवासका[1] फल मिलता है।

नाम—प्रस्तुत सूत्र ग्रन्थका मुख्य नाम 'तत्त्वार्थ' है। इस नामका उल्लेख करनेवाले इसके टीकाकार मुख्य हैं। इसकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धिमें प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति सूचक पुष्पिकामें यह वाक्य आता है।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां·······अध्यायः समाप्तः।

इसके अन्तमें प्रशंसासूचक तीन श्लोक आते हैं। उनमें भी प्रस्तुत टीकाको तत्त्वार्थवृत्ति कह कर प्रस्तुत ग्रन्थकी 'तत्त्वार्थ' इस नामसे घोषणा की गयी है। तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकको भी यही स्थिति है। इन दोनों टीका-ग्रन्थोंके प्रथम मंगल-श्लोकमें और प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिसूचक पुष्पिकामें मूल गन्थके इसी नामका उल्लेख मिलता है।

तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे इन सात तत्त्वार्थोंका प्रस्तुत सूत्र ग्रन्थमें विस्तारके साथ निरूपण किया गया है। मालूम पड़ता है कि इसी कारणसे इसका तत्त्वार्थ यह नाम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

लोकमें इसका एक नाम तत्त्वार्थसूत्र भी प्रचलित है। इस नामका उल्लेख वीरसेन स्वामीने अपनी धवला[2] नामकी प्रसिद्ध टीकामें किया है। सिद्धसेन गणि भी अपनी टीकामें कुछ अध्यायोंकी समाप्तिसूचक पुष्पिकामें[3] इस नामका उल्लेख करते हैं। इसमें जीवादि सात तत्त्वार्थोंका सूत्र शैलीमें विवेचन किया गया है इससे इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थसूत्र पड़ा जान पड़ता है। किन्तु पिछले नामसे इस नाममें सूत्र पद अधिक होने से सम्भव है कि ये दोनों नाम एक ही हों। केवल प्रयोगकी सुविधाकी दृष्टिसे कहीं इसका केवल 'तत्त्वार्थ' इस नामसे और कहीं 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामसे उल्लेख किया जाता रहा हो। किसी वस्तुका जो नाम होता है उसके एकदेशका उल्लेख करके भी उस वस्तुका बोध करानेकी परिपाटी पुरानी है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण इसका 'तत्त्वार्थ' यह नाम भी प्रसिद्धिमें आया हो। सिद्धसेन गणिने[4] इसका तत्त्वार्थसूत्र

---

१. 'दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।' २. 'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्स' इति दव्वकालो परूविदो। जीवस्थानकालानुयोगद्वार पृ० ३१६। ३. इति तत्त्वार्थसूत्रं भाष्यसंयुक्ते भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां आस्रवप्रतिपादनपरः षष्ठोऽध्यायः समाप्तः। ४. देखो सिद्धसेन गणि टीका अध्याय एक और छहको अन्तिम पुष्पिका।

और तत्त्वार्थ इन दोनों नामोंके द्वारा उल्लेख किया है। इससे भी ये दोनों नाम एक ही हैं इस अर्थकी पुष्टि होती है।

इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी है। मोक्षशास्त्र इस नामका उल्लेख प्राचीन टीकाकारों या अन्य किसीने किया है ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। तथापि लोकमें इस नामकी अधिक प्रसिद्धि देखी जाती है। तत्त्वार्थसूत्रका प्रारम्भ मोक्षमार्गके उपदेशसे होकर इसका अन्त मोक्षके उपदेशके साथ होता है। जान पड़ता है कि यह नाम इसी कारणसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

सर्वार्थसिद्धिके बाद इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका तत्त्वार्थभाष्य माना जाता है। इसकी उत्थानिकामें यह श्लोक आता है—

'तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २ ॥'

अर्थात् बहुत अर्थवाले और अर्हद्वचनके एक देशके संग्रहरूप तत्त्वार्थाधिगम नामके इस लघु ग्रन्थका मैं शिष्य हितबुद्धिसे कथन करता हूँ।

तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उसमें भी तत्त्वार्थाधिगम इस नामका उल्लेख किया है। इस आधारसे यह कहा जाता है कि इसका मुख्य नाम तत्त्वार्थाधिगम है।

किन्तु इस आधारके होते हुए भी मूल सूत्र ग्रन्थका यह नाम है इसमें हमें सन्देह है, क्योंकि एक तो ये उत्थानिकाके श्लोक और भाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति मूल सूत्र ग्रन्थके अंग न होकर भाष्यके अंग हैं और भाष्य सूत्ररचनाके बाद की कृति है। दूसरे तत्त्वार्थसूत्रके साथ जो भाष्य की स्वतन्त्र प्रति उपलब्ध होती है उसमें प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिकासे यह विदित नहीं होता कि वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थभाष्यको तत्त्वार्थाधिगमसे भिन्न मानते हैं। प्रथम अध्यायके अन्तमें पायी जानेवाली पुष्पिकाका स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः[1]।

साधारणतः यदि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थके अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमें केवल मूल ग्रन्थका नामोल्लेख कर अध्यायकी समाप्तिकी सूचना दी जाती है और यदि टीकाके साथ अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमें मूल ग्रन्थका नामोल्लेख करनेके बाद अथवा बिना किये ही टीकाका नामोल्लेख कर अध्याय की समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है। उदाहरणार्थ केवल तत्त्वार्थसूत्रके अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका इस प्रकार उपलब्ध होती है—

इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

तथा टीकाके साथ तत्त्वार्थसूत्रकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिकाका स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

यहाँ पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रका स्वतन्त्र नामोल्लेख किये बिना केवल अपनी तत्त्वार्थ पर लिखी गयी वृत्तिका उसके नामके साथ उल्लेख किया है। इससे इस बातका स्पष्ट ज्ञान होता है कि तत्त्वार्थ नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उस पर लिखा गया यह वृत्तिग्रन्थ है। बहुत संभव है कि प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति सूचक पुष्पिका लिखते समय यही स्थिति वाचक उमास्वातिके सामने रही है। इस द्वारा वे तत्त्वार्थको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर उसका अधिगम करानेवाले भाष्यको तत्त्वार्थाधिगम अर्हत्प्रवचनसंग्रह कह रहे हैं। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर वाचक उमास्वातिकृत उसके भाष्यका है।

दो सूत्र पाठ—प्रस्तुत ग्रन्थके सूत्र पाठ उपलब्ध होते हैं—एक दिगम्बर परम्परा मान्य और दूसरा श्वेताम्बर परम्परा मान्य। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी रचना होनेके पूर्व मूल सूत्रपाठका क्या स्वरूप

---

१. देखो, रतलामकी सेठ ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थभाष्य प्रति।

था, इसका विचार यथास्थान हम आगे करेंगे। यहाँ इन दोनों सूत्रपाठोंका सामान्य परिचय कराना मुख्य प्रयोजन है।

दिगम्बर परम्पराके अनुसार दसों अध्यायोंकी सूत्र संख्या इस प्रकार है—

३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९ = ३५७।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार दसों अध्यायोंकी सूत्र संख्या इस प्रकार है—

३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७ = ३४४।

प्रथम अध्यायमें ऐसे पाँच स्थल मुख्य हैं जहाँ दोनों सूत्र पाठोंमें मौलिक अन्तर दिखाई देता है। प्रथम स्थल मतिज्ञानके चार भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'अवाय' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'अपाय' पाठको स्वीकार करती है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रका विवेचन करते हुए भी मुख्यरूपसे 'अवाय' पाठको ही स्वीकार करते हैं। दूसरा स्थल मतिज्ञानके विषयभूत १२ पदार्थोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा क्षिप्रके बाद 'अनिसृतानुक्त–' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'अनिश्रितासन्दिग्ध–' पाठको स्वीकार करती है। यहाँ पाठ भेदके कारण अर्थभेद स्पष्ट है। तीसरा स्थल 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र है। इसे श्वेताम्बर परम्परा सूत्र मानती है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें यह 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' सूत्रकी उत्थानिकाका अंश है। चौथा स्थल अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'क्षयोपशमनिमित्तः' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'यथोक्तनिमित्तः' पाठको स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात नयोंका प्रतिपादक सूत्र है। यहाँ दिगम्बर परम्परा सातों नयोंको मूल मानकर उनका समान रूपसे उल्लेख करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मूल नय पाँच मानती है और नैगम व शब्दनयके क्रमशः दो व तीन भेदोंका स्वतन्त्र सूत्र द्वारा उल्लेख करती है। साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें मूल नय सात माने गये हैं और आगम साहित्यमें इनका मूल नयके रूपमें उल्लेख भी किया है। पर जहाँ नामादि निक्षेपोंमेंसे कौन नय किस निक्षेपको स्वीकार करता है इसका विचार किया जाता है वहाँ बहुधा नैगमादि पाँच नयोंका[1] भी उल्लेख किया जाता है। बहुत सम्भव है कि इस परिपाटीको देखकर वाचक उमास्वातिने पाँच नय मूल माने हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरे अध्यायमें ऐसे नौ स्थल हैं। प्रथम स्थल पारिणामिक भावोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें पारिणामिक भावके तीन नाम गिनानेके बाद श्वेताम्बर परम्परा आदि पदको स्वीकार करती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। यहाँ जीवका स्वतत्त्व क्या है यह बतलाते हुए पारिणामिक भावोंका उल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा अन्य द्रव्य साधारण पारिणामिक भावोंकी यहाँ मुख्य रूपसे गणना नहीं करती और श्वेताम्बर परम्परा करती है यही यहाँ उसके आदि पद देनेका प्रयोजन है। दूसरा स्थल स्थावरकायिक जीवोंके भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। आगमिक परिपाटीके अनुसार स्थावरोंके पाँच भेद दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती हैं और दिगम्बर परम्परा इसी परिपाटीके अनुसार यहाँ पाँच भेद स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराने अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको गतित्रस मानकर इनका उल्लेख त्रसोंके साथ किया है। इस कारण कई सूत्रोंकी रचनामें अन्तर आया है। तीसरा स्थल 'उपयोगः स्पर्शादिषु' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपसे स्वीकार नहीं करती। उसके मतसे उपयोगके विषयका अलगसे प्रतिपादन करना वांछनीय नहीं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञानका विषय प्रथम अध्यायमें दिखा आये हैं। चौथा स्थल 'एकसमयाऽविग्रहा' सूत्र है। गतिका प्रकरण होनेसे दिगम्बर परम्परा इस सूत्रको इसी रूपमें स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा एक समयको विशेष्य मानकर यहाँ पुल्लिग एक वचनान्तका प्रयोग करती है। पाँचवाँ स्थल जन्मका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'पोत' पदको और श्वेताम्बर परम्परा 'पोतज' पदको स्वीकार करती है। छठा स्थल 'तैजसमपि' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा सूत्र मानती है और श्वेताम्बर परम्परा नहीं मानती। यहाँ

१. देखो, धवला पुस्तक १२ वेदनाप्रत्ययविधान नामक अधिकार। देखो, कषायप्राभृत प्र० पुस्तक परिशिष्ट पृष्ठ ७।

निमित्तज सभी शरीरों की उत्पत्तिके कारणोंका विचार सूत्रोंमें किया गया है फिर भी श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमें स्वीकार नहीं करती और इसे तत्त्वार्थभाष्यका अङ्ग मान लेती है। सातवाँ स्थल आहारक शरीरका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराके 'प्रमत्तसंयतस्यैव' पाठके स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' पाठ स्वीकार करती है। आठवाँ स्थल 'शेषास्त्रिवेदाः' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इसे परिशेष न्यायका आश्रय लेकर सूत्र माननेसे अस्वीकार करती है। नौवाँ स्थल अनपवर्त्य आयुवालोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराके 'चरमोत्तमदेह' पाठके स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'चरमदेहोत्तपुरुष' पाठको स्वीकार करती है।

तीसरे अध्यायमें ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल पहला सूत्र है। इसमें 'अधोऽधः' के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा 'पृथुतराः' पाठको अधिक स्वीकार करती है। दूसरा स्थल दूसरा सूत्र है। इसमें आये हुए 'नारकाः' पदको श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार न कर 'तासु नरकाः' स्वतन्त्र सूत्र मानती है। यहाँ इन द्वितीयादि चार सूत्रोंमें नारकोंकी अवस्थाका चित्रण किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वह सब नरकों—आवासस्थानोंकी अवस्थाका चित्रण हो जाता है। तीसरा स्थल ग्यारहवें सूत्रसे आगे २१ सूत्रोंकी स्वीकृति और अस्वीकृतिका है। इनको दिगम्बर परम्परा सूत्र रूपमें स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इन्हें सूत्र नहीं मानती।

चौथे अध्यायमें ऐसे कई स्थल हैं। प्रथम मतभेदका स्थल दूसरा सूत्र है। इस सूत्रको दिगम्बर परम्परा 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः' इस रूपमें और श्वेताम्बर परम्परा 'तृतीयः पीतलेश्यः' इस रूपमें स्वीकार करती है। श्वेताम्बर साहित्यमें ज्योतिषियोंके एक पीतलेश्या कही है। इसीसे यह सूत्र विषयक मतभेद हुआ है और इसी कारण श्वेताम्बर परम्पराने सातवें नम्बरका 'पीलान्तलेश्याः' स्वतन्त्र सूत्र माना है। दूसरा स्थल शेष कल्पोंमें प्रवीचारका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'द्वयोर्द्वयोः' पदको अधिक रूपमें स्वीकार करती है। इसके फलस्वरूप उसे आनतादि चार कल्पोंको दो मानकर चलना पड़ता है। तीसरा स्थल कल्पोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने सोलह और श्वेताम्बर परम्परा ने बारह कल्पोंका नामोल्लेख किया है। चौथा स्थल लौकान्तिक देवोंकी संख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने आठ प्रकारके और श्वेताम्बर परम्पराने नौ प्रकारके लौकान्तिक देव गिनाये हैं। इतना होते हुए भी तत्त्वार्थभाष्यमें वे आठ प्रकारके ही रह जाते हैं। 'औपपादिकमनुष्येभ्यः' इत्यादि सूत्रके आगे इस अध्यायमें दोनों परम्पराके सूत्रपाठमें पर्याप्त अन्तर है। ऐसे अनेक सूत्र श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठमें स्थान पाते हैं जिनका दिगम्बर परम्परामें सर्वथा अभाव है। कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनके विषयमें दिगम्बर परम्परा एक पाठ स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा दूसरा पाठ। इस सब अन्तरके कई कारण हैं। एक तो कल्पोंकी संख्यामें अन्तरको स्वीकार करनेसे ऐसा हुआ है। दूसरे भवनवासी और ज्योतिषी देवोंकी स्थितिके प्रतिपादनमें श्वेताम्बर परम्पराने भिन्न रुख स्वीकार किया है, इससे ऐसा हुआ है। लौकान्तिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र भी इस परम्पराने स्वीकार नहीं किया है।

पाँचवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल 'द्रव्याणि' और 'जीवाश्च' ये दो सूत्र हैं। दिगम्बर परम्परा इन्हें दो सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इनका एक सूत्ररूपसे उल्लेख करती है। दूसरा स्थल धर्मादि द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेशोंकी एक साथ परिगणना करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा जीवके प्रतिपादक सूत्रको स्वतन्त्र मानकर चलती है। तीसरा स्थल 'सद्द्रव्यलक्षणम्' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्ररूपमें स्वीकार नहीं करती। चौथा स्थल पुद्गलोंका बन्ध होने पर वे किस रूपमें परिणमन करते हैं इस बातका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'सम' पदको अधिक स्वीकार करती है। साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराएँ 'द्व्यधिक गुणवाले का अपनेसे हीन गुणवालेके साथ बन्ध होता है' इस मतसे सहमत हैं किन्तु सूत्र रचनामें और उसके अर्थकी संगति बिठलानेमें श्वेताम्बर परम्परा अपनी इस आगमिक परिपाटीका त्याग कर देती है। पाँचवाँ स्थल काल द्रव्यका प्रतिपादक सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इस सूत्र द्वारा काल

द्रव्यके अस्तित्वमें मतभेद स्वीकार करती है। समस्त श्वेताम्बर आगम साहित्यमें काल द्रव्यके स्थानमें 'अद्धासमय' का उल्लेख किया है और इसे प्रदेशात्मक द्रव्य न मान कर पर्याय द्रव्य स्वीकार किया है। छठवाँ स्थल परिणामका प्रतिपादक सूत्र है। दिगम्बर परम्परा 'तद्भावः परिणामः' केवल इस सूत्रको स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके साथ तीन अन्य सूत्र स्वीकार करती है।

छठे अध्यायमें ऐसे दस स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा एक और श्वेताम्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। दूसरा स्थल 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः' इत्यादि सूत्र है। दिगम्बर परम्पराने इसे इसी रूपमें स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमें 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' यह पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल सातावेदनीयके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'भूतव्रतत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः' इस पाठको स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमें 'भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः' ऐसा पाठ स्वीकार करती है। चौथा स्थल चारित्र-मोहके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'तीव्र' पदके बाद 'आत्म' पदको अधिक स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल नरकायुके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा मध्यमें 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। छठा स्थल मनुष्यायुके आस्रवके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। इन्हें दिगम्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा उन दोनोंको एक मानकर चलती है। इतना ही नहीं किन्तु वह 'स्वभावमार्दवं'के स्थानमें 'स्वभावमार्दवार्जवं' पाठ स्वीकार करती है। सातवाँ स्थल देवायुके आस्रवके प्रतिपादक सूत्र हैं। इन सूत्रोंमें दिगम्बर परम्पराने 'सम्यक्त्वं च' सूत्रका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमें स्वीकार करनेसे हिचकिचाती है। आठवाँ स्थल शुभ नामके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'तत्' पदको अधिक स्वीकार करती है। नौवाँ स्थल तीर्थङ्कर प्रकृतिके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'साधुसमाधिः'के स्थानमें 'संघसाधुसमाधिः' पाठ स्वीकार करती है। दसवाँ स्थल उच्चगोत्रके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'तद्विपर्ययौ'के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'तद्विपर्ययो' पाठ स्वीकार करती है।

सातवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल पाँच व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंके प्रतिपादक पाँच सूत्र हैं। इन्हें दिगम्बर परम्परा सूत्ररूपमें स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा नहीं। दूसरा स्थल 'हिंसादिष्विहामुत्र' सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'अमुत्र' पदके बाद 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'मैत्री–' इत्यादि सूत्र है। इसके मध्यमें दिगम्बर परम्परा 'च' पद अधिक स्वीकार करती है। चौथा स्थल 'जगत्काय–' इत्यादि सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'वा' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'च' पाठको स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात शीलोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'प्रोषधोपवास' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'पौषधोपवास' पाठको स्वीकार करती है। छठा स्थल अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचारोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'छेद'के स्थानमें श्वेताम्बर पाठ 'सविच्छेद' है।

आठवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल ज्ञानावरणके पाँच भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा ज्ञानके पाँच भेदोंका नाम निर्देश करती है किन्तु श्वेताम्बर पराम्परा 'मत्यादीनाम्' इतना कहकर ही छोड़ देती है। तीसरा स्थल दर्शनावरणके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा पाँच निद्राओंके नामोंके साथ 'वेदनीय' पद अधिक जोड़ती है। चौथा स्थल मोहनीयके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें नामोंके क्रमके प्रतिपादनमें दोनों परम्पराओंने अलग-अलग सरणी स्वीकार की है। पाँचवें अन्तरायके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा पाँच नामोंका निर्देश करती है और श्वेताम्बर परम्परा 'दानादीनाम्' इतना कहकर छोड़ देती है। छठा स्थल पुण्य और पाप प्रकृतियोंके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। यहाँ श्वेताम्बर परम्पराने एक तो पुण्य प्रकृतियोंमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इनकी भी परिगणना की है। दूसरे पापप्रकृतियोंका प्रतिपादक सूत्र नहीं कहा है।

नौवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दस धर्मोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'उत्तम' पदको क्षमा आदिका विशेषण मानकर चलती है और श्वेताम्बर परम्परा धर्मका विशेषण मानकर चलती है, फिर भी वह 'उत्तम' पदका पाठ 'धर्म' पदके साथ अन्तमें न करके सूत्रके प्रारम्भमें ही करती हैं। दूसरा स्थल पाँच चारित्रोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'इति' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल ध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'अन्तर्मुहूर्तात्' के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'आ मुहूर्तात्' पाठ स्वीकार कर उसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है। चौथा स्थल आर्तध्यानके प्रतिपादक सूत्र हैं। इनमें श्वेताम्बर परम्पराने एक तो 'मनोज्ञस्य' और 'अमनोज्ञस्य' के स्थानमें बहुवचनान्त पाठ स्वीकार किया है। दूसरे 'वेदनायाश्च' सूत्रको 'विपरीतं मनोज्ञस्य'के पहले रखा है। पाँचवाँ स्थल धर्मध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'अप्रमत्तसंयतस्य' इतना पाठ अधिक स्वीकार कर 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' यह सूत्र स्वतन्त्र मानती है। छठवाँ स्थल 'एकाश्रये' इत्यादि सूत्र है। इसमें 'सवितर्कविचारे' के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'सवितर्के' पाठ स्वीकार करती है।

दसवें अध्यायमें ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल तीसरा और चौथा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा एक तो इन दो सूत्रोंको एक मानती है। दूसरे 'भव्यत्वानाम्' के स्थानमें 'भव्यत्वाभावात्' पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'पूर्वप्रयोगात्' इत्यादि सूत्र है। इस सूत्रके अन्तमें श्वेताम्बर परम्परा 'तद्गतिः' इतना पाठ अधिक स्वीकार करती है। तथा इस सूत्रके आगे कहे गये दो सूत्रोंको वह स्वीकार नहीं करती।

इन पाठ भेदोंके अतिरिक्त दसों अध्यायोंमें छोटे-मोटे और भी बहुतसे फरक हुए हैं जिनका विशेष महत्त्व न होनेसे यहाँ हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।

३. सूत्र पाठोंमें मतभेद—यहाँ हमने दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामान्य जिस सूत्र पाठोंके अन्तरका उल्लेख किया है वह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र पाठोंको ध्यानमें रखकर ही किया है। यदि हम इन सूत्र पाठोंके भीतर जाते हैं तो हमें वह मतभेद और भी अधिक दिखाई देता है। फिर भी यह बात सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र पाठ पर लागू नहीं होती। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने जो पाठ रहा है और उन्होंने निर्णय करके जिसे सूत्रकारका माना है, उत्तरकालवर्ती सभी दिगम्बर टीकाकार प्रायः उसीको आधार मानकर चले हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। हरिभद्रसूरि और सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे अपनी टीकाएँ लिखी अवश्य हैं और इन दोनों आचार्योंने तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र पाठकी रक्षा करनेका भी प्रयत्न किया है। किन्तु उनके सामने ही सूत्र पाठमें इतने अधिक पाठभेद और अर्थभेद हो गये थे जिनका उल्लेख करना उन्हें आवश्यक हो गया। उदाहरणके लिए यहाँ हम पाँचवें अध्यायके 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रको उपस्थित करते हैं। सिद्धसेन गणिने इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए अनेक मतभेदोंका उल्लेख किया है। उनके सामने इस सूत्रके जो प्रमुख मतभेद थे वे इस प्रकार हैं—

१. एक पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' एक सूत्र न होकर दो सूत्र हैं। प्रथम 'नित्यावस्थितानि' और दूसरा 'अरूपाणि'। धर्मादिक चार द्रव्य अरूपी हैं यह सिद्ध करनेके लिए 'अरूपाणि' स्वतन्त्र सूत्र माना गया है।

२. दूसरे पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितारूपाणि' सूत्र है। इसके अनुसार 'नित्यावस्थित–' पदके अन्तमें स्वतन्त्र विभक्ति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तीनों पद समसित होने चाहिए।

३. तीसरा मत है कि सूत्र तो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ही है। किन्तु इसमें 'नित्य' पद स्वतन्त्र न होकर 'अवस्थित' पदका विशेषण है। इस मतके अनुसार प्रथम पदका 'नित्यं अवस्थितानि नित्यावस्थितानि' यह विग्रह होगा।

४. इनके सिवा वहाँ दो मतोंका और उल्लेख किया है। किन्तु वे केवल अर्थविषयक ही मतभेद हैं इसलिए उनकी यहाँ हमने अलगसे चर्चा नहीं की है।

आगे चलकर तो ये मतभेद और भी बढ़े हैं। प्रमाणस्वरूप यहाँ हम तत्त्वार्थसूत्रको उस सटिप्पण प्रतिके कुछ पाठभेद उपस्थित करते हैं जिनका परिचय श्रीमान् पण्डित जुगुलकिशोरजी मुख्तारने अनेकान्त वर्ष तीन किरण एकमें दिया है। यह प्रति पण्डितजीके पास श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने भेजी थी।

इस प्रतिके आलोडन करनेसे यह तो साफ जाहिर होता है कि यह किसी श्वेताम्बर आचार्यकी कृति है, क्योंकि इसमें दिगम्बर आचार्योंको जड़, दुरात्मा और सूत्रवचनचौर इत्यादि शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है। इसलिए इस प्रतिमें जो पाठभेद या अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं वे काफी महत्त्व रखते हैं। प्रतिमें पाये जानेवाले अधिक सूत्र ये हैं—

तैजसमपि ५०, धर्मा वंशा शैल्लाञ्जनारिष्टा माघव्या माघवीति च २, उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः २३, स द्विविधः ४२, सम्यक्त्वं च २१, धर्मास्तिकायाभावात् ७।

तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें सूत्र रूपमें स्वीकार नहीं करते। साथ ही तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य टीकाकार हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि भी इन्हें सूत्र नहीं मानते, फिर भी टिप्पणकारने इन्हें सूत्र माना है। यदि हम इनके सूत्र होने और न होनेके मतभेदकी बातको थोड़ी देरको भुला भी दें तो भी इनके मध्यमें पाया जानेवाला 'सम्यक्त्वं च' सूत्र किसी भी अवस्थामें नहीं भुलाया जा सकता। तत्त्वार्थभाष्यमें तो इसका उल्लेख है ही नहीं, अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने भी इसका उल्लेख नहीं किया है, फिर भी टिप्पणकार किसी पुराने आधारसे इसे सूत्र मानते हैं। इतना ही नहीं वे इसे मूल सूत्रकारकी ही कृति मानकर चलते हैं।

यह तो हुई सूत्रभेदकी चर्चा। अब इसके एक पाठभेदको देखिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तीसरे अध्यायमें सात क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रके आदिमें 'तत्र' पाठ उपलब्ध नहीं होता किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य उक्त सूत्रके प्रारम्भमें 'तत्र' पद उपलब्ध होता है। फिर भी टिप्पणकार यहाँ तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठको स्वीकार न कर दिगम्बर परम्परामान्य पाठको स्वीकार करते हैं।

यहाँ देखना यह है कि जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्तिकी कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको भलीभाँति समझते थे तब सूत्रपाठके विषयमें इतना मतभेद क्यों हुआ और खासकर उस अवस्थामें जब कि तत्त्वार्थभाष्य उस द्वारा स्वीकृत पाठको सुनिश्चित कर देता है। हम तो इस समस्त मतभेदको देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होनेके पहले श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठ निश्चित करनेके लिए छोटे-बड़े अनेक प्रयत्न हुए हैं और वे प्रयत्न पीछे तक भी स्वीकृत होते रहे हैं। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति द्वारा तत्त्वार्थभाष्य लिखकर सूत्रपाठके सुनिश्चित कर देने पर भी उसे वह मान्यता नहीं मिल सकी जो दिगम्बर परम्परामें सर्वार्थसिद्धि और उस द्वारा स्वीकृत सूत्र पाठको मिली है।

२. सर्वार्थसिद्धि

नामकी सार्थकता—उपलब्ध साहित्यमें **सर्वार्थसिद्धि** प्रथम टीका है जो तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें स्वयं आचार्य पूज्यपादने समाप्ति सूचक पुष्पिका[1] दी है। उसमें इसका नाम **सर्वार्थसिद्धि** बतलाते हुए इसे वृत्तिग्रन्थ रूपसे स्वीकार किया है। इसकी प्रशंसामें टीकाके अन्तमें वे लिखते हैं—

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यैः जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्षसुखके इच्छुक हैं वे जैनेन्द्र शासन रूपी उत्कृष्ट अमृतमें सारभूत और सज्जन पुरुषों द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि इस नामसे प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्तिको निरन्तर मनःपूर्वक धारण करें।

१ इति सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकायां तत्त्वार्थवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

वे पुनः लिखते हैं—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या ।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥

सब पदार्थोंके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्मभक्तिसे सुनते हैं और पढ़ते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखरूपी अमृतको अपने हाथमें ही कर लिया है। फिर उन्हें चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

'सर्वार्थसिद्धि' इस नामके रखनेका प्रयोजन यह है कि इसके मनन करनेसे सब प्रकारके अर्थोंकी अथवा सब अर्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। यह कथन अत्युक्तिको लिये हुए भी नहीं है, क्योंकि इसमें तत्त्वार्थसूत्रके जिस प्रमेयका व्याख्यान किया गया है वह सब पुरुषार्थोंमें प्रधानभूत मोक्ष पुरुषार्थका साधक है।

भारतीय परम्पराने अनेक दर्शनोंको जन्म दिया है। किन्तु उन सबके मूलमें मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्ति प्रधान लक्ष्य रहा है। महर्षि जैमिनि पूर्वमीमांसादर्शनका प्रारम्भ इस सूत्रसे करते हैं—

'ओं अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥'

और इसके बाद वे धर्मका स्वरूप निर्देश कर उसके साधनोंका विचार करते हैं।

यही स्थिति व्यास महर्षिकी है। उन्होंने शारीरिक मीमांसादर्शनको इस सूत्रसे प्रारम्भ किया है—

'अथातो ब्रह्मजि ासा ॥ १ ॥'

अब न्यायदर्शनके सूत्रोंको देखिए। उसके प्रणेता गौतम महर्षि लिखते हैं कि 'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान इनका तत्त्वज्ञान होनेसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥' सूत्र इस प्रकार है—

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥'

वैशेषिकदर्शनके प्रणेता महर्षि कणादने भी यह दृष्टि सामने रखी है। वे प्रारम्भमें लिखते हैं—

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥'

कपिल ऋषिकी स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं है। उन्होंने भी अत्यन्त पुरुषार्थको ही मुख्य माना है। वे सांख्य दर्शनका प्रारम्भ इन शब्दों द्वारा करते हैं—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १ ॥'

योगदर्शनका प्रारम्भ तो और भी मनोहारी शब्दों द्वारा हुआ है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'अब योगका अनुशासन करते हैं ॥ १ ॥ योगका अर्थ है चित्तवृत्तिका निरोध ॥ २ ॥ चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर ही द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है' ॥ ३ ॥ इस विषयके प्रतिपादक उनके सूत्र देखिए—

'अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥'

इन सबके बाद जब हमारी दृष्टि जैन दर्शनके सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र पर जाती है तो हमें वहाँ भी उसी तत्त्वके दर्शन होते हैं। इसका प्रारम्भ करते हुए आचार्य गृद्धपिच्छ लिखते हैं—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥'

यह है भारतीय दर्शनोंके प्रणयनका सार। इसलिए पूज्यपाद स्वामीका यह कहना सर्वथा उचित है कि 'जो मनुष्य धर्मभक्तिसे इस तत्त्वार्थवृत्तिको पढ़ते और सुनते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखरूपी अमृतको अपने हाथमें ही कर लिया है। फिर चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखोंके विषयमें तो कहना ही क्या है।' इससे इसका 'सर्वार्थसिद्धि' यह नाम सार्थक है।

रचनाशैली—हम कह आये हैं कि सर्वार्थसिद्धि टीका ग्रन्थ है और टीकाकारने इसे 'वृत्ति' कहा है। जिसमें सूत्रके पदोंका आश्रय लेकर पद घटनाके साथ प्रत्येक पदका विवेचन किया जाता है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिका यह अर्थ सर्वार्थसिद्धिमें अक्षरशः घटित होता है। सूत्रका शायद ही कोई पद हो जिसका इसमें व्याख्यान नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ-तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय १ सूत्र २ में केवल 'तत्त्व' या 'अर्थ' पद न रखकर 'तत्त्वार्थ'

पद क्यों रखा है इसका विवेचन दर्शनान्तरोंका निर्देश करते हुए उन्होंने जिस विशदतासे किया है इसीसे वृत्तिकारकी रचनाशैलीका स्पष्ट आभास मिल जाता है। वे सूत्रगत प्रत्येक पदका साङ्गोपाङ्ग विचार करते हुए आगे बढ़ते हैं। सूत्रपाठमें जहाँ आगमसे विरोध दिखाई देता है वहाँ वे सूत्रपाठकी यथावत् रक्षा करते हुए बड़े कौशलसे उसकी सङ्गति बिठलाते हैं। अध्याय ४ सूत्र १९ और सूत्र २२ में उनके इस कौशलके और भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूत्र १९ में 'नवग्रैवेयकेषु' न कहकर 'नवसु ग्रैवेयकेषु' कहा है। प्रत्येक आगमाभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि नौ ग्रैवेयकके सिवा अनुदिश संज्ञक नौ विमान और हैं। किन्तु मूल सूत्रमें नौ अनुदिशोंका उल्लेख नहीं किया है। आचार्य पूज्यपादसे यह रहस्य छिपा नहीं रहता। वे सूत्रकारकी मनसाको भाप लेते हैं और 'नव' पदको समसित न रखनेका कारण बतलाते हुए वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यहाँ पर नौ अनुदिशोंका ग्रहण करनेके लिए 'नव' पदका पृथक् रूपसे निर्देश किया है। २२ वें सूत्रकी व्याख्याके समय भी उनके सामने यही समस्या उपस्थित होती है। आगममें दूसरे कल्प तक पीतलेश्याका, बारहवें कल्पतक पद्मलेश्याका और आगे शुक्ललेश्याका निर्देश किया है। आगमकी इस व्यवस्थाके अनुसार उक्त सूत्रकी संगति बिठाना बहुत कठिन है। किन्तु वे ऐसे प्रसंग पर जिस साहससे आगम और सूत्रपाठ दोनोंकी रक्षा करते हैं उसे देखते हुए हमारा मस्तक श्रद्धासे उनके चरणोंमें झुके बिना नहीं रहता।

पाणिनीय व्याकरण पर पातञ्जल महाभाष्य प्रसिद्ध है। इसमें व्याकरण जैसे नीरस और कठिन विषयका ऐसी सरस और सरल पद्धतिसे विवेचन किया गया है कि उसे हाथमें लेनेके बाद छोड़नेको जी नहीं चाहता। यह तो हम आगे चलकर देखेंगे कि सर्वार्थसिद्धिकारने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय उसका कितना उपयोग किया है। यहाँ केवल यही बतलाना है कि इसमें न केवल उसका भरपूर उपयोग हुआ है अपितु उसे अच्छी तरह पचाकर उसी शैली में इसका निर्माण भी हुआ है। और आश्चर्य यह कि वह व्याकरणका ग्रन्थ और यह दर्शनका ग्रन्थ फिर भी रचनामें कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है। सर्वार्थसिद्धिकी रचना शैलीको हम समतल नदीके गतिशील प्रवाहकी उपमा दे सकते हैं जो स्थिर और प्रशान्त भावसे आगे एक रूपमें सदा बढ़ता ही रहता है रुकना कहीं वह जानता ही नहीं।

आचार्य पूज्यपादने इसमें केवल भाषा-सौष्ठवका ही ध्यान नहीं रखा है अपितु आगमिक परम्पराका भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्यायका सातवाँ और आठवाँ सूत्र इसका प्राञ्जल उदाहरण है। इन सूत्रों की व्याख्या का आलोडन करते समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का कितना गहरा अभ्यास किया था इस बातका सहज ही पता लग जाता है। इस परसे हम यह दृढ़तापूर्वक कहनेका साहस करते हैं कि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि लिखकर जहाँ एक ओर संस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की है वहाँ उन्होंने परम्परासे आये हुए आगमिक साहित्यकी रक्षाका श्रेय भी सम्पादित किया है।

निचोड़ रूपमें सर्वार्थसिद्धिकी रचनाशैलीके विषय में संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि वह ऐसी प्रसन्न और विषयस्पर्शी शैलीमें लिखी गयी है जिससे वाचक उमास्वातिप्रभृति सभी तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यकारों, वार्तिककारों और टीकाकारोंको उसका अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है।

पाठभेद और अर्थान्तरन्यास—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखा गया अन्य कोई टीका ग्रन्थ या भाष्यग्रन्थ था इसका तो स्वयं उन्होंने उल्लेख नहीं किया है किन्तु सर्वार्थसिद्धि परसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह लिखते समय उनके सामने एक-दो छोटे-मोटे टीकाग्रन्थ अवश्य थे और उनमें एक-दो स्थलोंपर महत्त्वपूर्ण पाठभेद भी था। ऐसे पाठभेदोंकी चर्चा आचार्य पूज्यपादने दो स्थलों पर की है। प्रथम स्थल है प्रथम अध्यायका १६वाँ सूत्र और दूसरा स्थल है दूसरे अध्यायका ५३वाँ सूत्र।

१. प्रथम अध्यायका १६वाँ सूत्र इस प्रकार है—

'बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥'

इसमें क्षिप्रके बाद अनिःसृत पाठ है। किन्तु इस पर आचार्य पूज्यपाद सूचित करते हैं कि **'अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः।'** अर्थात् अन्य आचार्योंके मतसे क्षिप्रके बाद अनिःसृतके स्थानपर निःसृत पाठ है।

वर्तमानमें हमारे सामने दिगम्बर और श्वेताम्बर जितने भी तत्त्वार्थसूत्रके टीकाग्रन्थ और सूत्रपाठ उपस्थित हैं उनमेंसे किसीमें भी यह दूसरा पाठ उपलब्ध नहीं होता, इसलिए यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि इनमेंसे किसी एक टीकाग्रन्थ या सूत्रपाठके आधारसे आचार्य पूज्यपादने इस मतभेदका उल्लेख किया है। तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिने अवश्य ही सर्वार्थसिद्धिमान्य 'अनिःसृत' पदको स्वीकार न कर उसके स्थानमें 'अनिश्रित' पाठ स्वीकार किया है। इसलिए यह भी शंका नहीं होती कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ था और उन्होंने इस पाठान्तर द्वारा उसकी ओर इशारा किया है। सम्भव यही दिखाई देता है कि सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय उनके सामने जो टीका-टिप्पणियाँ उपस्थित थीं उनमेंसे किन्हींमें यह दूसरा पाठ रहा होगा और उसी आधारसे आचार्य पूज्यपादने उस पाठभेदका यहाँ उल्लेख किया है। इतना ही नहीं किन्तु किसी टीकाग्रन्थमें उसकी संगति भी बिठलायी गयी होगी। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद केवल पाठभेदका उल्लेख करके ही नहीं रह गये। किन्तु इस पाठको स्वीकार कर लेनेपर उसकी व्याख्या दूसरे आचार्य किस प्रकार करते हैं इस बातका भी उन्होंने **'ते एवं वर्णयन्ति'** इत्यादि वाक्य द्वारा उल्लेख किया है।

२. दूसरे अध्यायका ५३ वाँ सूत्र इस प्रकार है—

'औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥'

समें **'चरमोत्तमदेह'** पाठ है। इससे यह भ्रम होता है कि क्या चरमशरीरी सभी उत्तम देहवाले होते हैं या कोई-कोई। यदि सभी उत्तम देहवाले होते हैं तो उत्तम पदके देनेकी क्या आवश्यकता है। और यदि कोई कोई उत्तम देहवाले होते हैं तो फिर क्या यह माना जाय कि जो चरमशरीरी उत्तम देहवाले होते हैं केवल वे ही अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं अन्य चरमशरीरी नहीं? बहुत सम्भव है कि इसी दोषका परिहार करनेके लिए किसीने **'चरमदेह'** पाठ स्वीकार किया होगा। यह भी सम्भव है कि आचार्य गृद्धपिच्छने ही **'चरमदेह'** पाठ स्वीकार किया हो। जो कुछ भी हो। पूज्यपाद आचार्यके सामने दोनों पाठ थे और उन्होंने **'चरमोत्तमदेह'** पाठको सूत्रकारका मानकर स्वीकार कर लिया और **'चरमदेह'** पाठका पाठान्तरके रूपमें उल्लेख कर दिया।

तत्त्वार्थभाष्यमान्य जो सूत्रपाठ इस समय उपलब्ध होता है उसमें **'चरमदेहोत्तमपुरुष'** पाठ है। इस परसे कुछ विद्वान् यह शंका करते हैं कि बहुत सम्भव है कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य रहा हो और उसके आधारसे उन्होंने सर्वार्थसिद्धिमें इस पाठान्तरका उल्लेख किया हो; किन्तु हमें उनके इस कथनमें कुछ भी तथ्यांश नहीं दिखाई देता। कारण एक तो तत्त्वार्थभाष्यमें **'चरमदेह'** पाठ ही नहीं है। उसमें **'चरमदेहोत्तमपुरुष'** पाठ अवश्य ही उपलब्ध होता है किन्तु इस पाठके विषयमें भी उसकी स्थिति धुंधली है। आचार्य सिद्धसेनने अपनी तत्त्वार्थभाष्यकी टीकामें इस प्रसंगको उठाया है और अन्तमें यही कहा है कि हम नहीं कह सकते कि इस सम्बन्धमें वस्तुस्थिति क्या है।

दूसरे यदि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्यका पाठ उपस्थित होता तो वे **'चरमदेहा'**[1] इति वा

---

१. यद्यपि वाचक उमास्वातिने 'औपपातिक' सूत्रके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हुए 'उत्तमपुरुष' पदका स्वतन्त्र व्याख्यान किया है और बादमें उपसंहार करते हुए उन्होंने 'उत्तमपुरुष पदको छोड़कर शेषको ही अनपवर्त्य आयुवाले बतलाया है, इसलिए इस परसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पदके समान केवल 'चरमदेह' पद भी उन्हें स्वयं इष्ट रहा है और बहुत सम्भव है कि आचार्य पूज्यपादने इसी आधारसे पाठान्तरका सूचन किया हो। किन्तु यहाँ देखना यह है कि वाचक उमास्वातिने स्वयं सूत्रकार होते हुए भाष्यमें ये दो पाठ किस आधारसे स्वीकार किये हैं। जब उनका यह निश्चय था कि उत्तमपुरुष भी अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं तब उपसंहार करते हुए अन्योंके साथ उनका भी ग्रहण करना था। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वाचक उमास्वातिको भी दो पाठ उपलब्ध हुए होंगे और उन्होंने क्रमसे दोनोंका व्याख्यान करना उचित समझा होगा। इस आधारसे वे सूत्रकार तो किसी हालतमें हो ही नहीं सकते।

पाठः' के स्थानमें 'चरमदेहोत्तमपुरुषा इति वा पाठः' ऐसा उल्लेख करते, क्योंकि उन्हें 'चरमोत्तमदेह' इस पाठके स्थानमें दूसरा पाठ क्या उपलब्ध होता है इसका निर्णय करना था। ऐसी अवस्थामें अधूरे पाठान्तरका भूल कर भी वे उल्लेख नहीं करते।

स्पष्ट है कि 'क्षिप्रनिःसृत' के समान यह पाठान्तर भी आचार्य पूज्यपादको दूसरे टीका ग्रन्थोंमें उपलब्ध हुआ होगा और उसी आधारसे उन्होंने यहाँ उसका उल्लेख किया है।

३. अर्थान्तरन्यासका एक उदाहरण हम रचना शैलीके प्रसंगसे अध्याय ४ सूत्र २२ का उल्लेख करते समय दे आये हैं। वहाँ हमने यह संकेत किया ही है कि उक्त सूत्रमें पूरे आगमिक अर्थकी संगति बैठती न देख आचार्य पूज्यपादने सूत्र और आगम दोनोंका सुन्दरता पूर्वक निर्वाह किया है। यह प्रथम अर्थान्तिरन्यासका उदाहरण है।

४. द्वितीय उदाहरण स्वरूप हम ९वें अध्यायका ११ वाँ सूत्र उपस्थित करते हैं। इसमें वेदनीय निमित्तक ११ परीषह जिनके कही गयी हैं। इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिए हम थोड़ी विस्तारके साथ चर्चा करना इष्ट मानेंगे।

परीषहोंका विचार छठवें गुणस्थानसे किया जाता है, क्योंकि श्रामण्य पदका प्रारम्भ यहींसे होता है, अतः इस गुणस्थानमें सब परीषह होते हैं यह तो ठीक ही है, क्योंकि इस गुणस्थानमें प्रमादका सद्भाव रहता है और प्रमादके सद्भावमें क्षुधादिजन्य विकल्प और उसके परिहारके लिए चित्तवृत्तिको उस ओरसे हटाकर धर्म्यध्यानमें लगानेके लिए प्रयत्नशील होना यह दोनों कार्य बन जाते हैं। तथा सातवें गुणस्थानकी स्थिति प्रमाद रहित होकर भी इससे भिन्न नहीं है, क्योंकि इन दोनों गुणस्थानोंमें प्रमाद और अप्रमादजन्य ही भेद है। यद्यपि विकल्प और तदनुकूल प्रवृत्तिका नाम छठा गुणस्थान है और उसके निरोधका नाम सातवाँ गुणस्थान है। तथापि इन दोनों गुणस्थानोंकी धारा इतनी अधिक चढ़ा-उतारकी है जिससे उनमें परीषह और उनके जय आदि कार्योंका ठीक तरहसे विभाजन न होकर ये कार्य मिलकर दोनोंके मानने पड़ते हैं। छठे गुणस्थान तक वेदनीयकी उदीरणा होती है आगे नहीं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि वेदनीयके निमित्तसे जो क्षुधादिजन्य वेदनकार्य छठे गुणस्थानमें होता है वह आगे कथमपि सम्भव नहीं। विचारकर देखने पर बात तो ऐसी ही प्रतीत होती है और है भी वह वैसी ही, क्योंकि अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें जब जीवकी न तो बाह्यप्रवृत्ति होती है और न बाह्यप्रवृत्तिके अनुकूल परिणाम ही होते हैं तब वहाँ क्षुधादि परीषहोंका सद्भाव मानना कहाँतक उचित है यह विचारणीय हो जाता है। इसलिए यहाँ यह देखना है कि आगेके गुणस्थानोंमें इन परीषहोंका सद्भाव किस दृष्टिसे माना गया है।

किसी भी पदार्थका विचार दो दृष्टियोंसे किया जाता है—एक तो कार्यकी दृष्टिसे और दूसरे कारणकी दृष्टिसे। परीषहोंका कार्य क्या है और उनके कारण क्या हैं इस विषयका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह शास्त्रोंमें किया है। परीषह तथा उनके जयका अर्थ है—बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमें जाते हुए अपने चित्तको रोकना तथा स्वाध्याय ध्यान आदि आवश्यक कार्योंमें लगे रहना। परीषह और उनके जयके इस स्वरूपको ध्यानमें रखकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही ऐसा है जिसमें बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमें चित्त जाता है और उनसे चित्तवृत्तिको रोकनेके लिए यह जीव उद्यमशील होता है। किन्तु आगेके गुणस्थानोंकी स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ बाह्य कारणोंके रहनेपर भी उनमें चित्तवृत्तिका रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता। इतना ही नहीं, कुछ आगे चलकर तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि जहाँ न तो बाह्य कारण ही उपस्थित होते हैं और न चित्तवृत्ति ही शेष रहती है। इसलिए इन गुणस्थानोंमें केवल अन्तरंग कारणोंको ध्यानमें रखकर ही परीषहोंका निर्देश किया गया है। कारण भी दो प्रकारके होते हैं—एक बाह्य कारण और दूसरे अन्तरङ्ग कारण। बाह्य कारणोंके उपस्थित होनेका तो कोई नियम नहीं है। किन्हींको उनकी प्राप्ति सम्भव भी है और किन्हींको नहीं भी। परन्तु अन्तरङ्ग कारण सबके पाये जाते हैं। यही कारण है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके ग्रन्थोंमें परीषहोंके कारणोंका विचार करते समय मुख्यरूपसे

अन्तरङ्ग कारणोंका ही निर्देश किया है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमें वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शन-मोहनीय, चारित्रमोहनीय और अन्तरायके उदयरूप कहे हैं, अन्यरूप नहीं।

कुल परीषह २२ हैं। इनमेंसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयमें होते हैं। ज्ञानावरणका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए इनका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थान तक कहा है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रज्ञा और अज्ञानके निमित्तसे जैसा विकल्प प्रमत्तसंयत जीवके हो सकता है वैसा वह अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें भी होता है। आगेके गुणस्थानोंमें इस प्रकारके विकल्पके न होनेपर भी वहाँ केवल ज्ञानावरणका उदय पाया जाता है, इसलिए वहाँ इन परीषहोंका सद्भाव कहा है।

अदर्शनपरीषह दर्शनमोहनीयके उदयमें और अलाभ परीषह अन्तरायके उदयमें होते हैं। यह बात किसी भी कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे छिपी हुई नहीं है कि दर्शनमोहनीयका उदय अधिकसे अधिक अप्रमत्तसंयत गुण-स्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शन परीषहका सद्भाव अधिकसे अधिक इसी गुणस्थान तक कहा जा सकता है और अन्तरायका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए अलाभ परीषहका सद्भाव वहाँ तक कहा है। किन्तु कार्यरूपमें ये दोनों परीषह भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही जानने चाहिए। आगे इनका सद्भाव दर्शनमोहनीयके उदय और अन्तरायके उदयकी अपेक्षा ही कहा है।

प्रसङ्गसे यहाँ इस बातका विचार कर लेना भी इष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ बादर-साम्पराय जीवके सब परीषहोंका सद्भाव बतलाते हुए उन्हें बादरायसाम्पराय शब्दका अर्थ क्या अभिप्रेत रहा होगा। हम यह तो लिख ही चुके हैं कि दर्शनमोहनीयका उदय अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शनपरीषहका सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थानसे आगे कथमपि नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामें बादरसाम्पराय का अर्थ स्थूल कषाय युक्त जीव ही हो सकता है। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धिमें इस पदकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि **'यह गुणस्थान विशेषका ग्रहण नहीं है। तो क्या है? सार्थक निर्देश है। इससे प्रमत्त आदि संयतोंका ग्रहण होता है[1]।'**

किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें **'बादरसाम्पराये सर्वे।'** इस सूत्रकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है—**'बादरसाम्प-रायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः सम्भवन्ति।'** अर्थात् बादरसाम्पराय संयतके सब अर्थात् बाईस परीषह ही सम्भव हैं। तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य व्याख्याकार सिद्धसेनगणि हैं। वे तत्त्वार्थभाष्यके उक्त शब्दोंकी व्याख्या इन शब्दोंमें करते हैं—

'बादरः स्थूलः साम्परायः कषायस्तदुदयो यस्यासौ बादरसाम्परायः संयतः। स च मोहप्रकृतीः कश्चिदुपशमयतीत्युपशमकः। कश्चित् क्षपयतीति क्षपकः। तत्र सर्वेषां द्वाविंशतेरपि क्षुदादीनां परीषहाणाम-दर्शनान्तानां सम्भवः।'

जिसके कषाय स्थूल होता है वह बादरसाम्पराय संयत कहलाता है। उनमेंसे कोई मोहनीयका उपशम करता है इसलिए उपशमक कहलाता है और कोई क्षय करता है इसलिए क्षपक कहलाता है। इसके सभी बाईस क्षुधा आदि परीषहोंका सद्भाव सम्भव है।

इस व्याख्यानसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणिके अभिप्रायसे तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिको यहाँ 'बादरसाम्पराय' पदसे नौवाँ गुणस्थान ही इष्ट है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्यामें यही अर्थ स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—**'जिसमें साम्पराय–कषायका बादर अर्थात् विशेषरूपमें सम्भव हो ऐसे बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानमें बाईस परीषह होते हैं। इसका कारण यह है कि परीषहोंके कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं।'**

'बादरसाम्पराय' पदकी ये दो व्याख्याएँ हैं जो क्रमशः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें उपलब्ध होती हैं। सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्याके अनुसार 'बादरसाम्पराय पद गुणस्थान-विशेषका सूचक न होकर अर्थ-

---

१. नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणम्। किं तर्हि? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतादीनां ग्रहणम्। स०, अ० ९, सू० १२।

परक निर्देश होनेसे दर्शनमोहनीयके उदयमें अदर्शन परीषह होता है इस अर्थकी सङ्गति बैठ जाती है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकी व्याख्याको स्वीकार करने पर एक नयी अड़चन उठ खड़ी होती है। दर्शनमोहनीयका सत्त्व उपशान्तमोह गुणस्थान तक रहता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थान तक अदर्शन परीषह कहा होगा। किन्तु इस मतको स्वीकार करने पर दो नयी आपत्तियाँ और सामने आती हैं। प्रथम तो यह कि यदि उन्होंने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहका सद्भाव स्वीकार किया है तो उसका सद्भाव ग्यारहवें गुणस्थान तक कहना चाहिए। दूसरी यह कि वे **'क्षुत्पिपासा शीतोष्ण–'** इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि **'पञ्चानामपि कर्मप्रकृतीनामुदयादेते परीषहाः प्रादुर्भवन्ति।'** अर्थात् पाँच कर्मप्रकृतियोंके उदयसे परीषह उत्पन्न होते हैं। सो पूर्वोक्त अर्थके स्वीकार करने पर इस कथनकी सङ्गति नहीं बैठती दिखलाई देती। क्योंकि एक ओर तो दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहको नौवें गुणस्थान तक स्वीकार करना और दूसरी ओर सब परीषहोंको पाँच कर्मोंके उदयका कार्य कहना ये परस्पर विरोधी दोनों कथन कहाँ तक युक्तियुक्त हैं यह विचारणीय हो जाता है। स्पष्ट है कि सिद्धसेन गणिकी टीकाके अनुसार तत्त्वार्थभाष्यका कथन न केवल स्खलित है अपितु वह मूल सूत्रकारके अभिप्रायके प्रतिकूल भी है, क्योंकि मूल सूत्रकारने इन परीषहोंका सद्भाव कर्मोंके उदयकी मुख्यतासे ही स्वीकार किया है। अन्यथा वे अदर्शन परीषहका सद्भाव और चारित्रमोहके निमित्तसे होनेवाले नाग्न्य आदि परीषहोंका सद्भाव उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक अवश्य कहते।

नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये सात परीषह चारित्रमोहनीयके उदयमें होते हैं। सामान्यतः चारित्रमोहनीयका उदय यद्यपि सूक्ष्मसाम्परायिक नामक दसवें गुणस्थान तक होता है इसलिए इन सात परीषहोंका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक कहना चाहिए था ऐसी शंका की जा सकती है परन्तु इनका दसवें गुणस्थान तक सद्भाव न बतलानेके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि चारित्रमोहनीयके अवान्तरभेद क्रोध, मान और मायाका तथा नौ नोकषायोंका उदय नौवें गुणस्थानके अमुक भाग तक ही होता है, इसलिए इन परीषहोंका सद्भाव नौवें गुणस्थान तक कहा है। दूसरा यह कि दसवें गुणस्थानमें यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय होता है अवश्य पर एक लोभ कषायका ही उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म, इसलिए इनका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक न कहकर मात्र नौवें गुणस्थान तक कहा है।

तथा क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्मके उदयमें होते हैं। वेदनीय कर्मका उदय जिनके भी होता है, इसलिए, इनका सद्भाव वहाँ तक कहा है।

इस प्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें सूत्रकारने जो परीषहोंका सद्भाव कहा है उसमें उनकी दृष्टि कारणको ध्यानमें रखकर विवेचन करनेकी ही रही है और इसीलिए सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादने पहले सूत्रकारकी दृष्टिसे **'एकादश जिने'** इस सूत्रका व्याख्यान किया है। अनन्तर जब उन्होंने देखा कि कुछ अन्य विद्वान् अन्य साधारण मनुष्योंके समान केवलीके कारणपरक परीषहोंके उल्लेखका विपर्यास करके भूख-प्यास आदि बाधाओंका ही प्रतिपादन करने लगे हैं तो उन्होंने यह बतलानेके लिए कि केवलीके कार्यरूपमें ग्यारह परीषह नहीं होते **'न सन्ति'** पदका अध्याहार कर उस सूत्रसे दूसरा अर्थ फलित किया है। इसमें न तो उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि रही है और न ही उन्होंने तोड़-मरोड़कर उसका अर्थ किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि तो उनकी है जो उसे इस दृष्टिकोणसे देखते हैं। आचार्योंमें मतभेद हुए हैं और हैं पर सब मतभेदोंको साम्प्रदायिक दृष्टिका सेहरा बाँधना कहाँ तक उचित है यह समझने और अनुभव करनेकी बात है। आचार्य पूज्यपाद यदि साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके होते तो वे ऐसा प्रयत्न न कर सूत्रका ही कायाकल्प कर सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्थितिको बिल्कुल स्पष्ट रखा है। तत्त्वतः देखा जाय तो एक मात्र यही उदाहरण उनकी साहित्यिक प्रामाणिकताकी कसौटी बन सकता है। यह अर्थान्तरन्यासका दूसरा उदाहरण

है। इसके सिवा अर्थान्तरन्यासके एक दो उदाहरण और भी उपस्थित किये जा सकते हैं पर विशेष प्रयोजन न होनेसे उनका यहाँ हमने निर्देश नहीं किया है।

इस प्रकार इन चार उदाहरणोंसे इस बातका सहज ही पता लग जाता है कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठ और पाठान्तरोंकी रक्षाका कितना अधिक ख्याल रखा है।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य—ऐसा होते हुए भी आचार्य पूज्यपादके ऊपर यह आक्षेप[१] किया जाता है कि उन्होंने उन्हें उपलब्ध हुए सूत्रपाठमें सुधार और वृद्धि कर सर्वार्थसिद्धिकी रचना की है। सर्वार्थसिद्धि किस कालकी रचना है और तत्त्वार्थभाष्य किस कालका यह तो हम आगे चलकर देखेंगे। यहाँ केवल तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनोंके अन्तःस्वरूपका पर्यालोचन करना है।

सूत्रपाठ—सर्व प्रथम हम सूत्रपाठको लेते हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें शब्दोंके हेरफेरसे या सूत्रोंके घटाने-बढ़ानेसे छोटे-मोटे अन्तर[२] तो पर्याप्त हुए हैं किन्तु उन सबका ऊहापोह यहाँ नहीं करना है। जिनमें मौलिक अन्तर हुआ है ऐसे सूत्र तीन हैं। प्रथम स्वर्गोंकी संख्या का प्रतिपादक सूत्र, दूसरा सानत्कुमार आदिमें प्रवीचारका प्रतिपादक सूत्र और तीसरा कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाला सूत्र।

स्वर्गोंके प्रतिपादक सूत्रमें मौलिक अन्तर यह हुआ है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें १६ कल्पोंकी परिगणना की गयी है और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें १२ कल्पोंकी परिगणना की गयी है। इस पर आक्षेप यह किया जाता है कि 'जब सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें कल्पोपपन्न देवोंके भेद[3] बारह बतलाये हैं और नामोंकी परिगणना करते समय वे सोलह परिगणित किये गये हैं तब यह माननेके लिए पर्याप्त आधार हो जाता है कि या तो आचार्य पूज्यपादने या इनके पूर्ववर्ती अन्य किसी आचार्यने इस सूत्रमें घटा-बढ़ाकर उसे वर्तमान रूप दिया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए बहुत सम्भव है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूठपाठ मूल हो और उसमें सुधार कर उत्तरकालमें सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निर्मित हुआ हो[४]।'

यहाँ सर्वप्रथम यह विचार करना है कि क्या उक्त सूत्रके आधारसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ मूल है और उसे सुधार कर या बढ़ाकर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निर्मित हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि किसी एक पाठमें परिवर्तन किया गया है पर वह परिवर्तन किस पाठमें किया जाना सम्भव है यही विचारणीय है। जैसा कि हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्पराके अनुसार सर्वत्र कल्पोपपन्न देवोंके भेद बारह और कल्प सोलह गिनाये गये हैं। कल्प कल्पोपपन्न देवोंके आवासस्थानकी विशेष संज्ञा है। यदि कल्पोपपन्न देव बारह प्रकारके होकर भी उनके आवासस्थान सोलह प्रकारके माने गये हैं तो इसमें बाधाको कौन सी बात है। और इस आधारसे वह कैसे कहा जा सकता है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें सुधार किया गया है। यदि सुधार करना ही इष्ट होता तो अध्याय ४ सूत्र तीनमें भी 'बारह' के स्थानमें 'सोलह' किया जा सकता था। प्रत्युत इसपरसे तो यही कहा जा सकता है कि पूज्यपाद स्वामोको जैसा पाठ मिला एकमात्र उसीकी उन्होंने यथावत् रक्षा की है। दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठकी ओर ध्यान देते हैं तब भी इस सूत्रके आधारसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कारण कि वहाँ भी इस सूत्रमें घटा बढ़ीका ऐसा प्रबल कारण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि उक्त सूत्रमें परिवर्तन किया गया है। दोनों ही परम्पराओंके आचार्य अपनी-अपनी परम्पराको मान्यतापर दृढ़ हैं इसलिए इस आधारसे यही कहा जा सकता है कि जिसने उत्तरकालमें रचना की होगी उसीके द्वारा सूत्रोंमें सुधार करना सम्भव है।

दूसरी सानत्कुमार आदिमें प्रविचारका प्रतिपादक सूत्र है। दोनोंमें इस सूत्रकी स्थिति इस प्रकार है।

---

१. देखो पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० ८४, ८५। २. देखो दो सूत्रपाठ प्रकरण, परिशिष्ट १ और उसके टिप्पण। ३. देखो अ० ३ सू० २। ४. इस आक्षेपके लिए देखो पं० सुखलालजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना ७३ से ८९।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः । सर्वा० ।
शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः । त० भा० ।

हम देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रमें 'द्वयोर्द्वयोः' इतना पद अधिक है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इसका सर्वथा अभाव है । इसके पहले दोनों ही परम्पराओंमें **'कायप्रवीचाराः आ ऐशानात्'** यह सूत्र आता है । इस द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्प तक प्रवीचारका विधान किया गया है । आगे सर्वार्थसिद्धिके अनुसार चौदह और तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार दस कल्प शेष रहते हैं जिनमें यह सूत्र प्रवीचारका विधान करता है । प्रकृतमें देखना यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोंमें इसकी संगति किस प्रकार बिठलायी गयी है । यह तो स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिमें 'द्वयोर्द्वयोः' पद न होनेसे आचार्य पूज्यपादको इसकी व्याख्या करनेमें कोई कठिनाई नहीं गयी । उन्होंने तो आर्षके अनुसार इसकी व्याख्या करके छुट्टी पा ली । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकारकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है । उनके सामने 'द्वयोर्द्वयोः' पदके कारण इसकी व्याख्या करते समय यह समस्या रही है कि प्रवीचारके विषय चार और कल्प दस होनेसे इसकी संगति कैसे बिठलायी जाय । फलस्वरूप उन्हें अन्तके चार कल्पोंको दो मानकर इस सूत्रकी व्याख्या करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है । उन्होंने किसी प्रकार व्याख्या करनेका तो प्रयत्न किया पर इससे जो असंगति उत्पन्न होती है वह कथमपि दूर नहीं की जा सकी है । इससे मालूम पड़ता है कि या तो तत्त्वार्थभाष्यकार को **'द्वयोर्द्वयोः'** पदके साथ सूत्रपाठ मिला है या फिर स्वयं उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे इस सूत्रको स्पष्ट करनेकी मनसासे सूत्रमें यह पद बढ़ाया है । यहाँ उत्तर विकल्पकी अधिक सम्भावना है । हमें ऐसे एक दो स्थल और मिले हैं जिनमें तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे सूत्रोंको संगति बिठलायी गयी है । उदाहरण स्वरूप **'यथोक्तनिमित्तः'** पद लीजिए । यह प्रथम अध्यायके २२वें सूत्रमें आया है । इसके पहले एक सूत्रके अन्तरसे वे 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र कह आये हैं और इन भेदोंका स्पष्टीकरण इस सूत्रके भाष्यमें किया है । प्रकृतमें **'यथोक्तनिमित्तः'** पदमें आये हुए **'यथोक्त'** पद द्वारा उनका संकेत इसी भाष्यकी ओर है । वे इस पद द्वारा कहना चाहते हैं कि दूसरे जिस निमित्तका संकेत हमने 'द्विविधोऽवधिः' सूत्रके भाष्यमें किया है उस निमित्तसे शेष जीवोंके छह प्रकार का अवधिज्ञान होता है । किन्तु उस अवस्थामें जब कि सूत्र रचना पहले हो चुकी थी और भाष्य बादमें लिखा गया है भाष्यकारकी स्थिति सन्देहजनक हो जाती है । और मानना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिने प्राचीन सूत्रपाठमें सुधार करनेका प्रयत्न किया है ।

तीसरा कालके अस्तित्वको स्वीकार करनेवाला सूत्र है । यह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें इस प्रकार उल्लिखित है—

कालश्च । सर्वा० ।
कालश्चेत्येके । त० भा० ।

इस द्वारा कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार ऐसा करते हुए भी अन्य आचार्योंके मतसे कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करते हैं स्वयं नहीं । यही कारण है कि उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यमें जहाँ जहाँ द्रव्योंका उल्लेख किया है वहाँ वहाँ पाँच अस्तिकायोंका[1] ही उल्लेख किया है और लोकको पाँच अस्तिकायात्मक बतलाया है । श्वेताम्बर आगम साहित्यमें छह द्रव्योंका निर्देश किया है अवश्य और एक स्थानपर तो तत्त्वार्थभाष्यकार भी छह द्रव्योंका[2] उल्लेख करते हैं परन्तु इससे वे कालको द्रव्य मानते ही हैं यह नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि श्वेताम्बर आगम साहित्यमें जहाँ भी छह द्रव्योंका नामनिर्देश किया है वहाँ कालद्रव्यके लिए **'अद्धासमय'** शब्द प्रयुक्त हुआ है **'काल'** शब्द नहीं और अद्धासमय शब्दका अर्थ वहाँ पर्याय ही लिया गया है प्रदेशात्मक द्रव्य नहीं । तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इसी परिपाटीका निर्वाह किया

१. सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात् । अ० १, सू० ३५ । पञ्चास्तिकायो लोकः । अ० ३, सू० ६ । पञ्चास्तिकायात्मकम् । अ० ९, सू० ७ । २. षट्त्वं षट्द्रव्यावरोधात् । अ० १, सू० ३५ ।

है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके जिन सूत्रोंमें 'काल' शब्द आया है वहाँ तो उनकी व्याख्या करते हुए 'काल' शब्दका ही उपयोग किया है किन्तु जिन सूत्रोंमें 'काल' शब्द नहीं आया है और वहाँ 'काल'का उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक समझा तो 'काल' शब्दका प्रयोग न कर 'अद्धासमय'[1] शब्दका ही प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थभाष्य और उस मान्य सूत्रपाठकी ये दो स्थितियाँ हैं जो हमें इस निष्कर्षपर पहुँचानेमें सहायता करती हैं कि प्रारम्भमें तो 'कालश्च' इस प्रकारके सूत्रका ही निर्माण हुआ होगा किन्तु बादमें वह बदलकर 'कालश्चेत्येके' यह रूप ले लेता है।

यहाँ प्रसंगसे सूत्र रचनाकी शैलीके विषयमें भी दो शब्द कहने हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठको देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि परिशेषन्यायसे उसमें कोई भी बात नहीं कही गयी है। वह सीधी सूत्र और उनके पदोंकी व्याख्या करते हुए आगे बढ़ती है। इसके विपरीत दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थभाष्यको देखते हैं तो उसमें हमें कोई एक निश्चित शैलीके दर्शन नहीं होते हैं। कहीं वे परिशेषन्यायको स्वीकार करते हैं और कहीं नहीं। जैसे 'शेषाणां संमूर्छनम्' और 'अशुभः पापस्य' ये दो सूत्र परिशेषन्यायसे नहीं कहे जाने चाहिए थे फिर भी उन्होंने इनको स्वतन्त्र सूत्र मान लिया है और 'शेषास्त्रिवेदाः' तथा 'अतोऽन्यत्पापम्' इनको छोड़ दिया। ऐसी अवस्थामें यह कहना कि आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थभाष्यको देखकर इन्हें स्वतन्त्र सूत्रोंका रूप दिया है युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः तत्त्वार्थभाष्यकार अपनेको ऐसी स्थितिमें नहीं रख सके हैं जिससे उनके विषयमें कोई निश्चित रेखा खींची जा सके। एक दूसरे अध्याय के शरीर प्रकरणको ही लीजिए। उसमें वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिके दोनों प्रकार तो सूत्रोंमें दिखा दिये किन्तु जब तैजस शरीरका प्रसंग आया तो उसकी उत्पत्तिके प्रकारको सूत्रमें दिखलाना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। क्या इस प्रकरणको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह असंगति मूलसूत्रकारको रुचिकर प्रतीत रही होगी। तत्त्वार्थभाष्यके अन्य सूत्रोंमें भी ऐसी असंगतियाँ दीख पड़ती हैं। चौथे अध्यायमें लौकान्तिक देवोंका प्रतिपादक सूत्र आता है। उसमें लौकान्तिक देवोंके भेदोंका प्रतिपादन करते समय नौ भेद दरशाये हैं किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें 'एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवाः' इन शब्दों द्वारा वे आठ ही रह गये हैं।

वे भी ऐसे उदाहरण हैं जो तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न करते हैं और यह माननेके लिए बाध्य करते हैं कि बहुत सम्भव है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ पुराना हो और उसमें ऐच्छिक परिवर्तन कर तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी रचना की गयी हो।

पौर्वापर्यविचार—पिछले प्रकरणसे यद्यपि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। तथापि कुछ अत्युपयोगी विषयोंपर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि अन्तमें हमें यह देखना है कि इनकी रचनाकी आनुपूर्वी क्या है। इस प्रकरणको विशेष स्फुट करनेके लिए सर्व-प्रथम हम समान स्थलोंका ऊहापोह करेंगे और उसके बाद उन स्थलोंको स्पर्श करेंगे जिससे इनके पौर्वापर्यके ऊपर प्रकाश पड़ता है; क्योंकि सर्वप्रथम हमें यह दिखलाना है कि इन दोनों ग्रन्थोंकी स्थिति ऐसी है कि किसी एकको सामने रखकर दूसरा लिखा गया है और अन्तमें यह विचार करना है कि यह अनुसरणकी प्रवृत्ति किसमें स्वीकार की गयी है।

सर्वप्रथम प्रथम अध्यायका प्रथम सूत्र ही लीजिए। इसमें सर्वार्थसिद्धिमें यह वाक्य आता है—

एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः।

यही वाक्य तत्त्वार्थभाष्यमें कुछ शब्दोंके हेर-फेरके साथ इन शब्दों द्वारा स्फुट किया गया है—

तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः।

१. अ० ५ सू० १।

आगे भी यह सादृश्य अन्त तक देखनेको मिलता है। यथा—

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थभाष्य
तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः १,२।	तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते। १,२।
प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। १,२।	तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति। १,२।
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। अथ किं तत्त्वमित्यत इदमाह— उत्थानिका १,४।	तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। तत्र किं तत्त्वमिति। अत्रोच्यते— उत्थानिका १,४।
तद्यथा—नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते १,५।	तद्यथा—नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति। १,५।
काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। १,५।	यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः। १,५।
किंकृतोऽयं विशेषः ? वक्तृविशेषकृतः। त्रयो वक्तारः सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणम्, तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। १,२०।	किंकृतः प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते-वक्तृविशेषाद्द्वैविध्यम्। यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिः तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसंपन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति। १-२०।

यहाँ हमने इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए थोड़ेसे उदाहरण ही उद्धृत किये हैं। आगे उन स्थलोंको स्पर्श करना है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यको स्पष्ट करनेमें सहायता करते हैं।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इनमेंसे पहले कौन और बादमें कौन लिखा गया इसका विचार करते हुए शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकता इन तीन उपप्रकरणों द्वारा इस विषयपर प्रकाश डाला है और इन आधारोंसे तत्त्वार्थभाष्यको प्रथम ठहरानेका प्रयत्न किया है।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीके कथनानुसार हम मान लें कि सर्वार्थसिद्धिकी शैली तत्त्वार्थभाष्यकी शैलीकी अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है। साथ ही यह भी मान लें कि सर्वार्थसिद्धिमें व्याकरणकी दृष्टिसे अर्थविकासके स्पष्ट दर्शन होते हैं। तथापि इन आधारोंसे तत्त्वार्थभाष्यको पहलेकी और सर्वार्थसिद्धिको बादकी रचना घोषित करनेका प्रयत्न करना सयुक्तिक प्रतीत नहीं होता। आचार्य पूज्यपादका व्याकरणके ऊपर लिखा गया जैनेन्द्र व्याकरण प्रसिद्ध है। उन्होंने न्यायके ऊपर भी ग्रन्थरचना की थी यह भी धवला टीकाके उल्लेखसे[1] विदित होता है। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा रची गयी सर्वार्थसिद्धिमें इन विषयोंका विशद और स्पष्ट विवेचन होना स्वाभाविक है। किन्तु वाचक उमास्वातिकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे मुख्यतया आगमिक विद्वान् थे। उनकी अब तक जितनी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं वे आगम परिपाटीको लिये हुए ही हैं। यही कारण है कि उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यमें व्याकरण और दर्शन विषयका विशेष ऊहापोह नहीं किया है।

उनका तीसरा आक्षेप साम्प्रदायिकताका है। पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमें प्रतिपादित ऐसे चार विषय चुने हैं जिनमें उन्हें साम्प्रदायिकता की गन्ध आती है। वे लिखते हैं कि 'कालतत्त्व' केवलिकवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयोंके तीव्र मतभेद का रूप धारण करनेके बाद और इन बातोंपर साम्प्रदायिक

आग्रह बँध जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी है, जब कि भाष्यमें साम्प्रदायिक अभिनिवेशका यह तत्त्व दिखाई नहीं देता।

प्रकृतमें इस विषयपर विचार करनेके पहले पण्डितजी ऐसा लिखनेका साहस क्यों करते हैं इस बात-का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

भगवान् महावीर स्वामीके मुक्तिलाभ करनेपर जो पाँच श्रुतकेवली हुए हैं उनमें अन्तिम भद्रबाहु थे। इनके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा था। इससे संघसहित भद्रबाहु दक्षिणकी ओर विहार कर गये थे। इस दुर्भिक्षका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा भी करती है और साधुसंघके समुद्रके समीप जाकर बिखर जानेकी बात स्वीकार करती है। उस समय भद्रबाहुके मुख्य शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त भी उनके साथ गये थे और वहाँ पहुँचते-पहुँचते आयु क्षीण हो जानेसे भद्रबाहुने वहीं समाधि ले ली थी। किन्तु कुछ साधु श्रावकोंके विशेष अनुरोधवश पटना ही रह गये थे और कालान्तरमें परिस्थितिवश उन्होंने वस्त्र स्वीकार कर लिया था। जिससे जैन परम्परामें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति मानी जाती है। जब बारह वर्षका दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तब साधु पुनः पटना लौट आये। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार 'भद्रबाहु उस समय नेपालकी तराईमें थे और बारह वर्षकी विशेष तपश्चर्या करनेमें लगे हुए थे। साधुसंघने भद्रबाहुको पटना बुलाया किन्तु वे नहीं आये जिससे उन्हें संघबाह्य करनेकी धमकी दी गयी और किसी प्रकार उन्हें शिष्य समुदायको पढ़ानेके लिए राजी कर लिया गया। स्थूलभद्रने अंगज्ञान उन्हींसे प्राप्त किया है।' यदि श्वेताम्बर सम्प्रदायके इस कथनको सत्य मानकर चलें तब भी श्वेताम्बर सम्प्रदायका अपनी परम्पराको स्थूलभद्रसे स्वीकार करना और पटना वाचनामें भद्रबाहुका सम्मिलित न होना ये दो बातें ऐसी हैं जो उस समय जैनसंघमें हुए किसी बड़े भारी विस्फोटका संकेत करती हैं। स्पष्ट है कि उस समयकी वाचनाको अखिल जैनसंघका प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था और कालान्तरमें जो अंगसाहित्य संकलित और लिपिबद्ध हुआ है वह सवस्त्रसाधुको जैन परम्परामें प्रतिष्ठित करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। इस समय जो श्वेताम्बर अंग साहित्य उपलब्ध है वह लगभग भगवान् महावीरके मोक्ष गमनके एक हजार वर्षके बादका ही संकलन है। सोचनेकी बात है कि जब भद्रबाहुके कालमें ही प्रथम वाचना हुई थी तब उसे उसी समय पुस्तकारूढ़ करके उसकी रक्षा क्यों नहीं की गयी? घटनाक्रमसे विदित होता है कि उस समय श्वेताम्बर संघके भीतर ही तीव्र मतभेद[1] रहा होगा और एक दल यह कहता होगा कि संघभेदकी स्थितिमें भी अंगसाहित्यमें परिवर्तन करना इष्ट नहीं है। बहुत सम्भव है कि यदि उस समय श्वेताम्बर अंग साहित्य संकलित होकर पुस्तकारूढ़ किया जाता तो उसका वर्तमान में रूप ही कुछ दूसरा होता।

यद्यपि श्वेताम्बर अंगसाहित्यमें ऐसे भी उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं जो नग्नताके समर्थक हैं। किन्तु इन उल्लेखोंको उसकी प्रामाणिकताकी कसौटी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये परिस्थितिवश स्वीकार किये गये हैं। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इस स्थितिसे अनभिज्ञ हों ऐसी बात नहीं है। वे जानते हुए भी किसी कारणवश इस स्थितिको दृष्टिओझल करनेके यत्नमें हैं और यह घोषित करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्वेताम्बर अंगश्रुतमें अचेलकत्व समर्थक वाक्य ही भगवान् महावीरकी परम्पराके पूरे प्रतिनिधित्वके सूचक हैं।[2]

यह सत्य है कि श्रमण परम्परामें अचेलकत्व और सचेलकत्व दोनोंको स्थान रहा है और यह भी सत्य है कि अचेलकत्व उत्सर्ग धर्म और सचेलकत्व अपवाद धर्म माना गया है। हमें दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें भी ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है। किन्तु वहाँ अचेलकत्वसे तात्पर्य मुनिधर्मसे

---

१. सचेल दलके भीतर तीव्र मतभेदकी बात प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—'मथुराके बाद बलभीमें पुनः श्रुतसंस्कार हुआ जिसमें स्थविर या सचेल दलका रहा सहा मतभेद भी नाम शेष हो गया। देखो तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० ३०। २. प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीके लेखों का भाव। देखो तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० २९।

है और सचेलकत्वसे तात्पर्य गृहस्थधर्म या श्रावकधर्मसे है। श्रावकधर्म मुनिधर्मका अपवादमार्ग है। जहाँ गृहस्थ सब प्रकारकी हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मका परिहार कर मुनि होता है वहाँ उसे सब प्रकारके परिग्रहका परिहार करना भी आवश्यक होता है। श्वेताम्बर अंगश्रुत और प्रकीर्णक साहित्यमें वस्त्र और पात्रके स्वीकार करनेको भी संयमका साधन माना गया है किन्तु संयमका साधन वह हो सकता है जो शरीर की सुविधाके लिए आवश्यक न होकर मात्र प्राणिपीडा परिहारके लिए स्वीकार किया जाता है। किन्तु वस्त्र और पात्र प्राणिपीड़ा परिहारके लिए स्वीकार किये जाते हैं यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इन साधनोंसे उक्त कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे इन्हें उक्त कार्यका अनिवार्य अंग मानकर चलने पर नग्नता और पाणिपात्रत्वका विधान करना नहीं बन सकता है। किन्तु हम देखते हैं कि श्वेताम्बर आगममें अचेलत्व और पाणिपात्रत्वका भी विधान है अतः वस्त्र और पात्र उन्हींके मतसे संयमके उपकरण नहीं हो सकते। एक चरचा उत्सर्ग और अपवादलिंगकी की जाती है। यह कहा जाता है कि नग्नता और पाणिपात्रत्व उत्सर्ग लिंग है किन्तु इसका अपवाद भी होना चाहिए और अपवादरूपमें ही वस्त्र और पात्र स्वीकार किये जाते हैं। हम मानते हैं कि प्रत्येक उत्सर्गका अपवाद होता है और यह व्यवस्था श्रमण परम्पराने भी स्वीकार की है। तभी तो वह मुनिधर्म और गृहस्थधर्म इन दो भेदों का निर्देश करती है। मुनिधर्म उत्सर्ग लिंग है और गृहस्थधर्म उसका अपवाद है। इसलिए वस्त्र और पात्रका स्वीकार मुनि आचारका अंग नहीं बन सकता है। भले ही दुर्भिक्षके समय ऐसी परिस्थिति रही है जिससे उस समय उत्तर भारतमें जो साधु रह गये थे उन्हें वस्त्र और पात्र स्वीकार करने पड़े थे। इतना ही नहीं उन्हें कारणवश दण्ड भी स्वीकार करना पड़ा था। किन्तु इन्हें साधुका चिह्न मान लेना मुनि मार्गके विरुद्ध है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि जो कमजोरी-वश वस्त्रादिकको स्वीकार करते हैं वे श्रावक होते हैं। उनके परिणाम मुनिधर्मके अनुकूल नहीं हो सकते।

इस स्थितिके होते हुए भी आग्रहवश श्वेताम्बर अंगश्रुतमें वस्त्र, पात्रादिको साधुके अंग मानकर उनके जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दो भेद कर दिये गये हैं। इस कारण प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीको भी उसकी पुष्टिके लिए बाध्य होना पड़ा है। अन्यथा उन्हें जिन तथ्योंके निर्देशमें साम्प्रदायिकताकी गन्ध आती है उन्हें वे न केवल तात्त्विक दृष्टिसे स्वीकार करते अपितु वे परिस्थितिवश श्रमण परम्परामें हुई एक बहुत बड़ी गलतीका परिहारकर आगेका पथ प्रशस्त करनेमें सहायक होते।

यह हम पहले संकेत कर आये हैं कि पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमेंसे ऐसी चार बातें चुनी हैं जिनका निर्देश वे साम्प्रदायिक कोटिका मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें निर्णायक रूपसे काल तत्त्वका विधान किया गया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें मतविशेषके रूपमें उसका उल्लेख है। सर्वार्थसिद्धि केवलिकवलाहार और स्त्री मुक्तिका निषेधकर नाग्न्यको स्वीकार करती है जब कि तत्त्वार्थभाष्य परीषहोंके प्रसंगसे नाग्न्यको स्वीकार कर वस्त्र, पात्र और स्त्री तीर्थंकरका भी विधान करता है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी यह स्थिति है जिस कारण पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिके विषयमें अपना उक्त प्रकारका मत बनाया है और इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्यको सर्वार्थसिद्धिसे प्राचीन सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इस विषयमें पण्डितजीका अभिमत है कि 'साम्प्रदायिक अभिनिवेश बढ़ जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी थी जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें ऐसे अभिनिवेशका सर्वथा अभाव है।'

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जैन परम्परामें साधुओंने वस्त्र और पात्र किस परिस्थितिमें स्वीकार किये थे और यह भी उल्लेख कर आये हैं कि श्वेताम्बर अंगश्रुतकी रचना पाँचवीं शताब्दीके बाद हुई है। अतएव यह भी सुनिश्चित है कि तत्त्वार्थभाष्य उसके बाद ही किसी समय लिखा गया होगा, क्योंकि पण्डितजीके ही शब्दोंमें 'उन्होंने (तत्त्वार्थभाष्यकारने) तत्त्वार्थकी रचनाके आधाररूप जिस अंग अनंगश्रुतका अवलम्बन किया था वह पूर्णतया स्थविरपक्षको मान्य था।' इस अभिप्रायसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

साधारणतः यह मतभेद श्वेताम्बरीय अंगश्रुतके पुस्तकारूढ़ हो जानेके बाद ही उग्ररूपमें प्रकट होने लगा था; क्योंकि जैनपरम्पराके कहे जानेवाले अंगश्रुत जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यमें सवस्त्र मुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे विषयका समावेश होना पुरानी परम्पराको ही नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली घटना थी। इस कालमें एक ओर

जहाँ साम्प्रदायिक अभिनिवेशमें आकर उक्त बातोंका विधान किया जाने लगा था वहाँ दूसरी ओर तात्त्विक-दृष्टिसे उसका निषेध करना और दर्शनमोहनीयके बन्धका कारण बतलाना अनिवार्य हो गया था। सर्वार्थसिद्धि-कारने यह कार्य किया है और दृढ़ताके साथ किया है। वस्तुतः उस कालमें तात्त्विक पक्षकी रक्षाका भार उनपर था और उन्होंने उसका सुन्दरतापूर्वक निर्वाह भी किया है।

ऐसी अवस्थामें हमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार अन्य प्रमाणोंके आधारसे करना चाहिए। शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकताके आधारसे इसका निर्णय करना गौण है। अतः आइए, अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें इस तत्त्वका निर्णय किया जाय।

इस समय तत्त्वार्थभाष्यपर मुख्यतया प्रथम दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं–प्रथम हरिभद्रकी टीका[1] और दूसरी सिद्धसेनगणिकी टीका। आचार्य हरिभद्र और सिद्धसेनगणि समकालीन या कुछ आगे पीछेके होते हुए भी भट्ट अकलंक देवके बादमें हुए हैं। इतना ही नहीं सिद्धसेनगणिने तो भट्ट अकलंक देवकी कृतियोंका भरपूर उपयोग भी किया है यह उनकी टीकाके देखनेसे भी विदित होता है। किन्तु प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इस मतसे सहमत होते हुए भी दूर चले जाते हैं। वे तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० ९६ में लिखते हैं—

'किसी-किसी स्थलपर एक ही सूत्रके भाष्यका विवरण करते हुए वे पाँच-छह मतान्तर निर्दिष्ट करते हैं, इससे ऐसा अनुमान करनेका कारण मिलता है कि जब सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कमसे कम तत्त्वार्थ सूत्रपर रची हुई पाँच टीकाएँ होनी चाहिए; जो सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध दिगम्बरीय तीन व्याख्याओंसे पृथक् होंगी ऐसा मालूम पड़ता है; क्योंकि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककी रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह रची गयी हो तो भी इसकी रचनाके बीचमें इतना तो कमसे कम अन्तर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकका परिचय मिलनेका प्रसंग ही न आया।'

यहाँ हमें सर्वप्रथम पण्डितजीके इस वक्तव्यकी आलोचना करनी है और इसके वाद देखना है कि क्या सिद्धसेनगणिकी टीका राजवार्तिकका आलोडन किये बिना लिखी गयी थी।

पण्डितजीने सर्वप्रथम सिद्धसेनगणिकी अध्याय पाँच सूत्र तीनकी टीकाके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी पाँच-छह स्वतन्त्र टीकाओंका अनुमान किया है इस आधारसे हम इसे ठीक मान लेते हैं। तथापि इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि सिद्धसेनगणिने तत्त्वार्थवार्तिकका आलोडन किये बिना ही अपनी टीका लिखी थी। इससे तो केवल इतना ही पता लगता है कि उनके सामने और भी कई टीकाएँ थीं जो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रके कई पाठ प्रस्तुत करती थीं। यह स्वतन्त्र विषय है और इसपर स्वतन्त्र-रूपसे ही विचार होना चाहिए कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते समय तत्त्वार्थ-वार्तिक था या नहीं और तत्काल हमें प्रसंगोचित इसी बातका विचार करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धसेनगणि बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अपनी टीकामें तत्त्वार्थसूत्रके अनेक पाठान्तरों, मत-मतान्तरों, ग्रन्थों, आचार्यों और प्रमाणोंका उल्लेख किया है, जिनसे अनेक ऐतिहासिक तथ्यों-पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रसंगसे वे भट्ट अकलंक देवके सिद्धिविनिश्चय और तत्त्वार्थवार्तिकको भी नहीं भूले हैं। अध्याय १ सूत्र ३ की टीकामें सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

'एवं कार्यकारणसंबन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।'

भट्ट अकलंक देवके उपलब्ध साहित्यमें सिद्धिविनिश्चय अन्यतम दर्शनप्रभावक ग्रन्थ है और उसमें सृष्टि-परीक्षा प्रकरण भी उपलब्ध होता है। इससे निश्चित होता है कि यह उल्लेख इसी सिद्धिविनिश्चयका है।

हमने तत्त्वार्थवार्तिकके साथ भी सिद्धसेनगणिकी उक्त टीकाका तुलनात्मक अध्ययन किया है। इससे

---

१. हरिभद्रकी टीका तीन लेखकोंने पूरी की है ऐसा प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० ९५ में सूचित करते हैं और टीकाके देखनेसे यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी प्रसिद्ध टीका लिखते समय तत्त्वार्थवार्तिक अवश्य था। तुलनाके लिए देखिए—

'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामो भवति। तद्यथा—उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामन्त्रयस्वैनम्। देवदत्तमिति गम्यते।

—तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ७।

'अर्थवशाच्च विभक्तिपरिणामः उच्चैर्गृहाणि देवदत्तस्यामन्त्रयस्वैनमिति।'

—सि० टी० उत्थानिका श्लोक ६ की टीका।

इसी प्रकार समानता सूचक और भी वाक्य उपलब्ध होते हैं—जिनका निर्देश पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष ३ किरण ११ में 'सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक' लेखमें किया है। इन समानता सूचक वाक्योंके अतिरिक्त सिद्धसेनगणिकी टीकामें कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनके आधारसे उसकी स्थिति तत्त्वार्थवार्तिकके बाद स्थिर होनेमें विशेष सहायता मिलती है। यथा—तत्त्वार्थवार्तिकमें नरकायुके कारणोंकी व्याख्या करते हुए यह वाक्य आता है—

'बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः'

इसी बातको सिद्धसेनगणि मतभेदके साथ इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

'अपरे ब्रुवते—बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्यासौ बह्वारम्भपरिग्रहः।

इस पदकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। इसलिए इसपरसे यह कहा जा सकता है कि सिद्धसेनगणिने यह मतभेद सर्वार्थसिद्धिको लक्ष्यमें रखकर व्यक्त किया होगा। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमें उक्त पदके किये गये विग्रहसे पूर्वोक्त विग्रहमें मौलिक अन्तर है। सर्वार्थसिद्धिमें यह विग्रह इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः।

किन्तु सिद्धसेनगणिकी टीका इस विषयमें तत्त्वार्थवार्तिकका अनुसरण करती है सर्वार्थसिद्धिका नहीं। अतएव इसपरसे यह माननेके लिए बाध्य होना पड़ता है कि सिद्धसेनगणिको यहाँपर 'अपरे' पदसे तत्त्वार्थवार्तिककार अभिप्रेत रहे हैं।

सिद्धसेनगणिकी टीकामें ऐसे और भी पाठ[१] या मतभेदके उल्लेख उपलब्ध होते हैं जो तत्त्वार्थवार्तिककी ओर संकेत करते हैं।

इससे इस बातके स्पष्ट होते हुए भी कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते समय तत्त्वार्थवार्तिक उपस्थित था, यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकी उत्तरावधि निश्चित करनी है और इसके लिए हमें तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थवार्तिकका तुलनात्मक विचार करना है।

प्रायः यह तो सभी मनीषियोंने स्वीकार किया है कि तत्त्वार्थवार्तिक सर्वार्थसिद्धिको पचा कर लिखा गया है और इस बातके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिकके पहलेकी रचना होनी चाहिए। इसके लिए हमें अन्यत्र प्रमाण खोजनेकी आवश्यकता नहीं है किन्तु स्वयं तत्त्वार्थवार्तिक इसका साक्षी है। सर्वप्रथम तत्त्वार्थवार्तिकको उत्थानिकाको ही लीजिए। तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किस निमित्तसे हुई है इस विषयमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें व्याख्याभेद है। सर्वार्थसिद्धिमें स्वीकार किया गया है कि कोई भव्य मुनियोंकी सभामें बैठे हुए आचार्यवर्यसे प्रश्न[२] करता है कि भगवन्! आत्माका हित क्या है? आचार्यवर्य उत्तर देते हैं कि 'मोक्ष'। वह पुनः प्रश्न करता है कि इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है और इसीके उत्तर स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें यह उत्थानिका दूसरे प्रकारसे निर्दिष्ट की गयी है।[३] वहाँ

---

१. इसके लिए प्रथम सूत्रकी उत्थानिका व अध्याय ६ सूत्र १६, १७, १८ आदि देखिए। २. देखो सर्वार्थसिद्धि पृ० १। ३. देखो तत्त्वार्थभाष्य उत्थानिका श्लोक ३१।

बतलाया है कि इस श्लोकमें मोक्षमार्गके बिना हितका उपदेश होना दुर्लभ है, इसलिए मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं। अब इन दोनों उत्थानिकाओंके प्रकाशमें तत्त्वार्थवार्तिक की उत्थानिकाको पढ़िए। देखनेसे विदित होगा कि इसमें क्रमसे सर्वार्थसिद्धि[1] और तत्त्वार्थभाष्य[2] इन दोनोंकी उत्थानिकाओंका स्पष्टतः निर्देश किया है। यही नहीं इसमें तत्त्वार्थभाष्यको उत्थानिकाका निर्देश 'अपरे' पदसे प्रारम्भ किया है। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककार सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकाको दिगम्बर परम्परासम्मत मानते रहे और तत्त्वार्थभाष्यकी उत्थानिकाको अन्यकी। यह उत्थानिकाकी बात हुई।

आगे सूत्रपाठको देखिए—तत्त्वार्थभाष्यकारने तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रमें 'पृथुतराः' पाठ अधिक स्वीकार किया है। श्वेताम्बर आगम साहित्यमें इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए 'छत्ताइछत्ता' पाठ उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इस पदकी व्याख्या करते हुए 'छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः' पद द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है। यह पाठ सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिककारकी न केवल इसपर दृष्टि पड़ती है अपितु इसे वे आड़े हाथों लेते हैं और यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि सूत्रमें 'पृथुतराः' पाठ असङ्गत है।

साधारणतः सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें काफी परिवर्तन हुआ है पर तत्त्वार्थवार्तिककार उन सब सूत्रपाठोंकी चर्चा नहीं करते। वे प्रायः तत्त्वार्थभाष्यके ऐसे ही सूत्रपाठका विरोध व्यक्त करते हैं जिसे स्वीकार करने पर स्पष्टतः आगम विरोध दिखाई देता है। चौथे अध्यायमें 'शेषाः स्पर्श–' इत्यादि सूत्र आता है। तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रके अन्तमें 'द्वयोर्द्वयोः' इतना पाठ अधिक उपलब्ध होता है। भट्ट अकलंकदेवकी सूक्ष्मदृष्टि इस पाठ पर जाती है और वे आर्षसे विरोध बतला कर इस अधिक पाठको स्वीकार करना मान्य नहीं करते। इसी प्रकार पाँचवें अध्यायमें 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' सूत्र आता है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें इसका परिवर्तित रूप इस प्रकार उपलब्ध होता है—'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।'

यह स्पष्ट है कि आगममें बन्धकी जो व्यवस्था निर्दिष्ट की गयी है उसके साथ इस सूत्रमें आये हुए 'सम' शब्दका मेल नहीं बैठता। तत्त्वार्थवार्तिककारकी दृष्टिसे यह बात भी छिपी नहीं रहती, इसलिए आगमसे विरोध होनेके कारण वे स्पष्ट शब्दोंमें इसकी अप्रामाणिकता घोषित करते हैं। यही दशा तत्त्वार्थभाष्यमें आये हुए पाँचवें अध्यायके अन्तिम तीन सूत्रोंकी होती है। वे सूत्र हैं—

'अनादिरादिमांश्च ॥४२॥ रूपिष्वादिमान् ॥४३॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥४४॥'

इन सूत्रोंमें परिणामके अनादि और सादि ये दो भेद करके पुद्गल और जीवके परिणामको सादि कहा है। साथ ही ४२वें सूत्रके भाष्यमें धर्म, अधर्म, आकाश और जीवके परिणामको अनादि कहा है। इस पर तत्त्वार्थवार्तिकमें आपत्ति करते हुए कहा है—अत्रान्ये धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादिः परिणामः आदिमान् जीवपुद्गलेषु वदन्ति तदयुक्तम्।'

अर्थात् अन्य लोग धर्म, अधर्म, काल और आकाशमें परिणामको अनादि कहते हैं तथा जीव और पुद्गलोंमें उसे सादि कहते हैं किन्तु उनका ऐसा कहना अयुक्त है।

इसी प्रकार अध्याय १ सूत्र १५ व २१; अध्याय २ सूत्र ७, २० व ३३; अध्याय ४ सूत्र ८; अध्याय ५ सूत्र २–३, अध्याय ६ सूत्र १८ और अध्याय ८ सू० ६ के तत्त्वार्थवार्तिकके देखनेसे भी विदित होता है कि अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थभाष्य अवश्य था।

यद्यपि इस विषयमें कुछ मतभेद है। डॉ० जगदीशचन्द्रजीने अनेकान्त वर्ष ३ किरण ४ में इस आशयका एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने बतलाया है कि अकलंकदेवके सामने उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य उप-

१. तत्त्वार्थवार्तिक उत्थानिका पृ० १। २. तत्त्वार्थवार्तिक उत्थानिका पृ० ३।

स्थित था। किन्तु उनके इस मतको श्री पं० जुगुलकिशोरजी मुख्तार स्वीकार नहीं करते।[1] श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका भी यही मत है।[2]

हमारा विचार है कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यमें जो सूत्रपाठ स्वीकार किया है वह तत्त्वार्थभाष्य लिखनेके पूर्व अवस्थित था इस विषयका पोषक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। आचार्य पूज्यपादने और सिद्धसेनगणिने अपनी टीकाओंमें जगह-जगह सूत्रपाठ सम्बन्धी जिस मतभेदकी[3] चर्चा की है उसका सम्बन्ध भी तत्त्वार्थभाष्य मान्य सूत्रपाठसे नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह मानना कि भट्ट अकलंकदेवके सामने वाचक उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य नहीं था, हमें शिथिल प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयीं दिगम्बर और श्वेताम्बर समस्त टीकाओंके अवलोकनसे केवल हम इतना निश्चय कर सकते हैं कि जिस महान् आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर कोई भाष्य या वृत्ति ग्रन्थ नहीं लिखा था। तत्त्वार्थसूत्रमें सूत्र विषयक जो विविध मतभेद दिखाई देते हैं वे इसके प्रमाण हैं। यह बात स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपादके काल तक वे मतभेद बहुत ही स्वल्पमात्रामें रहे हैं। किन्तु मूल सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धि द्वारा दिगम्बर परम्परा मान्य हो जाने से दूसरी ओर इसकी बलवती प्रतिक्रिया हुई और मूल सूत्रपाठको तिलांजलि दे दी गयी। परिणाम स्वरूप सूत्रपाठके स्वरूपके विषयमें न केवल मतभेद बढ़ने लगा अपि तु स्वतन्त्र सूत्रपाठके स्थिर करनेका भी भाव जागृत हुआ। इन सारे घटना क्रम व तथ्योंके आधारसे हमारा तो यही विचार पुष्ट होता है कि स्वयं वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठको अन्तिम रूप दिया होगा और आगे यह पाठभेद सम्बन्धी मतभेद उग्र रूप धारण न करे इसलिए उन्होंने ही उसपर अपना प्रसिद्ध तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखा होगा। यह ठीक है कि वाचक उमास्वातिके पहले अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने मूल तत्त्वार्थसूत्रमें काट-छाँट चालू कर दी थी[4] और वाचक उमास्वातिको उसका वारसा मिला है। मूल यदि पं० जुगुलकिशोरजी मुख्तार इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर इस मतका प्रस्थापन करते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ वाचक उमास्वातिके भी पूर्व उपस्थित था तो यह कथन कुछ अंशमें सम्भव हो सकता है पर इससे तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थभाष्य उपस्थित था इस मतपर रंचमात्र भी आँच नहीं आती, क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिकमें केवल तत्त्वार्थभाष्य मान्य सूत्रविषयक मतभेदोंका ही उल्लेख नहीं है अपितु कुछ ऐसे मतोंका भी उल्लेख हैं जिनका सीधा सम्बन्ध तत्त्वार्थभाष्यसे है।

इस प्रकार इन प्रमाणोंके प्रकाशमें यह मान लेनेपर भी कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिकके पहले कभी लिखा गया है, फिर भी वह कब लिखा गया है यह विचारणीय हो जाता है। इसका हमें कई दृष्टियोंसे पर्यालोचन करना है। पर्यालोचनके विषय ये हैं—१. अन्य टीकाओंके उल्लेख, २. सूत्रोल्लेख, और ३. अर्थ विकास।

१. अन्य टीकाओंके उल्लेख—अभी तक प्रचलित परम्पराके अनुसार साधारणतः यह माना जाता है कि दिगम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि है और श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रकी प्रथम टीका तत्त्वार्थभाष्य है। तत्त्वार्थभाष्यके विषयमें तो कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि वह तत्त्वार्थसूत्रकारकी ही मूल कृति है[5] और इस आधारसे वे यह निष्कर्ष फलित करते हैं कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठमें सुधार करके सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी रचना की है जो आज दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। किन्तु इन टीकाग्रन्थों और अन्य प्रमाणोंसे जो तथ्य सामने आ रहे हैं उनसे यह विषय बहुत कुछ विचारणीय हो जाता है। पहले हम सर्वार्थसिद्धिमें दो पाठभेदोंका उल्लेख कर आये हैं। उनमेंसे दूसरा पाठभेद यदि सूत्रपोथीके आधारसे ही मान लिया जाये तो भी प्रथम पाठभेदको देखते हुए यह अनुमान करना सहज हो जाता

१. देखो अनेकान्त वर्ष ३ किरण ४, ११ व १२। २. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० ९ आदि। ३. देखो सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १६ व अ० २ सू० ५३ तथा सिद्धसेनकी टीका अ० १ सू० व अ० ५ सू० ३ आदि। ४. देखो चालू प्रस्तावनाका 'सूत्रपाठोंमें मतभेद' प्रकरण। ५. देखो पं० सुखलालजी की तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना।

है कि सर्वार्थसिद्धिकारके सामने कोई छोटा-मोटा टीका ग्रन्थ अवश्य था। अन्यथा वे पाठविषयक मतभेदको स्पष्ट करते हुए यह न कहते— 'त एवं वर्णयन्ति' इत्यादि।

तत्त्वार्थवार्तिकमें अध्याय पाँच सूत्र चारका विवरण लिखते समय यह प्रश्न उठाया गया है कि 'वृत्तिमें पाँच[1] ही द्रव्य कहे हैं, इस लिए छह द्रव्योंका उपदेश घटित नहीं होता।' आगे इसका समाधान करते हुए तत्त्वार्थवार्तिककार कहते हैं कि 'वृत्तिकारका आप अभिप्राय नहीं समझे। आगे काल द्रव्यका निर्देश किया जानेवाला है उसकी अपेक्षा न कर यहाँ वृत्तिकारने पाँच द्रव्य कहे हैं।'

इसी प्रकार एक प्रश्न इस अध्यायके ३७वें सूत्रका विवरण लिखते समय भी उठाया गया है। वहाँ कहा गया है कि 'गुण यह संज्ञा अन्य सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें उल्लिखित है आर्हत मतमें तो केवल द्रव्य और पर्यायका ही निर्देश किया है। अतः तत्त्व दो ही सिद्ध होते हैं और इनके आश्रयसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये नय भी दो ही बनते हैं। यदि गुण नामका कोई पदार्थ है तो उसको विषय करनेवाला एक तीसरा नय अवश्य होना चाहिए। यतः तीसरा नय नहीं है अतः गुण नामका कोई तीसरा पदार्थ सिद्ध नहीं होता है और इसीलिए 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' यह सूत्र भी घटित नहीं होता।' आगे इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'यह बात नहीं है, क्योंकि अर्हत्प्रवचनहृदय आदि ग्रन्थोंमें गुणका उपदेश दिया गया है। और इसके आगे 'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह वाक्य आया है।

तत्त्वार्थवार्तिकके ये दो उल्लेख हैं जिनसे अन्य वृत्ति तथा ग्रन्थान्तरकी सूचना मिलती है। प्रथम उल्लेखसे हम जानते हैं कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी कोई एक वृत्ति थी जिसमें 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रका विवरण लिखते समय पाँच द्रव्योंका विधान किया गया था और जिसका सामंजस्य तत्त्वार्थवार्तिककारने यहाँ बिठलाया है। तथा दूसरे उल्लेखसे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने एक दूसरा अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य था जो न केवल सूत्रशैलीमें लिखा गया था अपितु उसमें 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र भी मौजूद था और सम्भवतः उसे तत्त्वार्थवार्तिककार अति प्राचीन भी मानते रहे तभी तो प्रकृतमें गुणके समर्थनमें उन्होंने उसका उल्लेख किया है।

यह अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन क्या है यह प्रश्न बहुत गम्भीर है। इसका उल्लेख तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिने भी किया है। वे लिखते हैं कि मैं [2]अर्हद्वचनके एकदेशके संग्रहरूप और बहुत अर्थवाले तत्त्वार्थाधिगम नामके लघुग्रन्थका शिष्योंकी हितबुद्धिसे कथन करता हूँ। इसी प्रकार अमृतचन्द्र आचार्यने भी समयप्राभृतकी टीकामें[3] समयप्राभृतको अर्हत्प्रवचनका अवयव कहा है। इन दोनों स्थलोंपर साधारणतः अर्हद्वचन या अर्हत्प्रवचनसे द्वादशांगका बोध होता है। किन्तु जब भट्ट अकलंक देव अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन नामके स्वतन्त्र ग्रन्थका उल्लेख करते हैं। इतना ही नहीं वे उसके एक वचनको उद्धृत भी करते हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रसे बिलकुल मिलता जुलता है तब यह प्रश्न अवश्य होता है कि क्या ऐसा कोई महान् ग्रंथ रहा है जिसमें समग्र जैनसिद्धान्तका रहस्य अन्तर्निहित था और जिसका उल्लेख करना सबके लिए अनिवार्य था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थकी उपलब्ध टीकाओंके अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति अवश्य रही है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यसे भिन्न थी और बहुत सम्भव है कि उसी वृत्तिका उल्लेख उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिकमें किया है।

इसी प्रसंगसे हमने सिद्धसेनगणिकी टीकाका भी आलोडन किया है। इस सम्बन्धमें हम पहले ही कह आये हैं कि सिद्धसेन गणिकी टीका अनेक सूत्र विषयक मत मतान्तरों और उल्लेखोंको लिये हुए है। उसका बारीकीसे पर्यालोचन करनेपर यह भी विदित होता है कि उनके सामने न केवल सर्वार्थसिद्धि,

---

१. वृत्तौ पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्। २. 'तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्। वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥' ३. 'प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य' गा. १. टीका।

तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक थे अपितु तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी नयी पुरानी और भी अनेक टीकाएँ उनके सामने रही हैं। यह अनुमान प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका भी है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और सिद्धसेनगणिकी टीकाके ये वे उल्लेख हैं जिनसे हमें तत्त्वार्थसूत्र विषयक अन्य अनेक छोटी-बड़ी टीकाओं के अस्तित्वका आभास मिलता है। तत्काल विचारणीय यह है कि ये सब टीका ग्रन्थ किस आधारसे लिखे गये होंगे। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें जिनका उल्लेख है वे तो स्वतन्त्र होंगे यह स्पष्ट ही है। मात्र विचार उनका करना है जिनका उल्लेख सिद्धसेनगणिने किया है। यह तो हम स्पष्ट देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके कारण भाष्यानुसारी सूत्रपाठका स्वरूप और अर्थ एक तरहसे सुनिश्चित है। जो लिपिकारोंकी असावधानीसे थोड़े बहुत दोष उत्पन्न होते हैं वे तत्त्वार्थभाष्यमें भी देखे जाते हैं[1]। किन्तु इन दोषोंके कारण तत्त्वार्थभाष्य सम्मत सूत्रपाठमें तत्त्वार्थभाष्यकी उपस्थितिमें पाठान्तर या अर्थान्तरकी कल्पना करना सम्भव नहीं है। ऐसी अवस्थामें इन टीका ग्रन्थोंको भी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें उल्लिखित टीका ग्रन्थोंके समान स्वतन्त्र ही मानना पड़ता है। सिद्धसेनगणिने मतभेदोंको दरसाते हुए अन्य मतोंका जिस रूपमें उल्लेख किया है उससे भी तथ्यकी पुष्टि होती है। ये सब टीकाग्रन्थ कब और किन आचार्योंकी कृति हैं यह तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं। बहुत सम्भव है कि वे सब या उनमेंसे कुछ तत्त्वार्थभाष्यके भी पहले लिखे गये हों और उनके लेखक श्वेताम्बर आचार्य रहे हों। यदि यह अनुमान सही है, जिसके कि सही होनेकी अधिक सम्भावना है, तो यही कहना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्य उस कालकी रचना है जबकि मूल तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थीं और जिनमेंसे एक सर्वार्थसिद्धि भी है।

२. सूत्रोल्लेख—साधारणतः किसी विषयको स्पष्ट करने, उसकी सूचना देने या अगले सूत्रकी उत्थानिका बाँधनेके लिए टीकाकार आगेके या पीछेके सूत्रका उल्लेख करते हैं। यह परिपाटी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें भी विस्तारपूर्वक अपनायी गयी है। किन्तु आगेके या पीछेके सूत्रका उल्लेख करते समय इन टीका ग्रन्थोंमें उन्हीं सूत्रपाठोंका उल्लेख किया जाता है जो उन्हें सम्मत होते हैं। उदाहरणार्थ—सर्वार्थसिद्धिकारने अध्याय एकके इक्कीस नम्बरका सूत्र '**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**' इस रूपमें स्वीकार किया है, अतएव वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उत्थानिका लिखते समय इस सूत्रका इसी रूपमें उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यकारने इस सूत्रको '**भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम्**' इस रूपमें स्वीकार किया है इसलिए वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें इसे इसी रूपमें उद्धृत करते हैं। साधारणतः ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्रको उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक अंशको। पर जितने अंशको उद्धृत करते हैं वह अपनेमें पूरा होता है। ऐसा व्यत्यय कहीं भी नहीं दिखाई देता कि किसी एक अंशको उद्धृत करते हुए भी वे उसमेंसे समसित प्रारम्भ के किसी पदको छोड़ देते हों।

ऐसी अवस्थामें हम तो यही अनुमान करते थे कि इन दोनों टीका ग्रन्थोंमें ऐसा उद्धरण शायद ही मिलेगा जिस से इनकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न किया जा सके। इस दृष्टिसे हमने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यका बारीकीसे पर्यालोचन किया है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्यमें एक स्थलपर ऐसा स्खलन अवश्य हुआ है, जो इसकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न करता है। यह स्खलन अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय हुआ है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका प्रतिपादन करनेवाला सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र इस प्रकार है—

'**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।**'

यही सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमें इस रूपमें उपलब्ध होता है—

'**मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।**'

---

१. देखो अध्याय ६ सूत्र ३ व ४ का तत्त्वार्थभाष्य।

तत्त्वार्थभाष्यमें सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी अपेक्षा 'द्रव्य' पदके विशेषणरूपसे 'सर्व' पद अधिक स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्यकार इस सूत्रके उत्तरार्धको अध्याय १ सूत्र २० के भाष्यमें उद्धृत करते हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—

'अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति—'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति'

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेखमेंसे लिपिकारकी असावधानीवश 'सर्व' पद छूट गया होगा किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी टीकामें सिद्धसेनगणि और हरिभद्रने भी तत्त्वार्थभाष्यके इस अंशको इसी रूपमें स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थभाष्यकारने उक्त सूत्रका उत्तरार्ध 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' स्वीकार किया तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके 'सर्व' पदको क्यों छोड़ गये। पदका विस्मरण हो जानेसे ऐसा हुआ होगा यह बात बिना कारणके कुछ नपी-तुली प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा फिर भी यदि विस्मरण होनेसे ही यह व्यत्यय माना जाये तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारा तो खयाल है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उनके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किये बिना उन्होंने अनायास उसके सामने होनेसे सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठका अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है कि अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सके हों कि क्या इसमें 'सर्व' पदको 'द्रव्य' पदका विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूपमें ही रहने दिया जाय और सम्भव है कि ऐसा कुछ निश्चय न कर सकनेके कारण यहाँ उन्होंने पुराने पाठको ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करनेके पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्रका स्वरूप निश्चित कर चुके थे फिर भी किसी खास सूत्रके विषयमें शंकास्पद बने रहना और तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना सम्भव है। जो कुछ भी हो इस उल्लेखसे इतना निश्चय करनेके लिए तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य होना चाहिए।

३. अर्थ विकास—इसी प्रकार इन दोनोंके बिम्बप्रतिबिम्बभाव और कहीं-कहीं वस्तुके विवेचनमें तत्त्वार्थभाष्यमें अर्थ विकासके स्पष्ट दर्शन होनेसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—दसवें अध्यायमें '**धर्मास्तिकायाभावात्**' सूत्र आता है। इसके पहले यह बतला आये हैं कि मुक्त जीव अमुक-अमुक कारणसे ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यों नहीं जाता है और इसीके उत्तरस्वरूप इस सूत्रकी रचना हुई है। किन्तु यदि टीकाको छोड़ कर केवल सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मनमें यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होनेसे आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठकी यह स्थिति वाचक उमास्वातिके ध्यानमें आयी और उन्होंने इस स्थितिको साफ करनेकी दृष्टिसे ही उसे सूत्र न मानकर भाष्यका अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टतः बादमें की गयी जान पड़ती है। इसी प्रकार इसी अध्यायके सर्वार्थसिद्धिमान्य दूसरे सूत्रको लीजिए। इसके पहले मोहनीय आदि कर्मोंके अभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। किन्तु इनका अभाव क्यों होता है इसका समुचित उत्तर उस सूत्रसे नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्नको स्पर्श करते हैं। किन्तु वाचक उमास्वातिको यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप वे सर्वार्थसिद्धिमान्य '**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**' इस सूत्रके पूर्वार्धको स्वतन्त्र और उत्तरार्धको स्वतन्त्र सूत्र मानकर इस कमीकी पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें जब कि इसका सम्बन्ध केवल '**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः**' पदके साथ जोड़ा गया है वहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिए बतलाते हैं।

ऐसी ही एक बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, पाँचवें अध्यायके कालके उपकारके प्रतिपादक सूत्रके प्रसंगसे आती है। प्रकरण परत्व और अपरत्वका है। ये दोनों कितने प्रकारके होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोंमें किया है। सर्वार्थसिद्धिमें इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है—**परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते**

कालकृते च स्वः। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें ये दो भेद तो बतलाये ही गये हैं। साथ ही वहाँ प्रशंसाकृत परत्वापरत्वका स्वतन्त्ररूपसे और ग्रहण किया है। वाचक उमास्वाति कहते हैं—परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।

इतना ही नहीं। हम देखते हैं कि इस सम्बन्धमें तत्त्वार्थवार्तिककार तत्त्वार्थभाष्यका ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने कालके उपकारके प्रतिपादक सूत्रका व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्वके इन तीन भेदोंका उल्लेख इन शब्दोंमें किया है—

'क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात्परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत्। न, कालोपकारप्रकरणात्[1]।'

अतएव क्या इससे यह अनुमान करनेमें सहायता नहीं मिलती कि जिस प्रकार इस उदाहरणसे तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने था इस कथनकी पुष्टि होती है उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि के बादकी रचना है इस कथनकी भी पुष्टि होती है।

स्पष्ट है कि पौर्वापर्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर तत्त्वार्थभाष्यका रचनाकाल सर्वार्थसिद्धिके रचे जानेके बाद स्थिर होता है और सब स्थितियोंका विचार करनेपर यह ठीक भी प्रतीत होता है।

सर्वार्थसिद्धिमें अन्य साहित्य के उद्धरण—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने जो विपुल साहित्य उपस्थित था उसका अवलम्बन लेकर उन्होंने इस महान् टीका ग्रन्थकी श्रीवृद्धि की है। उसमें प्रमुख स्थान जिसे दिया जा सकता है वह है षट्खण्डागम।

षट्खण्डागम—यह वह महान् निधि है जिसे द्वादशांग वाणीका सीधा वारसा मिला है। आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीने आचार्य धरसेनके चरणोंमें बैठकर तथा उस कालमें शेष रहे द्वादशांग वाणीके एकदेशका अभ्यास कर इस महान् ग्रन्थ की रचना की थी। इसके जीवस्थान, क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह खण्डोंमें द्वादशांग वाणीका संकलन किया गया है, इसलिए इसे षट्खण्डागम कहते हैं। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह महान् ग्रन्थ उपस्थित था और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग भी किया है यह बात तत्त्वार्थसूत्र अध्याय एक सूत्र आठकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होती है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे जीव तत्त्वका जिस प्रकार विचार किया गया है वह अनायास ही पाठकोंका ध्यान षट्खण्डागमके जीवस्थान खण्डकी ओर आकृष्ट करता है। जीवस्थान खण्डका दूसरा सूत्र है—

'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति।'

इसमें चौदह गुणस्थानोंके लिए 'जीवसमास' शब्दका प्रयोग हुआ है। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह सूत्र था। उन्होंने भी गुणस्थानके लिए 'जीवसमास' शब्दका उपयोग किया है। यथा—

'एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि।'

आगे सर्वार्थसिद्धिमें जीवस्थानका किस प्रकार अनुसरण किया गया है इसका आगेकी तालिका द्वारा स्पष्ट ज्ञान कीजिए—

जीवस्थान सत्प्ररूपणा	सर्वार्थसिद्धि सत्प्ररूपणा
संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो—ओघेण आदेसेण य ॥ ८ ॥	तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा—सामान्येन विशेषेण च।
ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥ ९ ॥ सासणसम्माइट्ठी ॥ १० ॥........	सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादिः।

१. अ० ५ सू० २२ तत्त्वार्थवार्तिक।

जीवस्थान सत्प्ररूपणा

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥ णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति ॥ २५ ॥ तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी........संजदासंजदा त्ति ॥२६॥ मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी........अजोगिकेवलि त्ति ॥२७॥ देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी....असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥२८॥

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ ३६ ॥ पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ३७ ॥

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ॥३९॥ पुढविकाइया....वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ ४३ ॥ तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ४४ ॥

सर्वार्थसिद्धि सत्प्ररूपणा

विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । देवगतौ नारकवत् ।

इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति ।

कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति ।

आगम परम्परामें इस विषयमें दो सम्प्रदाय हैं कि सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं । कषायप्राभृत इसी मतका समर्थन करता है । किन्तु षट्खण्डागमके अभिप्रायानुसार जो सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं उनका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें नियमसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हो जाता है । यही कारण है कि जीवस्थान सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें एकेन्द्रियोंके एक मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानका निर्देश किया गया है । उक्त तुलनासे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने भी एकमात्र इसी मतका अनुसरण किया है ।

जीवस्थान संख्याप्ररूपणा

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया । अणंता ॥२॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति दव्वपमाणेण केवडिया । पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो ।........॥ ६ ॥ पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया । कोडिपुधत्तं ॥ ७ ॥ अप्पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया । संखेज्जा ॥ ८ ॥ चदुण्हमुवसामगा दव्वपमाणेण केवडिया । पवेसेण एक्को वा दो तिण्णि वा, उक्कसेण चउवण्णं ॥ ९ ॥ अद्धं पडुच्च संखेज्जा ॥ १० ॥ चउण्हं खवा अजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया । पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठोत्तरसदं ॥ ११ ॥ अद्धं पडुच्च संखेज्जा ॥ १२ ॥ सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया । पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठुत्तरसयं ॥ १३ ॥ अद्धं पडुच्च सदसहस्सपुधत्तं ॥ १४ ॥

सर्वार्थसिद्धि संख्याप्ररूपणा

सामान्येन तावत् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः । .. ...अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः । चत्वार उपशमकाः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत् । स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः । चत्वारः क्षपका अयोगिकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः । सयोगकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः शतसहस्रपृथक्त्वसंख्याः ।

यहाँ हमने जीवस्थानके सत् और संख्या प्ररूपणाके कुछ सूत्रोंकी तुलना दी है। सब प्ररूपणाओंकी यह तुलना बिम्बप्रतिबिम्बभावको लिये हुए है। स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने 'सत्संख्या-' इत्यादि सूत्रकी प्ररूपणा जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंको सामने रख कर की है। सर्वार्थसिद्धि लिखते समय पूज्यपाद स्वामीके सामने केवल जीवस्थान ही उपस्थित नहीं था किन्तु जीवस्थानकी चूलिका व दूसरे खण्ड भी उनके सामने रहे हैं। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके 'निर्देशस्वामित्व-' इत्यादि सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीका देखिए। इसमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणोंका निर्देश जीवस्थान चूलिका अनुयोगद्वारके आधारसे किया है। तथा उपशम आदि सम्यक्त्वोंके कालका निर्देश क्षुल्लकबन्धके आधारसे किया है।

आ० कुन्दकुन्दका साहित्य—जैनपरम्परामें श्रुतधर आचार्योंमें समयप्रभावक जितने आचार्य हुए हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्दका नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। कुछ तथ्योंके आधारपर कहा जाता है कि इन्हें विदेह क्षेत्रमें स्थित सीमन्धर तीर्थंकरके साक्षात् दर्शन और उपदेश श्रवणका लाभ मिला था और इन्हें चारण-ऋद्धि प्राप्त थी। इन्होंने जैनतत्त्वज्ञानकी स्पष्ट दिशाका प्रतिपादन कर समग्र जैनपरम्पराको प्रभावित किया है। जैनतत्त्वज्ञान व्यक्तिस्वातन्त्र्यका समर्थक है और उसकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग स्वावलम्बन है इस तथ्यको संसारके सामने जितने सुन्दर शब्दोंमें इन्होंने रखा है उसकी तुलना अन्य किसीसे नहीं की जा सकती है। वे जैनपरम्परामें ऐसे प्रकाशमान् सूर्य थे जिनसे दशों दिशाएँ आलोकित हुई हैं। बोधप्राभृतमें एक गाथा आयी है[1] जिसमें इन्होंने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका गमक शिष्य घोषित किया है। समयप्राभृतका प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं कि 'मैं श्रुतकेवलीके द्वारा कहे गये समयप्राभृतका कथन करता हूँ।' उनके ये वचन आकस्मिक नहीं हो सकते। बहुत सम्भव है कि उन्हें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके तत्त्वज्ञानका लाभ मिला हो; क्योंकि इनके द्वारा निर्मित साहित्यमें जो विशेषता है वह आकस्मिक नहीं हो सकती। वस्त्र-पात्रके स्वीकार की चर्चाने जैनपरम्पराके तत्त्वज्ञानको बहुत अधिक धूमिल किया है। एकमात्र इनके द्वारा रचित साहित्यकी पूर्वपरम्परा ही ऐसी प्रकाशकिरण है जो इस अन्धकारका विच्छेद कर सन्मार्गका प्रकाश करती है। **एक ओर आत्मा और परनिरपेक्ष आत्मीय भावोंको छोड़कर अन्य सबको यहाँतक कि आत्मामें जायमान नैमित्तिक भावोंको भी पर कहना और दूसरी ओर वस्त्र-पात्रके स्वीकारको व्यक्तिस्वातन्त्र्यका मार्ग बतलाना इसे तत्त्वज्ञानकी कोरी विडम्बनाके सिवा और क्या कहा जा सकता है।** हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताकी उद्घोषणा करनेवाला और ईश्वरवादके निषेध द्वारा निमित्तकी प्रधानताको अस्वीकार करनेवाला धर्म मोक्षमार्गमें निमित्तरूपसे वस्त्र-पात्रके स्वीकारका कभी भी प्रतिपादन नहीं कर सकता। आचार्य कुन्दकुन्दने यदि किसी तथ्यको स्पष्ट किया है तो वह एकमात्र यही हो सकता है। कुछ विद्वान् समझते हैं कि उन्हें नाग्न्यका एकान्त आग्रह था और उनके बाद ही जैनपरम्परामें इसपर विशेष जोर दिया जाने लगा था। किन्तु मालूम होता है कि वे इस उपालम्भ द्वारा जैनदर्शनकी दिशा ही बदल देना चाहते हैं। जैनदर्शनमें वस्तुका विचार एकमात्र व्यक्तिस्वातन्त्र्यके आधारपर ही किया गया है अतएव उसकी प्राप्तिका मार्ग स्वावलम्बनके सिवा और क्या हो सकता है। एक व्यक्ति द्वारा अन्य पदार्थोंका स्वीकार उसकी चंचलता और कषायके कारण ही होता है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति वस्त्र और पात्रको भी स्वीकार करे और वह परिग्रहहीन भी माना जाये। स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नाग्न्यकी घोषणा कर उसी मार्गका प्रतिपादन किया है जिसे अनन्त तीर्थंकर अनादि कालसे दिखलाते आये हैं। ऐसे महान् आचार्यकी कृतिरूपसे इस समय **समयप्राभृत, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, द्वादश अनुप्रेक्षा और अष्टप्राभृत** उपलब्ध होते हैं। कहा जाता है कि मूलाचार (आचारांग) भी उन्हीं की अनुपम कृति है। किन्तु यह प्रश्न अभी विचाराधीन है और इसपर ऐतिहासिक व साहित्यिक तथ्योंके आधारसे विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्दके सामने तो इनका साहित्य था ही आचार्य पूज्यपादने भी इसका उपयोग किया है यह बात सर्वार्थसिद्धिके आलोडनसे भलीभाँति विदित होती है। आचार्य पूज्यपादने ऐसी १० गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनमेंसे

१. 'बारहअङ्गवियाणी चउदसपुव्वंगविउलवच्छरणं। सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ॥'

एक गाथा पंचास्तिकायमें, एक गाथा नियमसारमें, तीन गाथाएँ प्रवचनसारमें और पाँच गाथाएँ द्वादश अनुप्रेक्षामें उपलब्ध होती हैं। ये गाथाएँ उन ग्रन्थोंके किस प्रकरणकी हैं यह हमने उन-उन स्थलोंपर टिप्पणमें दिखलाया ही है।

मूलाचार—दिगम्बर परम्परामें स्वीकृत मूलाचार मुनि आचारका प्रतिपादक सर्वप्रथम ग्रन्थ है। अभी तक इसके कर्ता आचार्य वट्टकेर माने जाते हैं। हमारे सहाध्यायी पं० हीरालालजी शास्त्रीने 'वट्टकेर आचार्य'का अर्थ 'वर्तक एलाचार्य' करके इसके कर्तारूपसे आचार्य कुन्दकुन्दको अनुमानित किया है। उनके इस विषयके २-३ लेख इसी वर्षके अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं जो मननीय हैं और विचारकी नयी दिशा प्रस्तुत करते हैं। वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें इसका 'आचारांग' नामसे उल्लेख कर इसकी एक गाथा उद्धृत की है। यहाँ आचार्य पूज्यपादने भी इसकी दो गाथाएँ सर्वार्थसिद्धिमें दी हैं।

पंचसंग्रह—दिगम्बर परम्परामें पंचसंग्रहका बहुत बड़ा स्थान है। इसके सम्बन्धमें हमने श्वेताम्बर ग्रन्थसप्ततिकाकी भूमिकामें प्रकाश डालते हुए यह सम्भावना प्रकट की है कि इसका संकलन श्वेताम्बर पंच-संग्रहके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तरके पहले हो चुका था[1]। इसकी दो गाथाएँ आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी उद्धृत की हैं। इससे विदित होता है कि बहुत सम्भव है कि दिगम्बर परम्परामान्य प्राकृत पंचसंग्रहका संकलन आचार्य पूज्यपादके पूर्व हुआ हो। अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध होकर भी प्रकाशमें नहीं आ सका है। आचार्य अमितगतिने इसीके आधारसे संस्कृत पंचसंग्रहका संकलन किया है।

पाणिनीयव्याकरण—आचार्य पूज्यपादने स्वयं जैनेन्द्र व्याकरण लिखा है और उसपर न्यासके लेखक वे स्वयं हैं यह भी प्रसिद्धि है। इसलिए यह शंका होती है कि सर्वार्थसिद्धिमें उन्होंने स्वनिर्मित जैनेन्द्रके सूत्रों-का ही उल्लेख किया होगा। सर्वार्थसिद्धिके सम्पादनके समय यह प्रश्न हमारे सामने था और इस दृष्टिसे हमने सर्वार्थसिद्धिको देखा भी। किन्तु इसमें व्याकरणके जो सूत्रोल्लेख उपलब्ध होते हैं उनको देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस विषयमें उनका ऐसा कोई आग्रह नहीं था कि केवल स्वनिर्मित जैनेन्द्रके ही सूत्र उद्धृत किये जायें। यों तो सर्वार्थसिद्धिमें सूत्रोल्लेखोंका बहुत ही कम प्रसंग आया है, पर दो तीन स्थलोंपर जिस रूपमें वे उल्लिखित किये गये हैं उनके स्वरूपको देखनेसे विदित होता है कि इस काममें पाणिनीय और जैनेन्द्र दोनों व्याकरणोंका उपयोग हुआ है। यथा—

सर्वप्रथम हम अध्याय ४ सूत्र १९ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख देखते हैं। उनमेंसे प्रथम है **'तदस्मिन्नस्तीति।'** और दूसरा है **'तस्य निवासः।'** इनमेंसे प्रथम सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें **'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नामि। ४, २, ६७।'** इस रूपमें और जैनेन्द्रव्याकरणमें **'तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ। ४, १, १४।'** इस रूपमें उपलब्ध होता है, इसलिए इस परसे यह कहना कठिन है कि यहाँपर आचार्य पूज्य-पादने पाणिनीयके सूत्रका आश्रय लिया है या जैनेन्द्रके सूत्रका। दूसरा सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें **'तस्य निवासः ४, २ ६९।'** इसी रूपमें और जैनेन्द्रव्याकरणमें **'तस्य निवासादूरभवौ। ३, २, १९।'** इस रूपमें उपलब्ध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ आचार्य पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरणके सूत्रका उल्लेख किया है।

अध्याय ५ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें **'विशेषणं विशेष्येणेति'** सूत्र उल्लिखित है। जैनेन्द्रव्याक-रणमें यह इसी रूपमें क्रमांक १, ३, ५२ पर अंकित है और इसके स्थानपर पाणिनीय व्याकरणका सूत्र है **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्।'** स्पष्ट है कि यहाँपर आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित व्याकरणके सूत्रका ही उल्लेख किया है।

यह तो सूत्र चर्चा हुई। अब एक अन्य प्रमाणको देखिए—अध्याय ५ सूत्र ४ की टीकामें आचार्य पूज्यपादने **'नेर्ध्रुवे त्यः'** यह पद उल्लिखित किया है। किन्तु जैनेन्द्रव्याकरणमें नित्य शब्दको सिद्ध करनेवाला न तो कोई सूत्र है और न ही 'त्य' प्रत्ययका निर्देश है। वहाँ 'त्य' प्रत्ययके स्थानमें 'य' प्रत्यय है। इससे

---

१. देखो, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित सप्ततिकाकी भूमिका, पृष्ठ २३ से २६ तक।

विदित होता है कि यह वाक्य आचार्य पूज्यपादने कात्यायनके वार्तिक 'स्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्' । ४, २, १०४ ।' को ध्यानमें रखकर कहा है। आचार्य अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें अवश्य ही 'नेर्ध्रुवम् इति वक्तव्यम् ।' यह वार्तिक बनाया है। किन्तु वह बादकी रचना है।

इन तथ्योंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकामें जैनेन्द्र-व्याकरणके समान पाणिनीय व्याकरणका भी उपयोग किया है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रव्याकरण की रचना होनेके अनन्तर ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी थी। अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें आचार्य पूज्यपादने पंचमी विभक्तिके लिए 'का' संज्ञाका प्रयोग किया है। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'विभक्ती' शब्दके व्यंजन अक्षरोंमें 'आ' और स्वरोंमें 'प्' जोड़कर क्रमसे विभक्तियोंकी वा, इप्, भा, अप्, का, ता, ईप् ये सात संज्ञाएँ निश्चित की हैं। इस हिसाबसे 'का' यह पंचमी विभक्तिका संकेत है। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जो इस बातको सूचित करता है कि सर्वार्थसिद्धि लिखे जानेके पहले जैनेन्द्र-व्याकरणकी रचना हो गयी थी।

कात्यायनवार्तिक—पाणिनीयके व्याकरण सूत्रोंपर कात्यायन महर्षिने वार्तिक लिखे हैं। अध्याय ७ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें आचार्य पूज्यपाद ने शास्त्र कहकर उनके 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम् ।' इस वार्तिकको उद्धृत किया है। यह पाणिनिके ७, १, ५१ पर कात्यायनका पहला वार्तिक है।

पातंजल महाभाष्य—वैदिक परम्परामें पतंजलि ऋषि एक महान् विद्वान् हो गये हैं। इस समय पाणिनीय व्याकरणपर जो पातंजल महाभाष्य उपलब्ध होता है वह इन्हीं की अमर कृति है। योगदर्शनके लेखक भी यही हैं। यह इससे स्पष्ट है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।'

जिन्होंने योगके द्वारा चित्तके मलको, व्याकरण के द्वारा वचनोंके मलको और वैद्यकद्वारा शरीरके मलको दूर किया है उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतंजलि ऋषिके समक्ष मैं नतमस्तक होता हूँ।

पतंजलि ऋषिके अवस्थिति कालके विषयमें मतभेद है। तथापि ये विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहले नहीं हुए हैं इतना निश्चित है। इस समय हमारे सामने पातंजल महाभाष्य और सर्वार्थसिद्धि उपस्थित हैं। इन दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके साहित्यपर और खासकर सर्वार्थसिद्धिपर पातंजल महाभाष्य की गहरी छाप पड़ी है। दोनोंका अवलोकन करनेसे विदित होता है कि सर्वार्थसिद्धिके ऐसे अनेक स्थल हैं जो पातंजल महाभाष्यके आश्रयसे सजाये गये हैं। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए आगेकी तुलनापर दृष्टि डालिए—

पातंजल महाभाष्य	सर्वार्थसिद्धि
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ।	अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा ।
बह्वो हि शब्दाः, एकार्था भवन्ति । तद्यथा इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः ।	सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबललाभात् पर्यायशब्दत्वम् । यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दर इति ।
अनुदरा कन्येति	यथा, अनुदरा कन्या इति ।
अस्त्येव संख्यावाची । तद्यथा, एको द्वौ बहव इति ।	संख्यावाची यथा—एको द्वौ बहव इति ।
बहुरोदनो बहुः सूप इति ।	बहुरोदनो बहुः सूप इति ।
सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति ।	सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः ।
हि मन्ये रथेन यास्यसीति	एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यति यातस्ते पितेति ।

पातंजल महाभाष्य	सर्वार्थसिद्धि
भाविकृत्यमासीत् । पुत्रो जनिष्यमाण आसीत् ।	विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता । भाविकृत्यमासीदिति ।
अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः । अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यं उक्तार्थानामप्रयोगः ।	अथवा अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः ।
एकश्च तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बलः समर्थः । एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति ।	भवति हि कश्चित्प्रत्येकं तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः ।
इमानीन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति । तद्यथा इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति ।	स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते । इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति । अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति ।
कदाचित् पारतन्त्र्ये विवक्षितानि भवन्ति— अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि । अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि ।	लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते । अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि । अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति ।
द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात् ।	द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम् ।
अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः ।	अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः ।
हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे भिक्षादिषु दर्शनात् । हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्यः । यावद् ब्रूयान्निमित्तं कारणमिति तावद्धेतुरिति । किं प्रयोजनम् । भिक्षादिषु दर्शनात् । भिक्षादिष्वपि णिज् दृश्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति ।	निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः । यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति ।
स बुद्धया निवर्तते । य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति ।	....स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते । एवमिहापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति ।
तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते । एकीभूतमिति गम्यते ।	तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते । एकीभूतमिति गम्यते ।
कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तर्यधीनं हि ।	कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तर्यधीनम् ।

रत्नकरण्डक—यह दिगम्बर परम्पराका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें धर्मके स्वरूपका व्याख्यान कर व धर्मको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप बतला कर पाँच अध्यायोंमें इन तीनों रत्नोंका क्रमसे विवेचन किया गया है इसलिए इसको रत्नकरण्डक कहते हैं। किन्तु सम्यक् चारित्रका प्रतिपादन करते समय सकल चारित्रका उल्लेखमात्र करके इसमें मुख्यतया विकलचारित्र (श्रावकाचार) का ही विस्तारके साथ निरूपण किया गया है, इसलिए इसे रत्नकरण्डकश्रावकाचार भी कहते हैं। साधारणतः इसके कर्ताके सम्बन्धमें प्रसिद्धि है कि यह दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र स्वामीकी अमर कृति है। अभी

तक जितने प्राचीन उल्लेख मिलते हैं उनसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है[1]। स्वयं प्रभाचन्द्र आचार्य जिन्होंने कि इस पर विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है, इसे स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति मानते हैं। जैसा कि इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पायी जानेवाली पुष्पिकासे विदित होता है[2]। ऐसी अवस्थामें आचार्य पूज्यपादके सामने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय रत्नकरण्डक अवश्य होना चाहिए। आगे हम इन दोनों ग्रन्थोंके कुछ ऐसे उल्लेख उपस्थित करते हैं जिससे इस विषयके अनुमान करनेमें सहायता मिलती है। उल्लेख इस प्रकार हैं—

१ रत्नकरण्डकमें व्रतका स्वरूप इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योगाद् व्रतं भवति ॥३,३०॥'

इसी बातको सर्वार्थसिद्धिमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः । ७-१।

रत्नकरण्डकमें अनर्थदण्डके ये पाँच नाम दिये हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या। सर्वार्थसिद्धिमें भी ये ही पाँच नाम परिलक्षित होते हैं। इतना ही नहीं इनके कुछ लक्षणोंके विषयमें भी अपूर्व शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है। यथा—

'तिर्यक्क्लेशवाणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥' रत्न० ३ ॥

'तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।' सर्वा० ७, २१ ।

'क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥' रत्न ३, ३४ ।

'प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम् ।' सर्वा० २१ ।

इन दोनों ग्रन्थोंमें भोगोपभोगव्रत या उपभोगपरिभोगव्रतके निरूपणमें जो अर्थ और शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है वह तो और भी विलक्षण है। दोनोंमें भोग और उपभोगके प्रकार दिखलाकर त्रसघात, बहुघात और अनिष्टके त्यागका उपदेश दिया गया है। मात्र रत्नकरण्डकमें इनके सिवा अनुपसेव्यके त्यागका निर्देश विशेषरूपसे किया गया है। रत्नकरण्डकके उल्लेख इस प्रकार हैं—

'त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥' ३, ३८ ॥
'अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ३, ३९ ॥
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ॥३, ४० ॥'

इसी विषयको सर्वार्थसिद्धिमें देखिए—

'मधु मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा । केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघातात्पफलत्वात् । यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्…… ।' ७, २२ ।

इतने विलक्षण साम्यके होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थोंमें कुछ विशेषता है। प्रथम विशेषता तो यह है कि रत्नकरण्डकमें 'प्रोषध' शब्दका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' किया है और सर्वार्थसिद्धि में 'पर्व'। तथा दूसरी विशेषता यह है कि रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख किया है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इनकी यत्किंचित् भी चर्चा नहीं की है। इसलिए शंका होती है कि यदि सर्वार्थसिद्धि रत्नकरण्डकके बादकी

---

१. देखो पं० जुगलकिशोरजी द्वारा सम्पादित और श्रीमाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० ५ से पृ० १५ तक। २. इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः।

रचना मानी जाय तो उसमें यह अन्तर नहीं दिखाई देना चाहिए। 'प्रोषध' शब्दके अर्थको हम छोड़ सकते हैं, तब भी आठ मूलगुणोंके निर्देश और अनिर्देशका प्रश्न बहुत ही महत्त्व रखता है। पाठक जितने भी प्राचीनकालकी ओर जायेंगे देखेंगे कि पूर्वकालमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख श्रावकके कर्तव्योंमें अलगसे नहीं किया जाता था। सर्वप्रथम यह उल्लेख रत्नकरण्डकमें ही दिखलाई देता है।

श्रीमान् डॉ० हीरालालजी रत्नकरण्डकको श्री स्वामी समन्तभद्रकी कृति माननेमें सन्देह करते हैं। उनका यह विचार बननेका मुख्य कारण यह है कि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें[1] देवागमके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका उल्लेख करनेके बाद पहले 'देव' पद द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता आचार्य पूज्यपादका उल्लेख किया है और इसके बाद रत्नकरण्डकके कर्ताका स्मरण करते हुए उन्हें 'योगीन्द्र' नामसे सम्बोधित किया है। डॉ० साहब का खयाल है कि ये 'योगीन्द्र' स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न होने चाहिएं जो कि आचार्य पूज्यपादके बादके प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें आचार्य पूज्यपादके बाद आचार्य योगीन्द्रका स्मरण किया है और उन्हें रत्नकरण्डकका निर्माता कहा है। इसकी पुष्टिमें उन्होंने और भी कई प्रमाण दिये हैं, पर उनमें मुख्य प्रमाण यही है।

श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले सटीक रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें रत्नकरण्डककी अन्तःपरीक्षा करके यह सम्भावना प्रकट की है कि जिस रूपमें इस समय वह उपलब्ध होता है वह उसका मूलरूप नहीं है। लिपिकारों और टिप्पणकारोंकी असावधानी वश कई प्रक्षिप्त श्लोक मूलके अंग बन गये हैं[2]। हमारा अनुमान है कि अष्ट मूलगुणोंका प्रतिपादक यह श्लोक भी इसी प्रकार मूलका अंग बना है। यद्यपि मुख्तार साहब आठ मूलगुणोंके प्रतिपादक श्लोकको प्रक्षिप्त नहीं मानते। उन्होंने इसका कोई खास कारण तो नहीं दिया। केवल उपसंहार करते हुए इतना ही कहा है कि 'इसके न रहनेसे अथवा यों कहिए कि श्रावकाचार विषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूलगुणोंका उल्लेखन न होनेसे, ग्रन्थमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी[3]।'

हम यह तो मानते हैं कि केवल वादिराज सूरिके उल्लेखके आधारसे यह तो नहीं माना जा सकता कि रत्नकरण्डक स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है, क्योंकि उन्होंने आचार्योंका उल्लेख सर्वथा कालक्रमके आधारसे नहीं किया है। यथा—वे अध्याय १ श्लोक २० में अकलंकका उल्लेख करनेके बाद २२वें श्लोकमें सम्मतितर्कके कर्ताका स्मरण करते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी लिपिकारकी असावधानीवश रत्नकरण्डकका उल्लेख करनेवाला पार्श्वनाथचरितका 'त्यागी स एव योगीन्द्रः' श्लोक 'अचिन्त्यमहिमा देवः' इस श्लोकके बाद लिपिबद्ध हो गया हो। मुद्रित प्रतिमें ये श्लोक इस रूपमें पाये जाते हैं।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥१, १७॥
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१, १८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१, १९॥

किन्तु इनमेंसे १९ संख्यांकवाले श्लोकको १७ संख्यांकवाले श्लोकके बाद पढ़ने पर 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इस पद द्वारा स्वामी समन्तभद्रका ही बोध होता है और सम्भव है कि वादिराज सूरिने रत्नकरण्डकका कर्तृत्व प्रकट करनेके अभिप्रायसे पुनः यह श्लोक कहा हो। किन्तु दूसरे प्रमाणोंके प्रकाशमें इस सम्भावना द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकर्तृक मान लेनेपर भी उसमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख अवश्य ही

---

१. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित पार्श्वनाथचरित, सर्ग १, श्लोक १७, १८ और १९। २. देखो, प्रस्तावना पृष्ठ १५ से पृष्ठ ५३ तक। ३. देखो प्रस्तावना पृ० ३२।

विचारणीय हो जाता है। इस विषयमें हमारा तो खयाल है कि जिस कालमें श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किये गये और इस आधारसे श्रावकाचार के प्रतिपादन करनेका प्रारम्भ हुआ उसी कालसे आठ मूलगुणोंका वर्गीकरण हो कर उन्हें श्रावकाचारोंमें स्थान मिला है। रत्नकरण्डकमें कुछ ऐसे बीज हैं जिनसे उसका संकलन दूसरे श्रावकाचारोंमें हुए विकास क्रमके बहुत पहलेका माना जा सकता है। अतएव सम्भव है कि रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख प्रक्षिप्त हो। रत्नकरण्डकमें जिस स्थानपर यह आठ मूलगुणोंका प्रतिपादक श्लोक संकलित है उसे देखते हुए तो यह सम्भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। इसके पहले स्वामी समन्तभद्र अतीचारोंके साथ पाँच अणुव्रतोंका कथन कर आये हैं और आगे वे सात शील-व्रतोंका अतीचारोंके साथ कथन करनेवाले हैं। इनके बीचमें यह श्लोक आया है जो अप्रासंगिक है।

युक्त्यनुशासन—स्वामी समन्तभद्रकी रत्नकरण्डके समान अन्यतम अमर कृति उनका युक्त्यनुशासन है। इसमें वीर जिनकी स्तुति करते हुए युक्तिपूर्वक उनके शासनकी स्थापना की गयी है। इसके एक स्थलपर वे कहते हैं कि जो शीर्षोपहार आदिके द्वारा देवकी आराधना कर सुख चाहते हैं और सिद्धि मानते हैं उनके आप गुरु नहीं हो। श्लोक इस प्रकार है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥'

अब इसके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिके इस स्थलको पढ़िए—

तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति। अ० ९, सू० २ की टीका।

इस तुलनासे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके समक्ष युक्त्यनुशासनका उक्त वचन उपस्थित था।

द्वात्रिंशत्का—आचार्य पूज्यपादके पूर्व और स्वामी समन्तभद्रके बाद विक्रमकी पाँचवीं छठवीं शताब्दीके मध्यमें[1] सिद्धसेन दिवाकर एक बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं जिनका उल्लेख दिगम्बर आचार्योंने बड़े आदरके साथ किया है[2]। इनके द्वारा रचित सन्मतितर्क ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अनेक द्वात्रिंशत्काओंके रचयिता भी यही माने जाते हैं[3]। आचार्य पूज्यपादने अध्याय ७ सूत्र १३ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें 'वियोजयति चासुभिः' यह पद उद्धृत किया है जो इनकी सिद्धद्वात्रिंशत्कासे लिया गया जान पड़ता है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धिमें कुछ ऐसी गाथाएँ, पद्य और वाक्य उद्धृत हैं जिनमेंसे कुछके स्रोतका हम अभी तक ठीक तरहसे निर्णय नहीं कर सके हैं और कुछ ऐसे हैं जो सर्वार्थसिद्धिके बादमें संकलित हुए या रचे गये ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमने उन्हीं ग्रन्थोंका परिचय दिया है जो निश्चयतः आचार्य पूज्यपाद के सामने रहे होंगे।

मंगलाचरण—सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें यह मंगल श्लोक आता है—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥'

यहाँ विचार इस बातका करना है कि यह मंगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका अंग है या सर्वार्थसिद्धिका। कुछ विद्वानोंका मत इसे तत्त्वार्थसूत्रका अंग माननेके पक्षमें है। वे इसके समर्थनमें इन हेतुओंको उपस्थित करते हैं—

एक तो तत्त्वार्थसूत्रकी हस्तलिखित अधिकतर जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनके प्रारम्भमें यह मंगल श्लोक उपलब्ध होता है और दूसरे आचार्य विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षामें इसे सूत्रकारका कहकर इसका उल्लेख किया है। यथा—

'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते।'

---

१. देखो भारतीय विद्या भाग ३, पृष्ठ ११। २. देखो जिनसेनका महापुराण। ३. देखो पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० १३२।

आचार्य विद्यानन्द इतना ही कहकर नहीं रह गये। वे आप्तपरीक्षा का उपसंहार करते हुए पुनः कहते हैं—

'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥'

प्रकृष्ट रत्नोंके उद्भवके स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी रचनाके आरम्भ कालमें महान् मोक्षपथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकारोंने समस्त कर्ममलके भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामीने मीमांसा की है उसी स्तोत्रका सत्य वाक्यार्थकी सिद्धिके लिए विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है।

इसी बातको उन्होंने इन शब्दोंमें पुनः दुहराया है—

'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवादविनिवृत्तये ॥ १२४ ॥'

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके प्रारम्भमें मुनीन्द्रके स्तोत्रकी विषयभूत यह आप्तपरीक्षा विवादको दूर करने के लिए रची गयी है।

आप्तपरीक्षाके ये उल्लेख असंदिग्ध हैं। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्द उक्त मंगल श्लोक को तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका मानते रहे हैं।

किन्तु इस मंगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ नहीं हैं इसके समर्थनमें ये युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं—

१–यदि इस मंगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रके निर्माता स्वयं गृद्धपृच्छ आचार्य होते और तत्त्वार्थसूत्रके साथ यह मंगल श्लोक आचार्य पूज्यपादको उपलब्ध हुआ होता तो वे इसपर अपनी व्याख्या अवश्य लिखते। उसे बिना व्याख्याके वे सर्वार्थसिद्धिका अंग न बनाते।

२–आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिकी प्रारम्भिक उत्थानिका द्वारा यह स्पष्टतः सूचित करते हैं कि किसी भव्यके अनुरोधपर आचार्य गृद्धपिच्छके मुख से सर्वप्रथम 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र प्रकट हुआ। इससे विदित होता है कि उन्हें मंगलाचरण करनेका प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुआ।

३–तत्त्वार्थवार्तिककार भट्ट अकलंकदेव भी इस मंगल श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग नहीं मानते। अन्यथा वे इसकी व्याख्या अवश्य करते और उस उत्थानिकाको स्वीकार न करते जिसका निर्देश आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें किया है। तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकारकी दृष्टिसे आचार्य विद्यानन्दकी स्थिति भट्ट अकलंकदेवसे भिन्न नहीं है। उन्होंने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इस मंगल श्लोकको व्याख्या नहीं की है। इतना ही नहीं इन दोनों आचार्योंने अपने भाष्यग्रन्थोंके प्रारम्भमें उसका संकलन भी नहीं किया है।

ये दो मत हैं जो किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमें सहायता नहीं करते। फिर भी हम दूसरे मतके आधारोंको अधिक तथ्यपूर्ण मानते हैं और इसीलिए हमने लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें मंगलकी चर्चा करते हुए यह मत व्यक्त किया है—

'हमने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' यह मंगलाचरण नहीं दिया है, क्योंकि हमारा अब भी यह खयाल है कि यह आचार्य गृद्धपिच्छकी रचना नहीं है। यह सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें पाया जाता है, इसलिए हमारे खयालसे यह सर्वार्थसिद्धि वृत्तिका ही अंग माना जाना चाहिए। यद्यपि आचार्य विद्यानन्द इसका उल्लेख 'शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः' इस रूपसे करते हैं पर इसकी पुष्टिमें अभी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण नहीं मिला है। यदि यह तत्त्वार्थसूत्रका अविभाज्य अंग होता तो इसपर आचार्य पूज्यपाद और अकलंकदेव

अवश्य ही टीका लिखते। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यानन्द इसे तत्त्वार्थ-सूत्रके कर्ताका मंगलाचरण मानते रहे हैं।'

३. तत्त्वार्थसूत्रकार

पुरानी परम्परा—शास्त्रकी प्रमाणता और अप्रमाणताका प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन-कालमें सभी शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमें या अन्तमें अपने नाम, कुल, जाति, वास्तव्यस्थान आदिका उल्लेख नहीं करते थे, क्योंकि वे उस शास्त्रका अपनेको प्रणेता नहीं मानते थे। उनका मुख्य कार्य परम्परासे प्राप्त भगवान्‌की द्वादशांग वाणीको संक्षिप्त, विस्तृत या भाषान्तरित कर संकलित कर देना मात्र होता था। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि किसी शास्त्रके साथ अपना नाम आदि देनेसे उसकी सर्वग्राह्यता या प्रामाणिकता नहीं बढ़ती। अधिकतर शास्त्रोंमें स्थल-स्थलपर जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है[1], यह जिनदेवका उपदेश है[2], सर्वज्ञ-देवने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते हैं[3], इन वचनोंके उल्लेखके साथ उनका प्रतिपाद्य विषय चर्चित होता है। यह क्यों? इसलिए कि जिससे यह बोध हो कि यह किसी व्यक्तिविशेषका अभिप्राय न होकर सर्वज्ञदेवकी वाणी या उसका सार है। वस्तुतः किसी शास्त्रके अर्थोपदेष्टा छद्मस्थ न होकर वीतराग सर्वज्ञ होते हैं। छद्मस्थ गणधर तो उनके अर्थोपदेशको सुनकर उनकी वाणीका ग्रन्थरूपमें संकलनमात्र करते हैं[4]। यही संकलन परम्परासे आकर नाना आचार्योंके ज्ञानका विषय होकर अनेक प्रकीर्णक शास्त्रोंको जन्म देता है[5]। पूर्वकालीन आचार्य इस तथ्यको उत्तम रीतिसे समझते थे और इसलिए वे नाम रूपके व्यामोहसे मुक्त रहकर द्वादशांगवाणीके संकलनमें लगे रहते थे। आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य भूतबलि, आचार्य गुणधर, आचार्य यति-वृषभ, आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य पूज्यपाद प्रभृति ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने इस मार्गका अनुसरण किया है और भगवान् तीर्थंकरकी वाणीका संकलन कर उसे लोक-कल्याणके हेतु अर्पित किया है। इतना ही क्यों आचार्य गृद्धपृच्छ भी उन्हींमें से एक हैं जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसे ग्रन्थरत्नको अवशिष्ट समग्र श्रुतके आधारसे संकलन कर नाम प्रख्यापनके व्यामोहसे अपनेको मुक्त रखा है। प्राचीन कालमें यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्योंका उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था।

इस समय श्रुतधर अनेक आचार्योंके जीवन परिचय और उनके कार्योंके तथ्यपूर्ण इतिहासको संकलित करनेमें जो कठिनाई आती है उसका कारण यही है। इसे हम कठिनाई शब्दसे इस अर्थमें पुकारते हैं, क्योंकि यह काल ऐतिहासिक तथ्योंके संकलनका होनेसे इस बातपर अधिक बल दिया जाता है कि कौन आचार्य किस कालमें हुए हैं, उनका गार्हस्थिक जीवन क्या था और उनके उल्लेखनीय कार्य कौन-कौनसे हैं आदि।

प्रकृतमें हमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके सम्बन्धमें विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रका संकलन आगमिक दृष्टिसे जितना अधिक सुन्दर और आकर्षक हुआ है उसके रचयिताके विषयमें उतना ही अधिक विवाद है। जैनसंघकी कालान्तरमें हुई दोनों परम्पराओंके कारण इस विवादको और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। पहला विवाद तो रचयिताके नामादिके विषयमें है और दूसरा विवाद उनके अस्तित्व कालके विषयमें है। यहाँ हम सर्वप्रथम उन अभ्रान्त प्रमाणोंको उपस्थित करेंगे जिनसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके निर्णय करनेमें सहायता मिलती है और इसके बाद विवादके कारणभूत तथ्योंपर प्रकाश डालेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ—यह तो हम आगे चल कर देखेंगे कि आचार्य पूज्यपादने विविध विषयोंपर विशाल साहित्य लिखा है। फिर भी उन्होंने कहीं भी अपने नामका उल्लेख नहीं किया है। इतना

---

१. 'भणियो खलु सव्वदरसीहिं' समयप्राभृत, गाथा ७०। २. 'एसो जिणोवदेसो' समयप्राभृत, गाथा १५०। ३. 'सद्दविकारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं। सो तह कहियं णायंसीसेण य भद्दबाहुस्स ॥' बोधपाहुड़, गाथा ६१। ४. 'तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहि गुंथियं सम्मं।' भावपाहुड, गाथा ९२। ५. देखो सर्वा०, अ० १, सू० २०।

ही नहीं वे तत्त्वार्थसूत्रपर अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय भी इसी मार्गका अनुसरण करते हैं। वे इसकी उत्थानिकामें यहाँ तक तो निर्देश करते हैं कि कोई भव्य किसी आश्रममें मुनियोंकी सभामें बैठे हुए आचार्यवर्यके समीप जाकर विनय सहित प्रश्न करता है और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना होती है। फिर भी वे उन आचार्य आदिके नामादिकके विषयमें मौन रहते हैं। क्यों ? हमें तो इस उपाख्यानसे यही विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादको परम्परासे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आदिके विषयकी इत्थम्भूत जानकारी होते हुए भी स्वकर्तृत्वकी भावनाका परिहार करनेके अभिप्रायसे वे नामादिकके उल्लेखके पचड़ेमें नहीं पड़े। भट्ट अकलंकदेवने भी इसी मार्गका अनुसरण किया है। वे भी तत्त्वार्थवार्तिकके प्रारम्भमें उसी उत्थानिकाको स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें आचार्य पूज्यपादने किया है। इसलिए इन उल्लेखोंसे इस तथ्यपर पहुँचने पर भी कि इन आचार्योंको तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामादिककी कुछ-कुछ जानकारी अवश्य रही है, इससे इस बातका पता नहीं लगता कि आखिर वे आचार्य कौन थे जिन्होंने भव्य जीवोंके कल्याणार्थ यह महान् प्रयास किया है।

हम समझते हैं कि भारतीय परम्परामें मुख्यतः जैन परम्परामें नामादिकके उल्लेख न करनेकी यह परिपाटी विक्रम ४ थी, ५वीं शताब्दी तक बराबर चलती रही है। और कुछ आचार्योंने इसे इसके बाद भी अपनाया है। इसके बाद कई कारणोंसे इस नीतिमें परिवर्तन होने लगता है और शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमें या अन्तमें अपने नामादिका उल्लेख करने लगते हैं। इतना ही नहीं वे अन्य प्रकारसे अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारोंका भी उल्लेख करने लगते हैं। अतएव हमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका ठीक तरहसे निर्णय करनेके लिए उत्तरकालवर्ती साहित्यका ही आलोडन करना होगा। अतः आइए पहले उत्तरकालवर्ती उन अभ्रान्त प्रमाणोंको देखें जो इस विषयपर प्रकाश डालते हैं—

१—श्रुतधर आचार्योंकी परम्परामें आचार्य वीरसेन महान् टीकाकार हो गये हैं। इन्होंने षट्खण्डागमपर प्रसिद्ध धवला टीका शक संवत् ७३८ में पूरी की थी। उनकी यह टीका अनेक उल्लेखों और ऐतिहासिक तथ्योंको लिये हुए है। तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोंको उन्होंने इस टीकामें उद्धृत किया है। इतना ही नहीं जीवस्थान काल अनुयोगद्वारमें तो तत्त्वार्थसूत्रकारके नामोल्लेखके साथ भी तत्त्वार्थसूत्रके एक सूत्रको वे उद्धृत करते हैं। वे कहते हैं—

'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो।' मुद्रित पृष्ठ ३१६।

इस उल्लेखमें तत्त्वार्थसूत्रको स्पष्टतः गृद्धपिच्छाचार्यके द्वारा प्रकाशित कहा गया है।

२—आचार्य विद्यानन्द भी महान् श्रुतधर आचार्य थे। इन्होंने अष्टसहस्री, विद्यानन्द महोदय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक शास्त्रोंका प्रणयन कर जैन श्रुतकी श्रीवृद्धि की है। इनका वास्तव्य काल ई० सन् ७७५ (शक सं० ६९७) से ई० सन् ८४० (शक सं० ७६२) तक माना जाता है[1]। ये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मुद्रित पृष्ठ ६ में लिखते हैं—

'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

इस द्वारा आचार्य विद्यानन्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् महावीरके शासनमें जो सूत्रकार हुए हैं उनमें अन्तिम सूत्रकार गृद्धपिच्छ आचार्य थे।

यद्यपि यह उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छको ही सूचित करता है फिर भी पं० सुखलालजी इस विषयमें सन्देह करते हैं और उन्होंने यह सन्देह स्वलिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृष्ठ १०६-१०७ में प्रकट किया है। उनका यह सन्देह विशेषतः तर्काश्रित है इसलिए यहाँ हमें प्रथमतः इसपर इसी दृष्टिसे विचार करना है।

---

१. देखो न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृष्ठ ५०।

पण्डितजीका तर्क है कि पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रका मोक्षमार्गविषयक सूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत है इस वस्तुको सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चामें आया है। इस अनुमान चर्चामें मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्त्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है। इस हेतुमें व्यभिचार दोषका निरसन करते हुए विद्यानन्दने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचार दोष पक्षसे भिन्न स्थलमें सम्भवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्गविषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र ही है इससे व्यभिचारका विषयभूत माना जानेवाला गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनियोंका सूत्र यह विद्यानन्दकी दृष्टिमें उमास्वातिके पक्षभूत मोक्षमार्गविषयक प्रथम सूत्रसे भिन्न ही होना चाहिए, यह बात न्यायविद्याके अभ्यासीको शायद ही समझानी पड़े ऐसी है।

पण्डितजीके इस तर्काश्रित वक्तव्यका सार इतना ही है कि, आचार्य विद्यानन्दने यहाँपर जिस गृद्ध-पिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रका उल्लेख किया है। वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे भिन्न ही है।

जहाँ तक पण्डितजीका यह वक्तव्य है उसमें हमें अप्रामाणिकताका दोषारोप नहीं करना है किन्तु पण्डितजी यदि उक्त अनुमान प्रसंगसे आचार्य विद्यानन्दके द्वारा उठाये गये अवान्तर प्रसंग पर दृष्टिपात करते तो हमारा विश्वास है कि वे गृद्धपिच्छ आचार्यके सूत्रसे तथाकथित उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रको भिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करते।

आचार्य विद्यानन्द द्वारा उठाया गया वह अवान्तर प्रसंग है गणाधिप, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वीके सूत्र वचनको स्वरचित मानकर व्यभिचारदोषका उद्भावन। स्पष्ट है कि इसमें इस अभिप्रायसे गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र भी गर्भित है, क्योंकि यहाँपर वह स्वकर्तृकरूपसे सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत सूत्रसे कथञ्चित् (कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं इस दृष्टिसे) भिन्न मान लिया गया है। प्रकृतमें इस विषयको इन शब्दों द्वारा स्पष्ट करना विशेष उपयुक्त होगा। प्रस्तुत अनुमानमें प्रकृत सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्व साध्य है, सूत्रत्व हेतु है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शेष सूत्र सपक्ष है और बृहस्पति आदिका सूत्र विपक्ष है। इस अनुमान द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको सूत्रत्व हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कर्तृक सिद्ध किया गया है। इससे सिद्ध है कि यहाँ आचार्य विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकर्तृक मानकर सूत्र सिद्ध नहीं कर रहे हैं। सूत्रत्वकी दृष्टिसे, यह गृद्धपिच्छाचार्य रचित है इस बातको, वे भूल जाते हैं। वे कहते हैं कि यह सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत है, इसलिए सूत्र है।

फिर भी यदि कोई यह कहे कि यह तत्त्वार्थसूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत न होकर गृद्धपिच्छाचार्य रचित है तो ऐसी अवस्थामें सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत तत्त्वार्थसूत्रसे कथञ्चित् भिन्न गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र पूर्वके अनुमानमें सपक्षभूत गणधरादि रचित सूत्रोंके समान विपक्ष कोटिमें चला जायेगा और इसमें सूत्रत्व हेतुके स्वीकार करनेसे हेतु व्यभिचरित हो जायेगा। आचार्य विद्यानन्दने इसी व्यभिचार दोषका उपस्थापन कर उसका वारण करते हुए फलितांशके साथ यह समग्र वचन कहा है—

'गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्यभिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयंसंमतेन व्यभिचार इति चेत्? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितमिति वचनात्। एतेन गृद्धपिच्छा-चार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

यहाँ स्वनिर्मित मानकर गणाधिप प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वीके सूत्रके साथ व्यभिचार दिखाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेपर भी यह व्यभिचार दोष आता है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानमें साध्य गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र न होकर सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र साध्य है। इसलिए गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र साध्यविरुद्ध होनेसे विपक्ष ठहरता है। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र एक है, दो नहीं पर कर्ताके भेदसे वे दो उपचरित कर लिये गये हैं। एक वह जो सर्वज्ञ वीतराग-प्रणीत है और दूसरा वह जो गृद्धपिच्छाचायप्रणीत है। इसलिए जिस प्रकार गणाधिप आदिके सूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचार दोषका वारण करना इष्ट था उसी प्रकार केवल गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेसे जो व्यभिचार दोष आता था उसका वारण करना भी आवश्यक था और इसीलिए 'एतेन' इत्यादि वाक्य द्वारा उस दोषका वारण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यानन्द भी वीरसेनस्वामीके समान इसी मतके अनुसर्ता प्रतीत होते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य ही हैं। थोड़ी देरको यदि इस तर्काश्रित पद्धतिको छोड़ भी दिया जाये और पण्डितजीके मतको ही मुख्यता दी जाये तब भी आचार्य विद्यानन्द 'एतेन' इत्यादि वाक्य द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छको ही सूचित कर रहे हैं इस मतके माननेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि आचार्य विद्यानन्दने पूर्वोक्त अनुमान द्वारा गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रको तो सूत्र सिद्ध कर ही दिया था किन्तु इससे पूर्ववर्ती अन्य आचार्योंकी रचनाको सूत्र सिद्ध करना फिर भी शेष था जिसे उन्होंने गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त अर्थात् गृद्धपिच्छाचार्य हैं अन्तमें जिनके ऐसे अन्य गणाधिप आदि मुनिसूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचारका वारण कर सूत्र सिद्ध कर दिया है। यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समासके स्वीकार कर लेनेसे यह अभिप्राय फलित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गृद्धपिच्छाचार्यका कोई सूत्रग्रन्थ है इसे तो पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। उन्हें केवल प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्रको उनका माननेमें विवाद है। किन्तु अन्य ऐतिहासिक तथ्योंसे जब वे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता सिद्ध होते हैं ऐसी अवस्थामें आचार्य विद्यानन्दके उक्त वाक्यका वही अर्थ संगत प्रतीत होता है जो हमने किया है।

३—आचार्य गृद्धपिच्छका बहुमानके साथ उल्लेख वादिराजसूरिने भी अपने पार्श्वनाथचरितमें किया है। सम्भवतः ये वही वादिराज सूरि हैं जिन्होंने एकीभावस्तोत्र, यशोधरचरित, काकुस्थचरित और न्यायविनिश्चयविवरण लिखा है। इनके विषयमें कहा जाता है—

"वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः।"

वे पार्श्वनाथचरितमें आचार्य गृद्धपिच्छका इन शब्दों द्वारा उल्लेख करते हैं—

"अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः।"

उन महान् गुणोंके आकर गृद्धपिच्छको मैं नमस्कार करता हूँ जो निर्वाणको उड़कर पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले भव्योंके लिए पंखोंका काम देते हैं।

यद्यपि वादिराजसूरिने यहाँपर आचार्य गृद्धपिच्छके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं किया है तथापि यहाँ वे उन्हीं शास्त्रकारोंका स्मरण कर रहे हैं जिन्होंने मोक्षमार्गोपयोगी साहित्यकी सृष्टि कर संसारका हित किया है। वादिराजसूरिकी दृष्टिमें आचार्य गृद्धपिच्छ उनमें सर्व प्रथम हैं।

इनमेंसे प्रथम दो उल्लेख विक्रमकी नौवीं शताब्दीके और अन्तिम उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दीका है। इससे मालूम पड़ता है कि इस काल तक जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं एकमात्र यही मान्यता प्रचलित थी।

अन्य मत—किन्तु इस मतके विरुद्ध तीन चार मत और मिलते हैं जिनकी यहाँ चर्चा कर लेना प्रासंगिक है।

१—श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें एक प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उनमें कहा गया है कि 'जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अंग के धारक घोषनन्दि क्षमण थे और प्रगुरु वाचकमुख्य शिवश्री थे, वाचनाकी अपेक्षा जिनके गुरु मूल नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुण्डपाद थे, जो गोत्रसे कौभीषणि थे और जो स्वाति पिता और वात्सी माताके पुत्र थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिकामें हुआ था और जो उच्चानागर शाखाके थे, उन उमास्वाति वाचकने गुरुपरम्परासे प्राप्त हुए श्रेष्ठ अर्हद्वचनको भली प्रकार धारण करके तथा दुरागम द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोकको देखकर प्राणियोंकी अनुकम्पावश यह तत्त्वार्थाधिगम नामका शास्त्र विहार करते

हुए कुसुमपुर नामके महानगरमें रचा है। जो इस तत्त्वार्थाधिगमको जानेगा और उसमें कथित मार्गका अनुसरण करेगा वह अव्याबाध सुख नामके परमार्थको शीघ्र ही प्राप्त करेगा[१]।'

इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यके प्रारम्भमें जो ३१ उत्थानिका कारिकाएँ उपलब्ध होती हैं उनमेंसे २२वीं कारिकामें कहा गया है कि 'अर्हद्वचनके एकदेशके संग्रह रूप और बहुत अर्थवाले इस तत्त्वार्थाधिगम नामवाले लघु ग्रन्थको मैं शिष्योंके हितार्थ कहता हूँ।'

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी उत्थानिकाकी इस कारिका और अन्तिम प्रशस्तिको विशेष महत्त्व देते हैं[२]। वे इन्हें मूल सूत्रकारकी मानकर चलते हैं।

इसके सिवा उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको अभिन्न सिद्ध करनेके लिए दो युक्तियाँ और दी हैं—

क. 'प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें भी 'वक्ष्यामि', 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है और इस निर्देशमें की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही बादमें सूत्रमें कथन किया गया है; इससे सूत्र और भाष्य दोनोंको एककी कृति माननेमें सन्देह नहीं रहता।

ख. शुरुसे अन्ततक भाष्यको देख जानेपर एक बात मनमें बैठती है और वह यह है कि किसी भी स्थलपर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्रका अर्थ करनेमें सन्देह या विकल्प करने में नहीं आया, इसी प्रकार सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमें रखकर सूत्रका अर्थ नहीं किया गया और न कहीं सूत्रके पाठभेदका ही अवलम्बन लिया गया है।[३]

पं० नाथूरामजी प्रेमीका लगभग यही मत है। इस विषयका उनका अन्तिम लेख भारतीय विद्याके तृतीय भागमें प्रकाशित हुआ है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यको अभिन्नकर्तृक सिद्ध करते समय पं० सुखलालजीकी उक्त तीनों युक्तियोंको ही कुछ शब्दोंके हेरफेरके साथ उपस्थित किया है। मात्र इन दोनों विद्वानोंके मतोंमें यदि कुछ अन्तर प्रतीत होता है तो इतना ही कि पं० सुखलालजी वाचक उमास्वातिको सवस्त्र श्वेताम्बरपरम्पराका और प्रेमीजी यापनीय परम्पराका मानते हैं।

२. श्रवणवेल्गोलाके चन्द्रगिरि पर्वतपर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें गृद्धपिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। इन शिलालेखोंमेंसे ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० वें शिलालेखोंमें गृद्धपिच्छ विशेषणके साथ मात्र उमास्वातिका उल्लेख है और १०५ व १०८ वें शिलालेखोंमें उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। ये दोनों शिलालेख डॉ० हीरालालजीके मतानुसार[४] क्रमशः शक सं० १३२० और शक सं० १३५५ के माने जाते हैं। शिलालेख १५५ का उद्धरण इस प्रकार है—

> 'श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
> यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥१५॥
> तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः।
> यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि ॥१६॥'

यतियोंके अधिपति श्रीमान् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया जो मोक्षमार्गके आचरणमें उद्यत हुए प्रजा जनोंके लिए उत्कृष्ट पाथेयका काम देता है। गृद्धपिच्छ है दूसरा नाम जिनका ऐसे उन्हीं उमास्वातिके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे। जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यंगनाके मोहन करनेके लिए आभूषणोंका काम देते हैं।

---

१. देखो तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति। २. देखो उनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। ३. पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृष्ठ २१। ४. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित शिला-लेख संग्रह, भाग १।

शिलालेख १०८ में इसी बातको इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

'अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥११॥'
'स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥१२॥'

तत्त्वार्थसूत्रपर विभिन्न समयोंमें छोटी-बड़ी टीकाएँ तो अनेक लिखी गयी हैं पर उनमेंसे विक्रमकी १३वीं शतीके विद्वान् बालचंद[1] मुनिकी बनायी हुई एक ही कनडी टीका है जिसमें उमास्वाति नामके साथ गृद्धपिच्छाचार्य नाम भी दिया है ।

पं० जुगुलकिशोरजी मुख्तार कर्ता विषयक इसी मतको प्रमाण मानकर चलते हैं । उन्होंने गृद्धपिच्छको उमास्वातिका ही नामान्तर कहा है ।[2]

३. दिगम्बर परम्परामें मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके अन्तमें एक श्लोक आया है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥'

इसमें गृद्धपिच्छसे उपलक्षित उमास्वामी मुनीश्वरको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता बतलाकर उन्हें गणीन्द्र कहा गया है ।

४. नगर ताल्लुकेके एक शिलालेखमें यह उल्लेख उपलब्ध होता है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥'

इसमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वाति बतलाया है और उन्हें श्रुतकेवलिदेशीय तथा गुणमन्दिर कहा गया है ।

५. आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है ऐसा भी उल्लेख देखनेमें आता है जो तत्त्वार्थसूत्रकी अन्यतम टीका अर्हत्सूत्रवृत्तिका है । तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणकार भी इस मतसे परिचित थे, उन्होंने अपने टिप्पणमें इस मतका उल्लेख कर अपने सम्प्रदायको सावधान करनेका प्रयत्न किया है ।[3]

समीक्षा—इस प्रकार ये पाँच अन्य मत हैं जिनमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता कौन हैं इस बातका विचार किया गया है । इनमेंसे प्रारम्भके तत्त्वार्थभाष्यके उल्लेखको छोड़कर शेष सब उल्लेख लगभग १३वीं शताब्दीसे पूर्वके नहीं हैं और मुख्यतया वे गृद्धपिच्छ और उमास्वाति इन दो नामोंकी ओर ही किसी रूपमें संकेत करते हैं ।[4] एक अन्तिम मत कि आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं अवश्य ही विलक्षण लगता है किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दकी गृद्धपिच्छ इस नामसे ख्याति होनेके कारण ही यह मत प्रसिद्धिमें आया है ऐसा प्रतीत होता है ।[5] मुख्य मत दो ही हैं जो यहाँ विचारणीय हैं । प्रथम यह कि आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं और दूसरा यह कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है ।

साधारणतः हम पहले 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामके विषयमें विचार करते हुए 'सूत्रपाठोंमें मतभेद' प्रकरणको लिखते हुए और 'पौर्वापर्यविचार' प्रकरण द्वारा सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थभाष्य की तुलना करते हुए कई महत्त्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश डाल आये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है—

१. वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रकी रचना की थी । किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर तत्त्वार्थभाष्यका है ।

---

१. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० १६ । २. देखो मा० ग्र० से प्रकाशित रत्नकरण्डक की प्रस्तावना, पृष्ठ १४५ । ३. पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० १७ । ४. इसके लिए देखो हमारे द्वारा लिखे गये तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना । ५. देखो प्रवचनसारकी डॉ० ए० एन० उपाध्येकी भूमिका ।

२. सूत्रपाठोंमें मतभेदका उल्लेख करते समय यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि यदि तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्ता एक ही व्यक्ति होते और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको समझते होते तो श्वेताम्बर सूत्रपाठमें जितना अधिक मतभेद उपलब्ध होता है वह नहीं होना चाहिए था।

३. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार करते समय हम बतला आये हैं कि वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य लिखे जानेके पहले ही तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो गयी थीं। वहाँ हमने एक ऐसे सूत्रका भी उल्लेख किया है जो सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखता है और जिसे वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमें उद्धृत किया है। अर्थविकासकी दृष्टिसे विचार करते हुए इसी प्रकरणमें यह भी बतलाया गया है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यको सामने रख कर विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसे कई प्रसंग हैं जो तत्त्वार्थभाष्यको सर्वार्थसिद्धिके बादकी रचना ठहराते हैं। और यह सिद्ध करते समय हमने एक उदाहरण यह भी दिया है कि कालके उपकार प्रकरणमें परत्वापरत्वके सर्वार्थसिद्धिमें केवल दो भेद किये गये हैं जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें वे तीन उपलब्ध होते हैं।

इसलिए इन व दूसरे तथ्योंसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी कि वाचक उमास्वाति आद्य सूत्रकार नहीं होने चाहिए, इस विषयके अन्तिम निर्णयके लिए कुछ अन्य बातोंपर भी दृष्टिपात करना है।

किसी भी रचयिताके सम्प्रदाय आदिका निर्णय करनेके लिए उस द्वारा रचित शास्त्र ही मुख्य प्रमाण होता है। किसी भी शास्त्रमें कुछ ऐसे बीज होते हैं जो उस शास्त्रके रचनाकाल व शास्त्रकारके सम्प्रदाय आदिपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारके समयादिकका विचार करते समय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने भी इस सरणिको[1] अपनाया है। किन्तु वहाँ उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोंको एककर्तृक मानकर इस बातका विचार करनेका प्रयत्न किया है। इससे बहुत बड़ा घुटाला हुआ है। वस्तुतः इस बातका विचार केवल तत्त्वार्थसूत्रको और उसमें भी तत्त्वार्थसूत्रके उन सूत्रोंको सामने रखकर ही होना चाहिए जो तत्त्वार्थसूत्रमें दोनों सम्प्रदायोंको मान्य हों। इससे निष्पक्ष समीक्षा द्वारा किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

चार सूत्र—यह तो स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ हो जानेपर भी अधिकतर सूत्र ऐसे हैं जो दोनों सम्प्रदायोंको मान्य हैं और उनमें भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूलरूपमें रहे आये हैं जिनसे रचयिताकी स्थिति आदिपर प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम इस विचारणामें ऐसे सूत्रोंमेंसे मुख्य चार सूत्रोंको उपस्थित करते हैं—प्रथम तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणोंका प्रतिपादक सूत्र, दूसरा बाईस परीषहोंका प्रतिपादक सूत्र, तीसरा केवली जिनके ग्यारह परीषहोंके सद्भावका प्रतिपादक सूत्र और चौथा एक जीवके एक साथ कितने परीषह होते हैं इसका प्रतिपादक सूत्र।

१. तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कितने कारण हैं इसका उल्लेख दोनों परम्पराओंके मूल आगम करते हैं। दिगम्बर परम्पराके बंधसामित्तविचयमें वे ही सोलह कारण उल्लिखित हैं जो लगभग तत्त्वार्थसूत्रमें उसी रूपमें स्वीकार किये गये हैं। तुलनाके लिए देखए—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ —तत्त्वार्थसूत्र ७,२४।

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधा थामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति। —बंधसामित्तविचअ ७ सु० ४१।

---

१. देखो पं० सुखलालजी द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृ० ८ आदि।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा १६ के स्थानोंमें २० कारण स्वीकार करती है। वहाँ ज्ञातृधर्मकथा नामक अंगके आठवें अध्यायमें इन कारणोंका निर्देश इन शब्दोंमें किया है—

'अरहंत-सिद्धि-पवयण गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खं णाणोवओगे य ॥ १ ॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥'

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम बात तो १६ संख्याका निर्देश और दूसरी बात शब्दसाम्य। इस विषयमें तत्त्वार्थसूत्रका उक्त सूत्र दिगम्बर परम्पराके जितने अधिक नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं है।

२. दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ २२ परीषहोंको स्वीकार करती हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें इनका प्रतिपादन करनेवाला जो सूत्र है[1] उसमें एक परीषहका नाम 'नाग्न्य' है। देखना यह है कि यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकारने नाग्न्य शब्दको ही क्यों स्वीकार किया है। क्या इस शब्दका स्वीकार श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार आगम सम्मत हो सकता है। श्वेताम्बर परम्पराके आगममें 'नाग्न्य' परीषहके स्थानमें सर्वत्र 'अचेल' परीषहका उल्लेख मिलता है[2] जो उस सम्प्रदायके अनुरूप है; क्योंकि अचेल शब्दमें 'नञ्' समास होनेसे उस सम्प्रदायके अनुसार इस शब्दके 'वस्त्रका अभाव और अल्प वस्त्र' ये दोनों ही अर्थ फलित हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार 'नाग्न्य' शब्दसे इन दोनों अर्थोंको फलित नहीं किया जा सकता है। नग्न यह स्वतन्त्र शब्द है और इस शब्दका 'वस्त्रके आवरणसे रहित' एकमात्र यही अर्थ होता है। स्पष्ट है कि यह २२ परीषहोंका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र भी जितना अधिक दिगम्बर परम्पराके नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं है।

३. बाईस परीषहोंमेंसे एक साथ एक जीवके कितने परीषह हो सकते हैं इसका विचार करते हुए श्वेताम्बर आगम साहित्य (व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ८) में बतलाया है कि सात और आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवके २२ परीषह होते हैं। परन्तु ऐसा जीव एक साथ बीस परीषहोंका ही वेदन करता है। दो कौनसे परीषह कम हो जाते हैं इस बातका उल्लेख करते हुए वहाँ बतलाया है कि जिस समय वह जीव शीत परीषहका वेदन करता है उस समय वह उष्ण परीषहका वेदन नहीं करता और जिस समय उष्ण परीषहका वेदन करता है उस समय वह शीत परीषहका वेदन नहीं करता। इस प्रकार एक परीषह तो यह कम हो जाता है। तथा जिस समय चर्या परीषहका वेदन करता है उस समय निषद्यापरीषहका वेदन नहीं करता और जिस समय निषद्या परीषहका वेदन करता है उस समय चर्या परीषहका वेदन नहीं करता। इस प्रकार एक परीषह यह कम हो जाता है। कुल बीस परीषह रहते हैं जिनका वेदन यह जीव एक साथ करता है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें परीषहोंके एक साथ वेदन करनेकी अधिकसे अधिक संख्या १९ निश्चित की गयी है[3]। यहाँ हमें युक्तिसंगत क्या है इसका विचार नहीं करना है। बतलाना केवल इतना ही है कि तत्त्वार्थसूत्रकारका इस प्रकारका निर्देश भी श्वेताम्बर आगम परम्पराका अनुसरण नहीं करता।

४. 'जिनके ग्यारह परीषह होते हैं' इस सूत्रका विस्तारके साथ विचार हम 'पाठभेद और अर्थान्तरन्यास' प्रकरणमें[4] कर आये हैं। वहाँ हमने तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि परीषहोंके प्रसंगसे सूत्रकारकी दृष्टि मुख्यतया अन्तरंग कारणोंके विवेचन करनेकी रही है। वे किस कर्मके उदयमें कितने परीषह होते हैं इतना कहकर अधिकारी भेदसे अलग-अलग परीषहोंकी संख्याका निर्देश करते हैं। पर

---

१. देखो, अ० ९ सू० ९। २. समवायांग समवाय २२ व भगवती सूत्र ८, ८। ३. तत्त्वार्थसूत्र अ० ९, सू० १७। ४. देखो, पृ० २५ आदि।

इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तरंग कारणोंके अनुसार जहाँ जितने परीषहोंका उल्लेख उन्होंने किया है वहाँ उतने परीषहोंका सद्भाव वे नियमसे मानते ही हैं। उन्होंने परीषह प्रकरणके अन्तिम सूत्रमें परीषहोंका कार्यके अनुसार भी अलगसे विधान किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि कुल परीषह बाईस हैं तथापि एक जीवके एक साथ एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह हो सकते हैं। स्पष्ट है कि इस अन्तिम सूत्रके प्रकाशमें यह अर्थ नहीं फलित किया जा सकता है कि जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकारने अधिकारी भेदसे कहाँ कितने परीषह होते हैं इस बातका विधान किया है उसी प्रकार उन्हें सर्वत्र उनका कार्य भी इष्ट है। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि अन्तरंग कारणोंके अनुसार सर्वत्र परीषहोंकी सम्भावना स्वीकार कर लेने पर भी यदि उन परीषहोंके जो अन्य बाह्य निमित्त हैं वे नहीं मिलते तो एक भी परीषह नहीं होते। तभी तो सूत्रकार १ परीषहसे लेकर १९ परीषह तक होने रूप विकल्पका कथन करते हैं। यथा किसी प्रमत्तसंयत साधुके सब कर्मोंका उदय होनेसे सब परीषह सम्भव हैं पर उनके परषहोंके बाह्य निमित्त एक भी नहीं हैं तब उन्हें एक भी परीषहका वेदन न होगा। यदि एक परीषहका बाह्य निमित्त है तो एक परीषहका वेदन होगा और अधिक परीषहोंके बाह्य निमित्त उपस्थित हैं तो अधिक परीषहोंका वेदन होगा। तात्पर्य यह है कि केवल अन्तरंग कारणोंके सद्भावसे परीषहोंका वेदन कार्य नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टि केवल अन्तरंग कारणोंके सद्भावमें उनके कार्यको स्वीकार करनेकी नहीं है। उन्होंने तो मात्र अन्तरंग कारणोंकी दृष्टिसे सर्वत्र उनका उल्लेखमात्र किया है।

इस दृष्टिसे हमने श्वेताम्बर आगम साहित्यका आलोडन किया है। किन्तु वहाँ तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिसे सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनायी गयी प्रतीत होती है। वहाँ जहाँ जितने परीषह सम्भव हैं उनमेंसे विरोधी परीषहोंको छोड़कर सबके वेदनकी बात स्वीकार की गयी है। वहाँ यह स्वीकार ही नहीं किया गया है कि कोई एकका वेदन करता है, कोई दो का और कोई अधिकसे अधिक इतनेका वेदन करता है। वहाँ तो एक मात्र यही बतलाया गया है कि 'जो सात या आठ कर्मोंका बन्ध करते हैं उनके सब परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बीसका करते हैं। जो छह कर्मका बन्ध करते हैं उनके चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका करते हैं। जो वीतराग छद्मस्थ एक कर्मका बन्ध करते हैं उनके भी चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका ही करते हैं। जो एक कर्मका बन्ध करनेवाले सयोगी जिन हैं उनके परीषह तो ग्यारह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौका करते हैं। तथा जो अबन्धक अयोगी जिन हैं उनके भी परीषह तो सयोगी जिनके समान ग्यारह ही सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौका करते हैं।[1]

इसलिए यहाँ भी तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'एकादश जिने' सूत्रका विधान करते हुए भी तत्त्वार्थसूत्रकार जितने अधिक दिगम्बर परम्पराके नजदीक हैं उतने श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं।

यह है तत्त्वार्थसूत्रके कुछ सूत्रोंका परीक्षण जिससे भी हमें इस बातके निर्णय करनेमें सहायता मिलती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक उमास्वातिसे भिन्न होने चाहिए।

किन्तु दिगम्बर परम्परामें उमास्वाति या उमास्वामी नामके कोई आचार्य हुए हैं इस बातका सूचक कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख या दूसरे जितने भी प्रमाण मिलते हैं वे सब उन उल्लेखोंसे जो तत्त्वार्थसूत्रको आचार्य गृद्धपिच्छकी कृति प्रकट करते हैं, बादके हैं, अतएव इस मामलेमें उनका उतना विश्वास नहीं किया जा सकता।

सिद्धसेनीय टीका—पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें सिद्धसेन गणि और हरिभद्रसूरिकी टीकासे एक दो उल्लेख उपस्थित कर[2] यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं किन्तु वे उल्लेख सन्देहास्पद हैं। उदाहरणार्थ सिद्धसेन गणिकी टीकामें

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ८। २. देखो उनके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृष्ठ १७ की टिप्पणी १।

सातवें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका उपलब्ध होती है उसमें आये हुए 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदको पण्डितजी भाष्यकार और सूत्रकार एक व्यक्ति हैं इस पक्षमें लगाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इस पदका सीधा अर्थ है—उमास्वाति वाचक द्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ उमास्वातिवाचकोपज्ञ पदका सम्बन्ध सूत्रसे न होकर उसके भाष्यसे है। दूसरा प्रमाण पण्डितजीने ९वें अध्यायके २२वें सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकाको उपस्थित किया है। किन्तु यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योंकि सिद्धसेन गणिकी टीकाकी जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें 'स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठके स्थानमें 'कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठ भी उपलब्ध होता है[1]। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकारने तत्त्वार्थसूत्रका वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलानेके अभिप्रायसे 'कृतस्तत्र'का संशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो और बादमें यह पाठ चल पड़ा हो।

साधारणतः हमने स्वतन्त्र भावसे सिद्धसेन गणिकी टीकाका आलोडन किया है, इसलिए इस आधारसे हम यह तो मान लेते हैं कि उसमें कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक सिद्ध करते हैं। उनमेंसे प्रथम उल्लेख प्रथम अध्यायके 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रकी सिद्धसेनीय टीका है। यहाँ पर सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थभाष्यके 'सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति' अंशकी व्याख्या करते हुए कहते हैं।

'ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकारेणैवमाह—शास्तीति सूत्रकार इति शेषः। अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेद इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायोऽन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति।'

इसमें बतलाया गया कि 'ग्रन्थकारने अपनेको सूत्रकार और भाष्यकार इस तरह दो भागोंमें विभक्त कर 'शास्ति' ऐसा कहा है। इसलिए यहाँपर 'शास्ति' क्रियाके साथ उसके कर्ताका बोध करानेके लिए 'सूत्रकारः' पद जोड़ लेना चाहिए। अथवा पर्यायीके भेदसे पर्यायको भिन्न मान लेना चाहिए। अतः एक ही ग्रन्थकारकी सूत्रकार पर्याय भिन्न है और भाष्यकार पर्याय भिन्न है, अतः सूत्रकार पर्याय कहती है ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

ऐसा ही एक दूसरा उल्लेख अध्याय दोके 'निरुपभोगमन्त्यम्' सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकामें मिलता है। इसमें सूत्रकारसे भाष्यकारको अभिन्न बतलाया गया है। उल्लेख इस प्रकार है—

'सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति व्युच्छित्ति–(पर्याय) नयसमाश्रयणात्।'

इस प्रकार यद्यपि इन उल्लेखोंसे यह विदित होता है कि सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इन दोनों व्यक्तियोंको एक मानते रहे हैं पर इतने मात्रसे यह नहीं माना जा सकता कि यह उनका निश्चित मत था। उन्होंने अपनी टीकामें कुछ ऐसा भी अभिप्राय व्यक्त किया है जिसके आधारसे विचार करने पर सूत्रकारसे भाष्यकार भिन्न सिद्ध होते हैं। इसके लिए अध्याय आठके 'मत्यादीनाम्' सूत्रकी टीका देखनो चाहिए।

यहाँ पर सिद्धसेन गणिके सामने यह प्रश्न है कि जब अन्य आचार्य 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्' सूत्र मानते हैं तब सूत्रका वास्तविक रूप 'मत्यादीनाम्' माना जाय या अन्य आचार्य जिस प्रकार उसका पाठ पढ़ते हैं वैसा माना जाय। इस शंकाका समाधान करते हुए पहले तो उन्होंने हेतुओंका आश्रय लिया है किन्तु इतने मात्रसे स्वयं सन्तोष होता न देख वे कहते हैं कि यतः भाष्यकारने भी इस सूत्रका इसी प्रकार अर्थ किया अतः 'मत्यादीनाम्' ही सूत्र होना चाहिए। उनका समस्त प्रसंगको व्यक्त करनेवाला टीकावचन इस प्रकार है—

'अपरे तु प्रतिपदं पञ्चापि पठन्ति – मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानामिति। एवं चापार्थकः पाठो

---

१. देखो सिद्धसेनीय टीका अ० ९, सू० २२, पृ० २५३ की टिप्पणी।

लक्ष्यते । ततोऽनन्तरसूत्रे पञ्चादिभेदा ज्ञानावरणादय इत्यवधृतमेव । निर्ज्ञाताश्च स्वरूपतः प्रथमाध्याये व्याख्यातत्वात् । अतः आदिशब्द एव च युक्तः । भाष्यकारोऽप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयते ।'

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य 'भाष्यकारो–' इत्यादि वचन है । इस वचनमें भाष्यकारका सम्बन्ध सीधा **'मत्यादीनाम्'** सूत्रकी रचनाके साथ स्थापित न कर उसके अर्थके साथ स्थापित किया गया है । इससे सिद्ध होता है कि यहाँपर सिद्धसेन गणि सूत्रकारको भाष्यकारसे भिन्न मान रहे हैं, अन्यथा वे किसी अपेक्षासे सूत्रकार और भाष्यकारमें अभिन्नता स्थापित कर ऐसी भाषाद्वारा समर्थन करते जिससे भाष्यकारसे अभिन्न सूत्रकारने ही **'मत्यादीनाम्'** सूत्र रचा है इस बातका दृढ़ताके साथ समर्थन होता ।

जहाँ तक हमारा मत है इन पूर्वोक्त उल्लेखोंके आधारसे हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार अभिन्न व्यक्ति हैं इस विषयमें सिद्धसेन गणिकी स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कहीं वे तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको एक व्यक्ति मान लेते हैं और कहीं दो । इस स्थितिको देखते हुए मालूम ऐसा देता है कि सिद्धसेन गणिके काल तक तत्त्वार्थभाष्यकार ही मूल तत्त्वार्थसूत्रकार हैं यह मान्यता दृढ़मूल नहीं हो पायी थी । यही कारण है कि सिद्धसेन गणि किसी एक मतका निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करनेमें असमर्थ रहे ।

पण्डितजी—इस प्रकार सिद्धसेन गणिकी टीकाके आधारसे वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं इस बातके अनिर्णीत हो जाने पर भी यहाँ हमें प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीके एतद्विषयक प्रमाणोंका अलगसे परामर्श कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । इस विषयमें उन्होंने जिन तीन प्रमाणोंको उपस्थित किया है उनका हम पहले पृष्ठ ६२ में निर्देश कर आये हैं । उनमेंसे पहला प्रमाण उत्थानिकाकी २२वीं कारिका और तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति है । इन दोनों स्थलोंमेंसे उत्थानिका कारिकामें तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रन्थके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है और अन्तिम प्रशस्तिमें वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा यह कहा गया है । पण्डितजी इस आधारसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता वाचक उमास्वाति ही हैं । किन्तु हम यह पहले (पृष्ठ १७ में) ही सिद्ध करके बतला आये हैं कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न होकर तत्त्वार्थभाष्यका है । स्वयं वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमको सूत्र न कहकर उसे ग्रन्थ या शास्त्र[1] शब्द द्वारा सम्बोधित करते हैं और आगे तत्त्वार्थाधिगमके रचनेका प्रयोजन बतलाते हुए २२वीं उत्थानिका कारिकामें कहते हैं कि जिन वचन महोदधि दुर्गमग्रन्थभाष्यपार[2] होनेसे उसका समझना कठिन है । ऐतिहासिकोंसे यह छिपी हुई बात नहीं है कि यहाँ वाचक उमास्वातिने आगम ग्रन्थोंके जिन भाष्योंका उल्लेख किया है वे विक्रमको ७वीं शताब्दीकी रचना हैं[3] । जब कि इनके भी पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि प्रभृति अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं । ऐसी अवस्थामें २१वीं उत्थानिका कारिका और अन्तिम प्रशस्तिके आधारसे वाचक उमास्वातिको मूल तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता सिद्ध करना तो कोई अर्थ नहीं रखता ।

पण्डितजी की दूसरो युक्तिमें कहा गया है कि तत्त्वार्थभाष्यके आलोडनसे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थभाष्यमें सूत्रका अर्थ करनेमें कहीं भी खीचातानी नहीं की गयी है आदि । यहाँ विचार इस बातका करना है कि क्या तत्त्वार्थभाष्यकी वैसी स्थिति है जैसी कि पण्डितजी उसके विषयमें उद्घोषणा करते हैं । इस दृष्टिसे हमने भी तत्त्वार्थभाष्यका आलोडन किया है किन्तु हमें उसमें ऐसे अनेक स्थल दिखाई देते हैं जिनके कारण इस दृष्टिसे तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति सन्देहास्पद प्रतीत होती है । यथा—

१ तत्त्वार्थसूत्रमें सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न नहीं माना गया है । वहाँ अध्याय ७ सूत्र २३ में ऐसे सम्यग्दर्शनवालेको भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है जिसके शंका आदि दोष सम्भव होते हैं । किन्तु इसके

---

१. देखो उत्थानिका कारिका २१ व अन्तिम प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्य । २. महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य । कः शक्तो प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ ३. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० १२ ।

विपरीत तत्त्वार्थभाष्यमें सम्यग्दर्शनी और सम्यग्दृष्टि इन दोनों पदोंकी स्वतन्त्र व्याख्या करके सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसके आभिनिबोधिक ज्ञान होता है वह सम्यग्दर्शनी कहलाता है और जिसके केवलज्ञान होता है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[1] स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकार तत्त्वार्थसूत्रका अनुसरण नहीं करते और सम्यग्दृष्टिपदकी तत्त्वार्थसूत्रके विरुद्ध अपनी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। एक स्थल (अ० १ सू० ८) में वे जिस बातको स्वीकार करते हैं दूसरे (अ० ७ सू० २३) में वे उसे छोड़ देते हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्रमें मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें पर्सायवाची नाम न मानकर 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्रके आधारसे मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिको स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं[2]। सिद्धसेन गणिने भी तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे इनको स्वतन्त्र ज्ञान मानकर उनकी व्याख्या की है। यह कहना कि सामान्य मतिज्ञान व्यापक है और विशेष मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि उसके व्याप्य हैं कुछ सयुक्तिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मतिज्ञान वर्तमान अर्थको विषय करता है। इस तथ्यको जब स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार स्वीकार करते हैं ऐसी अवस्थामें मति, स्मृति आदि नाम मतिज्ञानके पर्यायवाची ही हो सकते हैं ज्ञानान्तर नहीं। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके आगमोंमें इन्हें मतिज्ञानके पर्यायवाची ही कहा है। स्पष्ट है कि यहाँ पर भी तत्त्वार्थभाष्यकारकी व्याख्या मूल सूत्रका अनुसरण नहीं करती।

३. तत्त्वार्थभाष्यकारने अध्याय १० सूत्र 'क्षेत्रकालगति' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए[3] शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनको मूल नय मान लिया है जब कि वे ही प्रथम अध्यायमें उस सूत्र पाठको स्वीकार करते हैं जिसमें मूल नयोंमें केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है। स्पष्टतः उनका १०वें अध्यायमें शब्दादिक तीन नयोंको मूलरूपसे स्वीकार करना और प्रथम अध्यायमें एक शब्दनयको मूल मानना परस्पर विरुद्ध है।

४. श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५२ में 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठ स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थभाष्यकारने प्रारम्भमें इस पदको मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बादमें वे 'उत्तमपुरुष' पदका त्याग कर देते हैं और मात्र 'चरमदेह' पदको स्वीकार कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकारको इस सूत्रके कुछ हेरफेरके साथ दो पाठ मिले होंगे। जिनमेंसे एक पाठको उन्होंने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करनेपर जो आपत्ति आती है उसे देखकर उपसंहारके समय उन्होंने दूसरे पाठको स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं इस मान्यताको बड़ा धक्का लगता है।

५. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र ४ में प्रत्येक देवनिकायके इन्द्रादिक १० भेद गिनाये हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन दस भेदोंके उल्लेखके साथ अनीकाधिपति नामका ग्यारहवाँ भेद और स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार इसी अध्यायके २६वें सूत्रमें लौकान्तिक देवोंके सारस्वत आदिक नौ भेद गिनाये हैं किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार अपने भाष्यमें यहाँ नौके स्थानमें आठ भेद ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—'एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु, दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्।'

वे ऐसे प्रमाण हैं जो पण्डितजी की पूर्वोक्त मान्यताके विरुद्ध जाते हैं। स्पष्ट है कि पण्डितजीकी उक्त मान्यताके आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकारको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता नहीं माना जा सकता।[4]

पं० सुखलालजीकी तीसरी मान्यता है कि प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें 'वक्ष्यामि, वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषकी क्रियाओंका निर्देश है आदि इसलिए तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थ-

१. देखो तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू० ८ का तत्त्वार्थभाष्य। २. देखो अध्याय १ सूत्र १३ का तत्त्वार्थभाष्य। ३. शब्दादयश्च त्रयः। ४. श्री पं० लालबहादुरजी शास्त्रीने जैन सिद्धान्तभास्कर भाग १३ किरण १ में 'क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्ता यापनीय हैं' इस शीर्षकसे एक लेख मुद्रित कराया है। उससे भी इस विषयपर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु पण्डितजी की यह कोई पुष्ट दलील नहीं है। अकसर टीकाकार मूलकारसे तादात्म्य स्थापित कर इस प्रकारकी क्रियाओंका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए देखो अध्याय १ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीका[1], अध्याय ८ सूत्र १ की उत्थानिका तत्त्वार्थवार्तिक[2], अध्याय ८ सूत्र १ की उत्थानिका हरिभद्रकी टीका[3] व अध्याय १० सूत्र १ की उत्थानिका सिद्धसेन गणिकी टीका। यहाँ सिद्धसेन गणि कहते हैं **'सम्प्रति तत्फलं मोक्षः, तं वक्ष्यामः।' स च केवलज्ञानोत्पत्तिमन्तरेण न जातुचिद्भूद् भवति भविष्यति अतः केवलोत्पत्तिमेव तावद् वक्ष्यामः।** इसलिए इस आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता नहीं सिद्ध होते।

श्वेताम्बर पट्टावलियाँ—श्वेताम्बर पट्टावलियोंके देखनेसे भी इस स्थितिकी पुष्टि होती है। इनमें सबसे पुरानी कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्रकी पट्टावलि है। किन्तु इनमें समय नहीं दिया है। समय गणना बहुत पीछेकी पट्टावलियोंमें है। कहा जाता है कि नन्दिसूत्र पट्टावली वि० सं० ५१० में संकलित हुई थी। इनमें उमास्वाति व उनके गुरुओंके नाम नहीं हैं।

पिछले कालकी रची गयी पट्टावलियोंमेंसे धर्मघोषसूरिकृत दुःषमाकाल श्रमणसंघ स्तव एक है। इसकी रचना विक्रमकी तेरहवीं सदीमें हुई अनुमानित की जाती है। इसमें उमास्वातिका नाम हरिभद्र और जिनभद्रके बाद आता है पर हरिभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी है। ये विक्रमकी ८वीं-९वीं सदीके विद्वान् हैं अतएव आचार्योंकी क्रम-परम्पराकी दृष्टिसे इस पट्टावलीको विशेष प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसमें वि० सं० ७२० में वाचक उमास्वातिकी अवस्थिति स्वीकार की गयी है।

धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावली वि० सं० १६४६ में लिखी गयी थी। इसमें जिनभद्रके बाद विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभका उल्लेख करनेके बाद उमास्वातिका नाम निर्देश किया है और इनका समय वि० सं० ७२० बतलाया है। यद्यपि इन्होंने आर्यमहागिरिके बहुल और बलिस्सह नामक दो शिष्योंमें-से बलिस्सहके शिष्य उमास्वातिका उल्लेख कर इन प्रथम उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी सम्भावना की है। किन्तु उनकी यह सम्भावना भ्रमजन्य है। कारण कि नन्दिसूत्र पट्टावलीकी २६वीं गाथामें **'हारियगुत्तं साइं च वंदे।'** पद आता है। जिसमें हारितगोत्रीय स्वातिका उल्लेख है। मालूम पड़ता है धर्मसागर गणिने नामकी आंशिक समता देखकर द्वितीयके स्थानमें भ्रमसे इन्हें ही तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी आशंका की है। पं० सुखलालजीने भी इस आशंकाको भ्रममूलक बतलाया है।[4]

विनयविजय गणिने अपना लोकप्रकाश वि० सं० १७०८ में पूरा किया था। वे उमास्वातिको युगप्रधान आचार्य बतलाते हैं और जिनभद्र तथा पुष्पमित्रके बीच उनकी अवस्थिति स्वीकार करते हैं। इन्होंने अपनी पट्टावलिमें उमास्वातिके समयका निर्देश नहीं किया है।

रविवर्धन गणि (वि० सं० १७३९) ने भी पट्टावलीसारोद्धारमें उमास्वातिका उल्लेख किया है। इसमें समयका निर्देश करते हुए वास्तव्यकाल वीर नि० सं० ११९० (वि० सं० ७२०) स्वीकार किया है।[5]

श्वेताम्बर परम्पराकी ये पट्टावलियाँ हैं जिनमें उमास्वातिका निर्देश किया है। यद्यपि ये पट्टावलियाँ अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं और इनमें कुछ मतभेद है तथापि इनको सर्वथा निराधार मानना उचित नहीं है। इनमें निर्दिष्ट वस्तुके आधारसे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

१. वाचक उमास्वाति युगप्रधान आचार्य थे। वे वि० सं० ७२० के आसपास हुए हैं। बहुत सम्भव है कि इसी कारणसे नन्दिसूत्र पट्टावली और कल्पसूत्र स्थविरावलिमें इनकी परम्पराका किसी भी प्रकारका उल्लेख नहीं किया है।

२. यद्यपि रविवर्धन गणिने जिनभद्र गणिके पूर्व वाचक उमास्वातिका उल्लेख किया है परन्तु

---

१. एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः। २. अवसरप्राप्तं बन्धं व्याचक्ष्महे। ३. बन्ध इति वर्तते। एतच्चोपरिष्टाद्दर्शयिष्यामः। ४. देखो उनका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृष्ठ २। ५ ये चारों पट्टावलियाँ मुनिदर्शनविजय द्वारा सम्पादित श्री पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भागमें मुद्रित हुई हैं।

समयकी दृष्टिसे रविवर्धन गणिने उन्हें जिनभद्रगणिके बादका ही बतलाया है, अतः उक्त सब पट्टावलियोंमें एकमत होकर स्वीकार किये गये वास्तव्य कालका विचार करते हुए अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें अधिक सम्भव यही दिखाई देता है कि ये जिनभद्र गणिके बाद ही हुए हैं।

३. एक प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें भी उपलब्ध होती है जिसमें वाचक उमास्वातिने स्वयंको तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रका रचयिता कहा है। किन्तु इसमें समयादिकका कुछ निर्देश न होनेसे यह प्रशस्ति समय सम्बन्धी पूर्वोक्त तथ्यकी पूरक ही प्रतीत होती है।

यह तो हम अनेक प्रमाणोंके आधारसे पहले ही स्वीकार कर आये हैं कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यकी रचना की और तत्त्वार्थभाष्यमें स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्रके पाठको संस्कारित कर अन्तिम रूप दिया, इसलिए इस रूपमें इन तथ्योंको स्वीकार कर लेने पर भी वाचक उमास्वाति मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता नहीं ठहरते, और हमारा ऐसा मानना अनुचित भी नहीं है क्योंकि विक्रमकी आठवीं शताब्दीके पूर्व ६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें या इसके कुछ काल पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी जा चुकी थी तथा अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थीं।

यद्यपि धर्मसागर गणी, बलिस्सहके शिष्य स्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, ऐसी शंका करते हैं, किन्तु यह उनका निश्चित मत नहीं है। केवल सम्भावना मात्र है। जैसा कि उनके इन शब्दोंसे प्रकट है। यथा—'तस्य बलिसहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।' अतएव इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

यहाँ तक हमने पाँच मतोंकी समीक्षा की। मात्र एक प्रमुख मत शेष रहता है जिस पर यहाँ तीन दृष्टियोंसे विचार करना है—**नाम, परम्परा और समय**।

नाम—यह हम प्रारम्भमें ही उद्धरणोंके साथ लिख आये हैं कि आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम आचार्य गृद्धपिच्छ घोषित करते हैं और ये उल्लेख अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। किन्तु इन उल्लेखों को छोड़कर दिगम्बर परम्परामें अन्य जितने उल्लेख मिलते हैं उनमें गृद्धपिच्छको उपपद या दूसरा नाम मान कर नानारूपता दिखाई देती है। इनमेंसे कुछ प्रमुख उल्लेखोंका निर्देश हम 'अन्य मत' शीर्षकके अन्तर्गत कर आये हैं। इसी तरहका एक प्रमुख मत नन्दिसंघकी पट्टावलीका है। नन्दिसंघकी दो पट्टावलियाँ उपलब्ध होती हैं—एक संस्कृत पट्टावली और दूसरी प्राकृत पट्टावली। इनमेंसे संस्कृत पट्टावलिमें आचार्य उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है।

यहाँ देखना यह है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामके विषयमें इतना मतभेद होनेका कारण क्या है और उनका ठीक नाम क्या है?

पहले हम श्रमणवेलगोलमें पाये जानेवाले शिलालेख १०५ और १०८ के उद्धरण उपस्थित कर आये हैं। वे शिलालेख क्रमशः शक सं० १३२० और १३५५ के अनुमानित किये गये हैं। शक सं० १०३७ और १०८५ के भी दो शिलालेख वहाँ उपलब्ध होते हैं जो जैन शिलालेख संग्रह भाग १ में क्रमशः ४७ और ४० नम्बर पर दर्ज हैं। ४७ नं० के शिलालेखमें कहा गया है—

'श्री गौतम गणधरके अन्वयमें नन्दिसंघके प्रमुख आचार्य पद्मनन्दी हुए जिनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर उनके अन्वयमें गृद्धपिच्छ अपर नामवाले उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ थे और बलाकपिच्छके शिष्य गुणनन्दि थे।'

नं० ४० के शिलालेखमें कहा गया है कि 'गौतम गणधरके बाद पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए। इसके बाद उनके अन्वयमें पद्मनन्दी हुए। इनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर इनके अन्वयमें गृद्धपिच्छ उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ थे। इस प्रकार महान् आचार्योंकी परम्परामें क्रमशः आचार्य समन्तभद्र हुए।'

नं० १०५ और १०८ के शिलालेखोंमें, जिनका उल्लेख हम पहले कर आये हैं, लगभग यही बात

कही गयी है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन दोनों शिलालेखोंमें गृद्धपिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा गया है और शिलालेख नं० ४७ व ४० में रचयिताके रूपमें उनका उल्लेख नहीं किया है।

यहाँ पर हम सर्वप्रथम दिगम्बर परम्पराके उक्त उल्लेखोंके आधारसे, तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्तिके आधारसे और धर्मसागरगणि कृत तपागच्छ पट्टावलीके आधारसे परम्परा दे देना चाहते हैं। यथा—

शिलालेख (चन्द्रगिरि)	तत्त्वार्थभाष्य प्र०	तपागच्छ पट्टावली
गौतम गणधर	वाचकमुख्य शिवश्री	जिनभद्रगणि
|	|	|
भद्रबाहु (अन्वयमें)	घोषनन्दि क्षमण	विबुधप्रभ
|	|	|
चन्द्रगुप्त (शिष्य)	वाचक उमास्वाति	जयानन्द
|		|
पद्मनन्दि (अन्वयमें)		रविप्रभ
|		|
गृद्धपिच्छ उमास्वाति (अन्वयमें)		उमास्वाति
|		
बलाकपिच्छ शिष्य		

इस प्रकार ये तीन परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमेंसे तपागच्छ पट्टावलिके विषयमें तो इतना ही कहना है कि धर्मसागर गणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्तिके रहते हुए जो उन्होंने तपागच्छके आचार्योंकी परम्पराके साथ उमास्वातिका उल्लेख किया है सो इसका कारण केवल युगप्रधान आचार्यके रूपमें उमास्वातिको उनके वास्तव्य कालके साथ स्वीकार करनामात्र है। जिनभद्र गणिके विषयमें भी यही बात है। ये दोनों तपागच्छ परम्पराके आचार्य नहीं हैं और न ऐसा धर्मसागर गणि ही मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने तपागच्छ परम्पराका स्वतन्त्र निर्देश करते हुए बीच में इनका युगप्रधान आचार्यके रूपमें उल्लेखमात्र किया है इसलिए इसे और इसके साथ पायी जानेवाली थोड़ेसे मतभेदको लिये हुए अन्य प्रशस्तियोंको छोड़ कर हमारे सामने मुख्य दो परम्पराएँ रहती हैं—एक श्रमणवेलगोलमें पाये जाने वाले शिलालेखोंकी परम्परा और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्तिकी परम्परा।

देखनेसे विदित होता है कि इन दोनों उल्लेखोंमें दोनोंकी न केवल गुरुपरम्परा भिन्न-भिन्न है अपितु दोनोंके उपपद या नामान्तर भी भिन्न-भिन्न हैं। श्रमणवेल्गोलके शिलालेखोंकी परम्परा जब कि तत्त्वार्थसूत्रकारको गृद्धपिच्छ उमास्वाति[1] घोषित करती है ऐसी अवस्थामें तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्ति उन्हें वाचक उमास्वाति इस नामसे सम्बोधित करती है, इसलिए इन आधारोंसे हमारा तो यही विचार दृढ़ होता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वातिसे वाचक उमास्वाति भिन्न आचार्य होने चाहिए।

इस प्रकार इतने विवेचनसे इन दोनों आचार्योंके अलग-अलग सिद्ध हो जानेपर यहाँ यह देखना है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नाममें कहाँ तक तथ्य है, क्योंकि इस नामके विषयमें हमें कई तरहके उल्लेख

---

१. जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयमें अन्वयावलिके वर्णनके प्रसंगसे एक श्लोक आता है जिसमें कुन्दकुन्द आचार्य और उमास्वाति दोनोंको वाचक कहा गया है और धवला टीकाके अन्तिम भागके देखनेसे यह भी विदित होता है कि दिगम्बर परम्परामें भी 'वाचक' उपपद व्यवहृत होता था। किन्तु जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयका प्रमाण अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन है और केवल इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्यके वाचक उमास्वातिको और श्रमणवेल्गोलके शिलालेखोंके गृद्धपिच्छ उमास्वातिको एक नहीं माना जा सकता। देखो पं० सुखलालजी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनाके परिशिष्टमें उद्धृत पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका पत्र।

मिलते हैं। कहीं इनको केवल गृद्धपिच्छ कहा गया है और कहीं गृद्धपिच्छ उपपदयुक्त उमास्वामी या उमास्वाति कहा गया है। कहीं गृद्धपिच्छको उमास्वातिका दूसरा नाम बतलाया गया है तो कहीं केवल उमास्वाति नाम आता है। यद्यपि देखनेमें ये सब नाम अलग-अलग प्रतीत होते हैं। जैसे उमास्वातिसे उमास्वामी नाम भिन्न है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि पहले इनमेंसे कोई एक नाम रहा होगा और बादमें 'म' के स्थानमें 'त' या 'त' के स्थानमें 'म' लिखा जानेसे ये दोनों नाम चल पड़े होंगे। इसी प्रकार उमास्वाति या उमास्वामी नामका कहीं गृद्धपिच्छ इस अपर नामके साथ उल्लेख मिलनेसे और कहीं इनमेंसे किसी एकका उल्लेख मिलनेसे इस सम्बन्धमें भी यह कहा जा सकता है कि इस तरह पूरे या अधूरे नामके लिखनेकी भी परम्परा रही है और हो सकता है कि उसी परम्पराके अनुसार विविध प्रकारसे इन नामोंका उल्लेख किया जाने लगा होगा।

यहाँ हम इन तर्कोंकी सत्यता स्वीकार करते हैं। फिर भी देखना यह है कि एक आचार्य नन्दिसंघ तथा कुन्दकुन्दकी परम्परामें हुए और दूसरे अन्य परम्परामें हुए और इनके समयमें काफी अन्तर है फिर भी दोनोंका एक ही शास्त्रकी रचनासे सम्बन्ध और एक ही नाम यह स्थिति उत्पन्न हुई कैसे ? यह कहना तो बनता नहीं कि श्वेताम्बर परम्परामें हुए वाचक उमास्वाति इस नामको देखकर गृद्धपिच्छने अपना उमास्वाति यह नाम भी रखा होगा, क्योंकि पट्टावलियों व दूसरे प्रमाणोंको देखनेसे विदित होता है कि गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। जब कि वाचक उमास्वातिका अस्तित्वकाल इसके बहुत बाद आता है। साथ ही यह कहना भी नहीं बनता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामको देखकर वाचक उमास्वातिने अपना 'उमास्वाति' यह नाम रखा होगा, क्योंकि तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है उसमें वाचक उमास्वातिका 'उमास्वाति' नाम क्यों रखा गया इसका कारण दिया है। उसमें बतलाया गया है कि इनके पिताका नाम[1] 'स्वाति' था और सिद्धसेन गणिने इस प्रशस्तिकी व्याख्या करते हुए यह भी लिखा है कि इनकी माताका नाम 'उमा' था[2]। इसलिए इनका उमास्वाति यह नाम पड़ा है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह प्रशस्ति बाद में गढ़ी गयी होगी, क्योंकि तत्त्वार्थभाष्यके टीकाकार सिद्धसेन गणिने इसका उल्लेख ही नहीं किया व्याख्यान भी किया है और ऐसा करके उन्होंने उसे तत्त्वार्थभाष्यका अंग प्रसिद्ध किया है। इस विषयमें हम पं० सुखलालजीके इस मतसे सहमत हैं कि यह स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिकी ही कृति है।[3]

प्रसंगसे यहाँ पर हम एक बात यह कह देना चाहते हैं कि अधिकतर विद्वान् जहाँ किसी प्रशस्ति, पट्टावली या शिलालेख आदिसे अपना मत नहीं मिलता वहाँ उसे सर्वथा अप्रामाणिक या जाली घोषित करते हैं। किन्तु उनकी यह प्रवृत्ति विचारपूर्ण नहीं कही जा सकती। कारण कि प्राचीन कालमें इतिहासके संकलनके साधन प्रायः सीमित थे। अधिकतर इतिहासके संकलन करनेवालोंका कथकोंके ऊपर अवलम्बित रहना पड़ता था और जिसे प्रामाणिक आधारोंसे जो ज्ञात होता था वह उसका अंकन करता था। इसलिए यह तो सम्भव है कि किसी शिलालेख आदिमें कोई नाम, समय या घटना सही रूपमें निबद्ध हो गयी हो और किसी शिलालेख आदिमें वह कुछ भ्रष्टरूपमें निबद्ध हुई हो। पर साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश किये गये उल्लेखोंको छोड़कर निबद्ध करनेवालेका उद्देश्य जानबूझ कर उसे भ्रष्टरूपसे निबद्ध करनेका नहीं रहता था इतना सुनिश्चित है। प्रसिद्ध धवला टीकाके रचयिता आचार्य वीरसेनने इस सम्बन्धमें एक बहुत अच्छी विचारसरणि उपस्थित की है। उन्हें भगवान् महावीरकी आयु ७२ वर्ष की थी एक यह मत प्राप्त हुआ और भगवान् महावीरकी आयु ७१ वर्ष ३ माह २५ दिनकी थी एक यह मत प्राप्त हुआ, इसलिए उनके सामने प्रश्न था कि इनमेंसे किसे प्रमाण माना जाय ? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप वे जो कुछ लिखते हैं वह न केवल हृदयग्राही है अपितु अनुकरणीय भी है। वे कहते हैं कि 'इन दोनोंमेंसे कौन ठीक है और कौन ठीक नहीं

---

१. 'कौभीषणिना स्वातितनयेन–'। २. वात्सीसुतेनेति गोत्रेण नाम्ना उमेति मातुराख्यानम्। ३. देखो पं० सुखलालजीकी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० ४।

है इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य मैं वीरसेन अपना मुख नहीं खोलता, क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकको मानने पर कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। किन्तु इन दोनोंमेंसे कोई एक मत ठीक होना चाहिए सो प्राप्त कर उसका कथन करना चाहिए[1]।'

वे यहाँ यह तो कहते हैं कि उचित आधारोंपर जो ठीक प्रतीत हो उसे प्रमुखता दी जाय पर एकको सर्वथा जाली और दूसरेको सर्वथा सत्य घोषित करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है।

इस प्रासंगिक कथनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके विषयमें दिगम्बर परम्परामें जो शिलालेख व उद्धरण आदि मिलते हैं वे भी साधार हैं और श्वेताम्बर परम्परामें जो उल्लेख मिलते हैं वे भी साधार हैं। इसलिए किसी एकको प्रामाणिक और अन्यको अप्रामाणिक घोषित करना हमारा कार्य नहीं है किन्तु अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें उनकी स्थिति स्पष्ट करना इतना ही हमारा कार्य है। और इस कार्यका निर्वाह करते हुए प्रस्तावनामें विविध स्थलों पर व्यक्त किये गये तथ्योंके आधारसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रके रचयिताका नाम तो वाचक उमास्वाति ही है किन्तु जिन्होंने प्रारम्भमें तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की और जो आचार्य कुन्दकुन्दकी परम्परामें हुए हैं उनका नाम गृद्धपिच्छ उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वामी, उमास्वाति या उमास्वामी यह कुछ भी न होकर मात्र गृद्धपिच्छाचार्य होना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छ आचार्य हैं इस तथ्यको व्यक्त करनेवाले उल्लेख ९वीं शताब्दीके हैं। तथा लगभग इसी कालमें श्वेताम्बर परम्परामें भी यह मान्यता प्रचलित हुई जान पड़ती है जैसा कि सिद्धसेन गणिके शंकास्पद कुछ उल्लेखोंसे प्रतीत होता है, कि तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता वाचक उमास्वाति ही तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं। अतः मालूम पड़ता है कि इन दोनों मान्यताओंने मिलकर एक नयी मान्यताको जन्म दिया और उत्तरकालमें गृद्धपिच्छ और उमास्वाति ये स्वतन्त्र दो आचार्योंके दो नाम मिलकर एक नाम बने और आगे चलकर गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका उल्लेख किया जाने लगा। हमें श्रमणबेलगोलके शिलालेखोंमें या अन्यत्र जो एक आचार्यके लिए इन नामोंका या गृद्धपिच्छको उपपद मानकर उमास्वाति नामका व्यवहार होता हुआ दिखाई देता है उसका कारण यही है।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छ आचार्य होना चाहिए और वाचक उमास्वाति इनसे भिन्न हैं इस मतको संक्षेपमें इन तथ्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

१. तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके साथ आचार्य गृद्धपिच्छका नाम जुड़ना अकारण नहीं हो सकता।

२. आचार्य वीरसेन और विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य ही व्यक्त किया है और ये उल्लेख अन्य प्रमाणोंसे प्राचीन हैं।

३. श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता जो आचार्य हुए हैं उनका नाम वाचक उमास्वाति है, गृद्धपिच्छ उमास्वाति नहीं। अतः गृद्धपिच्छ उमास्वाति यह नाम गृद्धपिच्छ और उमास्वाति इन दोनों नामोंके मेलसे बना है ऐसा प्रतीत होता है।

४. गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द आचार्यके अन्वयमें हुए हैं और वाचक उमास्वातिकी परम्परा दूसरी है, इसलिए ये स्वतन्त्र दो आचार्य होने चाहिए, एक नहीं।

५. गृद्धपिच्छाचार्य और वाचक उमास्वाति इन दोनोंके वास्तव्य कालमें भी बड़ा अन्तर है, इसलिए भी ये एक नहीं हो सकते।

परम्परा—तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता किस परम्पराके थे इस विषयमें नामविषयक उक्त निर्णयके आधारसे ही बहुत कुछ विवाद समाप्त हो जाता है, क्योंकि जिन तथ्योंके प्रकाशमें उनका आचार्य गृद्धपिच्छ यह नाम निश्चित होता है उन्हींके आधारसे वे एक मात्र दिगम्बर परम्पराके सिद्ध होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके वे साक्षात् शिष्य हों या न भी हों पर वे हुए हैं उन्हींकी वंशपरम्परामें यह बात पूर्वमें दी गयी वंशपरम्परा और अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमें यह गाथा आती है—

---

१. जयधवला पुस्तक १ पृ० ८१।

"दव्वं सल्लक्खणियं उपादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥"

अब इस गाथाके प्रकाशमें तत्त्वार्थसूत्रके इन सूत्रोंको देखिए—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥५, २९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥५, ३०॥ गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥५,३८॥

इसके सिवाय तत्त्वार्थसूत्रमें और भी बहुतसे ऐसे वचन हैं जिनका आचार्य कुन्दकुन्दके वचनोंके साथ शाब्दिक और वस्तुगत साम्य दिखाई देता है। तथा तत्त्वार्थसूत्रमें 'नाग्न्य'[1] जैसे शब्दोंका व्यवहार हुआ है। इससे उसके कर्ता दिगम्बर परम्परा के हैं यही सिद्ध होता है।

समय—नामके समान आचार्य गृद्धपिच्छके समयका प्रश्न भी बहुत अधिक विचारणीय है। साधारणतः जिन उल्लेखोंका इनके समयपर सीधा प्रकाश पड़ता है ऐसे दो उल्लेख हमारे सामने हैं। प्रथम नन्दिसंघकी पट्टावलीका उल्लेख और दूसरा विद्वज्जनबोधकमें उद्धृत इनके समयकी सूचना देनेवाला उल्लेख।

१. नन्दिसंघकी पट्टावली विक्रमके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ होती है और यह इंडियन एंटीक्वेरीके आधारसे जैनसिद्धान्तभास्कर किरण ४, पृ० ७८, में जिस रूपमें उद्धृत हुई है उसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

'१ भद्रबाहु द्वितीय (४) २ गुप्तिगुप्त (२६) ३ माघनन्दि (३६) ४ जिनचन्द (४०) ५ कुन्दकुन्दाचार्य (४९) ६ उमास्वामी (१०१) ७ लोहाचार्य (१४२) ८ यशःकीर्ति (१५३) ९ यशोनन्दी (२११) १० देवनन्दी (२५८) ११ जयनन्दी (३०८) १२ गुणनन्दी (३५८) १३ वज्रनन्दी (३६४) १४ कुमारनन्दी (३८६) १५ लोकचन्द (४२७) १६ प्रभाचन्द्र (४५३) १७ नेमिचन्द्र (४७८) १८ भानुनन्दी (४८७) १९ सिंहनन्दी (५०८) २० श्री वसुनन्दी (५२५) २१ वीरनन्दी (५३१) २२ रत्ननन्दी (५६१) २३ माणिक्यनन्दी (५८५) २४ मेघचन्द्र (६०१) २५ शान्तिकीर्ति (६२७) २६ मेरुकीर्ति (६४२)।'

गुप्तिगुप्त यह अर्हद्बलिका दूसरा नाम है। इन्होंने अन्य संघोंके साथ जिस नन्दिसंघकी स्थापना की थी उसके पहले पट्टधर आचार्य माघनन्दि थे। इस हिसाबसे उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) नन्दिसंघके पट्टपर बैठनेवाले चौथे आचार्य ठहरते हैं। यद्यपि पट्टावलीमें ये क्रमांक ६ पर सूचित किये गये हैं पर भद्रबाहु द्वितीय और अर्हद्बलिको छोड़कर ही नन्दिसंघके आचार्योंकी गणना करनी चाहिए। इसलिए यहाँ हमने उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) का क्रमांक ४ सूचित किया है इस पट्टावलिके अनुसार ये वीर नि० सं० ५७१ में हुए थे।

२. विद्वज्जनबोधकमें यह श्लोक उद्धृत मिलता है—

"वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥"

इसका भाव है कि वीर नि० सं० ७७० में उमास्वामी मुनि हुए तथा उसी समय कुन्दकुन्द आचार्य हुए। अब हम अन्य प्रमाणोंको देखें—

१. इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें पहले ६८३ वर्षकी श्रुतधर आचार्योंकी परम्परा दी है। और इसके बाद अंगपूर्वके एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्तका नामोल्लेख कर नन्दिसंघ आदि संघोंकी स्थापना करनेवाले अर्हद्बलिका नाम आता है। और इसके बाद माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिका उल्लेख करनेके बाद आचार्य परम्परामें कुन्दकुन्दका नाम आता है। यह तो निश्चित है कि आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। इसलिए यदि इस हिसाबसे विचार किया जाय और श्रुतधर आचार्योंके ६८३ वर्षमें

१. देखो तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सू० ९। २. पाण्डवपुराणके कर्ता शुभचन्द्रने अपनी परम्परा दी है। उसमें भी १० आचार्यों तक यही क्रम स्वीकार किया गया है। और आगे भी एकाध नामको छोड़कर आचार्योंके नामोंमें समानता देखी जाती है। वे अपनेको नन्दिसंघका ही घोषित करते हैं। देखो जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ५१।

आगेके आचार्योंका लगभग १०० वर्ष मान कर जोड़ा जाय तो वीर नि० सं० से ७८३ वर्षके आसपास आचार्य गृद्धपिच्छ हुए यह कहा जा सकता है।

२. श्रमणवेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में भी[1] श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश कर और उसके बाद कुम्भ, विनीत, हलधर वसुदेव, अचल, मेरुधीर, सर्वज्ञ, सर्वगुप्त, महिधर, धनपाल, महावीर और वीर इन नामोंका उल्लेख कर कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वातिका नाम आता है। किन्तु इसमें एक तो श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका काल निर्देश नहीं किया है। दूसरे श्रुतधर व दूसरे आचार्योंके क्रमिक नामनिर्देशका भी ख्याल नहीं रखा है। अतः इस आधारसे आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमें कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता।

३. श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश धवला,[2] आदिपुराण,[3] नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली[4] और त्रिलोकप्रज्ञप्ति[5] आदिमें भी किया है। किन्तु वे ६८३ वर्षकी परम्पराका निर्देश करने तक ही सीमित हैं। अतः इनके आधारसे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। इन आधारोंके बल पर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमें इन आचार्योंका क्या अभिमत है ? और हम इस सम्बन्धमें इनके अभिमतको जाने बिना केवल इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके आधारसे श्रुतधारियोंकी ६८३ वर्षकी परम्पराके बाद आचार्य गृद्धपिच्छकी अवस्थितिको इन आचार्योंके मतसे माननेके लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे हमारे सामने मुख्य तीन मत आते हैं जिनसे हमें आचार्य गृद्धपिच्छके समयकी सूचना मिलती है। प्रथम नन्दिसंघकी पट्टावलिके अनुसार उनका समय विक्रम (५७१–४७०) १०१ ठहरता है। दूसरे विद्वज्जनबोधकमें उद्धृत श्लोकके अनुसार वह विक्रम (७७०–४७०) ३०० ठहरता है और तीसरे इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार वह वि० सं० (७८३–४७०) ३१३ अनुमानित किया जा सकता है।

श्रमणवेल्गोलके शिलालेखोंमें आचार्य गृद्धपिच्छके शिष्यका नाम आचार्य बलाकपिच्छ[6] आता है और नन्दिसंघकी पट्टावलीमें बलाकपिच्छके स्थानमें लोहाचार्यका नाम आता है। किन्तु इसका तो यह समाधान हो सकता है कि पट्टावलीमें उन आचार्योंके नामोंका उल्लेख है जो उनके बाद पट्ट पर आसीन हुए और शिलालेखोंमें इसका विचार न कर उनका नामोल्लेख किया है जो उनके प्रमुख शिष्य थे। और इस आधारसे यहाँ तककी पट्टावलीको ठीक भी मान लिया जाय तब भी इनके समयके सम्बन्धमें पट्टावलीके कालका दूसरे उल्लेखोंमें निर्दिष्ट कालके साथ जो इतना अन्तर दिखाई देता है उसका हल कैसे किया जाय यह विचारणीय विषय हो जाता है।

यहाँ हम अन्य पौर्वात्य व पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतोंका विशेष ऊहापोह नहीं करेंगे, क्योंकि उन विद्वानों ने अधिकतर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक मान कर अपने-अपने मतका निर्देश किया है। किन्तु सुविचारित मतके रूपमें डॉ० ए० एन० उपाध्येके मतको अवश्य ही उपस्थित करना चाहेंगे। यद्यपि ऊहापोहके बाद उन्होंने अपना यह मत आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें निर्दिष्ट किया है किन्तु नन्दिसंघ-पट्टावली व दूसरे प्रमाणोंके अनुसार आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य होनेके कारण उससे इनके समयके ऊपर भी सर्वांगीण प्रकाश पड़ता है। वे सब मन्तव्यों और विद्वानोंके मतोंका ऊहापोह करनेके बाद जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है—

'इतनी लम्बी चर्चा करनेके बाद हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि परम्पराके अनुसार इनका (आचार्य कुन्दकुन्दका) अवस्थिति काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दीके मध्यसे लेकर ईसवी प्रथम शताब्दीके मध्यके भीतर

---

१. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित जैन शिलालेखसंग्रह भाग १, पृ० १९५ आदि। २. देखो धवला पु० ९, पृ० १३०। ३. देखो आदिपुराण, पर्व २, श्लो० १३७ से। ४. देखो जैन सिद्धान्तभास्कर किरण ४, पृ० ७१। ५. देखो त्रिलोकप्रज्ञप्ति महाधिकार ४ गाथा १४९०,१४९१। ६. देखो मा० ग्र० मा० से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग १, शिलालेख नं० ४०,४२ और ५० आदि।

आता है। षट्खण्डागम ईसवी द्वितीय शताब्दीके मध्यकालके पूर्व लिखा जा चुका था, इसलिए इस दृष्टिसे उनका अवस्थिति काल ईसवी द्वितीय शताब्दीके मध्यके आसपास आता है। मर्कराके ताम्रपत्रके अनुसार आचार्य कुन्दकुन्दकी अन्तिम सीमा ईसवी तृतीय शताब्दीके मध्यके पूर्व मानी जा सकती है। इसके साथ ही साथ वे शायद शिवस्कन्द राजाके समकालीन तथा कुरलके लेखक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ऊपर बतलायी गयी प्रथम दो शताब्दियोंमें थे। मैं इन सबका विचारकर इस तथ्यपर पहुँचा हूँ कि कुन्दकुन्द ईसवी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं।[1]

यह तथ्य है जो आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें डॉ० ए० एन० उपाध्येने सूचित किया है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उल्लिखित समयकी सीमा लगभग यही है, इसलिए इन सब आधारोंको ध्यानमें रखकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य गृद्धपिच्छका समय ईसवी प्रथम शताब्दीमें हुए आचार्य कुन्दकुन्दके बाद होना चाहिए, क्योंकि पट्टावलियों व दूसरे शिलालेखोंमें आचार्य कुन्दकुन्दके बाद ही इनका नाम आता है और सम्भव है इन दोनोंके मध्य गुरु-शिष्यका सम्बन्ध रहा है। नन्दिसंघकी पट्टावलिके अनुसार ये आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तराधिकारी हैं यह तो स्पष्ट ही है।

५. तत्त्वार्थसूत्रके निर्माणका हेतु—लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि 'किसी एक भव्यने मोक्षमार्गोपयोगी शास्त्रके निर्माणका विचार कर तदनुसार '**दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' सूत्र रचकर दीवाल पर लिख दिया। इसके बाद रोजगारके निमित्त उसके बाहर चले जाने पर चर्याके निमित्त गृद्धपिच्छ आचार्य वहाँ आये और उन्होंने दीवाल पर लिखे हुए सूत्रको अधूरा देखकर उसके प्रारम्भमें '**सम्यक्**' पद जोड़ दिया। जब वह भव्य बाहरसे लौटा और उसने सूत्रके प्रारम्भमें '**सम्यक्**' पद जुड़ा हुआ देखा तो वह आश्चर्य करने लगा। उसने घरके सदस्योंसे इसका कारण पूछा और ठीक कारण जानकर वह खोजता हुआ गृद्धपिच्छ आचार्यके पास पहुँचा और उन पर अपने अभिप्रायको व्यक्त कर उनसे शास्त्रके रचनेकी प्रार्थना करने लगा। तदनुसार आचार्य महाराजने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की।'[2]

यहाँ देखना यह है कि यह कथा लोकमें प्रचलित कैसे हुई? क्या इसकी प्रामाणिकताका कोई विश्वस्त आधार है या यह कोरा भावुकतासे प्रेरित श्रद्धालुओंका उच्छ्वासमात्र है? आगे इसी तथ्यका सांगोपांग विचार किया जाता है—

१. श्रुतसागर सूरिने तत्त्वार्थवृत्तिके प्रारम्भमें लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) आश्रममें बैठे हुए थे। उस समय द्वैयाक नामक भव्यने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया—भगवन्! आत्माके लिए हितकारी क्या है? भव्यके ऐसा प्रश्न करनेपर आचार्यवर्यने मंगलपूर्वक उत्तर दिया—मोक्ष। यह सुनकर द्वैयाकने पुनः पूछा—उसका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने मोक्षका स्वरूप बतला कर कहा कि यद्यपि मोक्षका स्वरूप इस प्रकार है तथापि प्रवादीजन इसे अन्यथा प्रकारसे मानते हैं। इतना ही नहीं किन्तु इसके मार्गके विषयमें भी वे विवाद करते हैं। कोई चारित्र-शून्य ज्ञानको मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई श्रद्धानमात्रको मोक्षमार्ग मानते हैं और कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रको मोक्षमार्ग मानते हैं। किन्तु जिस प्रकार ओषधिके केवल ज्ञान, दर्शन या प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार केवल दर्शन, केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भव्यने पूछा तो फिर किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है? इसीके उत्तरस्वरूप आचार्यवर्य्यने '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' यह सूत्र रचा है और परिणामस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है।

२ सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यही उत्थानिका दी है। श्रुतसागर सूरिने यह उत्थानिका सर्वार्थसिद्धिसे ही ली है। अन्तर केवल इतना है कि जिस भव्यने जाकर आचार्य गृद्धपिच्छसे प्रश्न किया है

---

१. प्रवचनसारकी प्रस्तावना पृ० २२ के आधारसे। २. इस कथाका आधार १३ शताब्दीमें हुए बालचन्द्र मुनि रचित तत्त्वार्थसूत्रकी कनड़ी टीका ज्ञात होती है। इसमें श्रावकका नाम सिद्धय्य दिया है। देखो पं० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० १६।

उसे सर्वार्थसिद्धिमें 'कश्चिद् भव्यः' कहा गया है और श्रुतसागर सूरि उसके नामका उल्लेख करते हैं। कह नहीं सकते उन्होंने उस भव्यका यह नाम किन स्रोतोंसे प्राप्त किया।

तत्त्वार्थसूत्रकी इन प्रसिद्ध टीकाओंके उल्लेखोंसे लोककथाके इस भागका तो समर्थन होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किसी भव्यके निमित्तसे हुई। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि पहले उस भव्यने **'दर्शनज्ञानचारित्राणि'** सूत्र रचा और बादमें उसमें सुधारकर भव्यकी प्रार्थना पर सूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। इसलिए इन उल्लेखोंसे कथाके सर्वांशका समर्थन न होने पर भी किसी अंशतक वह साधार है यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

४. आचार्य पूज्यपाद

१. महत्ता—भारतीय परम्परामें जो लब्धप्रतिष्ठ तत्त्वद्रष्टा शास्त्रकार हुए हैं उनमें आचार्य पूज्यपाद का नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। इन्हें प्रतिभा और विद्वत्ता दोनोंका समान रूपसे वरदान प्राप्त था। जैन परम्परामें आचार्य समन्तभद्र और सन्मतिके कर्ता आचार्य सिद्धसेनके बाद साहित्यिक जगत्में यदि किसी को उच्चस्थान पर बिठलाया जा सकता है तो वे आचार्य पूज्यपाद ही हो सकते हैं। इन्होंने अपने पीछे जो साहित्य छोड़ा है उसका प्रभाव दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें समानरूपसे दिखाई देता है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती प्रायः अधिकतर साहित्यकारों व इतिहास मर्मज्ञोंने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञता स्वीकार करते हुए इनके चरणोंमें श्रद्धाके सुमन अर्पित किये हैं। आदिपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन इन्हें कवियोंमें तीर्थंकर मानते हुए इनकी स्तुति में कहते हैं—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥१, ५२॥

जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके वचनमलको धोनेवाला है उन देव अर्थात् देवनन्दि आचार्यकी स्तुति करनेमें भला कौन समर्थ है।

यह तो हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं कि जिस प्रकार इन्होंने अपनी अनुपम कृतियों द्वारा मोक्षमार्गका प्रकाश किया है उसी प्रकार इन्होंने शब्दशास्त्र पर भी विश्वको अपनी रचनाएँ भेंट की हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि शरीरशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयको भी इन्होंने अपनी प्रतिभाका विषय बनाया था। तभी तो ज्ञानार्णवके कर्ता आचार्य शुभचन्द्र इनके उक्त गुणोंका ख्यापन करते हुए कहते हैं—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥१, १५॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियोंके शरीर, वचन और चित्तके सभी प्रकारके मलको दूर करनेमें समर्थ है उन देवनन्दी आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य गुणनन्दिने इनके व्याकरण सूत्रोंका आश्रय लेकर जैनेन्द्र प्रक्रियाकी रचना की है। वे इसका मंगलाचरण करते हुए कहते हैं—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

जिन्होंने लक्षणशास्त्रकी रचना की, मैं उन आचार्य पूज्यपादको प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्रकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जो इसमें है वही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।

उनकी और उनके साहित्यकी यह स्तुति परम्परा यहीं समाप्त नहीं होती। धनंजय, वादिराज, भट्टारक शुभचन्द्र और पद्मप्रभ आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए हैं जो इस गुणगाथाकी परम्पराको जीवित रखनेके लिए अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके पदचिह्नों पर चले हैं। अभिप्राय यह है कि आचार्य पूज्यपाद

साहित्य-जगत्‌में कभी न अस्त होनेवाले वे प्रकाशमान सूर्य थे जिसके आलोकसे दशों दिशाएँ सदा आलोकित होती रहेंगी।

ये हैं वे तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तुत वृत्ति सर्वार्थसिद्धिके रचयिता आचार्य पूज्यपाद जिनका सर्वांग परिचय हमें यहाँ प्राप्त करना है। उसमें भी उनका पूरा नाम क्या है, वे किस संघके अधिपति थे। उनका जीवन परिचय क्या है, उनकी रचनाएँ कौन-कौन हैं और उनका वास्तव्य काल व गुरु-शिष्य परम्परा क्या है आदि विषय विचारणीय हैं जिनका यहाँ हम क्रमशः परिचय प्राप्त करनेका उपक्रम करेंगे। सर्वप्रथम नामको ही लीजिए—

२. नाम—शिलालेखों तथा दूसरे प्रमाणोंसे विदित होता है कि इनका गुरुके द्वारा दिया हुआ दीक्षानाम देवनन्दि था, बुद्धिकी प्रखरताके कारण इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि कहते थे और देवोंके द्वारा इनके चरण युगल पूजे गये थे इसलिए वे पूज्यपाद इस नामसे भी लोकमें प्रख्यात थे। इस अर्थको व्यक्त करनेवाले उद्धरण ये हैं—

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये सत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः[1]॥
श्रवणवेलगोला शि० नं० १०५, वि० सं० १३२०।

इनके पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन नामोंकी सार्थकताको व्यक्त करनेवाले वहीं के नं० १०८ के एक दूसरे शिलालेखको देखिए—

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः॥

ये दोनों श्लोक वि० सं० १३५५ के शिलालेखके हैं। इनमें कहा गया है कि आचार्य पूज्यपादने धर्म-राज्यका उद्धार किया था, इससे आपके चरण इन्द्रों द्वारा पूजे गये थे। इनके पूज्यपाद इस नामसे सम्बोधित किये जानेका यही कारण है। इनमें वैदुष्य आदि अनेक गुण थे जिनका ख्यापन आज भी उनके द्वारा रचे गये शास्त्र कर रहे हैं। ये जिन देवके समान विश्वबुद्धिके धारक थे, कृतकृत्य थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसलिए योगी जन इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि इस नामसे सम्बोधित करते थे।

इन शिलालेखोंमें व अन्यत्र[2] और भी ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे इनके इन तीन नामोंकी सार्थकता सिद्ध होती है।

आदिपुराणका एक उद्धरण हम पहले दे आये हैं। उसके तथा वादिराज सूरिके एक उल्लेखसे[3] विदित होता है कि इनका एक नाम 'देव' भी था। मालूम पड़ता है कि इनका दीक्षानाम 'देवनन्दि' होनेसे उसके संक्षिप्त रूप 'देव' इस पद द्वारा उक्त आचार्योंने इनका नामोल्लेख किया है। अतएव यह कोई स्वतन्त्र नाम न होकर 'देवनन्दि' इस नामका ही संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।

३. संघ—संघोंकी उत्पत्तिका इतिहास इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दिया है। वे लिखते हैं कि जब सौ योजनके मुनि मिलकर अष्टांगनिमित्तज्ञ और धारण-प्रसारण आदि विशुद्ध क्रियाके पालनेवाले आचार्य अर्हद्बलि की देखरेखमें युगप्रतिक्रमण कर रहे थे उस समय युगके अन्तिम दिन युगप्रतिक्रमण करते हुए आचार्य अर्हद्बलिने आये हुए मुनिसमाजसे पूछा कि क्या सभी यतिजन आ गये हैं? इसपर यतिजनोंने उत्तर

१ श्रवणवेल्गोलके शक सं० १०८५ के शिलालेख (जो इससे पूर्ववर्ती है) से भी इस तथ्यका समर्थन होता है। २. देखो श्रमणवेल्गोलाका शिलालेख नं० ५० और नन्दिसंघ की पट्टावली। ३. पार्श्वनाथ चरित सर्ग १, श्लोक १८।

दिया कि अपने-अपने सकल संघके साथ हम आ गये हैं। तब यतिजनोंके इस उत्तरको सुनकर उन्होंने जान लिया कि यह कलिकाल है। इसमें आगे यतिजन गणपक्षपातके भेदसे रहेंगे, उदास भावसे नहीं रहेंगे और ऐसा विचार कर उन्होंने जो गुफासे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'नन्दि' संज्ञा दी और किन्हीं को 'वीर' संज्ञा दी। जो अशोकवाटिकासे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'अपराजित' संज्ञा दी और किन्हीं को 'देव' संज्ञा दी। जो पंचस्तूपके निवासी वहाँ आये थे उनमेंसे किन्हीं को 'सेन' संज्ञा दी और किन्हीं को 'भद्र' संज्ञा दी। जो शाल्मली महाद्रुमसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'गुणधर' संज्ञा दी और किन्हीं को 'गुप्त' संज्ञा दी और जो खण्डकेसर द्रुमके मूलसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'सिंह' संज्ञा दी और किन्हींको 'चन्द्र' संज्ञा दी।

इससे विदित होता है कि जो मूलसंघ पहले संघभेद व गण-गच्छके भेदसे रहित होकर एक रूपमें चला आ रहा था वह यहाँ आकर अनेक भागोंमें विभक्त हो गया। यह तो नाना संघोंकी उत्पत्तिकी कथा है। अब जिसे यहाँ पर नन्दिसंघ कहा गया है उसकी परम्पराको देखिए—

शुभचन्द्राचार्य अपने पाण्डवपुराणमें अपनी गुर्वावलीका[1] उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः॥ २॥

इसमें कहा गया है कि नन्दिसंघ बलात्कार गण मूलसंघके अन्तर्गत है। उसमें पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता और मनुष्यों व देवोंसे पूजनीय माघनन्दी आचार्य हुए।

इतना कहनेके बाद इस गुर्वावलीमें माघनन्दीके बाद ४ जिनचन्द्र, ५ पद्मनन्दी (इनके मतसे पद्मनन्दीके चार अन्य नाम थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपृच्छ) ६ तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वाति, ७ लोहाचार्य, ८ यशःकीर्ति, ९ यशोनन्दी और १० देवनन्दीके नाम दिये हैं। ये सब नाम इसी क्रमसे नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी मिलते हैं। आगे इस गुर्वावलीमें ११ गुणनन्दीके बाद १२ वज्रनन्दीका नाम आता है। जब कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें ११ जयनन्दी और १२ गुणनन्दी इन दो नामोंके बाद १३ वज्रनन्दीका नाम आता है।

यद्यपि इससे आगेकी दोनोंकी आचार्य परम्परा करीब-करीब मिलती हुई है। परन्तु विशेष प्रयोजन न होनेसे उसे हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। प्रकृतमें इन आधारोंसे हमें इतना ही सूचित करना है कि आचार्य पूज्यपाद मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कार गणके पट्टाधीश थे। तथा अन्य प्रमाणोंसे[2] यह भी विदित होता है कि इनका गच्छ 'सरस्वती' इस नामसे प्रख्यात था। हमारे प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) इसी परम्पराके पूर्ववर्ती आचार्य थे यह भी इससे विदित होता है।

४. जीवन-परिचय—आचार्य पूज्यपाद कौन थे, उनके माता-पिताका नाम क्या था, वे किस कुलमें जन्मे थे इन सब बातोंका परिचय श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण' लेखमें दिया है[3]। उन्होंने यह परिचय कनडी भाषामें लिखे गये 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे लिखा है। इसके लेखक 'चन्द्रय्य' कवि थे। श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके लेखसे यह भी[4] विदित होता है कि उनका यह जीवनचरित 'राजावलिकथे' में भी दिया हुआ है। किन्तु इन दोनोंमें कहाँ तक साम्य और वैषम्य है यह इससे विदित नहीं होता। प्रेमीजीके शब्दोंमें कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

'कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टनीके सालेका नाम 'पाणिनि' था। उसे भी उन्होंने जैन बननेको कहा। परन्तु प्रतिष्ठाके ख्यालसे वह जैन न होकर मुडीकुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो

१. देखो जैनसिद्धान्तभास्कर भाग १, किरण ४, पृ० ५१। २. देखो जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ४३ में उद्धृत शुभचन्द्राचार्यकी पट्टावली। ३. देखो जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १२३। ४. देखो रत्नकरण्डककी भूमिका।

गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहन हुई, वह गुणभट्टको व्याही गयी और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेढकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया जानकर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया। इस पर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरण-को पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिषके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्धिरसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्धिरससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्धरस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा तब धरणेन्द्र पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथ-की प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दीने अपने साथियोंसे झगड़ा करके द्रविड़ संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र-तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आयीं जो गाने-नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्यों की त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।'

श्री मोतीचन्द्र गौतमचन्द्र कोठारी फलटनवालोंने सर्वार्थसिद्धिके एक अन्यतम संस्करणका सम्पादन किया है जो सोलापुरसे प्रकाशित हुई है। उसमें उन्होंने कुछ युक्तियाँ देकर इस कथाके व्याकरण सम्बन्धी अंशको यथावत् सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु जैसा कि अन्य तथ्योंसे सिद्ध है कि पाणिनि व्याकरणके कर्ता पाणिनि ऋषि पूज्यपादसे बहुत पहले हो गये हैं। इतना ही नहीं पाणिनि व्याकरण पर जो कात्यायनका वार्तिक और पतंजलिका महाभाष्य प्रसिद्ध है वह भी पूज्यपादके कई शताब्दियों पहले लिखा जा चुका था। अतएव केवल इस कथाके आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनिके समयमें हुए हैं और उन्होंने उनके अधूरे व्याकरणको पूरा किया था। कथा में और भी ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है जिन्हें अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनि व्याकरण, उसके वार्तिक और महाभाष्यके मर्मज्ञ थे। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि ये ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए होंगे और अपने जीवनकालके प्रारम्भमें वे अन्य धर्मके माननेवाले रहे होंगे। अतः इस कथामें जो उनके पिता, माता व कुल आदिका परिचय दिया है वह कदाचित् ठीक भी हो। जो कुछ भी हो, तत्काल इस कथाके आधारसे हम इतना कह सकते हैं कि पूज्यपाद ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम माधवभट्ट और माताका नाम श्रीदेवी था। वे 'कोले' नामक ग्रामके रहनेवाले थे और उनका जन्म नाम पूज्यपाद था। उन्होंने विवाह न कर बचपनमें ही जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और आगे चलकर उन्होंने साँपके मुँहमें मेंढक तड़पता हुआ देख मुनिदीक्षा ले ली थी। उन्होंने अपने जीवन कालमें गगनगामी लेपके

प्रभावसे कई बार विदेहक्षेत्रकी यात्रा की थी। श्रवणवेल्गोलके एक शिलालेखके आधारसे यह भी कहा जा सकता है कि जिस जलसे उनके चरण धोये जाते थे उसके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था[१]। उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हुई धूलिमें पत्थरको सोना बनानेकी क्षमता थी इस बातका उल्लेख तो कथा लेखकने भी किया है। एक बार तीर्थयात्रा करते समय उनकी दृष्टि तिमिराच्छन्नहो गयी थी। जिसे उन्होंने शान्त्यष्टकका निर्माण कर दूर किया था। किन्तु इस घटनाका उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा जिससे उन्होंने तीर्थयात्रासे लौटकर समाधि ले ली थी।

स्वरचित साहित्य—आचार्य पूज्यपादने अपने जीवन कालमें सर्वार्थसिद्धि सहित जिस साहित्यका निर्माण किया था उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. सर्वार्थसिद्धि—इसका विस्तृत परिचय हम पहले दे आये हैं।[२]

२. समाधितन्त्र—इसमें कुल मिलाकर १०५ श्लोक हैं। विषय अध्यात्म है। ग्रन्थका नाम समाधितन्त्र है। इसकी सूचना स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमें दी है। एक तो श्रवणवेल्गोलके शक सं० १०८५ के शिलालेख ४० में इसका नाम समाधिशतक दिया है। दूसरे बनारससे मुद्रित होनेवाले प्रथम गुच्छकमें भी टिप्पण सहित यह छपा है और उसके अन्तमें एक प्रशस्ति श्लोक उद्धृत है जिसमें श्लेषरूपसे इसका नाम समाधिशतक सूचित किया गया है। मालूम पड़ता है कि इन्हीं कारणोंसे इसका दूसरा नाम समाधिशतक प्रसिद्ध हुआ है।

यद्यपि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी स्वतन्त्र कृति है पर अन्तःपरीक्षणसे विदित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आगमको आत्मसात् कर उन्होंने इसकी रचना की है। उदाहरणस्वरूप नियमसारमें यह गाथा आती है—

णियभावं ण वि मुंचइ परभावं णेव गिण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

अब इसकी तुलना समाधितन्त्रके इस श्लोकसे कीजिए—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

यदि सूक्ष्मतासे अवलोकन कर देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि प्रारम्भ ही इसका मोक्षप्राभृतको सामने रख कर हुआ है और लगभग मोक्षप्राभृतके समग्र विषयको स्वीकार कर इसकी रचना की गयी है। मोक्षप्राभृतकी प्रथम गाथा यह है—

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

अब इसके प्रकाशमें समाधितन्त्रका प्रथम मंगलश्लोक देखिए—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

अब मोक्षप्राभृतकी एक दूसरी गाथा लीजिए—

जं मया दिस्सदे रूपं तं ण जाणदि सव्वहा।
जाणगो दिस्सदे ण तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥

इसी विषयको समाधितन्त्र में ठीक इन्हीं शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

---

१. 'श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः। यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥' शिलालेख १०८ (शक सं० १३५५)। २. देखो प्रस्तावना पृ० २३ आदि।

इतना ही नहीं समाधितन्त्र लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने आचार्य कुन्दकुन्दका समयप्राभृत व अन्य श्रुत भी उपस्थित था यह इसके अवलोकनसे स्पष्टतः विदित होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने अभ्यन्तर परिणामोंके बिना केवल बाह्यलिंग मोक्षमार्गमें उपयोगी नहीं है यह बतलाते हुए समयप्राभृतमें कहा है—

पासंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ ४०८ ॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ ४०९ ॥

इसी तथ्यको आचार्य पूज्यपादने समाधितन्त्रमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एव आत्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥

इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि जो साधक अपने आत्मकार्यमें उद्यत होना चाहते हैं उनके लिए यह मोक्षमार्गके अनुसन्धानमें प्रदीपस्तम्भके समान है। इसमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद करके किस प्रकार यह जीव बहिरात्मपदके त्याग द्वारा अन्तरात्मा बनकर परमात्मपदको प्राप्त करता है इसका सरल और हृदयग्राही कवितामें विवेचन किया गया है।

३. **इष्टोपदेश**—इसमें कुल मिलाकर ५१ श्लोक हैं। विषय स्वरूपसम्बोधन है। ग्रन्थका नाम इष्टोपदेश है यह स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमें व्यक्त किया है।

इसका निर्माण करते हुए आचार्य पूज्यपादके सामने एकमात्र यही दृष्टि रही है कि किसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने स्वरूपको पहचाने और देह, इन्द्रिय तथा उनके कार्योंको अपना कार्य न मानकर आत्मकार्यमें सावधान होनेका प्रयत्न करे। समयप्राभृतका स्वाध्याय करते समय हमें इस भावके पद-पद पर दर्शन होते हैं और इसलिए हम कह सकते हैं कि समयप्राभृत आदिके विषयको आत्मसात् करके ही इसका निर्माण किया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ समयप्राभृत
एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥ इष्टोपदेश
रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मं विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ समयप्राभृत
बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥ इष्टोपदेश

रत्नकरण्डकमें एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि धर्मके प्रभावसे कूकर भी देव हो जाता है और अधर्मके प्रभावसे देवको भी कूकर होते देर नहीं लगती। यथा—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या संपद् धर्माच्छरीरिणाम् ॥ १, २९ ॥

इष्टोपदेशमें यही शब्द तो नहीं हैं पर इनका अनुसरण करते हुए आचार्यवर्य कहते हैं—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

साधकके लिए आत्मसाधनामें इससे बड़ी सहायता मिलती है।

११

४. दशभक्ति—भक्तियाँ दशसे अधिक हैं। फिर भी वे मुख्यरूपसे दस मानी जाती हैं। श्रीमान् पं० पन्नालालजी सोनीने सम्पादित कर 'क्रियाकलाप' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह संग्रह ग्रन्थ है। इसके प्रथम अध्यायके कुछ प्रकरणोंका संग्रह स्वयं पण्डितजीने किया है।[1] शेष संग्रह मालूम होता है प्राचीन है। सम्भव है इसके संग्रहकार पण्डित प्रभाचन्द्र हों। इन्होंने ही इसके अनेक उपयोगी विषयों पर टीका लिखी है। ये पण्डित थे और इनका नाम प्रभाचन्द्र था। इसकी सूचना नन्दीश्वर भक्तिके अन्तमें प्रकरण समाप्तिकी पुष्पिका लिखते समय स्वयं इन्होंने दी है।[2] इसमें सब भक्तियों व दूसरे प्रकरणोंका संग्रह स्वयं इनका किया हुआ है या क्रियाकलापको जो वर्तमान स्वरूप मिला है वह बादका काम है यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते[3], क्योंकि एक तो न स्वयं सोनीजीने इसकी व्यवस्थित सूचना दी। सोनीजी यदि इसकी प्रस्तावनामें यह बतलानेकी कृपा करते कि उन्होंने जितनी प्रतियोंके आधारसे इसका सम्पादन किया है, वे कहाँकी हैं और उनका लेखन काल क्या है तो इस बातके निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती कि यह संग्रह कितना पुराना है। दूसरे इसमें ऐसे कई उपयोगी विषयोंका संग्रह है किन्तु उन पर पण्डित प्रभाचन्द्रकी टीका न होनेसे वे उनके सामने थे इस बातको स्वीकार करनेमें संकोच होता है। उदाहरणार्थ प्राकृतनिर्वाणभक्ति जो लोकमें निर्वाणकाण्डके नामसे प्रसिद्ध है, इसमें संगृहीत है पर इस पर उनकी टीका नहीं है। जब कि वह दूसरी भक्तियोंके मध्यमें स्थित है। सोनीजीने मुद्रित क्रियाकलापके सम्बन्धमें अपनी भूमिकामें स्थिति स्पष्ट तो की है पर उससे पूरा प्रकाश नहीं पड़ता।

इसमें जितनी भक्तियाँ संगृहीत हैं उनमेंसे प्रथम परिच्छेदमें सिद्धिभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात भक्तियाँ संगृहीत हैं। इनमेंसे नन्दीश्वर-भक्ति केवल संस्कृतमें है, शेष सब भक्तियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनोंमें हैं। मात्र प्राकृत निर्वाणभक्तिकी संस्कृत टीका नहीं है। इसके आगे दूसरे प्रकरणमें और भी अनेक भक्तियाँ संगृहीत हैं और इन पर भी पण्डित प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। इतना अवश्य है कि उनमें जो लघु भक्तियाँ हैं उनपर टीका नहीं है।

इन भक्तियोंके सम्बन्धमें पण्डित प्रभाचन्द्र प्राकृत सिद्धिभक्तिके अन्तमें सूचना करते हैं कि सब संस्कृत भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकी बनायी हुई हैं और प्राकृत भक्तियाँ आचार्य कुन्दकुन्दकी बनायी हुई हैं। यथा—

'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।' क्रियाकलाप पृष्ठ १६७।

ये सब भक्तियाँ एक आचार्यकी कृति हैं या अनेककी यह तो निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जिन पण्डित प्रभाचन्द्रने इनकी टीका लिखी है वे सम्भवतः पण्डितप्रवर आशाधरके बाद[4] और वि० सं० १७२४ के पहले[5] कभी हुए हैं, अतएव इस आधारसे इतना ही कहा जा सकता है कि ये वि० सं० १४वीं शताब्दीके पूर्व कभी लिखी गयी हैं। किन्तु इस कथनसे यह निश्चय नहीं होता कि पण्डित प्रभाचन्द्र इनमेंसे किन संस्कृत और प्राकृत भक्तियोंको क्रमसे पादपूज्य स्वामी और कुन्दकुन्द आचार्यकी मानते रहे। उनके मतसे ये पादपूज्य स्वामी कौन थे यह भी ज्ञात नहीं होता।

पं० पन्नालालजी सोनीने क्रियाकलापकी प्रस्तावनामें लिखा है कि 'सिद्धभक्ति, श्रुतिभक्ति, चारित्र-भक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और प्राकृत सिद्धभक्ति, प्राकृत श्रुतभक्ति, प्राकृत चारित्रभक्ति, प्राकृत योगिभक्ति और प्राकृत आचार्य-भक्ति ये पाँच भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत हैं।' किन्तु उन्होंने ऐसा माननेका जो कारण उपस्थित किया है

---

१. देखो क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ० २। २. 'इति पण्डितप्रभाचन्द्रविरचितायां क्रियाकलापटीकायां भक्तिविव-रणः प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।' ३. इतना अवश्य है कि इसके 'दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमण' नामक प्रकरणके अन्तमें एक लेख उपलब्ध होता है जिसमें १७२४ सं० अंकित है। अतएव इससे पूर्वका यह संग्रह है यह कहा जा सकता है। देखो क्रियाकलाप पृ० ६९। ४. पण्डित प्रभाचन्द्रने अनगारधर्मामृतके दो श्लोक अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं। देखो क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ० १०। ५. देखो टिप्पणी ३ पृ० ८८।

वह समुचित नहीं कहा जा सकता। पण्डित प्रभाचन्द्रने तो केवल इतना ही कहा है कि सब संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और सब प्राकृत भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य कृत हैं और यह भी उन्होंने प्राकृत सिद्ध-भक्तिकी व्याख्या करते हुए उसके अन्तमें कहा है। परन्तु क्रियाकलापमें जिस क्रमसे इन भक्तियोंका संग्रह है उसे देखते हुए प्राकृत सिद्धभक्तिका क्रमांक दूसरा है। सम्भव है कि सोनीजीने नन्दीश्वरभक्ति पर परिच्छेद-की समाप्ति देखकर यह अनुमान किया हो। जो कुछ भी हो, पण्डित प्रभाचन्द्रके कालमें ये भक्तियाँ पादपूज्य स्वामीकृत और कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानी जाती थीं इतना स्पष्ट है। विद्वानोंका अनुमान है कि ये पादपूज्य स्वामी आचार्य पूज्यपाद ही होने चाहिए, क्योंकि एक तो इस नामके अन्य कोई आचार्य नहीं हुए हैं। दूसरे इन भक्तियोंका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली इस बातको सूचित करती है।[1]

इन सब भक्तियोंमें उनके नामानुसार विषयका विवेचन किया गया है। मुनिजन तथा व्रती गृहस्थ दैवसिक आदि प्रतिक्रमणके समय निश्चित क्रमसे इनका प्रयोग करते आ रहे हैं जो आंशिकरूपसे वर्तमान कालमें भी चालू है।

५. जैनेन्द्र व्याकरण—आचार्य पूज्यपादकी अन्यतम मौलिक कृति उनका जैनेन्द्र व्याकरण है। इसका जैनेन्द्र यह नाम क्यों पड़ा? क्या स्वयं आचार्य पूज्यपादको यह नाम इष्ट था इसका निर्णय करना तो कठिन है। परन्तु प्राचीन कालसे यह इसी नामसे सम्बोधित होता आ रहा है यह मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवके इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥' धातुपाठ

यह पाँच अध्यायोंमें विभक्त है और सूत्र संख्या लगभग ३००० है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता संज्ञा-लाघव है। पाणिनीय व्याकरणमें जिन संज्ञाओंके लिए कई अक्षरोंके संकेत कल्पित किये गये हैं उनके लिए इसमें लाघवसे काम लिया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत	प्र, दी, प
सवर्ण	स्व
अनुनासिक	ङ
गुण	एप्
वृद्धि	ऐप्
निष्ठा	त
प्रातिपदिक	मृत्
लोप	ख

संज्ञालाघव और रचना विशेषके कारण इसमें सूत्रलाघवके भी दर्शन पद-पद पर होते हैं। यथा—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
झरो झरि सवर्णे	झरो झरि स्वे
हलो यमां यमि लोपः	हलो यमां यमि खम्
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्	सस्थानक्रियं स्वम्
ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः	आकालोऽच् प्रदीपः

इसका प्रथम सूत्र है 'सिद्धिरनेकान्तात।' इसकी व्याख्या करते हुए सोमदेवसूरिने शब्दार्णवचन्द्रिकामें जो कुछ कहा है उसका भाव यह है—'शब्दोंकी सिद्धि और ज्ञप्ति अनेकान्तका आश्रय लेनेसे होती है, क्योंकि शब्द अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व और विशेषण-विशेष्यधर्मको लिये हुए होते हैं। इस सूत्रका अधि-

१. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० १२१।

कार इस शास्त्रकी परिसमाप्ति तक जानना चाहिए। यदि अनेकान्तका अधिकार अन्ततक न माना जाय तो कौन आदि है और कौन अन्त है, किस अपेक्षासे साधर्म्य है और किस अपेक्षासे वैधर्म्य है यह सब कुछ न बने।

वैयाकरणोंका स्फोटवाद प्रसिद्ध है। वे शब्दको नित्य मानकर तालु आदिके संयोगसे मात्र उसका स्फोट मानते हैं, उसकी उत्पत्ति नहीं, जब कि स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि अकार आदि वर्ण और घट, पट आदि शब्द कुछ आकाशमें भरे हुए नहीं हैं और न वे आकाशके गुण ही हैं। वे तो तालु आदिके निमित्तसे शब्द वर्गणाओंके विविध संयोगरूप उत्पन्न होते हैं और कालान्तरमें विघटित हो जाते हैं। अतः वैयाकरणोंके मन्तव्यानुसार वे सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते। पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षा जहाँ वे नित्य सिद्ध होते हैं वहाँ वे पर्यायकी अपेक्षा अनित्य भी सिद्ध होते हैं। स्पष्ट है कि इस भावको व्यक्त करनेके लिए आचार्य पूज्यपादने 'सिद्धिरनेकान्तात्' यह प्रथम सूत्र लिखा है। व्याकरणमें शब्दोंकी जिस प्रकार सिद्धि की गयी है या जो संज्ञाएँ व प्रत्यय आदि कल्पित किये गये हैं वे सर्वथा वैसे ही नहीं हैं किन्तु भाषाकी स्थितिको स्पष्ट करनेके लिए माना गया वह एक प्रकार है और यही कारण है कि अनेक वैयाकरणोंने रूपसिद्धिके लिए अलग-अलग संज्ञाएँ व प्रक्रिया स्वीकार की है। ऐसी स्थितिके होते हुए भी अनेक विद्वानोंमें अमुक प्रत्यय और अमुक प्रकारसे रूपसिद्धिके प्रति आग्रह देखा जाता है। सम्भव है इस ऐकान्तिक आग्रहका निषेध करनेके लिए भी आचार्य पूज्यपादने 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्रकी रचना की हो।

आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र और सिद्धसेन इन छह आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया है। अभी तककी जानकारीके आधार पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि इनका कोई व्याकरण नहीं है। साथ ही इन आचार्योंके जिन वैकल्पित मतोंका उल्लेख करके रूपसिद्धि की गयी है वे मत भी कोई नये नहीं हैं। क्योंकि, जैसा कि हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं पाणिनि व्याकरणमें भी विकल्पसे उनकी सिद्धि दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रश्न होता है कि जब कि आचार्य पूज्यपादके सामने पाणिनि व्याकरण था और उसमें वे प्रयोग उपलब्ध होते थे ऐसी अवस्थामें उन्होंने अलगसे इन आचार्योंके मतके रूपमें इनका उल्लेख क्यों किया। प्रश्न गम्भीर है और सम्भव है कि कालान्तर में इससे कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़े। तत्काल हमारी समझमें इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पाणिनि ऋषिने अपने व्याकरणमें उनके काल तक रचे गये साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले मतों का उनके रचयिताके नामके साथ या 'अन्यतर' आदि पद द्वारा उल्लेख किया है उसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें उनके काल तक रचे गये जैन साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले मतोंका उनके रचयिताके नामके साथ उल्लेख किया है। मतोंका विवरण इस प्रकार है—

भूतबलि—आचार्य भूतबलिके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'**राद्भूतबलेः**'। ३, ४, ८३। भूतबलिके मतानुसार समा शब्दान्त द्विगु समाससे 'ख' प्रत्यय होता है यह इस सूत्रका आशय है। इससे '**द्वैसमिकः**' प्रयोगके स्थानमें '**द्वैसमीनः**' प्रयोग विकल्पसे सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार '**रात्र्यहः संवत्सरात्**'। ३, ४, ८४। और '**वर्षाद्दुप् च**' ३, ४, ८५। ये दो अन्य सूत्र हैं जो भूतबलि आचार्यके वैकल्पिक मतका प्रतिपादन करते हैं। इनमें से प्रथम सूत्र द्वारा '**द्विरात्रीणः, द्वयहीनः और द्विसंवत्सरीणः**' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं तथा दूसरे सूत्र द्वारा '**द्विवर्षः**' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। जैनेन्द्रव्याकरणमें ये वैकल्पिक कार्य भूतबलि आचार्यके मतसे माने गये हैं।

इन वैकल्पिक कार्योंका निर्देश पाणिनिने भी किया है किन्तु वहाँ किस आचार्यके मतसे ये कार्य होते हैं यह नहीं बतलाया है। इन तीन सूत्रोंके स्थानमें क्रमसे पाणिनिके '**द्विगोर्वा** ५, १, ८६,' **रात्र्यहः संवत्सराच्च** ५, १, ८७ और **वर्षाल्लुक् च** ५, १, ८८। ये तीन सूत्र आते हैं।

श्रीदत्त—आचार्य श्रीदत्तके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है '**गुणे श्रीदत्तस्याख्रियाम्**। १, ४, ३४।' श्रीदत्त आचार्यके मतसे गुणहेतुक पञ्चमी विभक्ति होती है। परन्तु यह कार्य स्त्रीलिंगमें नहीं होता। यह इस सूत्रका भाव है। इसके अनुसार '**ज्ञानेन मुक्तः**' के स्थानमें श्रीदत्त आचार्यके मतसे '**ज्ञानान्मुक्तः**'

प्रयोग सिद्ध किया गया है। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणमें 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्। २, ३, २५।' सूत्र उपलब्ध होता है।

यशोभद्र—आचार्य यशोभद्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है 'कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य। २, १, ९९।' 'कृ, वृष् और मृज्' धातुसे यशोभद्र आचार्यके मतानुसार 'क्यप्' प्रत्यय होता है। तदनुसार 'कृत्यम्, वृष्यम् और मृज्यम्' ये वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणमें 'मृजेर्विभाषा। ३, १, ११३। तथा विभाषा कृवृषोः ३, १, १२०।' ये दो सूत्र उपलब्ध होते हैं।

प्रभाचन्द्र—आचार्य प्रभाचन्द्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है 'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। ४, ३, १८०।' रात्रि पद उपपद रहते हुए कृदन्त पर रहते प्रभाचन्द्रके मतसे 'मुम्' का आगम होता है। तदनुसार 'रात्रिंचरः' वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होता है। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणका सूत्र है 'रात्रेः कृति विभाषा। ६, ३, ७२।'

समन्तभद्र—आचार्य समन्तभद्रके चार मतोंका पतिपादन करनेवाला सूत्र है—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। ५, ४, १४०। पिछले चार सूत्र आचार्य समन्तभद्रके मतसे कह गये हैं यह इस सूत्रमें बतलाया गया है। वे चार सूत्र हैं—'झयो हः। ५, ४, १३६। शश्छोऽटि। ५, ४, १३७। हलो यमां यमि खम्। ५, ४, १३८। तथा 'झरो झरि स्वे। ५, ४, १३९।' इनके स्थानमें क्रमशः पाणिनिके सूत्र हैं—'झयो होऽन्यतरस्याम्। ८, ४, ६२। शश्छोऽटि। ८, ४, ६३। हलो यमां यमि लोपः। ८, ४, ६४। तथा झरो झरि सवर्णे। ८, ४, ६५।'

प्रथम सूत्रके अनुसार पदान्त झय् से पर रहते हुए 'ह' को पूर्वसवर्ण होता है। यथा—'सुवाग्घसति।' द्वितीय सूत्रके अनुसार पदान्त झय् से पर रहते हुए 'श' के स्थानमें 'छ' होता है। यथा—'षट्छ्यामाः।' तृतीय सूत्रके अनुसार हल् से पर यम्का यम् पर रहते लोप होता है। यथा—'शय्य्या' इस शब्दमें दो यकार हैं और इनके संयोगसे एक तीसरा यकार और प्राप्त हुआ। किन्तु इस सूत्रके नियमानुसार बीचके एक यकारका लोप होकर 'शय्या' यह प्रयोग ही शेष रहता है। चतुर्थ सूत्रके अनुसार हल्से पर झर्का सवर्ण झर् पर रहते हुए लोप होता है। यथा—'भित्ताम्' यहाँ एक तीसरे तकारका लोप हो गया है। इस प्रकार ये चार वैकल्पिक कार्य आचार्य समन्तभद्रके मतसे होते हैं। जब कि पाणिनि व्याकरणमें ये कार्य अन्यतरके मतसे माने गये हैं।

सिद्धसेन—आचार्य सिद्धसेनके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५, १, ७।' विद् धातुसे पर झ् प्रत्ययके स्थानमें आदेशभूत 'अत्' को सिद्धसेनके मतानुसार 'रुट्' का आगम होता है यह इस सूत्रका भाव है। यथा—'संविद्रते।' संविदते प्रयोगमें दकारके बाद और अकारके पूर्व 'रुट्' का आगम होकर यह वैकल्पिक प्रयोग बना है। इस सूत्रके स्थानमें पाणिनि व्याकरणका 'वेत्तेर्विभाषा। ७, १, ७। सूत्र उपलब्ध होता है।

इस व्याकरणका सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णव चन्द्रिकामें एक परिवर्तित रूप उपलब्ध होता है। किन्तु वह उसका बादका परिष्कृत रूप है ऐसा अनेक प्रमाणोंके आधारसे प्रेमीजीने सिद्ध किया है। इसका असली पाठ तो वही है जो आचार्य अभयदेव कृत महावृत्तिमें उपलब्ध होता है। इस व्याकरणकी कुछ विशेषताओंका हमने उल्लेख किया ही है। और भी कई विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसका अपना स्वतन्त्र स्थान है[1]।

उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपादने उक्त पाँच ग्रन्थोंके सिवा कई विषयों पर अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे थे। विवरण इस प्रकार है—

६.-७. जैनेन्द्र और शब्दावतार न्यास—शिमोगा जिले के नगर तहसीलके ४६ वें शिलालेखमें इस बातका उल्लेख है कि आचार्य पूज्यपादने एक तो अपने व्याकरण पर 'जैनेन्द्र' नामक न्यास लिखा था और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास लिखा था। यथा—

१. इस ग्रन्थकी टीका-टिप्पणी व परिवर्धन आदिका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रेमीजी द्वारा लिखित 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ देखिए।

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो ।
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचःपूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥'

ये दोनों अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसके लिए प्राचीन शास्त्रभाण्डारोंमें विशेष अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

८. **शान्त्यष्टक**—हम पहले आचार्य पूज्यपादकी कथा दे आये हैं। उसके लेखकने इनके बनाये हुए एक 'शान्त्यष्टक' का उल्लेख किया है। एक शान्त्यष्टक क्रियाकलापमें भी संगृहीत है। इस पर पं० प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। शान्त्यष्टकके प्रारम्भमें पं० प्रभाचन्द्रजीने जो उत्थानिका दी है उसमें कथालेखक चन्द्रय्य कविके मतका समर्थन करते हुए कहते हैं कि श्री पादपूज्य स्वामीको चक्षुतिमिरव्याधि हो गयी थी जिसे दूर करनेके लिए वे स्तुति करते हुए कहते हैं, 'न स्नेहात्'। इसके अन्तमें जो श्लोक आता है उसमें 'दृष्टिं प्रसन्नां कुरु' इत्यादि पदद्वारा भी यही भाव व्यक्त होता है। इससे विदित होता है कि सम्भव है जीवन के अन्तमें पूज्यपाद आचार्यकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गयी हो और उसे दूर करनेके लिए उन्होंने ही शान्त्यष्टक लिखा हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो शान्त्यष्टक उनकी वह कृति मानी जा सकती है जो सम्भवतः सब कृतियोंके अन्तमें लिखी गयी होगी।

९. **सारसंग्रह**—आचार्य पूज्यपादने एक 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थका भी निर्माण किया था ऐसा धवलाके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है। यथा—

'सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः-अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।'

सर्वार्थसिद्धिमें आचार्य पूज्यपादने जो नयका लक्षण दिया है इससे इस लक्षणमें बहुत कुछ साम्य है, इसलिए यह माननेका पर्याप्त कारण है कि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी ही कृति होनी चाहिए।

१०. **चिकित्साशास्त्र**—इस बातको सिद्ध करनेवाले भी कई प्रमाण मिलते हैं कि आचार्य पूज्यपादने वैद्यक विषय पर भी कोई अनुपम ग्रन्थ लिखा था। यथा—

१. आचार्य शुभचन्द्रद्वारा रचित ज्ञानार्णवके एक श्लोकका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। उसमें उनके वचनों को वचनमल और चित्तमलके समान कायमलको दूर करनेवाला कहा गया है।

२. आचार्य उग्रादित्यने अपने कल्याणकारक नामक ग्रन्थमें आचार्य पूज्यपादके वैद्यक विषयक ग्रन्थका उल्लेख **'पूज्यपादेन भाषितः, शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकम्'** इत्यादि शब्दसन्दर्भद्वारा किया है।

३. हम पहले शिमोगा जिलेके नगर तात्लुकेके ४६ नं० के एक शिलालेखका उल्लेख कर आये हैं उसमें भी उन्हें मनुष्य समाजका हित करनेवाला वैद्यक शास्त्रका रचयिता कहा गया है।

४. विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके विद्वान् मंगराजने अपने कनडी भाषामें लिखे गये खगेन्द्रमणिदर्पणमें भी आचार्यपूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका उल्लेख किया है।

इन सब प्रमाणोंसे विदित होता है कि सम्भवतः आचार्यपूज्यपादने चिकित्सा सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा था।

११. **जैनाभिषेक**—श्रवणबेलगोलके शक सं० १०८५ के शिलालेख नं० ४० से यह भी विदित होता है कि इन्होंने एक जैन अभिषेक पाठ की भी रचना की थी। उद्धरण इस प्रकार है—

'जैनेन्द्रं निजशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकस्वास्थ्यं यदीयं विदाम्
आख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥'

इसमें कहा गया है कि विद्वानोंके समक्ष जिनका जैनेन्द्र व्याकरण अतुल निज शब्द सम्पत्तिको, सर्वार्थसिद्धि सिद्धान्तमें निपुणताको, जैन अभिषेक कविताकी श्रेष्ठताको और आत्मस्वास्थ्यकर समाधिशतक छन्दःशास्त्रकी सूक्ष्मताको सूचित करता है वे आचार्य पूज्यपाद मुनिगणोंसे सतत पूजनीय हैं।

पहले हम चन्द्रय्य कविके 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे आचार्य पूज्यपादकी संक्षिप्त जीवनी दे आये हैं। उसमें आचार्यपूज्यपादको जैनेन्द्र व्याकरण और वैद्यकके समान अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और ज्योतिषका भी लेखक बतलाया गया है। कह नहीं सकते कि यह उल्लेख कहाँ तक ठीक है। यदि यह साधारण हो तो कहना होगा कि आचार्य पूज्यपादने अर्हत्प्रतिष्ठा और ज्योतिष विषय पर भी रचना की थी।

६. समय विचार—आचार्य पूज्यपाद कब हुए यह प्रश्न विशेष विवादास्पद नहीं है। छठवीं शताब्दीके मध्यकाल से लेकर अधिकतर जितने साहित्यकार हुए हैं उन्होंने किसी न किसी रूपमें या तो उनका या उनके साहित्यका उल्लेख किया है या उनके साहित्यका अनुवर्तन किया है। इस दृष्टिसे हमारे सामने मुख्य रूपसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका विशेषावश्यकभाष्य और अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक उपस्थित हैं। भट्ट अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थवार्तिक लिखते समय सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्रव्याकरण उपस्थित था यह उसके देखनेसे स्पष्टतः परिलक्षित होता है। भट्ट अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अधिकतर वाक्योंको वार्तिकोंका रूप देते हुए दिखाई देते हैं[1]। तथा जहाँ उन्हें व्याकरणके नियमोंके उल्लेखकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ वे प्रायः जैनेन्द्रके सूत्रोंका ही उल्लेख करते हैं[2]। इसलिए आचार्य पूज्यपाद भट्ट अकलंकदेवके पहले हुए हैं यह तो सुनिश्चित है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि और विशेषावश्यकभाष्यके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि विशेषावश्यकभाष्य लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके सामने सर्वार्थसिद्धि अवश्य ही उपस्थित होनी चाहिए। तुलनाके लिए देखिए—

सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १५ में धारणा मतिज्ञान का लक्षण इन शब्दोंमें दिया है—

'अवेस्तय कालान्तरेऽविस्मरणकारणम्।'

विशेषावश्यकभाष्यमें इन्हीं शब्दोंको दुहराते हुए कहा गया है—

'कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ।। गा० २९१ ।।

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १९ में कहा गया है—

'मनोवदप्राप्यकारीति।'

यही बात विशेषावश्यकभाष्यमें इन शब्दोंमें व्यक्त की गयी है—

'लोयणमपत्तविसयं मणोव्व ।। गा० २०९ ।।'

सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० २० में यह शंका की गयी है कि प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्ति एक साथ होती है इसलिए श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह नहीं कहा जा सकता। यथा—

'आह, प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामान्मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोत्पद्यत इति।'

अब इसके प्रकाशमें विशेषावश्यकभाष्यकी इस गाथाको देखिए—

'णाणाण्णाणाणि य समकालाइं जओ मइसुयाइं।
तो न सुयं मइपुव्वं मइणाणे वा सुयन्नाणं ॥ गा० १०७ ॥'

इस प्रकार यद्यपि इस तुलनासे यह तो ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० सं० ६६६) के सामने आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि उपस्थित रही होगी पर इससे इनके वास्तव्य काल पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसके लिए आगेके प्रमाण देखिए—

१. शक संवत् ३८८ (वि० सं० ५२३) में लिखे गये मर्करा (कुर्ग) के ताम्रपत्र में गंगवंशीय राजा अविनीतके उल्लेखके साथ कुन्दकुन्दान्वय और देशीय गणके मुनियोंकी परम्परा दी गयी है। दूसरे

---

१. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० १, सू० १, वा० ३ आदि। २. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४, सू० २१।

प्रमाणोंसे यह भी विदित होता है कि राजा अविनीतके पुत्रका नाम दुर्विनीत था और ये आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे।[1] राजा दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३८ के लगभग माना जाता है, अतः इस आधारसे यह कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद ५वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और विक्रमकी ६वीं शताब्दीके पूर्वार्धके मध्य कालवर्ती होने चाहिए।

२. वि० सं० ९९० में बने देवसेनके दर्शनसारके एक उल्लेखसे भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है। देवसेनने यह कहा है कि श्री पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी थे, जिन्होंने विक्रम सं० ५२६ में द्रविड़ संघकी स्थापना की थी। दर्शनसारका उल्लेख इस प्रकार है—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥
पंचसए छब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो॥

हम पहले नन्दिसंघकी पट्टावलीका उल्लेख कर आये हैं। उसमें देवनन्दी (पूज्यपाद) का समय विक्रम सं० २५८ से ३०८ तक दिया है और इनके बाद जयनन्दी तथा गुणनन्दीका नामनिर्देश करनेके बाद वज्रनन्दीका नामोल्लेख किया है। साथ ही हम पहले पाण्डवपुराणके रचयिता शुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावलीका भी उल्लेख कर आये हैं। इसमें भी नन्दिसंघके सब आचार्योंका नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार नाम निर्देश किया है। किन्तु इसमें देवनन्दीके बाद गुणनन्दीके नामका उल्लेख करके वज्रनन्दीका नाम दिया है। यहाँ यद्यपि हम यह मान लें कि इन दोनोंमें यह मतभेद बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि पूर्व परम्पराके अनुसार जिन्हें जिस क्रमसे आचार्योंकी परम्परा मिली उन्होंने उस क्रमसे उनका नाम निर्देश किया है और ऐसी दशामें एकादि नाम छूट जाना या हेरफेर हो जाना स्वाभाविक है। पर सबसे बड़ा प्रश्न आचार्य पूज्यपादके समयका है। मर्कराके ताम्रपत्रमें जिन आचार्योंका नाम निर्देश है उनमें पूज्यपादका नाम नहीं आता तथा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतके ये विद्यागुरु थे, इसलिए ऐसा मालूम देता है कि नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादसे पूर्ववर्ती आचार्योंके नाम छूट गये हैं। मर्कराके ताम्रपत्रमें जिन मुनियोंका नामोल्लेख है वे ये हैं—गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र, जनानन्दि, गुणनन्दि और चन्द्रनन्दि। तथा नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य देवनन्दि और वज्रनन्दिके मध्यमें जयनन्दि और गुणनन्दि ये दो नाम आते हैं। गुणनन्दि यह नाम तो मर्कराके ताम्रपत्रमें भी है और सम्भव है कि मर्कराके ताम्रपत्रमें जिनका नाम जनानन्दि दिया है वे नन्दिसंघकी पट्टावलिमें जयनन्दि इस नामसे उल्लिखित किये गये हों। यदि यह अनुमान ठीक हो तो इससे दो समस्याएँ सुलझ जाती हैं। एक तो इससे इस अनुमानकी पुष्टि हो जाती है कि नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती कुछ आचार्योंके नाम छूट गये हैं। दूसरे नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादके बाद जिन दो आचार्योंका नामोल्लेख किया है उन्हें मर्कराके ताम्रपत्रमें उल्लिखित नामोंके अनुसार आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती मान लेनेसे दर्शनसारके उल्लेखानुसार वज्रनन्दि आचार्य पूज्यपादके अनन्तर उत्तरकालवर्ती ठहर जाते हैं। और इस तरह उनके समयके निर्णय करनेमें जो कठिनाई प्रतीत होती है वह हल हो जाती है। इस प्रकार इन सब तथ्योंको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद विक्रम ५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर ६वीं शताब्दीके पूर्वार्धके मध्यकालवर्ती होने चाहिए। श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी प्रभृति दूसरे विद्वानोंका भी लगभग यही मत है।[2]

●

१. रत्नकरण्डकी प्रस्तावना पृ० १४२। २. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० ११५ आदि। प्रेमीजीने आचार्य पूज्यपादके समयका विचार करते समय स्व० डॉ० काशीनाथ बापूजी पाठकके मतका विचारकर जो निष्कर्ष निकाला है उससे हम सहमत हैं।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नौवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रन्थोंकी संकेत सूची

संकेत	ग्रन्थनाम	संकेत	ग्रन्थनाम
अने० ना०	अनेकान्त नाममाला	प्र० वार्तिकाल०	प्रमाणवार्तिकालंकार
अ०	अन्य प्रति	प्रवचन० क्षे०	प्रवचनसार क्षेत्र
आ० नि०	आचारांग निर्युक्ति	प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती टीका
आ०	आरा प्रति	बा० अणु०	बारह अणुपेक्खा
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	बा० भा०	बार्हस्पत्य भाष्य
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	मु०	मुद्रित प्रति (सर्वार्थसिद्धि)
जैनेन्द्र०	जैनेन्द्र व्याकरण	मूला०, मूलाचा०	मूलाचार
त०	ताडपत्रीय प्रति १		
तत्त्वा०	तत्त्वार्थवार्तिक	युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन
दि० १	दिल्ली प्रति १	यो०भा०	योगभाष्य
दि० २	दिल्ली प्रति २	योगसू०	योगसूत्र
धव० प्र० अ०	धवला प्रति अमरावती	रत्न०	रत्नकरण्डक
ना०	ताड़पत्रीय प्रति २	वि० भा०	विशेषावश्यक भाष्य
न्या० भा०	न्यायभाष्य	वि० म०	विशुद्धिमग्ग
न्यायबिन्दुटी०	न्यायबिन्दु टीका	सन्मति०	सन्मतितर्क
न्या० सू०	न्यायसूत्र	स० प्रा०	समयप्राभृत
परि० शे०	परिभाषेन्दुशेखर	स०, सर्वा०	सर्वार्थसिद्धि
प० मु०	परीक्षामुख		
पा०, पा० म० भा०	पातञ्जल महाभाष्य	सिद्धद्वा०	सिद्धद्वात्रिंशत्का
पा० यो० सू०	पातञ्जल योगसूत्र	सौन्दर०	सौन्दरानन्द
पंच०	पंचसंग्रह (श्वे०)	सां० कौ०	सांख्यकौमुदी

अ०	अध्याय
प०	पत्र
पृ०	पृष्ठ
श्लो०	श्लोक
सू०	सूत्र

श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

प्रथमोऽध्यायः

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।१।।

§ १. कश्चिद्भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषण्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म । भगवन्, किं[1] नु खलु आत्मने हितं स्यादिति । स आह मोक्ष इति । स एव पुनः प्रत्याह किंस्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति । आचार्य आह–निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष[2] इति ।

§ २. तस्यात्यन्तपरोक्षत्वाच्छद्मस्थाः प्रवादिनस्तीर्थंकरंमन्यास्तस्य स्वरूपमस्पृशन्तीभिर्वाग्भिर्युक्त्याभासनिबन्धनाभिरन्यथैव परिकल्पयन्ति "चैतन्यं[3] पुरुषस्य स्वरूपम्[4]", तच्च ज्ञेया-

---

जो मोक्षमार्गके नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतोंके भेदनेवाले हैं और विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता हैं, उनकी मैं उनके समान गुणोंकी प्राप्तिके लिए वन्दना करता हूँ ।।१।।

§ १. अपने हितको चाहनेवाला कोई एक बुद्धिमान् निकट भव्य था । वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवोंके विश्रामके योग्य किसी एकान्त आश्रममें गया । वहाँ उसने मुनियोंकी सभामें बैठे हुए वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीरकी आकृतिसे मानो मूर्तिमान् मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले, युक्ति तथा आगममें कुशल, दूसरे जीवोंके हितका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करनेवाले और आर्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर विनयके साथ पूछा—'भगवन् ! आत्माका हित क्या है ?' आचार्यने उत्तर दिया—'आत्माका हित मोक्ष है ।' भव्यने फिर पूछा—'मोक्षका क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ?' आचार्यने कहा कि—'जब आत्मा कर्ममल, कलंक और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।'

§ २. चूँकि ऐसा मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है, अतः अपनेको तीर्थंकर माननेवाले अल्पज्ञानी प्रवादी लोग मोक्षके स्वरूपको स्पर्श नहीं करनेवाले और असत्य युक्तिरूप वचनोंके द्वारा उसका स्वरूप सर्वथा अन्य प्रकारसे बतलाते हैं । यथा—(१. सांख्य) पुरुषका स्वरूप चैतन्य है जो

---

१. किं खलु आत्मने–आ०, अ० । किं खलु आत्मनो–दि० १, दि० २ । २. मोक्षः त–आ०, अ०, दि० १, दि० २ । ३. 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति'–योगभा० १।९ । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' –योगसू० १।३ । ४. स्वरूपमिति त–आ०, त० ।

कारपरिच्छेदपराङ्मुखम्[1]" इति। **तत्सदप्यसदेव [2]निराकारत्वादिति।** "[3]बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः" **इति[4] । तदपि परिकल्पनमसदेव विशेषलक्षणशून्यस्यावस्तुत्वात् ।** "प्रदीपनिर्वाण-[5]कल्पमात्मनिर्वाणम्" **इति च । तस्य [6]खरविषाणकल्पना तैरेवाहत्य निरूपिता । इत्येवमादि । तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः ।**

§ ३. तत्प्राप्त्युपायं प्रत्यपि ते विसंवदन्ते—"ज्ञानादेव चारित्रनिरपेक्षात्तत्प्राप्तिः, श्रद्धानमात्रादेव वा, ज्ञाननिरपेक्षाच्चारित्रमात्रादेव" **इति च । व्याध्यभिभूतस्य तद्विनिवृत्त्युपायभूतभेषजविषयव्यस्तज्ञानादिसाधनत्वाभाववद् [7]व्यस्तं ज्ञानादिमोक्षप्राप्त्युपायो न भवति ।**

ज्ञेयके ज्ञानसे रहित है। किन्तु ऐसा चैतन्य सत्स्वरूप होकर भी असत् ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका कोई आकार अर्थात् स्वरूप नहीं प्राप्त होता। (२. वैशेषिक) बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अलग हो जाना ही आत्माका मोक्ष है। किन्तु यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षणसे रहित वस्तु नहीं होती। (३. बौद्ध) जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्माकी सन्तानका विच्छेद होना ही मोक्ष है। किन्तु जैसे गदहेके सींग केवल कल्पनाके विषय होते हैं स्वरूपसत् नहीं वैसे हो इस प्रकरका मोक्ष भी केवल कल्पनाका विषय है स्वरूपसत् नहीं। यह बात स्वयं उन्हींके कथनसे सिद्ध हो जाती है। इत्यादि। इस मोक्षका निर्दोष स्वरूप आगे (दसवें अध्यायमें) कहेंगे।

§ ३. इसी प्रकार वे प्रवादी लोग उसकी प्राप्तिके उपायोंके विषयमें भी विवाद करते हैं। कोई मानते हैं कि (१) चारित्रके बिना केवल ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। दूसरे मानते हैं कि (२) केवल श्रद्धानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा अन्य मानते हैं कि (३) ज्ञानके बिना केवल चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। परन्तु जिस प्रकार रोगके दूर करनेकी उपायभूत दवाईका मात्र ज्ञान, श्रद्धान या आचरण रोगीके रोगके दूर करनेका उपाय नहीं है उसी प्रकार अलग-अलग ज्ञान आदि मोक्षकी प्राप्तिके उपाय नहीं हैं।

विशेषार्थ—अब तक जो कुछ बतलाया है यह तत्त्वार्थसूत्र और उसके प्रथम सूत्रकी उत्थानिका मात्र है। इसमें सर्व प्रथम बतलाया है कि किस निमित्तसे इसकी रचना हुई। आशय यह है कि कोई एक भव्य आत्माके हितकी खोजमें था। इसके लिए वह किसी एकान्त रम्य आश्रममें गया और वहाँ मुनियोंकी सभामें बैठे हुए निर्ग्रन्थाचार्यसे प्रश्न किया। इसपरसे इस तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है। तत्त्वार्थराजवार्तिकके प्रारम्भमें जो उत्थानिका दी है उससे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। किन्तु वहाँ प्रथम सूत्रका निर्देश करनेके बाद एक दूसरे मतका भी उल्लेख किया है। वहाँ बतलाया है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके सम्बन्धमें अन्य लोग इस प्रकारसे व्याख्यान करते हैं कि 'इधर पुरुषोंकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है, अतः सिद्धान्तकी प्रक्रियाको प्रकट करनेके लिए मोक्षमार्गके निर्देशके सम्बन्धसे आनुपूर्वी क्रमसे शास्त्रकी रचनाका प्रारम्भ करते हुए "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह सूत्र कहा है। यहाँ शिष्य और आचार्यका सम्बन्ध

---

१. मुखम् । तत्–आ०, अ० । २. –त्वात् खरविषाणवत् । बुद्धया–मु० । ३. 'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।' –प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । ४. इति च । तदपि दि० १, अ० । ५. 'यस्मिन् न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः । नेच्छाविपन्नप्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ।। दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।' –सौन्दर० १६।२७-२९ । 'प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः ।' –प्र० वार्तिकालं० १।४५ । ६. –षाणवत्कल्पना –आ०, दि० १ दि० २, अ० मु० । ७. –वत् । एवं व्यस्तज्ञानादि –दि० १, दि० २ मु० ।

विवक्षित नहीं है। किन्तु आचार्यको इच्छा संसारसागरमें निमग्न प्राणियोंके उद्धार करनेको हुई। परन्तु मोक्षमार्गके उपदेशके बिना उनके हितका उपदेश नहीं दिया जा सकता, अतः मोक्षमार्गके व्याख्यानकी इच्छासे यह सूत्र कहा।' मालूम होता है कि इस उल्लेख-द्वारा राजवार्तिककारने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी उत्थानिकाका निर्देश किया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें इसी आशयकी उत्थानिका पायी जाती है। श्रुतसागरसूरिने भी अपनी श्रुतसागरीमें यही बतलाया है किसी शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे आचार्यवर्यने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। यहाँ शिष्यका नाम द्वैयाक दिया है। इससे मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धिकी यह मान्यता मुख्य है कि शिष्यके प्रश्नके निमित्तसे तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। आगे उत्थानिकामें मोक्षकी चर्चा आ जाने से थोड़ेमें मोक्षतत्त्वकी मीमांसा की गयी है। जैनमान्यता तो यह है कि कर्म और आत्माके संयोगसे संसार होता है। अतः कर्म, भावकर्म और नोकर्मके आत्मासे अलग हो जाने पर जो आत्माको अपने ज्ञानादि गुणरूप स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं। किन्तु अन्य प्रवादी लोग इस प्रकारसे मोक्षतत्त्वका विश्लेषण करनेमें असमर्थ रहे। पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यके मुखसे ऐसे तीन उदाहरण उपस्थित कराये हैं जिनके द्वारा मोक्षतत्त्वका गलत तरीकेसे स्वरूप उपस्थित किया गया है। इनकी मीमांसा करते हुए सर्व प्रथम सांख्यमतकी मीमांसा की गयी है। यद्यपि सांख्योंने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुःखोंका सदाके लिए दूर हो जाना मोक्ष माना है, तथापि वे आत्माके स्वरूपको चैतन्य मानते हुए भी उसे ज्ञानरहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञानधर्म प्रकृतिका है तो भी संसर्गसे पुरुष अपनेको ज्ञानवान् अनुभव करता है और प्रकृति अपनेको चेतन अनुभव करती है। इसीसे यहाँ सांख्योंके मोक्ष तत्त्वकी आलोचना न करके पुरुष तत्त्वकी आलोचना की गयी है और उसे असत् बतलाया गया है। दूसरा मत वैशेषिकोंका है। वैशेषिकोंने ज्ञानादि विशेष गुणोंका आधार यद्यपि आत्माको माना है तथापि वे आत्मासे उनके अलग हो जानेको उसकी मुक्ति मानते हैं। उनके यहाँ बतलाया है कि बुद्धि आदि विशेष गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोग रूप असमवायी कारणसे होती है। मोक्ष अवस्थामें चूँकि आत्मा और मनका संयोग नहीं रहता अतः वहाँ विशेष गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। उनके यहाँ सभी व्यापक द्रव्योंके विशेष गुण क्षणिक माने गये हैं, इसलिए वे मोक्षमें ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव होनेमें आपत्ति नहीं समझते। अब यदि राग-द्वेष आदिकी तरह मुक्तावस्थामें आत्माको ज्ञानादि गुणोंसे भी रहित मान लिया जाय तो आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं ठहरता क्योंकि जिसका किसी भी प्रकारका विशेष लक्षण नहीं पाया जाता वह वस्तु ही नहीं। यही कारण है कि इनकी मान्यताको भी असत् बतलाया गया है। तीसरा मत बौद्धोंका है। बौद्धोंके यहाँ सोपधिशेष और निरुपधिशेष ये दो प्रकारके निर्वाण माने गये हैं। सोपधिशेष निर्वाणमें केवल अविद्या, तृष्णा आदि रूप आस्रवोंका ही नाश होता है, शुद्ध चित्सन्तति शेष रह जाती है। किन्तु निरुपधिशेष निर्वाणमें चित्सन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहाँ मोक्षके इस दूसरे भेदको ध्यानमें रखकर उसको मीमांसा की गयी है। इस सम्बन्धमें बौद्धोंका कहना है कि दीपकके बुझा देनेपर जिस प्रकार वह ऊपर नीचे दायें बायें आगे पीछे कहीं नहीं जाता किन्तु वहीं शान्त हो जाता है। उसी प्रकार आत्माकी सन्तानका अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। इसके बाद आत्माकी सन्तान नहीं चलती, वह वहीं शान्त हो जाता है। बौद्धोंके इस तत्त्वकी मीमांसा करते हुए आचार्यने बतलाया है कि उनकी यह कल्पना असत् ही है। इस प्रकार थोड़ेमें मोक्ष तत्त्वकी मीमांसा करके आचार्यने अन्तमें उसके कारण तत्त्वकी मीमांसा की है। इस सिलसिले में केवल इतना ही लिखना है कि अधिकतर विविध मतवाले लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र इनमें से एक-एकके द्वारा ही मोक्षकी सिद्धि मानते हैं। क्या सांख्य, क्या

§ ४. किं तर्हि । तत् त्रितयं समुदितमित्याह ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

§ ५. सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति[1] । अस्यार्थः प्रशंसा । स प्रत्येकं परिसमाप्यते । सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः । उद्देशमात्रं त्विदमुच्यते[2]–भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग्विशेषणम् । येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् । [3]विमोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् । संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः [4]कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् ।

§ ६. पश्यति [6]दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् । जानाति [7]ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा

बौद्ध और क्या वैशेषिक इन सबने तत्त्वज्ञान या विद्याको ही मुक्तिका मुख्य साधन माना है। भक्तिमार्ग या नामस्मरण यह श्रद्धाका प्रकारान्तर है। एक ऐसा भी प्रबल दल है जो केवल नामस्मरणको ही संसारसे तरनेका प्रधान साधन मानता है। यह दल इधर बहुत अधिक जोर पकड़ता जा रहा है। हरिकीर्तन या रामकीर्तन इसका प्रकारान्तर है। किन्तु जिस प्रकार रोगका निवारण केवल दवाईके दर्शन आदि एक-एक कारणसे नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोक्षकी प्राप्ति भी एक-एकके द्वारा नहीं हो सकती। तो फिर मोक्षकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? यह प्रश्न शेष रहता है। इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्यने प्रथम सूत्र रचा है।

§ ४. तो मोक्षकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? ये तीनों मिलकर मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है अब इसी बातको बतलानेके लिए आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है ॥१॥

§ ५. 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है। जब यह व्याकरणसे सिद्ध किया जाता है तब सम उपसर्ग पूर्वक अञ्च् धातुसे क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृतमें इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। प्रकृतमें इसका अर्थ प्रशंसा है। इसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें-से प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। लक्षण और भेदके साथ इनका स्वरूप विस्तारसे आगे कहेंगे। नाममात्र यहाँ कहते हैं—पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धानका संग्रह करनेके लिए दर्शनके पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस जिस प्रकारसे जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस उस प्रकारसे उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानके पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय) संशय और विपर्यय ज्ञानोंका निराकरण करनेके लिए दिया है। जो ज्ञानी पुरुष संसारके कारणोंको दूर करनेके लिए उद्यत है उसके कर्मोंके ग्रहण करनेमें निमित्तभूत क्रियाके त्यागको सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्रके पहले 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरण करनेके लिए दिया है।

§ ६. दर्शन, ज्ञान और चारित्रका व्युत्पत्त्यर्थ—दर्शन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्' = जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाय या देखनामात्र।

---

१. -गिति । कोऽस्या -दि० १ । २. -च्यते । पदार्थानां याथा -मु० । ३. ज्ञानम् । अनध्यवसाय सं -मु० । ४. -दानमिति तत्क्रियो -दि० २ । ५. -षणम् । स्वयं पश्य-मु० । -षणम् । यस्मादिति पश्य-दि० १, दि० २ । ६. -श्यतेऽनेनेति दृष्टि-मु० । ७. ज्ञप्तिमात्रं मु० । ज्ञानमात्रं दि० २ ।

ज्ञानम् । चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्[1] । नन्वेवं स एव कर्ता स एव करणमित्यायातम् । तच्च विरुद्धम् । सत्यं, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात् । यथाग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन । उक्तः कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायपर्यायिणोरेकत्वानेकत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तौ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवक्षोपपत्तेरेकस्मिन्नप्यर्थे न विरुध्यते । अग्नौ दहनादिक्रियायाः कर्त्रादिसाधन[2]भाववत् ।

§ ७. ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पाच्तरत्वाच्च[3] । नैतद्युक्तं, युगपदुत्पत्तेः । यदास्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति घनपटलविगमे[4] सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् । [5]अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति । कथमभ्यर्हितत्वम् । ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् । चारित्रात्पूर्वं ज्ञानं प्रयुक्तं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।

§ ८. सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । तत्प्राप्त्युपायो मार्गः । मार्ग इति चैकवचननिर्देशः

ज्ञान शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम् = जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाय या जानना मात्र । चारित्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् = जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाय या आचरण करना मात्र । **शंका**—दर्शन आदि शब्दोंको इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर कर्त्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है ? **समाधान**—यद्यपि यह कहना सही है तथापि स्वपरिणाम और परिणामीमें भेदकी विवक्षा होनेपर उक्त प्रकारसे कथन किया गया है । जैसे 'अग्नि दाह परिणामके द्वारा ईंधनको जलाती है, यह कथनभेद विवक्षाके होनेपर हो• बनता है । यहाँ चूँकि पर्याय और पर्यायीमें एकत्व और अनेकत्वके प्रति अनेकान्त है, अतः स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य विवक्षाके होनेसे एक ही पदार्थमें पूर्वोक्त कर्त्ता आदि साधनभाव विरोधको प्राप्त नहीं होता । जैसे कि अग्निमें दहन आदि क्रियाकी अपेक्षा कर्त्ता आदि साधनभाव बन जाता है, वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए ।

§ ७. **शंका**—सूत्रमें पहले ज्ञानका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञानमें दर्शन शब्दकी अपेक्षा कम अक्षर हैं ? **समाधान**—यह कहना युक्त नहीं कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है इसलिए सूत्रमें ज्ञानको पहले ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं । जैसे मेघ-पटलके दूर हो जाने पर सूर्यके प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय और क्षयोपशम होनेसे आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय व्यक्त होती है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानका निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं । अब जो यह कहा गया है कि दर्शनकी अपेक्षा ज्ञानमें कम अक्षर हैं अतः उसे सूत्रमें सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा नियम है कि सूत्रमें अल्प अक्षरवाले शब्दसे पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अतः पहले ज्ञान शब्दको न रखकर दर्शन शब्दको रखा है । **शंका**—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है ? **समाधान**—क्योंकि सम्यग्दर्शनसे ज्ञानमें समीचीनता आती है । चारित्रके पहले ज्ञानका प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है ।

§ ८. सब कर्मोंका जुदा होना मोक्ष है और उसकी प्राप्तिका उपाय मार्ग है । सूत्रमें 'मार्गः'

१.–रित्रम् । उक्तः कर्त्रा–आ०, ता० न० । २. कर्त्रादिभिः सा मु० । ३. 'अल्पाच्तरम् ।' –पा० २।२।३४ । ४. –टलविरामे स–आ०, अ०, दि० १, दि० २ । ५. 'अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति ।'–पा० म० भा० २।२।२।३४ ।

समस्तस्य[1] मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः।

§ ९. तत्रादावुद्दिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य लक्षणनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

§ १०. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम्। तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्[2]। तस्य कस्य। योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। अर्यत[3]

इस प्रकार जो एकवचन रूपसे निर्देश किया है वह, सब मिलकर मोक्षमार्ग है, इस बातके जतानेके लिए किया है। इससे प्रत्येकमें मार्गपन है इस बातका निराकरण हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्व प्रतिज्ञानुसार इस सूत्रमें मोक्षमार्गका निर्देश किया गया है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें मुख्यतया पाँच विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है जो इस प्रकार हैं—१. दर्शन आदिके पहले 'सम्यक्' विशेषण देनेका कारण। २. दर्शन आदि शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ। ३. एक ही पदार्थ अपेक्षाभेदसे कर्ता और करण कैसे होता है इसका निर्देश। ४. सूत्रमें सर्व प्रथम दर्शन, तदनन्तर ज्ञान और अन्तमें चारित्र शब्द क्यों रखा है इसका कारण। ५. सूत्रमें 'मोक्षमार्गः' यह एकवचन रखने का कारण। तीसरी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जैन शासनमें पर्याय पर्यायीमें सर्वथा भेद न मानकर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना गया है इसलिए अभेद विवक्षाके होनेपर कर्ता साधन बन जाता है और भेद विवक्षाके होनेपर करण साधन बन जाता है। आशय यह है कि जब अभेद विवक्षित होता है तब आत्मा स्वयं ज्ञानादि रूप प्राप्त होता है और जब भेद विवक्षित होता है तब आत्मासे ज्ञान आदि भिन्न प्राप्त होते हैं। चौथी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि जिस समय दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम होकर आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय व्यक्त होती है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानका निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। सो यह आपेक्षिक वचन है। वैसे तो दर्शनमोहनीयका क्षय सम्यग्दृष्टि ही करता है मिथ्यादृष्टि नहीं, अत दर्शन मोहनीयके क्षयके समय मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानके सद्भावका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि दर्शन-मोहनीयकी क्षपणाके समय इस जीवके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही पाये जाते हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव वेदकसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके भी यही क्रम जान लेना चाहिए। शेष व्याख्यान सुगम है।

§ ९. अब आदिमें कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अपने अपने स्वरूपके अनुसार पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है ॥२॥

§ १०. तत्त्व शब्द भाव सामान्यका वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ 'तत्' पदसे कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है उसका उस रूप होना

---

१. समस्तमार्ग–आ०, दि० १, दि० २। २. किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्।' पा० म० भा० पृ०५९। ३. अर्थ्यते आ० दि० २।

इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। अथवा भावेन भाववतोऽभिधाम्, तदव्यतिरेकात्। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः।

§ ११. दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते। धातूनामनेकार्थत्वाददोषः। प्रसिद्धार्थत्यागः कुत इति चेन्मोक्षमार्गप्रकरणात्। तत्त्वार्थश्रद्धानं ह्यात्मपरिणामो मोक्षसाधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात्। आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्तः सर्वसंसारिजीवसाधारणत्वान्न मोक्षमार्गो युक्तः।

§ १२. अर्थश्रद्धानमिति चेत्सर्वार्थप्रसङ्गः। तत्त्वश्रद्धानमिति चेद्भावमात्रप्रसङ्गः। 'सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वम्' इति कैश्चित्कल्प्यत इति। तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसङ्गः। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति। एवं सति दृष्टेष्टविरोधः। तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोरुपादानम्। तद् द्विविधं, सरागवीतरागविषयभेदात् प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

यही यहाँ तत्त्व शब्दका अर्थ है। अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अर्यते निश्चीयते इत्यर्थः = जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दोंके संयोगसे तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' ऐसा समास करने पर प्राप्त होता है। अथवा भाव-द्वारा भाववाले पदार्थका कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाववाले से अलग नहीं पाया जाता। ऐसी हालतमें इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थः तत्त्वार्थः'।

§ ११. **शंका**—दर्शन शब्द 'दृशि' धातुसे बना है जिसका अर्थ आलोक है, अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है? **समाधान**—धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'दृशि' धातुका श्रद्धान रूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है। **शंका**—यहाँ 'दृशि' धातुका प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया है? **समाधान**—मोक्षमार्गका प्रकरण होने से। तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप जो आत्माका परिणाम होता है वह तो मोक्षका साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्योंके ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदिके निमित्तसे होता है जो साधारण रूपसे सब संसारी जीवोंके पाया जाता है अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं।

§ १२. **शंका**—सूत्रमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' के स्थानमें 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है? **समाधान**—इससे अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहणका प्रसंग आता है जो युक्त नहीं है, अतः 'अर्थश्रद्धानम्' केवल इतना नहीं कहा है। **शंका**—तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही ग्रहण करना चाहिए? **समाधान**—इससे केवल भाव मात्रके ग्रहणका प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादिका ग्रहण करते हैं। अब यदि सूत्रमें 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है। अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है इसलिए सूत्रमें केवल तत्त्व पदके रखने से 'सब एक हैं' इस प्रकार स्वीकार करनेंका प्रसंग प्राप्त होता है। 'यह सब दृश्य व अदृश्य जग पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किन्हींने माना भी है। इस तरह इस प्रकार भी सूत्रमें केवल 'तत्त्वश्रद्धानम्' रखना युक्त प्रतीत नहीं होता। किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोध आता है, अतः इन सब दोषोंके दूर करने के लिए सूत्रमें 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनों पदोंका ग्रहण किया है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्माकी विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनके लक्षणका निर्देश करते हुए बतलाया है कि जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सूत्रको व्याख्या करते हुए टोकामें मुख्यतया चार बातोंको स्पष्ट किया है। वे चार बातें ये हैं—(१) तत्त्व और अर्थ शब्दके निरुक्त्यर्थका निर्देश करके तत्त्वार्थ शब्द कैसे निष्पन्न हुआ है? (२) 'दृशि' धातुका अर्थ श्रद्धान करना क्यों लिया गया है? (३) तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदोंको स्वीकार करनेसे क्या लाभ है? (४) सम्यग्दर्शनके कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है? प्रकृतमें यद्यपि 'तत्' सर्वनाम पद है और 'त्व' प्रत्यय भाव अर्थमें होता है अतः 'तत्त्व' शब्द भाव सामान्यका वाचक है और अर्थपद द्रव्यवाचो है। तथापि अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन, अभिधेय, निवृत्ति, विषय, प्रकार और वस्तु आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं अतः इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन न कहलावे, इसलिए तो सूत्रकारने सूत्रमें केवल अर्थपद नहीं रखा है। और इसी प्रकार विभिन्न मतोंमें तत्त्व शब्दके भो अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं। वैशेषिक लोग 'तत्त्व' पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्वका ग्रहण करते हैं। उनके यहाँ सामान्य और विशेष ये दोनों स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। अब यदि सूत्रमें केवल 'तत्त्व' पद रखा जाता है तो सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इनका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन समझा जा सकता है जो युक्त नहीं है इसलिए सूत्रकारने सूत्रमें केवल तत्त्वपद नहीं रखा है। इसी प्रकार परमब्रह्मवादियोंने नाना तत्त्वोंको न मानकर एक ही तत्त्व माना है। उनके मतसे यह जग एक पुरुषरूप हो है इसलिए इस हिसाबसे विचार करनेपर 'तत्त्व' पद एक तत्त्ववाचो प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है, इसलिए भी सूत्रकारने सूत्रमें केवल तत्त्वपद नहीं रखा है। यहाँ तत्त्वार्थसे जोवादिक वे सब पदार्थ लिये गये हैं जिनका आगे चौथे सूत्रमें वर्णन किया है। इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। यद्यपि सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्द है जिसका अर्थ आलोक होता है तथापि यहाँ इसका श्रद्धान अर्थ लिया गया है क्योंकि दर्शनका आलोक अर्थ लेनेपर चक्षु आदिके निमित्तसे होनेके कारण वह साधारणतः सब संसारी जोवोंके पाया जाता है, अतः प्रकृतमें वह उपयोगी नहीं ठहरता। किन्तु तत्त्वार्थ विषयक श्रद्धान भव्योंमें भी किसी-किसी आसन्नभव्यके ही पाया जाता है जो प्रकृतमें उपयोगो है अतः यहाँ दर्शनका अर्थ आलोक न करके श्रद्धान किया है। आशय यह है कि छद्मस्थ जीव आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते, क्योंकि इन्द्रिय और मनको सहायतासे होनेवाला जितना भी क्षायोपशमिक ज्ञान है सावरण होनेसे रूपी पदार्थोंको ही जान सकता है। यतः आत्मा अरूपो है अतः उसका क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं हो सकता। किन्तु छद्मस्थ जीव आगमानुसार आत्माका श्रद्धान करते हैं। उनका अमूर्त पदार्थविषयक समस्त अनुभव आगमाश्रित है प्रत्यक्ष ज्ञानाश्रित नहीं। यही कारण है कि प्रकृतमें दर्शनका अर्थ श्रद्धान किया है। सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग ऐसे दो भेद हैं। ये भेद पात्रकी अपेक्षासे किये गये हैं। सरागी जीवके जो सम्यग्दर्शन होता है वह सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है और वीतरागी जोवके जो सम्यग्दर्शन होता है वह वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। किन्तु इससे सम्यग्दर्शनको सराग और वीतराग मानना उचित नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन स्वयं न तो सराग ही होता है और न वीतराग ही। सरागता और वीतरागताका सम्बन्ध तो कषायके सद्भाव और असद्भावसे है। तथापि जिसके राग और द्वेषरूप प्रवृत्ति पायो जाती है उसके सम्यग्दर्शनजन्य आत्मविशुद्धि प्रकट तो हो जाती है पर वह स्पष्टतः लक्षित नहीं होती। बाह्य प्रवृत्तिमें रागांश या द्वेषांशको प्रधानता बनी रहतो है। अतः सरागी जीवके सम्यग्दर्शनको सराग सम्यग्दर्शन कहा है और वीतरागो जीवके सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है। उपशम आदिके भेदसे सम्यग्दर्शनके तीन भेद बतलाये हैं। इनमें-से वेदक सम्यग्दर्शन तो सराग अवस्थामें ही पाया

§ १३. अथैतत्सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थविषयं[1] कथमुत्पद्यत इत्यत आह—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

§ १४. निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। अधिगमोऽर्थावबोधः। तयोर्हेतुत्वेन निर्देशः। कस्याः। क्रियायाः। का च क्रिया। उत्पद्यत इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्। [2]तदेतत्सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद्वोत्पद्यत इति।

§ १५. अत्राह–निसर्गजे सम्यग्दर्शनेऽर्थाधिगमः स्याद्वा न वा। यद्यस्ति, तदपि अधिगमजमेव नार्थान्तरम्। अथ नास्ति, कथमनवबुद्धतत्त्वस्यार्थश्रद्धानमिति। नैष दोषः। उभयत्र सम्यग्दर्शने, अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। तस्मिन्सति यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं[3] तदुत्तरम्। इत्यनयोरयं भेदः।

जाता है, किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन सराग और वीतराग दोनों अवस्थाओंमें पाये जाते हैं। राजवार्तिकमें एक क्षायिक सम्यग्दर्शनको ही वीतराग सम्यग्दर्शन बतलाया है। सो यह आपेक्षिक कथन है। चारित्र-मोहनीयके क्षयसे होनेवाली वीतरागता क्षायिक सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही होती है, अन्यत्र नहीं। यही कारण है कि राजवार्तिकमें क्षायिक सम्यग्दर्शनको ही वीतराग सम्यग्दर्शन लिखा है। किन्तु कषायोंकी उपशमजन्य वीतरागता उपशम सम्यग्दर्शनके सद्भावमें भी प्रकट होती हुई देखी जाती है। इससे अन्यत्र इसे भी वीतराग सम्यग्दर्शन बतलाया है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार ऐसे चिह्न हैं जो सरागताके रहते हुए भी सम्यग्दर्शनके सद्भावके ज्ञापक हैं, अतः यहाँ सराग सम्यग्दर्शनके लक्षणमें इन धर्मोंको प्रमुखता दी गयी है। किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शनमें आत्माकी परिणतिमें निर्मलता पायी जाती है। वहाँ रागांशका सर्वथा अभाव हो जाता है, अतः यहाँ वीतराग सम्यग्दर्शनको आत्माकी विशुद्धि-रूपसे लक्षित किया गया है। रागादिकी तीव्रताका न होना प्रशमभाव है। संसारसे भीतरूप परिणामका होना संवेगभाव है। सब जीवोंमें दयाभाव रखना अनुकम्पा है और 'जीवादि पदार्थ हैं' ऐसी बुद्धिका होना आस्तिक्य है।

§ १३. जीवादि पदार्थोंको विषय करनेवाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है। अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्गसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है ॥३॥

§ १४. निसर्गका अर्थ स्वभाव है और अधिगमका अर्थ पदार्थका ज्ञान है। सूत्रमें इन दोनोंका हेतुरूपसे निर्देश किया है। **शंका**—इन दोनोंका किसके हेतुरूपसे निर्देश किया है? **समाधान**—क्रियाके। **शंका**—वह कौन सी क्रिया है? **समाधान**—'उत्पन्न होता है' यह क्रिया है। यद्यपि इसका उल्लेख सूत्रमें नहीं किया है तथापि इसका अध्याहार कर लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं। यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ १५. **शंका**—निसर्गज सम्यग्दर्शनमें पदार्थोंका ज्ञान होता है या नहीं। यदि होता है तो वह भी अधिगमज ही हुआ उससे भिन्न नहीं। यदि नहीं होता है तो जिसने पदार्थोंको नहीं जाना है उसे उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण समान है। इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेशके बिना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेशपूर्वक

---

१. –षयं तत् कथं–आ०, दि० १, दि० २। २. तदेव सम्य–आ०, दि० १, दि० २, अ०। ३. –मित्तं स्यात् तदु–मु०।

§ १६. तद्ग्रहणं किमर्थम् । अनन्तरनिर्देशार्थम् । अनन्तरं सम्यग्दर्शनं तदित्यनेन निर्दिश्यते। इतरथा मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतस्तस्याभिसंबन्धः स्यात् । ननु च 'अनन्तरस्य[1] विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इत्यनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य ग्रहणं सिद्धमिति[2] चेन्न, 'प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः' इति मोक्षमार्ग एव संबध्येत । तस्मात्तद्वचनं क्रियते ।

§ १७. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । अथ किं तत्त्वमित्यत इदमाह—

जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यही इन दोनोंमें भेद है।

§ १६. **शंका**—सूत्रमें 'तत्' पदका ग्रहण किसलिए किया है ? **समाधान**—इस सूत्रसे पूर्व सूत्रमें जिसका ग्रहण किया है उसका निर्देश करनेके लिए यहाँ 'तत्' पदका ग्रहण किया है। अनन्तरवर्ती सूत्रमें सम्यग्दर्शनका ही उल्लेख किया है जो यहाँ 'तत्' इस पद-द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यदि 'तत्' पद न देते तो मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे उसका यहाँ ग्रहण हो जाता। **शंका**—'अगले सूत्रमें जो विधि-निषेध किया जाता है वह अव्यवहित पूर्वका ही समझा जाता है' इस नियमके अनुसार अनन्तरवर्ती सूत्रमें कहे गये सम्यग्दर्शनका ग्रहण स्वतः सिद्ध है, अतः सूत्रमें 'तत्' पद देनेकी आवश्यकता नहीं है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि 'समीपवर्तीसे प्रधान बलवान् होता है' इस नियमके अनुसार यहाँ मोक्षमार्गका ही ग्रहण होता। किन्तु यह बात इष्ट नहीं है अतः सूत्रमें 'तत्' पद दिया है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्तोंपर विचार किया गया है। आगममें पाँच लब्धियोंमें एक देशना लब्धि बतलायी है। जिस जीवको वर्त्तमान पर्यायमें या पूर्व पर्यायमें कभी भी जीवादि पदार्थविषयक उपदेश नहीं मिला है उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु जिस जीवको इस प्रकारके उपदेशका निमित्त मिल गया है उसे तत्काल या कालान्तरमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। यहाँ इसी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद किये गये हैं। जो सम्यग्दर्शन उपदेशके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है और जो बिना उपदेशके होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका भाव है। यद्यपि अधिगम शब्दका अर्थ ज्ञान है तथापि प्रकृतमें इसका अर्थ परोपदेशपूर्वक होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए। इसीसे निसर्ग शब्दका अर्थ परोपदेशके बिना फलित हो जाता है। यद्यपि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंका दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण समान है तथापि बाह्य उपदेश और अनुपदेशकी अपेक्षा इन दोनोंमें भेद है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन जब कि केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही होता है तब उसमें सम्यग्दर्शनका निसर्गज भेद न घटकर केवल अधिगमज यही भेद घट सकता है, फिर क्या कारण है कि टीकामें अन्तरंग कारणोंका निर्देश करते समय उपशम और क्षयोपशमके साथ क्षयका भी निर्देश किया है। सो इस शंकाका यह समाधान है कि दूसरे और तीसरे नरकसे आकर जो जीव तीर्थंकर होते हैं उनके लिए क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें परोपदेशकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु परोपदेशके बिना ही उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हुई देखी जाती है अतः क्षायिक सम्यग्दर्शनमें भी निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद घट जाते हैं। यही कारण है कि प्रकृतमें तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंको निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो-दो प्रकारका बतलाया है।

§ १७. जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यह पहले कह आये हैं। अब तत्त्व कौन-कौन हैं इस बातके बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ।'–पा० म० भा० पृ० ३३५। परि० शे० पृ० ३८०।
२. सिद्धं प्रत्या–दि० १, दि० २, आ०, अ०।

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

§ १८. तत्र चेतनालक्षणो जीवः। सा[1] च ज्ञानादिभेदादनेकधा भिद्यते। तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रवः। आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः। एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः। एषां प्रपञ्च उत्तरत्र वक्ष्यते। सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वादादौ जीवग्रहणम्। तदुपकारार्थत्वात्तदनन्तरमजीवाभिधानम्। तदुभयविषयत्वात्तदनन्तरमास्रवग्रहणम्। तत्पूर्वकत्वात्तदनन्तरं बन्धाभिधानम्। संवृतस्य बन्धाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं[3] तदनन्तरं संवरवचनम्। संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनम्। अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनम्।

§ १९. इह पुण्यपापग्रहणं[4] कर्त्तव्यम्। 'नव पदार्थाः'[5] इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्त्तव्यम्[6], आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात्। यद्येवमास्रवादिग्रहणमनर्थकं, जीवाजीवयोरन्तर्भावात्। नानर्थकम्। इह मोक्षः प्रकृतः। सोऽवश्यं निर्देष्टव्यः। स च संसारपूर्वकः। संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च। अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पथगुपदेशः कृतः। दृश्यते हि सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य[7] पृथगुपादानं प्रयोजनार्थम्। 'क्षत्रिया आयाताः सूरवर्माऽपि' इति।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं ॥४॥

§ १८. इनमें-से जीवका लक्षण चेतना है जो ज्ञानादिकके भेदसे अनेक प्रकारकी है। जीवसे विपरीत लक्षणवाला अजीव है। शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेके द्वार रूप आस्रव है। आत्मा और कर्मके प्रदेशोंका परस्पर मिल जाना बन्ध है। आस्रवका रोकना संवर है। कर्मोंका एकदेश अलग होना निर्जरा है और सब कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। इनका विस्तारसे वर्णन आगे करेंगे। सब फल जीवको मिलता है अतः सूत्रके प्रारम्भमें जीवका ग्रहण किया है। अजीव जीवका उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीवके बाद अजीवका कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनोंको विषय करता है अतः इन दोनोंके बाद आस्रवका ग्रहण किया है। बन्ध आस्रव पूर्वक होता है इसलिए आस्रवके बाद बन्धका कथन किया है। संवृत जीवके बन्ध नहीं होता, अतः संवर बन्धका उलटा हुआ। इस बातका ज्ञान करानेके लिए बन्धके बाद संवरका कथन किया है। संवरके होनेपर निर्जरा होती है इसलिए संवरके पास निर्जरा कही है। मोक्ष अन्तमें प्राप्त होता है इसलिए उसका अन्तमें कथन किया है।

§ १९. **शंका**—सूत्रमें पुण्य और पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नौ हैं ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है। **समाधान**—पुण्य और पापका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है। **शंका**—यदि ऐसा है तो सूत्रमें अलगसे आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जाता है। **समाधान**—आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक नहीं है। क्योंकि यहाँ मोक्षका प्रकरण है इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है। वह संसारपूर्वक होता है और संसारके प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं अतः प्रधान हेतु, हेतुवाले और उनके फलके दिखलानेके लिए अलग-अलग उपदेश किया है। देखा भी जाता है कि किसी विशेषका सामान्यमें अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया

---

१. जीवः। स च–आ० दि० २। २. विप्रयोग–मु०। ३. –त्यर्थं संवर–आ०, दि० १, दि० २ अ०। ४. –हणं च कर्त–मु०। ५. कुन्दकुन्दाद्यैः। ६. –व्यं तयोरास्र– मु०। ७. –षस्य यथोपयोगं पृथ–मु०।

§ २०. **तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्तः। स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते। अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च सामानाधिकरण्यं भवति। यथा 'उपयोग एवात्मा' इति। यद्येवं तत्तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तिः प्राप्नोति। '[1]विशेषणविशेष्यसंबन्धे सत्यपि शब्दशक्तिव्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसंख्याव्यतिक्रमो न भवति।' अयं क्रम आदिसूत्रेऽपि योज्यः।**

§ २१. **एवमेषामुद्दिष्टानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च संव्यवहारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाह—**

जाता है। जैसे क्षत्रिय आये हैं और सूरवर्मा भी . यहाँ यद्यपि सूरवर्माका क्षत्रियोंमें अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया है। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

§ २०. **शंका**—तत्त्व शब्द भाववाची है यह पहले कह आये हैं इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दोंके साथ समानाधिकरण कैसे हो सकता है? **समाधान**—एक तो भाव द्रव्यसे अलग नहीं पाया जाता दूसरे भावमें द्रव्यका अध्यारोप कर लिया जाता है इसलिए समानाधिकरण बन जाता है। जैसे, 'उपयोग ही आत्मा है' इस वचनमें गुणवाची उपयोग शब्दके साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्दका समानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। **शंका**—यदि ऐसा है तो विशेष्यका जो लिंग और संख्या है वही विशेषणको भी प्राप्त होते हैं? **समाधान**—व्याकरणका ऐसा नियम है कि 'विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता।' अतः यहाँ विशेष्य और विशेषणके लिंग और संख्याके अलग-अलग रहने पर भी कोई दोष नहीं है। यह क्रम प्रथम सूत्रमें भी लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सात तत्त्वोंका निर्देश किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए, मुख्यतया पाँच बातोंपर प्रकाश डाला गया है। जो इस प्रकार हैं—(१) जीवादि सात तत्त्वोंका स्वरूप-निर्देश। (२) सूत्रमें जीव, अजीव इस क्रमसे सात तत्त्वोंके निर्देश करनेकी सार्थकता। (३) पुण्य और पापको पृथक् तत्त्व नहीं माननेका कारण। (४) भाववाची शब्दोंका द्रव्यवाची शब्दोंके साथ कैसे सामानाधिकरण्य बनता है इसकी सिद्धि। (५) विशेषण और विशेष्यमें समान लिंग और समान संख्या क्यों आवश्यक नहीं इसका निर्देश। तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो लिखा है उसका आशय यह है कि जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिके आधारसे बँधनेवाले कर्मोंमें अनुभागके अनुसार पुण्य-पापका विभाग होता है इसलिए आस्रव और बन्धमें इनका अन्तर्भाव किया गया है। पाँचवीं बातको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता। सो इसका यह आशय है कि एक तो जिस शब्दका जो लिंग है वह नहीं बदलता। उदाहरणार्थ 'ज्ञानं आत्मा' इस प्रयोगमें ज्ञान शब्द नपुंसक लिंग और आत्मा शब्द पुंल्लिंग रहते हुए भी इनमें बदल नहीं होता। इन दोनों शब्दोंका विशेषण विशेष्य रूपसे जब भी प्रयोग किया जायेगा तब वह इसी प्रकार ही किया जायेगा। दूसरे प्रयोगके समय जिस शब्दने जो संख्या प्राप्त कर ली है उसमें भी बदल नहीं होता। जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' इस प्रयोगमें विशेषण विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी 'कार्यम्' एकवचन है और 'तपःश्रुते' द्विवचन है। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। शेष कथन सुगम है।

§ २१. इस प्रकार पहले जो सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थ कहे हैं उनका शब्द प्रयोग करते समय जो गड़बड़ी होती है उसको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. 'आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्त्तते उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्न तल्लिङ्गं जहाति।' पा० १।२।२५३। अन्येऽपि वै गुणवचना नावश्यं द्रव्यस्य लिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्ते।–पा० म० भा० ५।१।१।५९।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

§ २२. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं [1]पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम। काष्ठपुस्तचित्र-कर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्। वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। तद्यथा, नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते। जीवनगुणमनपेक्ष्य यस्य कस्यचिन्नाम क्रियमाणं नाम जीवः। अक्षनिक्षेपादिषु जीव इति वा मनुष्यजीव इति वा व्यवस्थाप्यमानः स्थापनाजीवः। द्रव्य-जीवो द्विविधः आगमद्रव्यजीवो नोआगमद्रव्यजीवश्चेति। तत्र जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृत-ज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीवः। नोआगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यवतिष्ठते ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज् ज्ञायकशरीरम्। सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति, जीवनसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभव[2]प्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीवः। तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः। भावजीवो द्विविधः आगमभावजीवो नोआगमभावजीवश्चेति। तत्र जीवप्राभृत-विषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीवः। जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः। एवमितरेषामपि पदार्थानां[3] नामादिनिक्षेपविधिर्नियोज्यः। स किमर्थः। अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च। निक्षेप-

---

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूपसे उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिका न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ॥५॥

§ २२. संज्ञाके अनुसार गुणरहित वस्तुमें व्यवहारके लिए अपनी इच्छासे की गयी संज्ञाको नाम कहते हैं। काष्ठ कर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदिमें 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करनेको स्थापना कहते हैं। जो गुणोंके द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणोंको प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणोंको प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं। विशेष इस प्रकार है—नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव, और भाव जीव इस प्रकार जीव पदार्थका न्यास चार प्रकारसे किया जाता है। जीवन गुणकी अपेक्षा न करके जिस किसीका 'जीव' ऐसा नाम रखना नाम जीव है। अक्षनिक्षेप आदिमें यह 'जीव है' या 'मनुष्य जीव है' ऐसा स्थापित करना स्थापना जीव है। द्रव्य जीवके दो भेद हैं—आगम द्रव्य जीव और नोआगम द्रव्य जीव। इनमें-से जो जीवविषयक या मनुष्य जीवविषयक शास्त्रको जानता है किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित है वह आगम द्रव्य जीव है। नोआगम द्रव्य जीवके तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञाताके शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जीवन सामान्यकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद नहीं बनता, क्योंकि जीवमें जीवत्व सदा पाया जाता है। हाँ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद बन जाता है क्योंकि जो जीव दूसरी गतिमें विद्यमान है वह जब मनुष्य भवको प्राप्त करनेके लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्य भावि जीव कहलाता है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं कर्म और नोकर्म। भाव जीवके दो भेद हैं—आगम भाव जीव और नोआगम भाव जीव। इनमें-से जो आत्मा जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है अथवा मनुष्य जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है वह आगम भाव जीव कहलाता है। तथा जीवन पर्याय या मनुष्य जीवन पर्यायसे युक्त आत्मा नोआगम भाव जीव कहलाता है। इसी प्रकार अजीवादि अन्य पदार्थोंकी भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए। शंका—निक्षेप

---

१. पुरुषाका–मु०। २. –व्यभाव–आ०, दि० २। ३. –र्थानामजीवानां नामा–मु०।

विधिना[1] शब्दार्थः प्रस्तीर्यते। तच्छब्दग्रहणं किमर्थम्। सर्वसंग्रहार्थम्। असति हि तच्छब्दे सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामेव न्यासेनाभिसंबन्धः स्यात्, तद्विषयभावेनोपगृहीतानां जीवादीनां अप्रधानानां न स्यात्। तच्छब्दग्रहणे पुनः क्रियमाणे सति सामर्थ्यात्प्रधानानामप्रधानानां च ग्रहणं सिद्धं भवति।

§ २३. एवं नामादिभिः प्रस्तीर्णानामधिकृतानां तत्त्वाधिगमः कुतः। इत्यत इदमुच्यते—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

§ २४. नामादिनिक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां [2]तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधिगम्यते[3]। प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणविकल्पाः। तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं

विधिका कथन किस लिए किया जाता है? **समाधान**—अप्रकृतका निराकरण करने के लिए और प्रकृतका निरूपण करनेके लिए इसका कथन किया जाता है। तात्पर्य यह है कि किस शब्दका क्या अर्थ है यह निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे बतलाया जाता है। **शंका**—सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किस लिए किया है? **समाधान**—सबका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है। यदि सूत्रमें 'तत्' शब्द न रखा जाय तो प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादिकका ही न्यासके साथ सम्बन्ध होता। सम्यग्दर्शनादिकके विषय रूपसे ग्रहण किये गये अप्रधानभूत जीवादिकका न्यासके साथ सम्बन्ध न होता। परन्तु सूत्रमें 'तत्' शब्दके ग्रहण कर लेनेपर सामर्थ्यसे प्रधान और अप्रधान सबका ग्रहण बन जाता है।

विशेषार्थ—नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातुसे निक्षेप शब्द बना है। निक्षेपका अर्थ 'रखना' है। न्यास शब्दका भी यही अर्थ है। आशय यह है कि एक-एक शब्दका लोकमें और शास्त्रमें अनेक अर्थोंमें प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग कहाँ किस अर्थमें किया गया है इस बातको बतलाना ही निक्षेप विधिका काम है। यों तो आवश्यकतानुसार निक्षेपके अनेक भेद किये जा सकते हैं। शास्त्रोंमें भी ऐसे विविध भेदोंका उल्लेख देखनेमें आता है। किन्तु मुख्यतया यहाँ इसके चार भेद किये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनका लक्षण और दृष्टान्त-द्वारा कथन टीकामें किया ही है। आशय यह है कि जैसे टीकामें एक जीव शब्दका नाम निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, स्थापना निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, द्रव्य निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है और भाव निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्दका नामादि निक्षेप विधिके अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ होता है। इससे अप्रकृत अर्थका निराकरण होकर प्रकृत अर्थका ग्रहण हो जाता है जिससे व्यवहार करनेमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं होती। इससे वक्ता और श्रोता दोनों ही एक दूसरेके आशयको भली प्रकार समझ जाते हैं। ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए भी इस विधिका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। जैन परम्परामें इसका बड़ा भारी महत्त्व माना गया है। इसी बातको ध्यानमें रखकर यहाँ निक्षेप विधिका निर्देश किया गया है।

§ २३. इस प्रकार नामादिकके द्वारा विस्तारको प्राप्त हुए और अधिकृत जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपका ज्ञान किसके द्वारा होता है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमाण और नयोंसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। ॥६॥

§ २४. जिन जीवादि पदार्थोंका नाम आदि निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे कथन किया है उनका स्वरूप प्रमाण और नयोंके द्वारा जाना जाता है। प्रमाण और नयोंके लक्षण और भेद आगे

---

१. -धिना नामशब्दा- मु० आ०। २. तत्त्वं प्रमाणेभ्यो नयै- मु०। ३. -श्चाभिग- आ०, दि १, दि० २।

श्रुतवर्ज्जम्[1] । श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । तद्विकल्पा नयाः[2] । अत्राह—नयशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति । नैष दोषः । अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य[3] पूर्वनिपातः । अभ्यर्हितत्वं च सर्वतो बलीयः । कुतोऽभ्यर्हितत्वम् । नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात् । एवं ह्युक्तं "प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः" **इति । सकलविषयत्वाच्च प्रमाणस्य । तथा चोक्तं—**"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः" **इति । नयो द्विविधो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । पर्यायार्थिकनयेन[4] भावतत्त्वमधिगन्तव्यम् । इतरेषां त्रयाणां[5] द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात् । द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः । पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः । तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम् ।**

कहेंगे । प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ । श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं । परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है । ज्ञानात्मक प्रमाणको स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है । इनके भेद नय हैं । **शंका**—नय शब्दमें थोड़े अक्षर हैं इसलिए सूत्रमें उसे पहले रखना चाहिए ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रमाण श्रेष्ठ है अतः उसे पहले रखा है । 'श्रेष्ठता सबसे बलवती होती है' ऐसा नियम है । **शंका**—प्रमाण श्रेष्ठ क्यों है ? **समाधान**—क्योंकि प्रमाणसे ही नयप्ररूपणाकी उत्पत्ति हुई है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था-द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है । दूसरे प्रमाण समग्रको विषय करता है । आगममें भी इस प्रकार कहा है कि 'सकलादेश प्रमाणका विषय है और विकलादेश नयका विषय है ।' इसलिए भी प्रमाण श्रेष्ठ है ।

नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । पर्यायार्थिक नयका विषय भावनिक्षेप है और शेष तीनको द्रव्यार्थिक नय ग्रहण करता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय सामान्यरूप है । द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । तथा द्रव्य और पर्याय ये सब मिल कर प्रमाणके विषय हैं ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें ज्ञानके प्रमाण और नय ऐसे भेद करके उनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है यह बतलाया गया है । इसकी व्याख्या करते हुए टीकामें मुख्यतया चार बातों पर प्रकाश डाला गया है—(१) ज्ञानके पाँच भेदोंमें-से किस ज्ञानका प्रमाण और नय इनमें-से किसमें अन्तर्भाव होता है । (२) नय शब्दमें अल्प अक्षर होनेपर भी सूत्रमें प्रमाण शब्द पहले रखने का कारण । (३) नयके भेद करके चार निक्षेपोंमें-से कौन निक्षेप किस नयका विषय है इसका विचार । (४) प्रमाणके विषयकी चर्चा । प्रथम बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि ज्ञानके पाँच भेदोंमें-से श्रुतज्ञानके सिवा चार ज्ञान केवलज्ञानरूप तो माने ही गये हैं । साथ ही वे वितर्क रहित हैं इसलिए उनका अन्तर्भाव प्रमाण ज्ञानमें ही होता है । किन्तु श्रुतज्ञान ज्ञान और वचन उभय रूप माना गया है । साथ ही वह सवितर्क है इसलिए इसके प्रमाणज्ञान और नयज्ञान ऐसे दो भेद हो जाते हैं । यहाँ यह शंका की जा सकती है कि श्रुतज्ञान यह शेष ज्ञानोंके समान ज्ञानका ही एक भेद है तो फिर इसे ज्ञान और वचन उभय रूप क्यों बतलाया है ? सो इसका यह समाधान है कि आगम द्रव्य श्रुतका अन्तर्भाव श्रुतमें किया जाता है इसलिए द्रव्य श्रुतको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कह दिया गया है । दूसरी बातको स्पष्ट करते हुए प्रमाणकी श्रेष्ठतामें दो हेतु दिये हैं । प्रथम हेतु तो यह दिया है कि नय प्ररूपणाकी उत्पत्ति प्रमाणज्ञानसे होती है अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । इसका

---

१. वर्ज्यम् । श्रु–मु० । २. 'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।' –सन्मति० ३।४७ ।
३. -णस्य तत्पूर्व– मु० । ४. -येन पर्यायत– मु० । ५. –रेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्या–मु० ।

§ २५. एवं प्रमाणनयैरधिगतानां जीवादीनां पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

§ २६. निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। स्वामित्वमाधिपत्यम्। साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्। अधिकरणमधिष्ठानम्। स्थितिः कालपरिच्छेदः। विधानं प्रकारः। तत्र सम्यग्दर्शनं किमिति प्रश्ने तत्त्वार्थश्रद्धानमिति निर्देशो नामादिर्वा[1] कस्येत्युक्ते सामान्येन जीवस्य। विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकाना-

---

•आशय यह है कि जो पदार्थ प्रमाणके विषय हो गये हैं उन्हींमें नयकी प्रवृत्ति व्यवहारका कारण माना गया है अन्यमें नहीं, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है। दूसरा हेतु यह दिया है कि सकलादेश प्रमाणके अधीन है और विकलादेश नयके अधीन है अतः प्रमाण श्रेष्ठ है। सो इसका यह आशय है कि प्रमाण समुदायको विषय करता है और नय अवयवको विषय करता है अतः प्रमाण श्रेष्ठ है। जो वचन कालादिकको अपेक्षा अभेदवृत्तिकी प्रधानतासे या अभेदोपचारसे प्रमाणके द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तुका एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं। और जो वचन कालादिककी अपेक्षा भेदवृत्तिकी प्रधानतासे या भेदोपचारसे नयके द्वारा स्वीकृत वस्तु धर्मका क्रमसे कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं। इनमें-से प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी, अतः प्रमाण श्रेष्ठ माना गया है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए नयके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद करके जो नामादि तीन निक्षेपोंको द्रव्यार्थिक नयका और भाव निक्षेपको पर्यायार्थिक नयका विषय बतलाया है सो इसका यह अभिप्राय है कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप सामान्य रूप हैं अतः इन्हें द्रव्यार्थिक नयका विषय बतलाया है और भावनिक्षेप पर्याय रूप है अतः इसे पर्यायार्थिक नयका विषय बतलाया है। यहाँ इतना विशेष जानना कि नामको सादृश्य सामान्यात्मक माने बिना शब्दव्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिए नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नयका विषय है और जिसकी जिसमें स्थापना की जाती है उनमें एकत्वका अध्यवसाय किये बिना स्थापना नहीं बन सकती है, इसलिए स्थापना द्रव्यार्थिक नयका विषय है। शेष कथन सुगम है।

§ २५. इस प्रकार प्रमाण और नयके द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थोंके जाननेके दूसरे उपाय बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे सम्यग्दर्शन आदि विषयोंका ज्ञान होता है ॥७॥

§ २६. किसी वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश है। स्वामित्वका अर्थ आधिपत्य है। जिस निमित्तसे वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है। अधिष्ठान या आधार अधिकरण है। जितने काल तक वस्तु रहती है वह स्थिति है और विधानका अर्थ प्रकार या भेद है। 'सम्यग्दर्शन क्या है। यह प्रश्न हुआ इस पर 'जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है या नामादिकके द्वारा सम्यग्दर्शनका कथन करना निर्देश है। सम्यग्दर्शन किसके होता है? सामान्यसे जीवके होता है और विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथिवीमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यंचगतिमें पर्याप्तक तिर्यंचोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक

---

१. -दिर्वा। सम्यग्दर्शनं क–मु०।

मौपशमिकमस्ति । क्षायिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तापर्याप्तकानामस्ति। तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति[1] । औपशमिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम् । मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्[2] । देवगतौ[3] देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां त्रितयमप्यस्ति । औपशमिकमपर्याप्तकानां कथमिति चेच्चारित्रमोहोपशमेन सह मृतान्प्रति[4] । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च क्षायिकं नास्ति । तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति ।

§ २७. इन्द्रियानुवादेन पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिनां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । कायानुवादेन त्रसकायिकानां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । योगानुवादेन त्रयाणां योगानां त्रितयमप्यस्ति । अयोगिनां क्षायिकमेव । वेदानुवादेन त्रिवेदानां त्रितयमप्यस्ति । अपगतवेदानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । कषायानुवादेन चतुष्कषायाणां त्रितयमप्यस्ति । अकषायाणामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । ज्ञानानुवादेन आभिनिबोधिकश्रुतावधिकमनःपर्ययज्ञानिनां त्रितयमप्यस्ति । केवलज्ञानिनां क्षायिकमेव । संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयतानां त्रितयमप्यस्ति । परिहारविशुद्धिसंयतानामौप-

---

पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके तिर्यंचोंके होता है । तिर्यंचनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता । औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यंचनीके ही होता है अपर्याप्तक तिर्यंचनीके नहीं । मनुष्य गतिमें क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके मनुष्योंके होता है । औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यके ही होता है अपर्याप्तक मनुष्यके नहीं । मनुष्यनियोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यनीके ही होते हैं अपर्याप्तक मनुष्यनीके नहीं । देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके देवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं । **शंका**—अपर्याप्तक देवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? **समाधान**—जो मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम करके या करते हुए उपशमश्रेणीमें मरकर देव होते हैं उन देवोंके अपर्याप्तक अवस्थामें औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके, इन तीनोंकी देवांगनाओंके, तथा सौधर्म और ऐशान कल्पमें उत्पन्न हुई देवांगनाओंके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता शेष दो होते हैं सो वे भी पर्याप्तक अवस्थामें ही होते हैं ।

§ २७. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । अन्य जीवोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । कायमार्गणाके अनुवादसे त्रसकायिक जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । अन्य कायवाले जीवोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । योगमार्गणाके अनुवादसे तीनों योगवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु अयोगी जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । वेदमार्गणाके अनुवादसे तीनों वेदवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु अयोगी जीवोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं । कषायमार्गणाके अनुवादसे चारों कषायवाले जीवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु कषायरहित जीवोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं । ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु केवलज्ञानी जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिक और छेदोप-

---

१. नास्ति । कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति । क्षपणाप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु द्रव्यदेवस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात् । एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम् । औप–मु० । २. –कानाम् । क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव । देव– मु० । ३. –गतौ सामान्येन देवा–मु० । ४. प्रति । विशेषेण भवन–मु० ।

शमिकं नास्ति, इतरद् द्वितयमप्यस्ति । सूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयतानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । संयतासंयतानां असंयतानां[1] च त्रितयमप्यस्ति । दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनिनां त्रितयमप्यस्ति । केवलदर्शनिनां क्षायिकमेव । लेश्यानुवादेन षड्लेश्यानां त्रितयमप्यस्ति । अलेश्यानां क्षायिकमेव । भव्यानुवादेन भव्यानां त्रितय[2]मप्यस्ति नाभव्यानाम् । सम्यक्त्वानुवादेन यत्र यत्सम्यग्दर्शनं तत्र तदेव ज्ञेयम् । संज्ञानुवादेन संज्ञिनां त्रितयमप्यस्ति नासंज्ञिनाम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां क्षायिकमेव आहारानुवादेन आहारकाणां त्रितयमप्यस्ति । अनाहारकाणां छद्मस्थानां त्रितयमप्यस्ति केवलिनां समुद्घातगतानां क्षायिकमेव ।

स्थापना संयत जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । परिहारविशुद्धिसंयतोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता शेष दो होते हैं। सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत और यथाख्यातसंयत जीवोंके औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हैं । संयतासंयत और असंयत जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शनवाले और अवधिदर्शनवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु केवल दर्शनवाले जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहों लेश्यावाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु लेश्यारहित जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्य जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । अभव्योंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे जहाँ जो सम्यग्दर्शन है वहाँ वही जानना । संज्ञामार्गणाके अनुवादसे संज्ञी जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन हैं। असंज्ञियोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है। तथा संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। आहारकमार्गणाके अनुवादसे आहारकोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अनाहारक छद्मस्थोंके भी तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । किन्तु समुद्घातगत केवली अनाहारकोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है ।

विशेषार्थ—पदार्थोंके विवेचन करनेकी प्राचीन दो परम्पराएँ रही हैं—निर्देश आदि छह अधिकारों द्वारा विवेचन करनेको एक परम्परा और सदादि आठ अधिकारों द्वारा विवेचन करनेकी दूसरी परम्परा। यहाँ तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यने ७वें और ८वें सूत्रों द्वारा इन्हीं दो परम्पराओंका निर्देश किया है । यहाँ टीकामें निर्देश आदिके स्वरूपका कथन करके उन द्वारा सम्यग्दर्शनका विचार किया गया है। उसमें भी स्वामित्वकी अपेक्षा जो कथन किया है उसका भाव समझनेके लिए यहाँ मुख्य बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इन बातोंको ध्यानमें रखनेसे चारों गतियोंमें किस अवस्थामें कहाँ कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है। वे बातें ये हैं—१. क्षायिक सम्यग्दर्शनका प्रस्थापक कर्मभूमिका मनुष्य हो होता है। किन्तु ऐसा जीव कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जानेके बाद मरकर चारों गतियोंमें जन्म ले सकता है। २. नरकमें उक्त जीव प्रथम नरकमें ही जाता है। दूसरे आदि नरकोंमें कोई भी सम्यग्दृष्टि मरकर नहीं उत्पन्न होता। ३. तिर्यंचोंमें व मनुष्योंमें उक्त जीव उत्तम भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें व मनुष्योंमें ही उत्पन्न हो सकता है। ४. तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके स्त्रीवेदियोंमें कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता। ५. भवनत्रिकमें भी कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता। ६. उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोंमें ही उत्पन्न होता है। उसमें भी उपशमश्रेणिमें स्थित उपशम

---

१. संयतासंयतानां च मु० । २. –तयमस्ति ता० ।

§ २८. साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिद्वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च। तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनबिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव। देवानां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनमहिमदर्शनं केषांचिद्देवर्द्धिदर्शनम्। एवं प्रागानतात्। आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवर्द्धिदर्शनं मुक्त्वान्यत्त्रितयमप्यस्ति। नवग्रैवेयकवासिनां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणम्। अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामियं कल्पना न संभवति; प्रागेव गृहीतसम्यक्त्वानां तत्रोत्पत्तेः।

सम्यग्दृष्टिका ही मरण सम्भव है अन्यका नहीं। ७. कृतकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका एक भेद है। इसके सिवा दूसरे प्रकारके क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देव और मनुष्यगतिमें ही जन्म लेते हैं नरक और तिर्यंचगतिमें नहीं। ऐसे जीव यदि तिर्यंचगति और मनुष्यगतिके होते हैं तो देवोंमें उत्पन्न होते हैं। यदि नरकगति और देवगतिके होते हैं तो वे मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। ८. सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नपुंसकवेदियोंमें उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम नरकके नपुंसकवेदियोंमें उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम नरकके नपुंसकवेदियोंमें ही उत्पन्न होता है। मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके नपुंसकवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता[1]। ये ऐसी बातें हैं जिनको ध्यानमें रखनेसे किस गतिकी किस अवस्थामें कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका पता लग जाता है जिसका स्पष्ट उल्लेख मूल टीकामें किया ही है। एक बातका उल्लेख कर देना और आवश्यक प्रतीत होता है वह यह कि गति मार्गणाके अवान्तर भेद यद्यपि भावभेदकी प्रधानतासे किये गये हैं द्रव्य वेदकी प्रधानतासे नहीं, इसलिए यहाँ सर्वत्र भावभेदी स्त्रियोंका ही ग्रहण किया गया है। तथापि द्रव्यस्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि मरकर नहीं उत्पन्न होता यह बात अन्य प्रमाणोंसे जानी जाती है। इस प्रकार किस गतिको किस अवस्थामें कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका विचार किया। शेष मार्गणाओंमें कहाँ कितने सम्यग्दर्शन हैं और कहाँ नहीं इसका विचार सुगम है, इसलिए यहाँ हमने स्पष्ट नहीं किया।

§ २८. साधन दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन निम्न प्रकार है—नारकियोंके चौथे नरकसे पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण और किन्हींके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथेसे लेकर सातवें तक किन्हींके जातिस्मरण और किन्हींके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। तिर्यंचोंमें किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण, और किन्हींके जिनबिम्बदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्योंके भी इसी प्रकार जानना चाहिए। देवोंमें किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण, किन्हींके जिनमहिमादर्शन, और किन्हींके देवऋद्धिदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्पसे पूर्वतक जानना चाहिए। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देवोंके देवऋद्धिदर्शनको छोड़कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। नौ ग्रैवेयकमें निवास करनेवाले देवोंके सम्यग्दर्शनका साधन किन्हींके जातिस्मरण और किन्हींके धर्मश्रवण है। अनुदिश और अनुत्तरविमानोंमें रहनेवाले देवोंके यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

---

१. इस नियमके अनुसार जीवकाण्डकी 'हेट्ठिमछप्पुढवीणं' इत्यादि गाथामें 'सव्वइत्थीणं' के स्थानमें 'संढइत्थीणं' पाठ समीचीन प्रतीत होता है।

§ २९. अधिकरणं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं स्वस्वामिसंबन्धार्ह एव आत्मा; विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः। बाह्यं लोकनाडी। सा कियती। एकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्ज्वायामा।

§ ३०. स्थितिरौपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मौहूर्तिकी। क्षायिकस्य संसारिणो जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी। उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तुर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि। मुक्तस्य सादिरपर्यवसाना। क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्त्तिकी उत्कृष्टा षट्षष्टिसागरोपमाणि।

§ ३१. विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनम्। द्वितयं निसर्गजाधिगमजभेदात्[1]। त्रितयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात्। एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतः। असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। एवमयं निर्देशादिविधिर्ज्ञानचारित्रयोर्जीवाजीवादिषु चागमानुसारेण योजयितव्यः।

---

§ २९. अधिकरण दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर अधिकरण–जिस सम्यग्दर्शनका जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है। यद्यपि सम्बन्धमें षष्ठी और अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है फिर भी विवक्षाके अनुसार कारककी प्रवृत्ति होती है, अतः षष्ठी विभक्ति द्वारा पहले जो स्वामित्वका कथन किया है उसके स्थानमें सप्तमी विभक्ति करनेसे अधिकरणका कथन हो जाता है। बाह्य अधिकरण लोकनाडी है। **शंका**—वह कितनी बड़ी है? **समाधान**—एक राजु चौड़ी और चौदह राजु लम्बी है।

§ ३०. औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी संसारी जीवके जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तकम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस[2] सागर है। मुक्त जीवके सादि—अनन्त है। क्षायोपशमिक[3] सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर है।

§ ३१. भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्यसे एक है। निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात प्रकारका है तथा श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असंख्यात प्रकारका और श्रद्धान करने

---

१. –गमजभेदात्। एवं मु०। २. क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भवमें, तीसरे भवमें या चौथे भवमें मोक्ष जाता है। जो चौथे भवमें मोक्ष जाता है वह पहले भोगभूमिमें उसके बाद देव पर्यायमें जन्म लेकर और अन्तमें मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। जो तीसरे भवमें मोक्ष जाता है वह पहले नरकमें या देवपर्यायमें जन्म लेकर और अन्तमें मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। यहाँ तीन और चार भवोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके भवका भी ग्रहण कर लिया है। संसारी जीवके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी यह उत्कृष्ट स्थिति तीन भवकी अपेक्षा बतलायी है। प्रथम और अन्तके दो भव मनुष्य पर्यायके लिये गये हैं और दूसरा भव देव पर्यायका लिया गया है। इन तीनों भवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागर होती है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पहले नहीं हो सकती इसलिए उक्त कालमें से इतना काल कम करके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटि वर्ष अधिक तेतीस सागर बतलायी है। ३. खुद्दाबन्धमें क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छयासठ सागर इस प्रकार घटित करके बतलाया है—एक जीव उपशम सम्यक्त्वसे वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयुसे कम बीस सागरकी आयु वाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्योंमें उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायुसे कम बाईस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्यगतिमें जाकर भुज्यमान मनुष्यायुसे तथा दर्शनमोहकी क्षपणा पर्यन्त आगे भोगी जानेवाली मनुष्यायुसे कम चौबीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे फिर मनुष्य गतिमें आकर वहाँ वेदक सम्यक्त्वके कालमें अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया। यह जीव जब कृतकृत्यवेदकके अन्तिम समयमें स्थित होता है तब क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छयासठ सागर प्राप्त होता है।

§ ३२. किमेतैरेव जीवादीनामधिगमो भवति उत अन्योऽप्यधिगमोपायोऽस्तीति परिदृष्टोऽस्तीत्याह—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

§ ३३. सदित्यस्तित्वनिर्देशः[1]। स प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते। संख्या भेदगणना। क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः। तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम्। कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च। तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते। अन्तरं विरहकालः। भावः औपशमिकादिलक्षणः। अल्पबहुत्वमन्योऽन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः। एतैश्च सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां चाधिगमो वेदितव्यः। ननु च निर्देशादेव सद्ग्रहणं सिद्धम्। विधानग्रहणात्संख्यागतिः। अधिकरणग्रहणात्क्षेत्रस्पर्शनावबोधः। स्थितिग्रहणात्कालसंग्रहः। भावो नामादिषु संगृहीत एव। पुनरेषां किमर्थं ग्रहणमिति[2]। सत्यं, सिद्धम्। विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः। केचित्संक्षेपरुचयः[3] केचित् विस्तररुचयः। अपरे नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः। सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयास इति अधिगमाभ्युपायभेदोद्देशः कृतः। इतरथा हि "प्रमाणनयैरधिगमः" इत्यनेनैव सिद्धत्वादितरेषां ग्रहणमनर्थकं स्यात्।

योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है। इसी प्रकार यह निर्देश आदि विधि ज्ञान और चारित्रमें तथा जीव और अजीव आदि पदार्थोंमें आगमके अनुसार लगा लेना चाहिए।

§ ३२. क्या इन उपर्युक्त कारणोंसे ही जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है या और दूसरे भी ज्ञानके उपाय हैं इस प्रकार ऐसा प्रश्न करनेपर दूसरे उपाय हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वसे भी सम्यग्दर्शन आदि विषयोंका ज्ञान होता है ॥८॥

§ ३३. 'सत्' अस्तित्वका सूचक है। वह प्रशंसा आदि अनेक अर्थोंमें रहता है पर उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है। संख्यासे भेदोंकी गणना ली है। वर्तमानकालविषयक निवासको क्षेत्र कहते हैं। त्रिकालविषयक निवासको स्पर्शन कहते हैं। काल दो प्रकारका है—मुख्य और व्यावहारिक। इनका निर्णय आगे करेंगे। विरहकालको अन्तर कहते हैं। भावसे औपशमिक आदि भावोंका ग्रहण किया गया है और एक दूसरेकी अपेक्षा न्यूनाधिकका ज्ञान करनेको अल्पबहुत्व कहते हैं। इन सत् आदिके द्वारा सम्यग्दर्शनादिक और जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शंका—निर्देशसे ही 'सत्'का ग्रहण हो जाता है। विधानके ग्रहण करनेसे संख्याका ज्ञान हो जाता है। अधिकरणके ग्रहण करनेसे क्षेत्र और स्पर्शनका ज्ञान हो जाता है। स्थितिके ग्रहण करनेसे कालका संग्रह हो जाता है। भावका नामादिकमें संग्रह हो ही गया है फिर इनका अलगसे किस लिए ग्रहण किया है? समाधान—यह बात सही है कि निर्देश आदिके द्वारा 'सत्' आदिकी सिद्धि हो जाती है तो भी शिष्योंके अभिप्रायानुसार तत्त्वदेशनामें भेद पाया जाता है। कितने ही शिष्य संक्षेपरुचिवाले होते हैं। कितने ही शिष्य विस्ताररुचिवाले होते हैं और दूसरे शिष्य न तो अतिसंक्षेप कथन करनेसे समझते हैं और न अति विस्तृत कथन करनेसे समझते हैं। किन्तु सज्जनोंका प्रयास सब जीवोंका उपकार करना है इसलिए यहाँ अलगसे ज्ञानके उपायके भेदोंका निर्देश किया है। अन्यथा 'प्रमाणनयैरधिगमः' इतनेसे ही काम चल जाता, उपायोंका ग्रहण करना निष्फल होता।

---

१. –र्देशः। प्रशंसा–मु० ता० न०। २. ग्रहणमुच्यते ? सत्यं ता० न०। ३. संक्षेपरुचयः। अपरे नाति–मु०।

§ ३४. तत्र जीवद्रव्यमधिकृत्य सदाद्यनुयोगद्वारनिरूपणं क्रियते। जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः। मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतः अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः अनिवृत्तिबादरसांपरायस्थाने उपशमकः क्षपकः सूक्ष्मसांपरायस्थाने उपशमकः क्षपकः उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति। एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि। गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारका इति।

§ ३५. तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि। विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति। तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति। मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति। देवगतौ नारकवत्। इन्द्रियानुवादेन एकेंद्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति। कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु[1] एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति। योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति। ततः परं अयोगकेवली। वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति। अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि।

§ ३६. कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति। लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसांपरायस्थानाधिकानि। अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः

---

§ ३४. अब जीव द्रव्यकी अपेक्षा 'सत्' आदि अनुयोगद्वारोंका कथन करते हैं यथा—जीव चौदह गुणस्थानोंमें स्थित हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इन चौदह जीवसमासोंके निरूपण करनेके लिए चौदह मार्गणास्थान जानने चाहिए। यथा—गति, इन्द्रिय, काय योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक।

§ ३५. इनमें-से सामान्य और विशेषकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा दो प्रकारकी है। मिथ्यादृष्टि है, सासादन सम्यग्दृष्टि है इत्यादिरूपसे कथन करना सामान्यकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा है। विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान हैं। तिर्यंचगतिमें वे ही चार गुणस्थान हैं किन्तु संयतासंयत एक गुणस्थान और है। मनुष्यगतिमें चौदह ही गुणस्थान हैं और देवगतिमें नारकियोंके समान चार गुणस्थान हैं। इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंसे लेकर चौइन्द्रिय तकके जीवोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। पंचेन्द्रियोंमें चौदह ही गुणस्थान हैं। कायमार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पति तकके जीवोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। त्रसकायिकोंमें चौदह ही गुणस्थान हैं। योग मार्गणाके अनुवादसे तीनों योगोंमें तेरह गुणस्थान हैं और इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थान है। वेदमार्गणाके अनुवादसे तीनों वेदोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक नौ गुणस्थान हैं। अपगतवेदियोंमें अनिवृत्तिबादरसे लेकर अयोगकेवली तक छह गुणस्थान हैं।

§ ३६. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक नौ गुणस्थान हैं, लोभकषायमें वे ही नौ गुणस्थान हैं किन्तु सूक्ष्मसाम्पराय

---

१. कायादिषु वनस्प–मु० न०।

सयोगकेवली अयोगकेवली[1] चेति ।

§ ३७. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति । केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च ।

§ ३८. संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ताः । सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः । परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च । सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसांपरायस्थाने । यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता उपशान्तकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः । संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने । असंयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु ।

§ ३९. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च ।

§ ४०. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि सन्ति । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तानि । शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि । अलेश्या अयोगकेवलिनः ।

§ ४१. भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति । अभव्या आद्य एव स्थाने ।

एक गुणस्थान और है । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगी और अयोगी ये चार गुणस्थान कषायरहित हैं ।

§ ३७. ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञानमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग् दृष्टि ये दो गुणस्थान हैं । आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं । मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक सात गुणस्थान हैं । केवलज्ञानमें सयोग और अयोग ये दो गुणस्थान हैं ।

§ ३८. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगकेवलो गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं । सामायिक संयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक होते हैं । परिहारविशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें होते हैं । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत जीव एक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होते हैं । यथाख्यात विहारशुद्धिसंयत जीव उपशान्तकषाय गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं । संयतासंयत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें होते हैं । असंयत जीव प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें होते हैं ।

§ ३९. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं । अवधिदर्शनमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षोणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं । केवलदर्शनमें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये दो गुणस्थान हैं ।

§ ४०. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नोल और कपोत लेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हैं । पोत और पद्मलेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक सात गुणस्थान हैं । शुक्ललेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलो तक तेरह गुणस्थान हैं । किन्तु अयोगकेवली जीव लेश्या रहित हैं ।

§ ४१. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें चौदह ही गुणस्थान हैं । किन्तु अभव्य पहले हो गुणस्थान में पाये जाते हैं ।

---

१. –वली च । ज्ञाना–ता० न० । २. दृष्टिश्चास्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिः टिप्पणकारकाभिप्रायेण ज्ञातव्यम् । आभिनि–न० ।

§ ४२. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि। औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशान्तकषायान्तानि। सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने।

§ ४३. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादश गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि। असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। तदुभयव्यपदेशरहितः सयोगकेवली अयोगकेवली च।

§ ४४. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि केवल्यन्तानि। अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्राणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरसंयतसम्यग्दृष्टिश्च। समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च। सिद्धाः परमेष्ठिनः अतीतगुणस्थानाः। उक्ता सत्प्ररूपणा।

§ ४५. संख्याप्ररूपणोच्यते। सा द्विविधा[1] सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद् जीवा मिथ्यादृष्ट्योऽनन्तानन्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः। पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा तिसृणां कोटीनामुपरि नवानामधः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार उपशमकाः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत्। स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः। चत्वारः क्षपका अयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः। सयोगकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। स्वकालेन समुदिताः शतसहस्रपृथक्त्वसंख्याः।

---

§ ४२. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक ग्यारह गुणस्थान हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थान हैं। औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर उपशान्तकषाय तक आठ गुणस्थान हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि अपने-अपने गुणस्थान में होते हैं।

§ ४३. संज्ञामार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं। असंज्ञियोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीव सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दो गुणस्थानवाले होते हैं।

§ ४४. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं। विग्रहगतिको प्राप्त अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। तथा समुद्घातगत सयोगकेवली और अयोगकेवली जीव भी अनाहारक होते हैं। सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं। इस प्रकार सत्प्ररूपणाका कथन समाप्त हुआ।

§ ४५. अब संख्या प्ररूपणाका कथन करते हैं। सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकारकी है। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमें-से प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रमत्तसंयतोंकी संख्या कोटिपृथक्त्व है। पृथक्त्व यह आगमिक संज्ञा है। इससे तीन से ऊपर और नौके नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है। अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं। चारों उपशमक गुणस्थानवाले जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक-दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे चौवन हैं और अपने कालके द्वारा संचित हुए उक्त जीव संख्यात हैं। चारों क्षपक और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा एक दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा संचित

---

१. द्विविधा। सामान्येन तावत्–मु०।

§ ४६. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारका मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। द्वितीयादिष्वा सप्तम्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः। स चासंख्येयभागः असंख्येया योजनकोटीकोटयः। सर्वासु पृथिवीषु सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां[1] मध्ये मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयादयः संयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। मनुष्यगतौ मनुष्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः। स चासंख्येयभागः असंख्येया योजनकोटीकोटयः। सासादनसम्यग्दृष्टयादयः संयतासंयतान्ताः संख्येयाः। प्रमत्तादीनां सामान्योक्ता संख्या। देवगतौ देवा मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः।

§ ४७. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिया असंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। सासादनसम्यग्दृष्टयादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः।

हुए उक्त जीव संख्यात हैं। सयोगकेवली जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा संचित हुए उक्त जीव लाखपृथक्त्व हैं।

§ ४६. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें पहली पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकी असंख्यात जग[2]श्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्र[3]तरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक प्रत्येक पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकी जगश्रेणीके असंख्[4]यातवें भागप्रमाण हैं। जो जगश्रेणीका असंख्यातवाँ भाग असंख्यात कोटि योजनप्रमाण है। सब पृथिवियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि, और सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। तिर्यंचगतिमें मिथ्यादृष्टि तिर्यंच अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यंच पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टि मनुष्य-जग[5] श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। जो जगश्रेणीका असंख्यातवाँ भाग असंख्यातकोटि योजन प्रमाण है। [6]सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्य संख्यात हैं। प्रमत्तसंयत आदि मनुष्योंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं। देवगतिमें मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण[7] हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इनमें-से प्रत्येक गुणस्थानवाले देव पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

§ ४७. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ

---

१. तिरश्चा मिथ्या–मु०। २. सात राजु लम्बी और एक प्रदेशप्रमाण चौड़ी आकाश प्रदेश-पंक्तिको जगश्रेणि कहते हैं। ऐसी जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण जगश्रेणियोंमें जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकी हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ३. जगश्रेणिके वर्गको जगप्रतर कहते हैं। ४. जगश्रेणिमें ऐसे असंख्यातका भाग दो जिससे असंख्यात योजन कोटि प्रमाण आकाश प्रदेश प्राप्त हों, इतनी दूसरे आदि प्रत्येक नरकके नारकियोंकी संख्या है। यह संख्या उत्तरोत्तर हीन है। ५. इसमें संमूर्च्छिम मनुष्योंकी संख्या सम्मिलित है। ६. सासादनसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवाले मनुष्योंकी संख्या जीवस्थान द्रव्यप्रमाणानुगमकी धवला टीकामें विस्तारसे बतलायी है। ७. मिथ्यादृष्टि देवोंकी संख्याका खुलासा प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकियोंके खुलासाके समान जानना चाहिए। आगे भी इसी प्रकार यथायोग्य सुस्पष्ट कर लेना चाहिए।

§ ४८. कायानुवादेन पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजःकायिका वायुकायिका असंख्येया लोकाः। वनस्पतिकायिकाः अनन्तानन्ताः। त्रसकायिकसंख्या पञ्चेन्द्रियवत्।

§ ४९. योगानुवादेन मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। काययोगिनो[1] मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः[2]। त्रयाणामपि योगिनां सासादनसम्यग्दृष्टयादयः संयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्तसंयतादयः सयोगकेवल्यन्ताः संख्येयाः। अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५०. वेदानुवादेन स्त्रीवेदाः पुंवेदाश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। नपुंसकवेदा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। स्त्रीवेदा नपुंसकवेदाश्च सासादनसम्यग्दृष्टयादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः। पुंवेदाः सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यो[3]ऽनिवृत्तिबादरान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अपगतवेदा अनिवृत्तिबादरादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५१. कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्टयादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्त-

---

जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पंचेन्द्रियोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं।

§ ४८. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है। वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं। और त्रसकायिक जीवोंकी संख्या पंचेन्द्रियोंके[4] समान है।

§ ४९. योग मार्गणाके अनुवादसे मनोयोगी और वचनयोगी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। काययोगियोंमें मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। तीनों योगवालोंमें सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रमत्तसंयतसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तकके तीनों योगवाले जीव प्रत्येक गुणस्थानमें संख्यात हैं। अयोगकेवलियोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं।

§ ५०. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवाले और पुरुषवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। नपुंसकवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक स्त्रीवेदवाले और नपुंसकवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है। प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक स्त्रीवेदवाले और नपुंसक वेदवाले जीव संख्यात हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक पुरुषवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है। प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक पुरुषवेदवालोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है। अनिवृत्तिबादरसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक अपगतवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है।

§ ५१. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कसायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर

---

१. योगिषु मिथ्या–मु०। –योगेषु मिथ्या–दि० २। २. –नन्ताः। त्रियोगिनां सासा—मु०। ३. –दयो संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्ति–मु०, आ०, दि० १ दि० २। ४. वैसे तो त्रस कायिकोंकी संख्या पंचेन्द्रियोंकी संख्यासे अधिक है। पर असंख्यात सामान्यकी अपेक्षा यहाँ त्रसकायिकोंकी संख्याको पंचेन्द्रियोंकी संख्याके समान बतलाया है।

संख्याः। प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः। लोभकषायाणामुक्त एव क्रमः। अयं तु विशेषः सूक्ष्मसांपरायसंयताः सामान्योक्तसंख्याः। अकषाया उपशान्तकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५२. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः। विभङ्गज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। मतिश्रुतज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अवधिज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयताः[2] सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः संख्येयाः। मनःपर्ययज्ञानिनः प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः संख्येयाः। केवलज्ञानिनः सयोगा अयोगाश्च सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५३. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च संख्येयाः। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयता यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः संयतासंयता असंयताश्च सामान्योक्तसंख्याः।

संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंकी वही संख्या है जो [3]सामान्यसे कही है। प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक उक्त कषायवाले जीव संख्यात हैं। यही क्रम लोभकषायवाले जीवोंका जानना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि सूक्ष्मसाम्परायिक संयत जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही गयी है। उपशान्त कषायसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक कषाय रहित जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[4] है।

§ ५२. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[5] है। विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानी जीव पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवोंको संख्या सामान्यवत्[6] है। असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत अवधिज्ञानी जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[7] है। प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानमें अवधिज्ञानी जीव संख्यात हैं। प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानमें मनःपर्ययज्ञानी जीव संख्यात हैं। सयोगी और अयोगी केवलज्ञानियोंको संख्या सामान्यवत्[8] है।

§ ५३. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनासंयत जीवोंकी संख्या सामान्यवत् है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें परिहार-विशुद्धि संयत जीव संख्यात हैं। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत और असंयत जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[10] है।

---

१. –दृष्टयः सासा– ता०। २. –यतान्ताः सामा– –मु०, दि० १, दि० २, आ०। ३. यों तो जिस गुणस्थानवालोंकी संख्या बतलायी है वह क्रोध आदि चार भागोंमें बँट जाती है फिर भी सामान्यसे उस संख्याका अतिक्रम नहीं होता इसलिए क्रोध, मान, माया और लोभ कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवालोंकी संख्या ओघके समान बतलायी है। आगे भी जहाँ इस प्रकार संख्या बतलायी हो वहाँ यही क्रम जान लेना चाहिए। ४. संख्यात। ५. अनन्तानन्त। ६. जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है सामान्यसे उतनी संख्या है। ७. पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण। ८. संख्यात। ९. संख्यात। १०. सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत और यथाख्यात विहारशुद्धिसंयत जीव संख्यात हैं। तथा संयतासंयत जीव पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और असंयत जीव अनन्तानन्त हैं।

§ ५४. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। अचक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। उभये च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत् केवलदर्शनिनः केवलज्ञानिवत्।

§ ५५. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः। तेजःपद्मलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः स्त्रीवेदवत्। प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। अपूर्वकरणादयः सयोगकेवल्यन्ता अलेश्याश्च सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५६. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्यादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अभव्या अनन्ताः।

§ ५७. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। संयतासंयतादय उपशान्तकषायान्ताः संख्येयाः। चत्वारः क्षपकाः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च सामान्योक्तसंख्याः। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽप्रमत्तान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार औपशमिकाः सामान्योक्तसंख्याः। सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सामान्योक्तसंख्याः।

---

§ ५४. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं जो श्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। अचक्षुदर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उक्त दोनों दर्शनवाले जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[1] है। अवधिदर्शनवाले जीवोंकी संख्या अवधिज्ञानियोंके समान है। केवलदर्शनवाले जीवोंकी संख्या केवलज्ञानियों के समान है।

§ ५५. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवोंकी संख्या [2]सामान्यवत् है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक पीत और पद्मलेश्यावाले जीवोंकी संख्या [3]स्त्रीवेदके समान है। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीव संख्यात हैं। मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक शुक्ल लेश्यावाले जीव पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं। अपूर्वकरणसे लेकर सयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्[4] हैं। लेश्यारहित जीव सामान्यवत् हैं।

§ ५६. भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्[5] हैं। अभव्य अनन्त हैं।

§ ५७. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीव पल्यके असंख्यातवें भाग हैं। संयतासंयतसे लेकर उपशान्तकषाय तक जीव संख्यात हैं। चारों क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवली सामान्यवत् हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक सामान्यवत् हैं। औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत जीव पल्यके असंख्यातवें भाग हैं। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं। चारों उपशमक सामान्यवत् हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत् है।

---

१. जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है सामान्यसे उतनी संख्या उस गुणस्थानमें चक्षु और अचक्षु दर्शनवालोंकी है। २. मिथ्यात्वमें अनन्तानन्त और शेष गुणस्थानोंमें पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण। ३. असंख्यात जगश्रेणिप्रमाण। ४. जिस गुणस्थानवालों की जितनी संख्या है उतनी है। ५. जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है उतनी है। केवल मिथ्यात्वमें अभव्योंकी संख्या कम हो जाती है।

§ ५८. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्टयादयः क्षीणकषायान्ताश्चक्षुर्दर्शनिवत्। असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। तदुभयव्यपदेशरहिताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ ५९. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टयादयः सयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः। सयोगकेवलिनः संख्येयाः। अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः। संख्या निर्णीता।

§ ६०. क्षेत्रमुच्यते। तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद्-मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः। सासादनसम्यग्दृष्टयादीनामयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागोऽसंख्येया भागाः सर्वलोको वा।

§ ६१. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। देवगतौ देवानां सर्वेषां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः।

§ ६२. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोकः। विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः। पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवत्।

---

§ ५८. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक जीवोंकी संख्या चक्षुदर्शनवाले जीवोंके समान[2] है। असंज्ञी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं। संज्ञी और असंज्ञी संज्ञासे रहित जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[3] है।

§ ५९. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[4] है। अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[5] है। सयोगकेवली संख्यात हैं और अयोगकेवली जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[6] है। इस प्रकार संख्याका निर्णय किया।

§ ६०. अब क्षेत्रका विचार करते हैं। सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकार का है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टियोंका सब लोक क्षेत्र है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तक जीवोंका लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र है। सयोगकेवलियोंका लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण, लोकके असंख्यात बहुभाग प्रमाण और सब लोक क्षेत्र है।

§ ६१. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें नारकियोंका चार गुणस्थानोंमें लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। तिर्यंचगतिमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यंचोंका क्षेत्र सामान्यवत् है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंका सब लोक क्षेत्र है और शेष तिर्यंचोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्योंका क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग है। सयोगकेवलियोंका सामान्यवत् क्षेत्र है। देवगतिमें सब देवोंका चार गुणस्थानोंमें लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है।

§ ६२. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंका सब लोक क्षेत्र है। विकलेन्द्रियोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है और पंचेन्द्रियोंका मनुष्योंके समान क्षेत्र है।

---

१. –भागः। समुद्घातेऽसंख्येया वा भागाः सर्व–मु० न०। २. मिथ्यादृष्टि संज्ञी असंख्यात जगश्रेणिप्रमाण हैं। सासादन आदि संज्ञियोंकी संख्या जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है उतनी है। ३. संख्यात। ४. मिथ्यादृष्टि आहारक अनन्तानन्त हैं। सासादनसे लेकर संयतासंयत तकके आहारक पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। शेष संख्यात हैं। ५. मिथ्यादृष्टि अनाहारक अनन्तानन्त हैं। तथा सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि अनाहारक पल्यके असंख्यातवें भाग हैं। ६. संख्यात।

§ ६३. कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तानां सर्वलोकः । त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ ६४. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामयोगकेवलिनां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ ६५. वेदानुवादेन [1]स्त्रीपुंवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । नपुंसकवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ ६६. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां [2]लोभकषायाणां च मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सूक्ष्मसांपरायाणामकषायाणां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ ६७. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिनामसंयतसम्यग्दृष्टयादीनां[3] क्षीणकषायान्तानां मनःपर्ययज्ञानिनां च प्रमत्तादीनां क्षीणकषायान्तानां केवलज्ञानिनां सयोगानामयोगानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ ६८. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतानां चतुर्णां परिहारविशुद्धिसंयतानां प्रमत्ताप्रमत्तानां सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतानां यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतानां चतुर्णां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

---

§ ६३. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पतिकाय तकके जीवोंका सब लोक क्षेत्र है । त्रसकायिकोंका पंचेन्द्रियोंके समान क्षेत्र है ।

§ ६४. योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले वचन योगी और मनोयोगी जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले काययोगी जीवोंका और अयोगकेवली जीवोंका सामान्यवत् क्षेत्र है ।

§ ६५. वेदमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति बादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले नपुंसकवेदी जीवोंका और अपगतवेदियों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।

§ ६६. कषायमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्रोध,मान, माया व लोभ कषायवाले, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोंका सामान्यवत् क्षेत्र है ।

§ ६७. ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानियोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंका, प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनःपर्ययज्ञानी जीवोंका तथा सयोग और अयोग गुणस्थानवाले केवलज्ञानी जीवोंका क्षेत्र सामान्योक्त है ।

§ ६८. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तादि चार गुणस्थानवाले सामायिक और छेदोपस्थापनासंयत जीवोंका, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवाले परिहारविशुद्धिसंयत जीवोंका, सूक्ष्मसाम्परायिक संयत जीवोंका, उपशान्त मोह आदि चार गुणस्थानवाले यथाख्यातसंयत जीवोंका और संयतासंयत तथा चार गुणस्थानवाले असंयत जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

---

१. स्त्रीपुंसवेदा–ता० । २. –मायालोभ–आ०, दि० २ । मायानां लोभ–दि० १ । ३. –दीनां मनःप–आ० ।

§ ६९. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत्। केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत्।

§ ७०. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां मिथ्यादृष्टयाद्यसंयतसम्यग्दृष्टयन्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। तेजःपद्मलेश्यानां मिथ्यादृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। संयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

§ ७१. भव्यानुवादेन भव्यानां चतुर्दशानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। अभव्यानां सर्वलोकः।

§ ७२. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टयाद्ययोगकेवल्यन्तानां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टयाद्युपशान्तकषायान्तानां सासादनसम्यग्दृष्टीनां सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

§ ७३. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत्। असंज्ञिनां सर्वलोकः। तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

§ ७४. आहारानुवादेन आहारकाणां मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः। अनाहारकाणां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टय-

---

§ ६९. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानमें चक्षुदर्शनवाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले अचक्षुदर्शनवाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है। तथा अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान और केवलदर्शनवालोंका केवलज्ञानियोंके समान क्षेत्र है।

§ ७०. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक प्रत्येक गुणस्थानवाले कृष्ण, नील और कपोत लेश्यावाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीवोंके लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले शुक्ललेश्यावाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है तथा शुक्ललेश्यावाले सयोगकेवलियोंका और लेश्या रहित जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है।

§ ७१. भव्य मार्गणाके अनुवादसे चौदह गुणस्थानवाले भव्य जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है। अभव्योंका सब लोक क्षेत्र है।

§ ७२. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे असयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंका, असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंका, असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर उपशान्तकषाय गुणस्थानतक प्रत्येक गुणस्थानवाले औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंका सामान्योक्त क्षेत्र है।

§ ७३. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका चक्षुदर्शनवाले जीवोंके समान, असंज्ञियोंका सब लोक और संज्ञी-असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है।

§ ७४. आहार मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आहारकोंका सामान्योक्त क्षेत्र है। सयोगकेवलियोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है।

संयतसम्यग्दृष्ट्यचयोगकेवलिनां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येया[1] भागाः सर्वलोको वा। क्षेत्रनिर्णयः कृतः।

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और अयोगकेवली अनाहारक जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है। तथा सयोगकेवली अनाहारकोंका लोकका असंख्यात बहुभाग और सब लोक क्षेत्र है।

विशेषार्थ—क्षेत्रप्ररूपणामें केवल वर्तमान कालीन आवासका विचार किया जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव सब लोकमें पाये जाते हैं इसलिए उनका सब लोक क्षेत्र बतलाया है। अन्य गुणस्थानवाले जीव केवल लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र में ही पाये जाते हैं इसलिए इनका लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र बतलाया है। केवल सयोगिकेवली इसके अपवाद हैं। यों तो स्वस्थानगत सयोगिकेवलियोंका क्षेत्र भी लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है फिर भी जो सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं उनका क्षेत्र तीन प्रकारका प्राप्त होता है। दण्ड और कपाटरूप समुद्घातके समय लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण, प्रतररूप समुद्घातके समय लोकका असंख्यात बहुभाग और लोकपूरक समुद्घातके समय सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है इसलिए इनके क्षेत्रका निर्देश तीन प्रकारसे किया जाता है। गति आदि मार्गणाओंके क्षेत्रका विचार करते समय इसी दृष्टिको सामने रखकर विचार करना चाहिए। साधारणतया कहाँ कितना क्षेत्र है इसका विवेक इन बातोंसे किया जा सकता है—१. मिथ्यादृष्टियोंमें एकेन्द्रियोंका ही सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है। शेषका नहीं। इनके कुछ ऐसे अवान्तर भेद हैं जिनका सब लोक क्षेत्र नहीं प्राप्त होता पर वे यहाँ विवक्षित नहीं। इस हिसाबसे जो-जो मार्गणा एकेन्द्रियोंके सम्भव हो उन सबके सब लोक क्षेत्र जानना चाहिए। उदाहरणार्थ—गति मार्गणामें तिर्यंचगति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रिय मार्गणा, काय-मार्गणामें पृथिवी आदि पाँच स्थावर काय मार्गणा, योग मार्गणामें काययोग मार्गणा, वेदमार्गणामें नपुंसक वेदमार्गणा, कषाय मार्गणामें क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय मार्गणा, ज्ञान मार्गणामें मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान मार्गणा, संयम मार्गणामें असंयत संयम मार्गणा, दर्शनमार्गणामें अचक्षुदर्शन मार्गणा, लेश्या मार्गणामें कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मार्गणा, भव्य मार्गणामें भव्य और अभव्य मार्गणा, सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व मार्गणा, संज्ञा मार्गणामें संज्ञी असंज्ञी मार्गणा, तथा आहार मार्गणामें आहार और अनाहार मार्गणा इनका सब लोक क्षेत्र है। २. सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके जीवोंका और अयोगकेवलियोंका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है। ३. दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रियोंमें असंज्ञियोंका क्षेत्र भी लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। ४. संज्ञियोंमें समुद्घातगत सयोगिकेवलियोंके सिवा शेष सबका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण है। इन नियमोंके अनुसार जो मार्गणाएँ सयोगिकेवलीके समुद्घातके समय सम्भव हैं उनमें भी सब लोक क्षेत्र बन जाता है। शेषके लोकका असंख्यातवाँ भाग प्रमाण ही क्षेत्र जानना चाहिए। सयोगिकेवलीके लोकपूरण समुद्घातके समय मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, काययोग, अपगतवेद, अकषाय, केवलज्ञान, यथाख्यात संयम, केवल दर्शन, शुक्ल लेश्या, भव्यत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, न संज्ञी न असंज्ञी और अनाहार ये मार्गणाएँ पायी जाती हैं इसलिए लोकपूरण समुद्घातके समय इन मार्गणाओंका क्षेत्र भी सब लोक जानना चाहिए। केवलीके प्रतर समुद्घातके समय लोकका असंख्यात बहुभाग प्रमाण क्षेत्र पाया जाता है। इसलिए इस समय जो मार्गणाएँ सम्भव हों उनका क्षेत्र भी लोकका असंख्यात बहुभाग प्रमाण बन जाता है। उदाहरणके लिए

---

१. -स्यासंख्येयभागः मु०, दि० १, दि० २।

§ ७५. स्पर्शनमुच्यते। तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावन्मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ भागा वा चतुर्दशभागा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्तसंयतादीनामयोगकेवल्यन्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम्।

§ ७६. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकैश्चतुर्गुणस्थानैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। द्वितीयादिषु प्राक्सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एको द्वौ त्रयः चत्वारः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। सप्तम्यां पृथिव्यां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा

लोक पूरण समुद्घातके समय जो मार्गणाएँ गिनायी हैं वे सब यहाँ भी जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएँ ऐसी हैं जिनका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही प्राप्त होता है। लोक पूरण और प्रतर समुद्घातके समय प्राप्त होनेवाली जो मार्गणाएँ गिनायी हैं उनमें-से काययोग भव्यत्व और अनाहार इन तीनको छोड़कर शेष सब मार्गणाएँ भी ऐसी हैं जिनका भी क्षेत्र उक्त अवस्थाके सिवा अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षेत्रका निर्णय किया।

§ ७५. अब स्पर्शनका कथन करते हैं वह दो प्रकारका है सामान्य और विशेष। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [1]आठ भाग और कुछ कम [2]बारह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों व असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भागका और त्रसनालीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [3]आठ भागका स्पर्श किया है। संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भागका और त्रसनालीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह [4]भागका स्पर्श किया है। तथा प्रमत्तसंयतोंसे लेकर अयोग केवली गुणस्थान तकके जीवोंका स्पर्श क्षेत्रके समान है।

§ ७६. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें पहली पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानवाले नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। दूसरीसे लेकर छठी पृथिवी तकके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और क्रमसे लोक नाड़ीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम एक राजु, कुछ कम दो राजु, कुछ कम तीन राजु, कुछ कम चार राजु और कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सातवीं पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके

---

१. मेरुपर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। २. मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ३. मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। असंयत सम्यग्दृष्टियोंके मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा भी यह स्पर्शन बन जाता है। ४. ऊपर अच्युत कल्पतक छह राजु। इसमें-से चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोंके ऊपरका भाग छोड़ देना चाहिए। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है।

देशोनाः। शेषैस्त्रिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। असंयतसम्यग्दृष्टि[1]संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। मनुष्यगतौ मनुष्यैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टचादीनामयोगकेवल्यन्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम्। देवगतौ देवैर्मिथ्यादृष्टि[2]सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः।

§ ७७. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियैः सर्वलोकः स्पृष्टः। विकलेन्द्रियैर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्व-

---

चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह राजू क्षेत्रका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि आदि शेष तीन गुणस्थानवाले उक्त नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। तिर्यंचगतिमें मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यंचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [3]सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत तिर्यंचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह [4]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टि मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [5]सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तकके मनुष्योंका स्पर्श क्षेत्रके समान है। देवगतिमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [6]आठ भाग और कुछ कम नौ [7]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि देवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाड़ीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [8]आठ भागक्षेत्रका स्पर्श किया है।

§ ७७. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंने सब लोकका स्पर्श किया है। विकलेन्द्रियोंने

---

१. –दृष्टिभिः संयता–मु० ता०, न०। २.–दृष्टिभिः सासा–ता०। ३. मेरुपर्वतके मूलसे ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। यद्यपि तिर्यंच सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरु पर्वतके मूलसे नीचे भवन-वासियोंमें मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं तथापि इतने मात्रसे स्पर्शन क्षेत्र सात राजुसे अधिक न होकर कम ही रहता है। ऐसे जीव मेरुपर्वतके मूलसे नीचे एकेन्द्रियोंमें व नारकियोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ४. ऊपर अच्युत कल्प तक छह राजु। इसमें-से चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोंके ऊपरका भाग छोड़ देना चाहिए। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ५. भवनवासी लोकसे लेकर ऊपर लोकाग्र तक। इसमें-से अगम्यप्रदेश छूट जानेसे कुछ कम सात राजु स्पर्श रह जाता है। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ६. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ७. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ८. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है।

लोको वा। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा। शेषाणां सामान्योक्तं स्पर्शनम्।

§ ७८. कायानुवादेन स्थावरकायिकैः सर्वलोकः स्पृष्टः त्रसकायिनां पञ्चेन्द्रियवत् स्पर्शनम्।

§ ७९. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां क्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम्। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः। काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादीनां सयोगकेवल्यन्तानामयोगकेवलिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम्।

§ ८०. वेदानुवादेन [1]स्त्रीपुंवेदैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः [2]अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको[3] वा। सासादनसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतु-

---

लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और [4]सब लोकका स्पर्श किया है। पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [5]आठ भाग क्षेत्रका और [6]सब लोकका स्पर्श किया है। शेष गुणस्थानवाले तिर्यंचोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ ७८. काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिक जीवोंने सब लोकका स्पर्श किया है। त्रसकायिकोंका स्पर्श पंचेन्द्रियोंके समान है।

§ ७९. योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [7]आठ भाग क्षेत्रका और [8]सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके गुणस्थानवालोंका स्पर्श ओघके समान है। और सयोगकेवली जीवोंका स्पर्श लोकका[9] असंख्यातवाँ भाग है। तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तकके काययोगवालोंका और अयोगकेवली जीवोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ ८०. वेद मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [10]आठ भाग और सब लोक क्षेत्रका स्पर्श किया है। सासादन सम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [11]आठ भाग और कुछ कम नौ [12]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है।

---

१. स्त्रीपुंसवे–ता०। २. अष्टौ नव चतु–मु०। ३. –लोको वा। नपुंसकवेदेषु मु०। ४. विकलेन्द्रियोंका सब लोक स्पर्श मारणान्तिक ,और उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ५. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ६. सब लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपादकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ७. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ८. सब लोक स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ९. समुद्घातके कालमें मनोयोग और वचनयोग नहीं होता, इससे वचनयोगी और मनोयोगी सयोगी केवलियोंका स्पर्शन लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है। १०. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। सब लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ११. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। १२. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। यहाँ उपपाद पदकी अपेक्षा ग्यारह घनराजु स्पर्शन प्राप्त होता है। किन्तु उपपादपदको विवक्षा नहीं होनेसे उसका उल्लेख नहीं किया है। यह स्पर्शन मेरुतलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर छह राजु इस प्रकार प्राप्त होता है।

र्दशभागा वा देशोनाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टीनां सासादनसम्यग्दृष्टीनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् । [1]सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्ताद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ ८१. कषायानुवादेन चतुष्कषायाणामकषायाणां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ ८२. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा । सासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां स मान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ ८३. संयमानुवादेन संयतानां सर्वेषां संयतासंयत नामसंयतानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके जीवोंका स्पर्श ओघके समान है । नपुंसकवेदियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श [2]ओघके समान है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भागका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [3]छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । तथा प्रमत्तसंयतोंसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ ८१. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधादि चारों कषायवाले और कषायरहित जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ ८२. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्श ओघके समान है । विभंगज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग, लोकनाड़ीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ[4] भाग और सर्व लोक[5] है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है । आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ ८३. संयम मार्गणाके अनुवादसे सब संयतोंका, संयतासयतोंका और असंयतोंका स्पर्श ओघके समान है ।

---

१. सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयतसम्य– मु० । २. यहाँ नपुंसकवेदी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन ओघके समान बतलाया है । सो यह सामान्य निर्देश है । विशेषकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि नपुंसकवेदियोंने वैक्रियिक पदकी अपेक्षा पाँच घनराजु क्षेत्रका स्पर्श किया है, क्योंकि वायुकायिक जीव इतने क्षेत्रमें विक्रिया करते हुए पाये जाते हैं । नपुंसकवेदी सासादन सम्यग्दृष्टियोंने स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शन किया है । उपपादपदकी अपेक्षा कुछ कम ग्यारह बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । मारणान्तिक पदकी अपेक्षा कुछ कम बारह बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । शेष कथन ओघके समान है । ३. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । ४. यह स्पर्श विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि नीचे दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमें गमनागमन देखा जाता है । ५. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि ये जीव सब लोकमें मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं ।

§ ८४. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां पञ्चेन्द्रियवत्। अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानामधिकेवलदर्शनिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम्।

§ ८५. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः पञ्च चत्वारो द्वौ चतुर्दशभागा वा[1] देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। तेजोलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः अध्यर्धचतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः। पद्मलेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः। अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः

---

§ ८४. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके चक्षुदर्शनवाले जीवोंका स्पर्श पंचेन्द्रियोंके समान है। मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके अचक्षुदर्शनवाले जीवोंका तथा अवधिदर्शनवाले और केवल दर्शनवाले जीवोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ ८५. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से क्रमशः कुछ कम पाँच[2] भाग, कुछ कम चार भाग और कुछ कम दो भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। पीतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडोके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ[3] भाग और कुछ कम नौ भाग[4] क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ[5] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम डेढ़[6] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टियों तकके पद्मलेश्यावाले जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ[7] भाग क्षेत्रका

---

१. वा देशोनाः। द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव। अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ताः। सम्यङ्मिथ्या–मु०, आ०, दि० १। २. यह स्पर्श मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा बतलाया है। कृष्ण लेश्यावालेके कुछ कम पाँच राजु, नील लेश्यावालेके कुछ कम चार राजु और कापोत लेश्यावालेके कुछ कम दो राजु यह स्पर्श होता है। जो नारकी तिर्यंच सासादन सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होते हैं उन्हींके यह स्पर्श सम्भव है। ३. यह स्पर्शन विहार, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि पीतलेश्यावाले सासादनोंका नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमें गमनागमन देखा जाता है। ४. यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है क्योंकि ऐसे जीव तीसरी पृथिवीसे ऊपर कुछ कम नौ राजु क्षेत्रमें मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं। उपपाद पदकी अपेक्षा इनका स्पर्श कुछ कम डेढ़ राजु होता है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए। ५. यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। युक्तिका निर्देश पहले किया ही है। इतनी विशेषता है कि मिश्र गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता। ६. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। इनके उपपाद पद नहीं होता। ७. यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। इनके उपपाद पदकी अपेक्षा स्पर्श कुछ कम पाँच राजु होता है। इतनी विशेषता है कि मिश्र गुणस्थानमें मारणान्तिक और उपपाद पद नहीं होता।

पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः। शुक्ललेश्यैर्मिथ्यादृष्टयादिसंयतासंयतान्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्तादिसयोगकेवल्यन्तानां अलेश्यानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम्।

§ ८६. भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्टयाद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम्। अभव्यैः सर्वलोकः स्पृष्टः।

§ ८७. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टयाद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तम्। किंतु संयतासंयतानां लोकस्यासंख्येयभागः। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम्। औपशमिकसम्यक्त्वानामसंयतसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम्। शेषाणां लोकस्यासंख्येयभागः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तम्।

§ ८८. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत्। असंज्ञिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तम्।

§ ८९. आहारानुवादेन आहारकाणां मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तम्।

स्पर्श किया है। संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम[1] पाँच भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। तथा प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर संयतासंयतों तकके शुक्ललेश्यावाले जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह[2] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। प्रमत्तसंयत आदि सयोगकेवली तकके शुक्ललेश्यावालोंका और लेश्यारहित जीवोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ ८६. भव्य मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तकके भव्योंका स्पर्श ओघके समान है। अभव्योंने सब लोकका स्पर्श किया है।

§ ८७. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे असंयतसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तकके क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है। किन्तु संयतासंयतोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है। असंयतसम्यग्दृष्टि औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है। तथा शेष औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है। सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंका स्पर्श सामान्योक्त है।

§ ८८. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका स्पर्श चक्षुदर्शनवाले जीवोंके समान है। असंज्ञियोंने सब लोकका स्पर्श किया है। और इन दोनों व्यवहारोंसे रहित जीवोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ ८९. आहार मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके आहारकोंका

---

१. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि पद्म लेश्यावाले संयतासंयत ऊपर कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रमें मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं। २. विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदोंकी अपेक्षा यह स्पर्शन प्राप्त होता है। सो भी मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोंकी अपेक्षा यह कथन किया है। संयतासंयत शुक्ल लेश्यावालोंके तो विहार, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदोंकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही स्पर्शन प्राप्त होता है। उपपादपदकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि शुक्ल लेश्यावालोंका स्पर्शन लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। अविरतसम्यग्दृष्टि शुक्ललेश्यावालोंका स्पर्श कुछ कम छह राजु है। संयतासंयतोंके उपपादपद नहीं होता। फिर भी इनके मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा कुछ कम छह राजु स्पर्श बन जाता है।

सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एकादश चतुर्दशभागा वा देशोनाः। असंयतसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दश भागा वा देशोनाः। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागाः सर्वलोको वा। अयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः। स्पर्शनं व्याख्यातम्।

§ ९०. कालः प्रस्तूयते। स द्विविधः सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवापेक्षया त्रयो भङ्गाः। अनादिरपर्यवसानः अनादिः सपर्यवसानः सादिः सपर्यवसानश्चेति। तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्त्तो देशोनः। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षडावलिकाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया। जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्यः उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः[1]। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। संयतासंयतस्य नानाजीवा-

---

स्पर्श ओघके समान है। तथा सयोगकेवलियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है। अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम ग्यारह[2] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह[3] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सयोगकेवलियोंने लोकके असंख्यात बहु भाग क्षेत्रका और सब लोकका स्पर्श किया है। तथा अयोगकेवलियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। इस प्रकार स्पर्शनका व्याख्यान किया।

§ ९०. अब कालका कथन करते हैं। सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकारका है। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं। एक जीवकी अपेक्षा तीन भंग हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें-से सादि-सान्त मिथ्यादृष्टिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है। सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवलि है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस[4] सागर है। संयतासंयतका

---

१. –हूर्तः। तिण्णि सहस्सा सत्त य सदाणि तेहत्तरिं च उस्सासा। एसो हवइ मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाणं॥' उत्क– मु०। २. मेरु तलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्श उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। ३. अच्युत कल्प तक ऊपर कुछ कम छह राजु। तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मर कर अच्युत कल्प तक उत्पन्न होते हैं इसलिए उपपाद पदकी अपेक्षा यह स्पर्श बन जाता है। ४. जो उपशम श्रेणिवाला जीव मर कर एक समय कम तेतीस सागरकी आयु लेकर अनुत्तर विमानमें पैदा होता है। फिर पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्योंमें पैदा होकर जीवनभर असंयमके साथ रहा है। केवल जीवनमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर संयमको प्राप्त होकर सिद्ध होता है। उसके असंयत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है। यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक एक समय कम तेतीस सागर है।

पेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः। चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः। सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना।

§ ९१. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकेषु सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण यथासंख्यं एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण उक्त एवोत्कृष्टो देशोनः।

§ ९२. तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टीनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि।

नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक [1]पूर्वकोटि है। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय[2] और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चारों उपशमकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय[3] है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चारों क्षपक और अयोगकेवलियोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सयोगकेवलियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटि है।

§ ९१. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें नारकियोंमें सातों पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओघके समान है। असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ[4] कम अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है।

§ ९२. तिर्यंचगतिमें मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंका नानाजीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जो असंख्यात[5] पुद्गल परिवर्तनप्रमाण है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत तिर्यंचोंका सामान्योक्ति काल है। असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल

---

१. पूर्वकोटिकी आयु वाला जो सम्मूर्छिम तिर्यंच उत्पन्न होनेके अन्तर्मुहूर्त बाद वेदक सम्यक्त्वके साथ संयमासंयमको प्राप्त करता है संयमासंयमका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है। यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि है। २. जघन्य काल एक समय मरणकी अपेक्षाबतलाया है। ३. जघन्य काल एक समय मरणकी अपेक्षा बतलाया है। ४. अन्तमुहूर्त कम। इतनी विशेषता है कि प्रारम्भके छह नरकोंमें मिथ्यात्वके साथ उत्पन्न करावे फिर अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्वको उत्पन्न कराकर जीवन-भर सम्यक्त्वके साथ रखकर उत्कृष्ट काल प्राप्त करे। परन्तु सातवें नरकमें प्रवेश और निर्गम दोनों ही मिथ्यात्वके साथ करावे। ५. यहाँ असंख्यातसे आवलिका असंख्यातवाँ भाग लिया गया है।

§ ९३. मनुष्यगतौ मनुष्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकानि । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षडावलिकाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्योक्तः कालः ।

§ ९४. देवगतौ देवेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि । सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।

§ ९५. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण संख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चे-

---

अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तीन पल्य हैं ।

§ ९३. मनुष्यगतिमें मनुष्योंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि [1]पृथक्त्वसे अधिक तीन पल्य है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवली है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और[2] उत्कृष्ट काल साधिक तीन पल्य है । तथा संयतासंयत आदि शेषका काल ओघके समान है ।

§ ९४. देवगतिमें देवोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल इकतीस सागर है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओघके समान है । असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है ।

§ ९५. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । विकलेन्द्रियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण है और उत्कृष्ट काल संख्यात[3] हजार वर्ष है । पंचेन्द्रियों-

---

१. यहाँ पूर्वकोटि पृथक्त्वसे सैंतालीस पूर्वकोटियोंका ग्रहण किया है । यद्यपि पृथक्त्व यह तीनसे ऊपर और नौसे नीचेकी संख्याका द्योतक है तथापि यहाँ बाहुल्यकी अपेक्षा पृथक्त्व पदसे सैंतालीसका ग्रहण किया है । २. यहाँ साधिक पदसे कुछ कम पूर्वकोटिका त्रिभाग लिया गया है । उदाहरणार्थ—एक पूर्वकोटिके आयुवाले जिस मनुष्यने त्रिभागमें मनुष्यायुका बन्ध किया । फिर अन्तर्मुहूर्तमें सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिकसम्यग्दर्शनको प्राप्त किया और आयुके अन्तमें मरकर तीन पल्यकी आयुके साथ उत्तम भोगभूमिमें पैदा हुआ उसके अविरत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है । ३. लगातार दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय या चौइन्द्रिय होनेका उत्कृष्ट काल संख्यात हजार वर्ष है । इसलिए इनका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा है ।

न्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। शेषाणां सामान्योक्तः कालः।

§ ९६. कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणासंख्येया[1] लोकाः। वनस्पतिकायिकानामेकेन्द्रियवत्। त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके। शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत्।

§ ९७. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। चतुर्णामुपशमकानां क्षपकाणां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। काययोगिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। शेषाणां मनोयोगिवत्। अयोगानां सामान्यवत्।

में मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि पृथक्त्वसे अधिक हजार सागर है। तथा शेष गुणस्थानोंका काल ओघके समान है।

§ ९६. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट काल असंख्यात लोक प्रमाण है। वनस्पतिकायिकोंका एकेन्द्रियोंके समान काल है। त्रसकायिकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागर है। इनके शेष गुणस्थानोंका काल पंचेन्द्रियोंके समान है।

§ ९७. योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक [2]समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक [3]समय है और उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चारों उपशमक और चारों क्षपकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक [4]समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। काययोगियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है।

१. –ख्येयः कालः। वन-मु०। २. मनोयोग, वचनयोग और काययोगका जघन्य काल एक समय योगपरावृत्ति, गुणपरावृत्ति, मरण और व्याघात इस तरह चार प्रकारसे बन जाता है। इनमें-से मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत यहाँ पर चारों प्रकार सम्भव हैं। अप्रमत्तसंयतके व्याघातके बिना तीन प्रकार सम्भव हैं, क्योंकि व्याघात और अप्रमत्तभावका परस्परमें विरोध है और सयोगिकेवलीके एक योगपरावृत्तिसे ही जघन्य काल एक समय प्राप्त होना सम्भव है। ३. मरणके बिना शेष तीन प्रकारसे यहाँ जघन्य काल एक समय घटित कर लेना चाहिए। ४. उपशमकोंके व्याघातके बिना तीन प्रकारसे और क्षपकोंके मरण और व्याघातके बिना दो प्रकारसे जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है।

§ ९८. वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम्। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः। किं तु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि। पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम्। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः। नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्यवत्। किं त्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। अपगतवेदानां सामान्यवत्।

§ ९९. कषायानुवादेन चतुष्कषायाणां मिथ्यादृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां मनोयोगिवत्। द्वयोरुपशमकयोर्द्वयोः क्षपकयोः केवललोभस्य च अकषायाणां च सामान्योक्तः कालः।

§ १००. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयोः सामान्यवत्। विभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः। आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्योक्तः।

शेषका काल मनोयोगियोंके समान है। तथा योगरहित जीवोंका काल ओघके समान है।

§ ९८. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ पल्यपृथक्त्व है। सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। किन्तु असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम [1]पचपन पल्य है। पुरुषवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ [2]सागर पृथक्त्व है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। नपुंसकवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट [3]अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस [4]सागर है। तथा वेदरहित जीवोंका काल ओघके समान है।

§ ९९. कषाय मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक चारों कषायोंका काल मनोयोगियोंके समान है। तथा दोनों उपशमक, दोनों क्षपक, केवल लोभवाले और कषाय रहित जीवोंका सामान्योक्त काल है।

§ १००. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टिका काल ओघके समान है। विभंगज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस

---

१. देवीकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य है। इसमें-से प्रारम्भका अन्तर्मुहूर्त काल कम कर देनेपर स्त्रीवेदमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम पचपन पल्य प्राप्त हो जाता है। २. तीन सौ सागरसे ऊपर और नौ सौ सागरके नीचे। ३. यह सादि सान्त कालका निर्देश है। ४. सातवें नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टिका जो उत्कृष्ट काल है वही यहाँ नपुंसक वेदमें असंयत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कहा है।

§ १०१. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातशुद्धिसंयतानां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तः कालः ।

§ १०२. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां क्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तः कालः । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तः कालः । अवधिकेवलदर्शनिनोरवधिकेवलज्ञानिवत् ।

§ १०३. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देशोनानि । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । शुक्ललेश्यानां

---

[1]सागर है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है । आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंका सामान्योक्त काल है ।

§ १०१. संयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसाम्परायसंयत, यथाख्यातशुद्धिसंयत, संयतासंयत और चारों असंयतोंका सामान्योक्त काल है ।

§ १०२. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल दो हजार सागर है । तथा सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अचक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंका काल अवधिज्ञानी और केवलज्ञानियोंके समान है ।

§ १०३. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः [2]साधिक तेतीस सागर, साधिक सत्रह सागर और साधिक सात सागर है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल क्रमशः कुछ कम तेतीस सागर, कुछ कम सत्रह सागर और कुछ कम सात सागर है । पीत और पद्मलेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा

---

१. मिथ्यादृष्टि नारकी या देवके उत्पन्न होनेके बाद पर्याप्त होने पर ही विभंगज्ञान प्राप्त होता है । इसीसे यहाँ एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिके विभंगज्ञानका उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागर कहा है ।

२. जो जिस लेश्यासे नरकमें उत्पन्न होता है उसके मरते समय अन्तर्मुहूर्त पहले वही लेश्या आ जाती है । इसी प्रकार नरकसे निकलनेपर भी अन्तर्मुहूर्त तक वही लेश्या रहती है । इसीसे यहाँ मिथ्यादृष्टिके कृष्ण, नील और कापोत लेश्याका उत्कृष्ट काल क्रमसे साधिक तेतीस सागर, साधिक सत्रह सागर और साधिक सात सागर बतलाया है ।

मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामलेश्यानां च सामान्योक्तः कालः। किं तु संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः।

§ १०४. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवापेक्षया द्वौ भङ्गौ-अनादिः सपर्यवसानः सादिः सपर्यवसानश्च। तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः। सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः। अभव्यानामनादिरपर्यवसानः।

§ १०५. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्णां सामान्योक्तः कालः। औपशमिकसम्यक्त्वेषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः। प्रमत्ताप्रमत्तयोश्चतुर्णामुपशमकानां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तः कालः।

जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक[1] दो सागर और साधिक[2] अठारह सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल[3] एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। शुक्ल लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक इकतीस सागर है। सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येकका और लेश्यारहित जीवोंका सामान्योक्त काल है। किन्तु संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

§ १०४. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा दो भंग हैं अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमेंसे सादि-सान्त भंगकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपद्गल परिवर्तन है। सासादन-सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। अभव्योंका अनादि-अनन्त काल है।

§ १०५. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। चारों क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंका सामान्योक्त काल है। औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और चारों उपशमकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है।

---

१. मिथ्यादृष्टिके पल्यका असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर या अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागर और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागर। २. मिथ्यादृष्टिके पल्यका असंख्यातवाँ भाग अधिक अठारह सागर और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम साढ़े अठारह सागर। ३. लेश्यापरावृत्ति और गुणपरावृत्तिसे जघन्य काल एक समय प्राप्त हो जाता है।

§ १०६. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां पुंवेदवत्। शेषाणां सामान्योक्तः। [1]असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। [2]उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तः।

§ १०७. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागः असंख्येया[3]संख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। शेषाणां सामान्योक्तः कालः। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण त्रयः समयाः। सासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणावलिकाया असंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण द्वौ समयौ। सयोगकेवलिनो नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः। उत्कर्षेण संख्येयाः समयाः। एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्च त्रयः समयाः। अयोगकेवलिनां सामान्योक्तः कालः। कालो वर्णितः।

§ १०८. अन्तरं निरूप्यते। विवक्षितस्य गुणस्य गुणान्तरसंक्रमे सति पुनस्तत्प्राप्तेः प्राङ्मध्यमन्तरम्। तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी देशोने सागरोपमा-

§ १०६. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका काल पुरुषवेदियोंके समान है। तथा शेष गुणस्थानोंका सामान्योक्त काल है। असंज्ञियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका सामान्योक्त काल है।

§ १०७. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है। शेष गुणस्थानोंका सामान्योक्त काल है। अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय है। सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल दो समय है। सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है। अयोगकेवलियोंका सामान्योक्त काल है। इस प्रकार कालका वर्णन किया।

§ १०८. अब अन्तरका निरूपण करते हैं। जब विवक्षित गुण गुणान्तररूपसे संक्रमित हो जाता है और पुनः उसकी प्राप्ति होती है तो मध्यके कालको अन्तर कहते हैं। वह सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका है। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम [4]एकसौ

१. –ज्ञिनां मिथ्यादृष्टेर्नाना मु०। २. ग्रहणम्। तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठी सहस्साणि मरणाणि। अन्तोमुहुत्तमेत्ते तावदिया चेव होंति खुद्दभवा। ६६३३६। उत्क—मु०। ३. —ख्येयाः संख्य—मु०। ४. यदि दर्शन मोहनीयका क्षपणा काल सम्मिलित न किया जाय तो वेदक सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर प्राप्त होता है। साथ ही यह भी नियम है कि ऐसा जीव मध्यमें अन्तर्मुहूर्तके लिए मिश्र गुणस्थानमें जाकर पुनः अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रह सकता है। इसके बाद वह या तो मिथ्यात्वमें चला जाता है या दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करने लगता है। यहाँ मिथ्यात्वका

णाम् । सासादनसम्यग्दृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः । उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया सासादनवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां च नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षण्मासाः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ १०९. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकाणां सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्या-

---

बत्तीस सागर है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक[1] समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ[2] भाग और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंको अपेक्षा अन्तर सासादनसम्यग्दृष्टियोंके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है । असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर [3]अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है । चारों क्षपक और अयोगकेवलियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सयोगकेवलियोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ १०९. विशेषकी अपेक्षा गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें सातों पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंको अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम एक सागर, कुछ कम तीन सागर, कुछ कम सात सागर, कुछ कम दस सागर, कुछ कम सत्रह सागर, कुछ कम बाईस

उत्कृष्ट अन्तर लाना है इसलिए मिथ्यात्वसे लाकर अन्तमें पुनः मिथ्यात्वमें ही ले जाना चाहिए । इससे मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागर प्राप्त हो जाता है ।

१. यदि सासादन सम्यग्दृष्टि न हों तो वे कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक नहीं होते इसीसे इनका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है । २. सासादन गुणस्थान उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होने पर ही प्राप्त हो सकता है । किन्तु एक जीव कमसे कम पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालके जाने पर ही दूसरी बार उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो सकता है । इसीसे यहाँ सासादन सम्यग्दृष्टिका जघन्य अन्तरकाल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है । ३. एक जीव उपशम श्रेणिसे च्युत होकर पुनः अन्तर्मुहूर्तके बाद उपशम श्रेणिपर चढ़ सकता है इसलिए चारों उपशामकोंका एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त बतलाया है ।

दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि।

§ ११०. तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टयादीनां चतुर्णां सामान्योक्तमन्तरम्।

§ १११. मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्टेस्तिर्यग्वत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्।

सागर और कुछ कम तेतीस[1] सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर सातों नरकोंमें क्रमशः कुछ कम एक सागर, कुछ कम तीन सागर, कुछ कम सात सागर, कुछ कम दस सागर, कुछ कम सत्रह सागर, कुछ कम बाईस सागर और कुछ कम तेतीस [2]सागर है।

§ ११०. तिर्यंचगतिमें तिर्यंचोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तीन [3]पल्य है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टि आदि चारोंका सामान्योक्त अन्तर है।

§ १११. मनुष्य गतिमें मनुष्योंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर तिर्यंचोंके [4]समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन [5]पल्य है। असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

---

१. जिस नरककी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसके प्रारम्भ और अन्तमें अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्वके साथ रखकर मध्यमें सम्यक्त्वके साथ रखनेसे उस नरकमें मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है जिसका निर्देश मूलमें किया ही है। २. नरकमें उत्कृष्ट स्थितिके साथ उत्पन्न होने पर अन्तर्मुहूर्तके बाद उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कराके सासादन और मिश्रमें ले जाय। फिर मरते समय सासादन और मिश्रमें ले जाय। इस प्रकार प्रत्येक नरकमें सासादन और मिश्र गुण-स्थानका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है। इतनी विशेषता है कि सातवें नरकमें मरनेके अन्तर्मुहूर्त पहले सासादन और मिश्रमें ले जाय। ३. जो तीन पल्यकी आयुके साथ कुक्कुट और मर्कट आदि पर्यायमें दो माह रहा और वहाँसे निकलकर मुहूर्त पृथक्त्वके भीतर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। फिर अन्तमें मिथ्यात्वमें जाकर और सम्यक्त्वको प्राप्त होकर मरकर देव हुआ। उसके मुहूर्त पृथक्त्व और दो माह कम तीन पल्य मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर होता है। ४. मनुष्य गतिमें मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर १० माह १९ दिन और दो अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्य है। ५. मनुष्यकी उत्कृष्ट काय स्थिति सैंतालीस पूर्वकोटि अधिक तीन पल्य है। कोई एक अन्य गतिका जीव सासादनके कालमें एक समय शेष रहने पर मनुष्य हुआ और अपनी उत्कृष्ट कायस्थिति प्रमाण काल तक मनुष्य पर्यायमें घूमता हुआ अन्तमें उपशम सम्यक्त्वपूर्वक एक समयके लिए सासादनको प्राप्त हुआ और मरकर देव हो गया तो इससे मनुष्य गतिमें सासादनका उत्कृष्ट अन्तर दो समय कम सैंतालीस पूर्व-कोटि और तीन पल्य प्राप्त हो जाता है। मिश्र गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय मनुष्य पर्याय प्राप्त करनेपर आठ वर्षके बाद मिश्र गुणस्थान प्राप्त करावे। फिर कायस्थितिके अन्तमें मिश्र गुणस्थान प्राप्त कराकर मिथ्यात्व या सम्यक्त्वमें ले जाकर मरण करावे। तो इस प्रकार मिश्र गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर तीन अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम सैंतालीस पूर्वकोटि और तीन पल्य प्राप्त होता है।

एकजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि। शेषाणां सामान्यवत्।

§ ११२. देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि।

§ ११३. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके। विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। एवमिन्द्रियं प्रत्यन्तरमुक्तम्। गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम्। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं

एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक तीन [1]पल्य है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व[2] है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व है। शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है।

§ ११२. देवगतिमें देवोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस [3]सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है। तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर है।

§ ११३. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार [4]सागर है। विकलेन्द्रियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभव ग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। इस प्रकार इन्द्रियकी अपेक्षा अन्तर कहा। गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो इनके नाना जीवोंको अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा दोनों अपेक्षाओंसे भी अन्तर नहीं है या उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारसे अन्तर नहीं है। पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और

---

१. मनुष्य सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम सैंतालीस पूर्वकोटि और तीन पल्य है। २. भोगभूमिमें संयमासंयम या संयमकी प्राप्ति सम्भव नहीं, इसलिए सैंतालीस पूर्वकोटिके भीतर ही यह अन्तर बतलाया है। ३. देवोंमें नौवें ग्रैवेयक तक ही गुणस्थान परिवर्तन सम्भव है। इसीसे यहाँ मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर बतलाया है। ४. त्रस पर्यायमें रहनेका उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक दो हजार सागर है। इसीसे एकेन्द्रियोंका उक्त प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर बतलाया है।

पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। शेषाणां सामान्योक्तम्।

§ ११४. कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। वनस्पतिकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणासंख्येया लोकाः। एवं कायं प्रत्यन्तरमुक्तम्। गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम्। त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके[1]। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके। चतुर्णामुप-

---

अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागर[2] है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागर है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागर है। शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है।

§ ११४. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। वनस्पतिकायिकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात लोकप्रमाण है। इस प्रकार कायकी अपेक्षा अन्तर कहा। गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा इन दोनों अपेक्षाओंसे भी अन्तर नहीं है। या उत्कृष्ट और जघन्य इन दोनों अपेक्षाओंसे अन्तर नहीं है। त्रसकायिकोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक दो हजार सागर है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर

---

१. —भ्यधिके। चतुर्णा—मु०। २. सासादनोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरमें-से आवलिका असंख्यातवाँ भाग और नौ अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। मिश्र गुणस्थानवालोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। असंयत सम्यग्दृष्टियोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। संयतासंयतोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय तीन पक्ष, तीन दिन और बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। प्रमत्तसंयतों और अप्रमत्तसंयतोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय आठ वर्ष और दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। अपूर्वकरण आदि चार उपशमकोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय क्रमसे ३०, २८, २६ और २४ अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम कर देना चाहिए।

शमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ ११५. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टचोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां च सामान्यवत् ।

§ ११६. वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टचोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्टचाद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागर है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागर है । तथा शेष गुणस्थानोंका अन्तर पंचेन्द्रियोंके समान है ।

§ ११५. योग मार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलीका नाना जोवों और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों क्षपक और अयोगकेवलियोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ ११६. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम पचपन[1] पल्य है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समानहै । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्य [2]पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्य पृथक्त्व है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्य पृथक्त्व है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व[3] है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

१. पाँच अन्तर्मुहूर्त कम पचपन पल्य । २. स्त्रीवेदका उत्कृष्ट काल सौ पल्य पृथक्त्व है उसमें से दो समय कम कर देनेपर स्त्रीवेदियोंमें सासादन सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है और छह अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेपर सम्यग्मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है । आगे भी इसी प्रकार आगमानुसार घटित कर लेना चाहिए । ३. साधारणतः क्षपकश्रेणिका उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । पर स्त्रीवेदकी अपेक्षा उसका उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व बतलाया है ।

§ ११७. पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

§ ११८. नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्त्युपशमकान्तानां सामान्योक्तम् । द्वयोः क्षपकयोः स्त्रीवेदवत् । अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादरोपशमकसूक्ष्मसांपरायोपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ ११९. कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणां मिथ्यादृष्टयाद्यनिवृत्त्युपशमकान्तानां मनोयोगिवत् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः ।

---

§ ११७. पुरुषवेदियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ [1]सागर पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागर पृथक्त्व है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागर पृथक्त्व है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर [2]साधिक एक वर्ष है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ ११८. नपुंसक वेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागर है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है । तथा दोनों क्षपकोंका अन्तर स्त्रीवेदियोंके समान है । अपगतवेदवालोंमें अनिवृत्तिबादर उपशमक और सूक्ष्मसाम्पराय उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा सामान्योक्त अन्तर है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ ११९. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान, माया और लोभमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका अन्तर मनोयोगियोंके समान है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर साधिक एक वर्ष है । लोभ

---

१. सासादनके दो समय कम और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके छह अन्तर्मुहूर्त कम सौ सागर पृथक्त्व यह अन्तर जानना चाहिए । आगे भी इस प्रकार यथायोग्य अन्तर घटित कर लेना चाहिए । २. पुरुषवेदी अधिकसे अधिक साधिक एक वर्ष तक क्षपक श्रेणिपर नहीं चढ़ता यह इसका भाव है ।

केवललोभस्य सूक्ष्मसांपरायोपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। क्षपकस्य तस्य सामान्यवत्। अकषायेषु उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत्।

§ १२०. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि। प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि। चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत्। किं तु अवधिज्ञानिषु नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। मनःपर्ययज्ञानिषु प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। चतुर्णां क्षपकाणामवधिज्ञानिवत्। द्वयोः केवलज्ञानिनोः सामान्यवत्।

कषायमें सूक्ष्मसाम्परायिक उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। सूक्ष्मलोभवाले क्षपकका अन्तर ओघके समान है। कषायरहित जीवोंमें उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। शेष तीन गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है।

§ १२०. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक [1]पूर्वकोटी है। संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ [2]सागर है। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेतीस[3] सागर है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ[4] सागर है। चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है। किन्तु अवधिज्ञानियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व[5] है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। मनःपर्ययज्ञानियोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा

---

१. चार अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि। २. आठ वर्ष और ग्यारह अन्तर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक छयासठ सागर। किन्तु अवधिज्ञानीके ग्यारह अन्तर्मुहूर्तके स्थानमें १२ अन्तर्मुहूर्त कम करना चाहिए। ३. प्रमत्तके साढ़े तीन अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर उत्कृष्ट अन्तर है। और अप्रमत्तके दो अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर उत्कृष्ट अन्तर है। ४. तीन या चार पूर्व कोटि अधिक छयासठ सागर। किन्तु इसमें-से चारों उपशमकोंके क्रमसे २६, २४, २२ और २० अन्तर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम कर देना चाहिए। ५. अवधिज्ञानी प्रायः बहुत ही कम होते हैं, इसलिए इतना अन्तर बन जाता है।

§ १२१. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। द्वयोः क्षपकयोः सामान्यवत्। परिहारशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतेषूपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। तस्यैव क्षपकस्य सामान्यवत्। यथाख्याते अकषायवत्। संयतासंयतस्त नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। असंयतेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत्।

§ १२२. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां

जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त[2] है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक[3] पूर्वकोटी है। चारों क्षपकोंका अन्तर अवधिज्ञानियोंके समान है। दोनों केवलज्ञानियोंका अन्तर ओघके समान है।

§ १२१. संयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिक शुद्धिसंयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त[4] है। दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक[5] पूर्वकोटी है। दोनों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है। परिहारशुद्धि संयतोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट [6]अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतोंमें उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। तथा उसी सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकका अन्तर ओघके समान है। यथाख्यातमें अन्तर कषायरहित जीवोंके समान है। संयतासंयतका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। असंयतोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागर[7] है। शेष तीन गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है।

§ १२२. दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा

---

१. —यमे उप– आ०, दि० १, दि० २, ता०। २. उपशमश्रेणि और प्रमत्त-अप्रमत्तका काल अन्तर्मुहूर्त होनेसे मनःपर्ययज्ञानी प्रमत्त और अप्रमत्तका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त बन जाता है। ३. आठ वर्ष और १२ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि। ४. प्रमत्तको अप्रमत्तसे और अप्रमत्तको प्रमत्तसे अन्तरित कराके यह अन्तर ले आना चाहिए। ५. आठ वर्ष और ग्यारह अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अपूर्वकरणका उत्कृष्ट अन्तर है। अनिवृत्तिकरणका समयाधिक नौ अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटि उत्कृष्ट अन्तर है। ६. प्रमत्त और अप्रमत्तको परस्पर अन्तरित करानेसे यह अन्तर आ जाता है। ७. यह अन्तर सातवें नरकमें प्राप्त होता है।

नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम्[1]। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने। चतुर्णां क्षपकाणां सामान्योक्तम्। अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तमन्तरम्। अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत्। केवलदर्शनिनः केवलज्ञानिवत्।

§ १२३. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्येषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देशोनानि।

§ १२४. तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन

उत्कृष्ट अन्तर कुछ[2] कम दो हजार सागर है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंको अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागर[3] है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार [4]सागर है। चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है। अचक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायतक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है। अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान अन्तर है। तथा केवल दर्शनवालोंका केवलज्ञानियोंके समान अन्तर है।

§ १२३. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम तेतीस सागर, कुछ कम सत्रह सागर और कुछ कम सात सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानोंमें क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तीनों लेश्याओंमें क्रमशः कुछ कम तेतीस सागर, कुछ कम सत्रह सागर और कुछ कम सात सागर है।

§ १२४. पीत और पद्म लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओंमें क्रमशः साधिक दो सागर और साधिक अठारह सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य

---

१. सामान्यवत्। एव-मु०। २. चक्षुदर्शनवालोंमें सासादनके नौ अन्तर्मुहूर्त और आवलिका असंख्यातवाँ भाग कम सम्यग्मिथ्यादृष्टिके बारह अन्तर्मुहूर्त कम दो हजार सागर उत्कृष्ट अन्तर है। ३. चक्षुदर्शनवालोंमें अविरतसम्यग्दृष्टिके १० अन्तर्मुहूर्त कम संयतासंयतके ४८ दिन और १२ अन्तर्मुहूर्त कम, प्रमत्तसंयतके ८ वर्ष १० अन्तर्मुहूर्त कम और अप्रमत्त संयतके भी ८ वर्ष और १० अन्तर्मुहूर्त कम दो हजार सागर उत्कृष्ट अन्तर है। ४. चक्षुदर्शनवालोंमें चारों उपशामकोंका क्रमसे २९, २७, २५ और २३ अन्तर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम दो हजार सागर उत्कृष्ट अन्तर है।

पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्।

§ १२५. शुक्ललेश्येषु मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। संयतासंयतप्रमत्तसंयतयोस्तेजोलेश्यावत्। अप्रमत्तसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः[1]। त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्यवत्।

§ १२६. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्टयाद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत्। अभव्यानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्।

§ १२७. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं

अन्तर दोनों गुणस्थानोंमें क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओंमें क्रमशः साधिक दो सागर और साधिक अठारह सागर है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

§ १२५. शुक्ल लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एकतीस सागर है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर है। संयतासंयत और प्रमत्तसंयतका अन्तरकथन पीतलेश्याके समान है। तथा अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृट अन्तर [2]अन्तर्मुहूर्त है। तीन उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर [3]अन्तर्मुहूर्त है। उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है तथा एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। चारों क्षपक, सयोगकेवली और लेश्यारहित जीवोंका अन्तर ओघके समान है।

§ १२६. भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानका अन्तर ओघके समान है। अभव्योंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

§ १२७. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ[4] कम एक पूर्वकोटी है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा

---

१. —हूर्तः। अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहतिय लेस्सा हु देसविरदतिये। तत्तो दु सुक्कलेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥ त्रयाणा—मु०। २. उपशमश्रेणिसे अन्तरित कराके जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करना चाहिए। ३. अप्रमत्तसंयतसे अन्तरित कराके यह अन्तर प्राप्त करना चाहिए। ४. आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि।

प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ १२८. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि देशोनानि । प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि ।

§ १२९. औपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण सप्त रात्रिं[1]दिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण चतुर्दश रात्रिंदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पञ्चदश रात्रिंदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवा-

---

अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर [2]साधिक तैंतीस सागर है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर [3]साधिक तैंतीस सागर है । तथा शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ १२८. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ[4] कम एक पूर्वकोटी है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छ्यासठ[5] सागर है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर साधिक[6] तैंतीस सागर है ।

§ १२९. औपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर सात दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिन रात्रि है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा

---

१. –दिनानि । एक—मु० । २. संयतासंयतके आठ वर्ष और चौदह अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर । प्रमत्तसंयत के एक अन्तर्मुहूर्त और एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर । अथवा साढ़े तीन अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर । अप्रमत्त संयतके साढ़े पाँच अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटी अधिक तैंतीस सागर । ३. चारों उपशमकोंके आठ वर्ष और क्रमसे २७, २५, २३ और २१ अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटी अधिक तैंतीस सागर । ४. चार अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि । ५. तीन अन्तर्मुहूर्त कम छ्यासठ सागर । ६. प्रमत्तके सात अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर और अप्रमत्तके आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर ।

पेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ १३०. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।

§ १३१. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाङ्गुला-[1]संख्येयभागोऽसंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् ।

अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर[2] नहीं है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ १३०. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ सागर पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागर पृथक्त्व है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागर पृथक्त्व है । चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है । असंज्ञियोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ १३१. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्यका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उपसर्पिणी और अवसर्पिणी है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । चारों उपशमकोंका

---

१. –भागा असंख्येया उत्स—मु० । २. क्योंकि उपशमश्रेणिसे उतर कर उपशम सम्यक्त्व छूट जाता है । यदि अन्तर्मुहूर्त बाद पुनः उपशमश्रेणिपर चढ़ता है तो वेदकसम्यक्त्व पूर्वक दूसरी बार उपशम करना पड़ता है । यही कारण है कि उपशम सम्यक्त्वमें एक जीवकी अपेक्षा उपशान्तकषायका अन्तर नहीं प्राप्त होता ।

एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनां च सामान्यवत्।

§ १३२. अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण मासपृथक्त्वम्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। सयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। अयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षण्मासाः। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। अन्तरमवगतम्।

§ १३३. भावो विभाव्यते। स द्विविधः सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टिरित्यौदयिको भावः। सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः। असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भावः। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन। संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयत इति क्षायोपशमिको भावः। चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः। चतुर्षु क्षपकेषु सयोगायोगकेवलिनोश्च क्षायिको भावः।

नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है। चारों क्षपक और सयोगकेवलियोंका अन्तर ओघके समान है।

§ १३२. अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर मासपृथक्त्व है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। अयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। इस प्रकार अन्तरका विचार किया।

§ १३३. अब भावका विचार करते हैं। वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि यह औदयिकभाव है। सासादनसम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक[2] भाव है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक[3] भाव है। असंयतसम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव है। किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह क्षायोपशमिक भाव है। चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है। चारों क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवलीके क्षायिक भाव है।

---

१. भावः। उक्तं च–मिच्छे खलु ओदइओ विदिए पुण पारिणामिओ भावो। मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव ॥ १ ॥ असं—मु०। २. सासादनसम्यक्त्व यह दर्शनमोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे नहीं होता इस लिए निष्कारण होनेसे पारिणामिक भाव है। ३. सम्यग्मिथ्यात्वकर्मका उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक मिला हुआ जीव परिणाम होता है। उसमें श्रद्धानांश सम्यक्त्व अंश है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय उसका अभाव करनेमें असमर्थ है इस लिए सम्यग्मिथ्यात्व यह क्षायोपशमिक भाव है।

§ १३४. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत् । द्वितीयादिष्वा सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां सामान्यवत् । असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको वा क्षायोपशमिको वा भावः । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्यवत् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत् ।

§ १३५. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामौदयिको भावः । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्ट्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् ।

§ १३६. कायानुवादेन स्थावरकायिकानामौदयिको भावः । त्रसकायिकानां सामान्यमेव ।

§ १३७. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानां च सामान्यमेव ।

§ १३८. वेदानुवादेन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत् ।

§ १३९. कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणामकषायाणां च सामान्यवत् ।

§ १४०. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिविभङ्गज्ञानिनां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्यवत् ।

§ १४१. संयमानुवादेन सर्वेषां संयतानां संयतासंयतानामसंयतानां च सामान्यवत् ।

---

§ १३४. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें पहली पृथिवी में नारकियोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है । दूसरी से लेकर सातवीं पृथिवी तक मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारकियोंके ओघके समान भाव है । असंयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव है । किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है । तिर्यंचगतिमें तिर्यंचोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक ओघके समान भाव है । मनुष्यगतिमें मनुष्योंके मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक ओघके समान भाव है । देवगतिमें देवोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है ।

§ १३५. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंके औदयिक भाव है । पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानका ओघके समान भाव है ।

§ १३६. कायमार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोंके औदयिक भाव है । त्रसकायिकोंके ओघके समान भाव है ।

§ १३७. योगमार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक और अयोगकेवलीके ओघके समान भाव है ।

§ १३८. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवोंके ओघके समान भाव है ।

§ १३९. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध कषायवाले, मान कषायवाले, माया कषायवाले, लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोंके ओघके समान भाव है ।

§ १४०. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोंके ओघके समान भाव हैं ।

§ १४१. संयम मार्गणाके अनुवादसे सब संयतोंके, संयतासंयतोंके और असंयतोंके ओघके समान भाव हैं ।

§ १४२. **दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनिनां सामान्यवत् ।**

§ १४३. **लेश्यानुवादेन षड्लेश्यानामलेश्यानां च सामान्यवत् ।**

§ १४४. **भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । अभव्यानां पारिणामिको भावः ।**

§ १४५. **सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । असंयतत्वमौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । शेषाणां सामान्यवत् । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिको भावः । क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् । औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्टेः पारिणामिको भावः । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेः क्षायोपशमिको भावः । मिथ्यादृष्टेरौदयिको भावः ।**

§ १४६. **संज्ञानुवादेन संज्ञिनां सामान्यवत् । असंज्ञिनामौदयिको भावः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।**

---

§ १४२. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शनवाले, अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंके ओघके समान भाव हैं ।

§ १४३. लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहों लेश्यावाले और लेश्या रहित जीवोंके ओघके समान भाव हैं ।

§ १४४. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक ओघके समान भाव हैं । अभव्योंके पारिणामिक[1] भाव हैं ।

§ १४५. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । शेष गुणस्थानोंका ओघके समान भाव है । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव हैं । औपशमिक सम्यक्त्व है । चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । सासादनसम्यग्दृष्टिके पारिणामिक भाव है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है । मिथ्यादृष्टिके औदयिक भाव है ।

§ १४६. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंके ओघके समान भाव हैं । असंज्ञियोंके औदयिक भाव हैं । तथा संज्ञी और असंज्ञो व्यवहारसे रहित जीवोंके ओघके समान भाव हैं ।

---

१. यों तो ये भाव दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयके उदयादिकी अपेक्षा बतलाये गये हैं । किन्तु अभव्योंके 'अभव्यत्व भाव क्या है' इसकी अपेक्षा भावका निर्देश किया है । यद्यपि इससे क्रम भंग हो जाता है तथापि विशेष जानकारीके लिए ऐसा किया है ।

§ १४७. आहारानुवादेन आहारकाणामनाहारकाणां च सामान्यवत् । भावः परिसमाप्तः ।

§ १४८. अल्पबहुत्वमुपवर्ण्यते । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत् सर्वतः स्तोकाः त्रय उपशमकाः स्वगुणस्थानकालेषु प्रवेशेन तुल्यसंख्याः । उपशान्तकषायास्तावन्त एव । त्रयः क्षपकाः संख्येयगुणाः । क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थास्तावन्त एव । सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन तुल्यसंख्याः । सयोगकेवलिनः स्वकालेन समुदिताः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता[1] असंख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः[2] संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः ।

§ १४९. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । तिर्यग्गतौ तिरश्चां सर्वतः स्तोकाः संयतासंयताः । इतरेषां सामान्यवत् । मनुष्यगतौ मनुष्याणामुपशमकादिप्रमत्तसंयतान्तानां सामान्यवत् । ततः संख्येयगुणाः संयतासंयताः । सासादनसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । देवगतौ देवानां नारकवत् ।

§ १५०. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियेषु गुणस्थानभेदो नास्तीत्यल्पबहुत्वाभावः[3] । पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यवत् । अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः ।

---

§ १४७. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीवोंके ओघके समान भाव हैं। इस प्रकार भाव समाप्त हुआ।

§ १४८. अब अल्पबहुत्वका कथन करते हैं। वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष। सामान्यकी अपेक्षा तीनों उपशमक सबसे थोड़े हैं जो अपने-अपने गुणस्थानके कालोंमें प्रवेशकी अपेक्षा समान[4] संख्यावाले हैं। उपशान्तकषाय जीव उतने ही हैं। इनसे तीन गुणस्थानके क्षपक संख्यात[5] गुणे हैं। क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ उतने ही हैं। सयोगकेवली और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा समान संख्यावाले हैं। इनसे अपने कालमें समुदित हुए सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं। इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं।

§ १४९. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें नारकियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं। तिर्यचगतिमें तिर्यंचोंमें संयतासंयत सबसे थोड़े हैं। शेष गुणस्थानवाले तिर्यंचोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है। मनुष्यगतिमें मनुष्योंके उपशमकोंसे लेकर प्रमत्तसंयत तकका अल्पबहुत्व ओघके समान है। प्रमत्तसंयतोंसे संयतासंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं। देवगतिमें देवोंका अल्पबहुत्व नारकियोंके समान है।

§ १५०. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें गुणस्थान भेद न होनेसे

---

१. –संयता संख्ये–मु० । २. –दृष्टयः असंख्ये–मु० । ३. भावः । इन्द्रियं प्रत्युच्यते । पञ्चेन्द्रियाद्येकेन्द्रियान्ता उत्तरोत्तरं बहवः । पञ्चे—मु० । ४. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक चौवन । ५. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक एक सौ आठ ।

§ १५१. कायानुवादेन स्थावरकायेषु गुणस्थानभेदाभावादल्पबहुत्वाभावः[1]। त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत्।

§ १५२. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां पञ्चेन्द्रियवत्। काययोगिनां सामान्यवत्। वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदानां पञ्चेन्द्रियवत्। नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत्।

§ १५३. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां पुंवेदवत्। अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः। लोभकषायाणां द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या। क्षपकाः संख्येयगुणाः। सूक्ष्मसांपरायशुद्ध्युपशमकसंयता विशेषाधिकाः। सूक्ष्मसांपरायक्षपकाः संख्येयगुणाः। शेषाणां सामान्यवत्।

§ १५४. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः[2]। विभङ्गज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाश्चत्वारः क्षपकाः संख्येयगुणाः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। संयतासंयताः [3]असंख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयः[4] असंख्येयगुणाः। मनःपर्ययज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः। चत्वारः क्षपकाः संख्येयगुणाः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। केवलज्ञानिषु अयोगकेवलिभ्यः सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः।

अल्पबहुत्व नहीं है। पंचेन्द्रियोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है। किन्तु इतनी विशेषता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियोंसे मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं।

§ १५१. काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोंमें गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है। त्रसकायिकोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है।

§ १५२. योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है। काययोगियोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है। वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है। नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है।

§ १५३. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायवाले, मानकषायवाले और मायाकषायवाले जीवोंका अल्पबहुत्व पुरुषवेदियोंके समान है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। लोभ कषायवालोंमें दोनों उपशमकोंकी संख्या समान है। इनसे क्षपक संख्यातगुणे हैं। इनसे सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक विशेष अधिक हैं। इनसे सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक संख्यातगुणे हैं। आगे शेष गुणस्थानवालोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है।

§ १५४. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। विभंगज्ञानियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं। इनसे चारों क्षपक संख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। मनःपर्ययज्ञानियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं। इनसे चारों क्षपक संख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। केवलज्ञानियोंमें अयोगकेवलियोंसे सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं।

---

१. –भावः। कायं प्रत्युच्यते। सर्वतस्तेजःकायिका अल्पाः। ततो बहवः पृथिवीकायिकाः। ततोऽप्कायिकाः। ततो वातकायिकाः। सर्वतोऽनन्तगुणा वनस्पतयः। त्रस—मु०। २. दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। मति–मु०। ३. —यताः संख्ये–मु०। ४. —ष्टयः संख्ये–मु०।

§ १५५. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतेषु द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या। ततः संख्येयगुणौ क्षपकौ। अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः। प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। परिहारशुद्धिसंयतेषु अप्रमत्तेभ्यः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतेषु उपशमकेभ्यः क्षपकाः संख्येयगुणाः। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतेषु उपशान्तकषायेभ्यः क्षीणकषायाः संख्येयगुणाः। अयोगकेवलिनस्तावन्त एव। सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः। संयतासंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वम्। असंयतेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः[1] संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः।

§ १५६. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मनोयोगिवत्। अचक्षुर्दर्शनिनां काययोगिवत्। अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत्। केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत्।

§ १५७. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां असंयतवत्। तेजःपद्मलेश्यानां सर्वतः स्तोका अप्रमत्ताः। प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। एवमितरेषां पञ्चेन्द्रियवत्। शुक्ललेश्यानां सर्वतः स्तोका उपशमकाः। क्षपकाः संख्येयगुणाः। सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। संयतासंयता[2] असंख्येयगुणाः। सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयः[4] संख्येयगुणाः।

§ १५८. भव्यानुवादेन भव्यानां सामान्यवत्। अभव्यानां नास्त्यल्पबहुत्वम्।

---

§ १५५. संयम मार्गणा के अनुवादसे सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धिसंयतोंमें दोनों उपशमक समान संख्यावाले हैं। इनसे दोनों क्षपक संख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। परिहारविशुद्धि संयतोंमें अप्रमत्तसंयतोंसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। सूक्ष्मसाम्परायिक शुद्धिसंयतोंमें उपशमकोंसे क्षपक संख्यातगुणे हैं। यथाख्यात विहार शुद्धिसंयतोंसे उपशान्त कषायवालोंसे क्षीणकषाय जीव संख्यातगुणे हैं। अयोगकेवली उतने ही हैं। सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं। संयतासंयतोंका अल्पबहुत्व नहीं है। असंयतोंमें सासादन-सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं।

§ १५६. दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व मनोयोगियोंके समान है। अचक्षुदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व काययोगियोंके समान है। अवधिदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व अवधिज्ञानियोंके समान है और केवलदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोंके समान है।

§ १५७. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंका अल्पबहुत्व असंयतोंके समान है। पीत और पद्म लेश्यावालोंमें अप्रमत्तसंयत सबसे थोड़े हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार शेष गुणस्थानवालोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है। शुक्ल लेश्यावालोंमें उपशमक सबसे थोड़े हैं। इनसे क्षपक संख्यातगुणे हैं। इनसे सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं। इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं।

§ १५८. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंका अल्पबहुत्व ओघके समान है। अभव्योंका अल्पबहुत्व नहीं है।

---

१. —दृष्टयोऽसंख्ये–मु०। २. संयताः संख्ये–मु०। ३. दृष्टयः संख्ये–मु०। ४. —दृष्टयोऽसंख्ये–मु०।

§ १५९. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः। इतरेषां प्रमत्तान्तानां सामान्यवत्। ततः संयतासंयताः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्ट्योऽसंख्येयगुणाः। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोका अप्रमत्ताः। प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। संयतासंयताः[1] असंख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्ट्योऽसंख्येयगुणाः। औपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः। अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः। प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। संयतासंयताः[2] असंख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्ट्योऽसंख्येयगुणाः। शेषाणां नास्त्यल्पबहुत्वम्[3]।

१६०. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत्। असंज्ञिनां नास्त्यल्पबहुत्वम्। तदुभयव्यपदेशरहितानां केवलज्ञानिवत्।

§ १६१. आहारानुवादेन आहारकाणां काययोगिवत्। अनाहारकाणां सर्वतः स्तोकाः सयोगकेवलिनः। अयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः। सासादनसम्यग्दृष्ट्योऽसंख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्ट्योऽसंख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्ट्योऽनन्तगुणाः।

§ १६२. एवं मिथ्यादृष्टयादीनां गत्यादिषु मार्गणा कृता सामान्येन। तत्र सूक्ष्मभेद आगमाविरोधेनानुसर्तव्यः।

§ १६३. एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टाः। तत्संबन्धेन च जीवादीनां संज्ञापरिमाणादि निर्दिष्टम्। तदनन्तरं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमित्याह—

---

§ १५९. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं। प्रमत्तसंयतों तक शेषका अल्पबहुत्व ओघके समान है। प्रमत्तसंयतोंसे संयतासंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें अप्रमत्तसंयत सबसे थोड़े हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। औपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं। इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं। इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। शेष सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका अल्पबहुत्व नहीं है।

§ १६०. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका अल्पबहुत्व चक्षुदर्शनवालोंके समान है। असंज्ञियोंका अल्पबहुत्व नहीं है। संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोंके समान है।

§ १६१. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंका अल्पबहुत्व काययोगियोंके समान है। अनाहारकोंमें सयोगकेवली सबसे थोड़े हैं। इनसे अयोगकेवली संख्यातगुणे हैं। इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ।

§ १६२. इस प्रकार गत्यादि मार्गणाओंमें मिथ्यादृष्टि आदिका सामान्यसे विचार किया। इसमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद आगमानुसार जान लेना चाहिए।

§ १६३. इस प्रकार सर्व प्रथम कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षण, उत्पत्ति, स्वामी, विषय, न्यास और अधिगमका उपाय कहा। और उसके सम्बन्धसे जीवादिकोंकी संज्ञा और परिमाण आदि भी कहा। अब इसके बाद सम्यग्ज्ञान विचार योग्य है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. –यताः संख्येय–मु०। २. यताः संख्ये–मु०। ३. बहुत्वम्। विपक्षे एकैकगुणस्थानग्रहणात्। संज्ञा–मु०।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

१६४. ज्ञानशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति। इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो[1] मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। तदावरण-[2]कर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन[3] तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। अनयोः प्रत्यासन्ननिर्देशः कृतः कार्यकारणभावात्। तथा च वक्ष्यते ''श्रुतं मतिपूर्वम्'' इति। अवाग्धानादवच्छिन्न-विषयाद्वा अवधिः। परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षामात्रत्वात्। क्षयोपशमशक्तिमात्रविजृम्भितं हि तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते। यथा अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति। बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। असहायमिति वा। तदन्ते प्राप्यते इति अन्ते क्रियते। तस्य प्रत्यासन्नत्वात्तत्समीपे मनःपर्ययग्रहणम्। कुतः प्रत्यासत्तिः। संयमैकाधिकरणत्वात्। तस्य अवधि-

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं ॥ ९ ॥

§ १६४. सूत्रमें ज्ञान शब्द मति आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः' = इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र मति कहलाता है। श्रुतका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्' = श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुननामात्र श्रुत कहलाता है। मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंका समीपमें निर्देश किया है क्योंकि इनमें कार्य-कारणभाव पाया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे 'श्रुतं मतिपूर्वम्।' अवधिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = अधिकतर नीचेके विषयको जाननेवाला होनेसे या परिमित विषयवाला होनेसे अवधि कहलाता है। मनःपर्ययका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं। सम्बन्धसे उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेवाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है। **शंका**—मनःपर्यय ज्ञानका इस प्रकार लक्षण करने पर उसे मतिज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानमें मनकी अपेक्षामात्र है। यद्यपि वह केवल क्षयोपशम शक्तिसे अपना काम करता है तो भी केवल स्व और परके मनकी अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है। यथा, 'आकाशमें चन्द्रमाको देखो' यहाँ आकाशकी अपेक्षामात्र होनेसे ऐसा व्यवहार किया गया है। केवलका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तपके द्वारा मार्गका केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानकी प्राप्ति अन्तमें होती है इसलिए सूत्रमें उसका पाठ सबके अन्तमें रखा है। उसके समीपका होनेसे उसके समीपमें मनःपर्ययका ग्रहण किया है। **शंका**—मनःपर्यय केवलज्ञानके समीपका क्यों है? **समाधान**—क्योंकि इन दोनोंका संयम ही एक आधार है अतएव मनःपर्यय केवलज्ञानके समीपका है। अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे दूर है इसलिए उसका मनःपर्ययज्ञानके पहले पाठ रखा है। **शंका**—मनःपर्ययज्ञानसे अवधिज्ञानको दूरका क्यों कहा? **समाधान**—क्योंकि अवधिज्ञान

१. स्वमर्थान्मन्यते मु०। २. –वरणक्षयो –मु०। ३. अनेनेति तत् मु०। ४. 'अवाग्धानादवधिः। अथवा अधोगौरवधर्मत्वात्पुद्गलः अवाङ् नाम तं दधाति परिच्छिनत्तीति अवधिः। अवधिरेव ज्ञानं अवधिज्ञानम्। अथवा अवधिर्मर्यादा अवधिना सह वर्तमानज्ञानमवधिज्ञानम्।'—धव० प्र० अ० प० ८६५ आरा।

विप्रकृष्टः। कुतः विप्रकृष्टान्त[1]रत्वात्। प्रत्यक्षात्परोक्षं पूर्वमुक्तं सुगमत्वात्। श्रुतपरिचितानुभूता[2] हि मतिश्रुतपद्धतिः सर्वेण प्राणिगणेन प्रायः प्राप्यते यतः। एवमेतत्पञ्चविधं ज्ञानम्। तद्भेदादयश्च पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते।

§ १६५. "प्रमाणनयैरधिगमः" इत्युक्तम्। प्रमाणं च केषांचित् ज्ञानमभिमतम्। केषांचित् संनिकर्षः। केषांचिदिन्द्रियमिति। अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह—

तत्प्रमाणे ॥१०॥

§ १६६. तद्वचनं किमर्थम्। प्रमाणान्तरपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थम्। संनि[3]कर्षः प्रमाणमिन्द्रियं प्रमाणमिति केचित्कल्पयन्ति तन्निवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते। तदेव मत्यादि प्रमाणं[4] नान्यदिति[5]।

१६७. अथ संनिकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः। यदि संनिकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसङ्गः। न हि ते इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते। अतः सर्वज्ञत्वाभावः

मनःपर्ययज्ञानसे अत्यन्त दूर है। प्रत्यक्षसे परोक्षका पहले कथन किया, क्योंकि वह सुगम है। चूँकि मति-श्रुतपद्धति, श्रुतपरिचित और अनुभूत होनेसे प्रायः सब प्राणियोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य है अतः वह सुगम है। इस प्रकार यह पाँच प्रकारका ज्ञान है। इसके भेद आदि आगे कहेंगे।

विशेषार्थ—क्रमानुसार इस सूत्रमें सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद बतलाये गये हैं। यद्यपि सूत्रमें 'ज्ञानम्' ऐसा निर्देश किया है पर सम्यक्त्वका प्रकरण होनेसे ये पाँचों सम्यग्ज्ञानके भेद हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। यद्यपि आत्मा केवलज्ञान स्वभाव है। मूल ज्ञानमें कोई भेद नहीं है पर आवरणके भेदसे वह पाँच भागोंमें विभक्त हो जाता है। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें मुख्यतया तीन विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—१. मति आदि शब्दोंका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। २. मति और श्रुतको समीपमें रखनेके कारणका निर्देश। ३. मतिके बाद श्रुत इत्यादि रूपसे पाँच ज्ञानोंके निर्देश करनेका कारण।

§ १६५. प्रमाण और नयसे ज्ञान होता है यह पहले कह आये हैं। किन्हींने ज्ञानको प्रमाण माना है, किन्हींने सन्निकर्षको और किन्हींने इन्द्रियको। अतः अधिकार प्राप्त मत्यादिक ही प्रमाण हैं इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है ॥१०॥

§ १६६. **शंका**—सूत्रमें 'तत्' पद किसलिए दिया है ? **समाधान**—जो दूसरे लोग संन्निकर्ष आदिको प्रमाण मानते हैं उनकी इस कल्पनाके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद दिया है। सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है ऐसा कितने ही लोग मानते हैं इसलिए इनका निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद दिया है जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वे मत्यादि ही प्रमाण हैं अन्य नहीं।

§ १६७. **शंका**—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमें क्या दोष है। **समाधान**—यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके अग्रहणका प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि इनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता

---

१. विप्रकृष्टतर–मु०। २. 'सुदपरिचिदाणुभूदा....।'–स० प्रा० मा० ४। ३. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि।' —१।१।३ न्या० भा०। ४. 'यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं।' न्या० वा० पृ० ५। ५. नातोऽन्यदिति आ०, दि० १।

स्यात् । इन्द्रियमपि यदि प्रमाणं स एव दोषः; अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात् ।

§ १६८. सर्वेन्द्रियसंनिकर्षाभावश्च; चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात् । अप्राप्यकारित्वं च उत्तरत्र वक्ष्यते ।

§ १६९. यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः । अधिगमो हि फलमिष्टं न भावान्तरम् । स चेत्प्रमाणं, न तस्यान्यत्फलं भवितुमर्हति । फलवता च प्रमाणेन भवितव्यम् । संनिकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति । तदयुक्तम् । यदि संनिकर्षः प्रमाणं अर्थाधिगमः फलं, तस्य द्विष्ठत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्ठेन भवितव्यमिति अर्थादीनामप्यधिगमः प्राप्नोति । आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत् । न; ज्ञस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात् । ज्ञस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मनः स्वमतविरोधः स्यात् ।

§ १७०. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति । नैष दोषः; अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात् । ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते । सा फलमित्युच्यते । उपेक्षा[1] अज्ञाननाशो वा फलम् । रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा । अन्धकारकल्पाज्ञा[2]ननाशो वा फलमित्युच्यते ।

है । यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि चक्षु आदिका विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं ।

§ १६८. दूसरे सब इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं बनता, क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं हैं, इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मान सकते । चक्षु और मनके अप्राप्यकारित्वका कथन आगे करेंगे ।

§ १६९. **शंका**—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो फलका अभाव होता है । प्रकृतमें ज्ञानको ही फल मानना इष्ट है अन्य पदार्थ को फल मानना इष्ट नहीं । पर यदि उसे प्रमाण मान लिया जाता है तो उसका कोई दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता । किन्तु प्रमाणको फलवाला होना चाहिए । पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण मानने पर उससे भिन्न ज्ञानरूप फल बन जाता है ? **समाधान**—यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं तो सन्निकर्ष दो में रहनेवाला होनेसे उसके फलस्वरूप ज्ञानको भी दोमें रहनेवाला होना चाहिए इसलिए घट-पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है । **शंका**—आत्मा चेतन है, अतः उसीमें ज्ञानका समवाय है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं । यदि आत्माको ज्ञस्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है ।

§ १७०. पहले पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि ज्ञानको प्रमाण मानने पर फलका अभाव होता है सो यह कोई दोष नहीं; क्योंकि पदार्थके ज्ञान होने पर प्रीति देखी जाती है । यद्यपि आत्मा ज्ञस्वभाव है तो भी वह कर्मोंसे मलीन है अतः इन्द्रियों के आलम्बनसे पदार्थके निश्चय करने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाणका फल कहा जाता है । अथवा उपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है । राग-द्वेषरूप परिणामोंका नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकारके समान अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है । सो ये भी प्रमाण के फल हैं ।

---

१. 'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।–प० मु० ५।१ । 'यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।'–१।१।३ न्या० भा० । २. –ल्पाज्ञानाभावः अज्ञाननाशो मु० ।

§ १७१. प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। किमनेन प्रमीयते। जीवादिरर्थः। यदि जीवादेरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधिगमे[1] च अन्यत्प्रमाणं परिकल्पयितव्यम्। तथा सत्यनवस्था। नानवस्था प्रदीपवत्। यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः[2] स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं[3] मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमाभावात् स्मृत्यभावः। तदभावाद् व्यवहारलोपः स्यात्।

§ १७२. वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्विवचननिर्देशः। वक्ष्यते हि "आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यद्" इति स च द्विवचननिर्देशः प्रमाणान्तरसंख्यानिवृत्त्यर्थः।

---

§ १७१ प्रमाण शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् = जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है। **शंका**—प्रमाणके द्वारा क्या जाना जाता है? **समाधान**—जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं। **शंका**—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानमें अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है? **समाधान**—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाणको कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूप के प्रकाश करने में भी वही हेतु है इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूंढ़ना पड़ता। उसी प्रकार प्रमाण भी है यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहार का लोप हो जाता है।

§ १७२. सूत्र में आगे कहे जानेवाले भेदोंकी अपेक्षा द्विवचनका निर्देश किया है। आगे कहेंगे 'आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।' यह द्विवचनका निर्देश प्रमाणकी अन्य संख्या के निराकरण करनेके लिए किया है।

विशेषार्थ—पिछले सूत्रमें पाँच सम्यग्ज्ञानोंकी चर्चा करके इस सूत्रमें उनकी प्रमाणता बतलायी गयी है। यों तो सम्यग्ज्ञान कहनेसे उनकी प्रमाणता सुतरां सिद्ध है किन्तु दर्शनान्तरोंमें ज्ञानको मुख्यतया प्रमाण न मान कर सन्निकर्ष व इन्द्रिय आदिको प्रमाण माना गया है इसलिए यहाँपर सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है यह बतलाया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें मुख्यतया दो मतोंका उल्लेख करके उनकी आलोचना की गयी है। ये दोनों मत नैयायिक सम्मत हैं। नैयायिकोंने प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमें सन्निकर्ष और इन्द्रिय दोनोंको प्रमाण माना है। सन्निकर्ष प्रमाण है इस मतका उल्लेख न्यायभाष्यमें और इन्द्रिय प्रमाण है इस मतका उल्लेख उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें पाया जाता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धिकारने जब इस दूसरे मतका उल्लेख किया है, तो यह भी प्रथम मतके समान प्राचीन प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि इस द्वारा सर्वार्थसिद्धिकारने सांख्यके 'इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है' इस मतका उल्लेख किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। नैयायिक लोग प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति में सन्निकर्षको असाधारण कारण मानकर उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु आगे चलकर करणके 'असाधारण कारणको करण कहते हैं' इस लक्षणके स्थानमें 'व्यापारवाले कारणको करण कहते हैं' यह लक्षण भी प्रचलित हो गया जिससे सन्निकर्षके साथ उनके यहाँ इन्द्रियाँ भी प्रमाण मानी जाने लगीं। वे जब सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं तब ज्ञान उसका फल मान लिया जाता है और जब इन्द्रियों को प्रमाण मानते हैं तब भी सन्निकर्षको इन्द्रियोंका व्यापार मानकर ज्ञान उनका फल मान लिया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे

---

१. –धिगमे अन्य–मु०। २. हेतुः तत्स्व–मु०। ३. न्तरमस्य मृग्यम् मु०।

§ १७३. [1]उक्तस्य पञ्चविधस्य ज्ञानस्य प्रमाणद्वयान्तःपातित्वे प्रतिपादिते प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणद्वयकल्पनानिवृत्त्यर्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

§ १७४. आदिशब्दः प्राथम्यवचनः। आदौ भवमाद्यम्। कथं द्वयोः प्रथमत्वं मुख्योपचारकल्पनया। मतिज्ञानं तावन्मुख्यकल्पनया प्रथमम्। श्रुतमपि तस्य प्रत्यासत्त्या प्रथममित्युपचर्यते।

ज्ञानको प्रमाण ही नहीं मानते। उनके यहाँ ज्ञानको भी प्रमाण माना गया है। जब वे ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तब हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसका फल माना जाता है। किन्तु नैयायिकोंकी सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेकी बात समीचीन नहीं है यही निर्णय इस सूत्रकी टीकामें किया गया है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें जो दोष प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—१. सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए सर्वज्ञताका अभाव होता है २. चक्षु और मनसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। ३. प्रत्येक इन्द्रियका अलग-अलग विषय मानना उचित नहीं, क्योंकि चक्षुका रूपके साथ सन्निकर्ष पाया जानेसे जैसे वह रूपज्ञानका जनक है उसी प्रकार उसका रसके साथ भी सन्निकर्ष पाया जाता है अतः उससे रसका भी ज्ञान होना चाहिए। ४. सन्निकर्ष एकका न होकर इन्द्रिय और अर्थ इन दो या दोसे अधिकका होता है अतः सन्निकर्षका फल जो ज्ञान है वह भी दोनोंमें होना चाहिए। इन्द्रियको प्रमाण माननेमें ये दोष आते हैं—१. सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ सब पदार्थोंको एक साथ जाननेमें असमर्थ हैं। २. इन्द्रियोंसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान सम्भव न होनेसे भी सर्वज्ञताका अभाव होता है। ३. अनुमान आदि ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि इन ज्ञानोंकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे नहीं होती। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेपर इसी प्रकार और भी दोष आते हैं। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेवाले लोग ज्ञानको प्रमाण मानने पर एक बड़ी भारी आपत्ति यह देते हैं कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो प्रमाण निष्फल हो जाता है। किन्तु उनकी यह आपत्ति भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ज्ञानको प्रमाण माननेपर प्रीति, अज्ञाननाश, त्यागबुद्धि, ग्रहणबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि आदि अनेक फल बन जाते हैं। उन्होंने भी जब ज्ञानको प्रमाण माना है तब ये ही फल माने हैं। न्यायभाष्यमें लिखा है कि 'जब ज्ञान प्रमाण होता है तब हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसके फल प्राप्त होते हैं। इसलिए ज्ञानको ही सर्वत्र प्रमाण मानना चाहिए यही निष्कर्ष निकलता है। इससे पूर्वोक्त सभी दोषोंका निराकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस सूत्रकी टीकामें इन बातोंपर और प्रकाश डाला गया है—१. प्रमाणकी निरुक्ति। २. जीवादि पदार्थोंके जाननेके लिए जैसे प्रमाण माना गया है वैसे प्रमाणके जाननेके लिए अन्य प्रमाण अपेक्षित नहीं, इसका खुलासा। ३. सूत्रमें 'प्रमाणे' इस प्रकार द्विवचन रखनेका कारण। ये विषय सुगम हैं।

§ १७३. पहले कहे गये पाँच प्रकारके ज्ञान दो प्रमाणोंमें आ जाते हैं इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर भी वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक भी हो सकते हैं अतः इस कल्पनाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥११॥

§ १७४. आदि शब्द प्राथम्यवाची है। जो आदिमें हो वह आद्य कहलाता है। **शंका**—दो प्रथम कैसे हो सकते हैं? **समाधान**—पहला मुख्यकल्पनासे प्रथम है और दूसरा उपचार

---

१. त्यर्थः। –उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावादुक्त–मु०।

द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणस्यापि ग्रहणम्। आद्यं च आद्यं च आद्ये मतिश्रुते इत्यर्थः। तदुभयमपि परोक्षं प्रमाणमित्यभिसंबध्यते। कुतोऽस्य परोक्षत्वम्[1]। परायत्तत्वात् "मतिज्ञानं इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इति वक्ष्यते "श्रुतमनिन्द्रियस्य" इति च। अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते। अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः।

§ १७५. अभिहितलक्षणात्परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह—

कल्पनासे प्रथम है। मतिज्ञान तो मुख्यकल्पनासे प्रथम है और श्रुतज्ञान भी उसके समीपका होनेसे प्रथम है ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्रमें 'आद्ये' इस प्रकार द्विवचनका निर्देश किया है अतः उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण हो जाता है। 'आद्ये' पदका समास 'आद्यं च आद्यं च आद्ये' है। इससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों लिये गये हैं। ये दोनों ज्ञान मिलकर परोक्ष प्रमाण हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। **शंका**—ये दोनों ज्ञान परोक्ष क्यों हैं? **समाधान**—क्योंकि ये दानों ज्ञान पराधीन हैं। 'मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है' यह आगे कहेंगे और 'अनिन्द्रियका विषय श्रुत है' यह भी आगे कहेंगे। अतः 'पर'से यहाँ इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त लेने चाहिए। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं अतः ये परोक्ष कहलाते हैं। उपमान और आगमादिक भी ऐसे ही हैं अतः इनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विशेषार्थ—पिछले सूत्रमें दो प्रकारके प्रमाणोंका उल्लेख कर आये हैं। वे दो प्रमाण कौन हैं और उनमें पाँच ज्ञानोंका कैसे विभाग होता है यह बतलाना शेष है, अतः ग्यारहवें और बारहवें सूत्रों द्वारा यही बतलाया गया है। उसमें भी ग्यारहवें सूत्र द्वारा प्रमाणके पहले भेदकी परोक्ष संज्ञा बतलाकर उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका अन्तर्भाव किया गया है। दूसरे लोग जो इन्द्रियोंका अविषय है उसे परोक्ष कहते हैं। किन्तु जैन परम्परामें परोक्षता और प्रत्यक्षता यह ज्ञानका धर्म मानकर उस प्रकारसे उनकी व्याख्या की गयी है। जैन परम्पराके अनुसार परकी सहायतासे जो अक्ष अर्थात् आत्माके ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है परोक्ष शब्दका यह अर्थ लिया गया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान ऐसे हैं जो यथासम्भव इन्द्रिय, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदिके बिना नहीं हो सकते, अतः ये दोनों परोक्ष माने गये हैं। दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन्द्रिय ज्ञानका सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे उल्लेख देखनेको मिलता है। सो यह कथन औपचारिक जानना चाहिए। दूसरे लोगोंने अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। वहाँ इसी अपेक्षासे इन्द्रिय ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष लिखा गया है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। वस्तुतः आत्माके सिवा अन्य निमित्तसे जितना भी ज्ञान होता है वह सब परोक्ष ही है। उपमान, आगम आदि और जितने ज्ञान हैं वे भी अन्यकी अपेक्षाके बिना नहीं होते अतः उनका इन्हीं ज्ञानोंमें अन्तर्भाव हो जानेसे मुख्यतः परोक्ष ज्ञान दो ही ठहरते हैं एक मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि ये ज्ञान केवल बाह्य निमित्तसे नहीं होते हैं। मुख्यतया इनकी उत्पत्तिमें मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम आवश्यक है। आत्माकी ऐसी योग्यता हुए बिना ये ज्ञान नहीं होते। ऐसी योग्यताके होने पर बाह्यनिमित्त सापेक्ष इनकी प्रवृत्ति होती है यह उक्त कथनका सार है।

§ १७५. परोक्षका लक्षण कहा। इससे बाकीके सब ज्ञान प्रत्यक्ष हैं इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

१. –क्षत्वम्? परापेक्षत्वात्। मति–आ०, दि० १, दि० २।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

§ १७६. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। अवधिदर्शनं केवलदर्शनमपि अक्षमेव प्रतिनियतमतस्तस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति । नैष दोषः; ज्ञानमित्यनुवर्तते, तेन दर्शनस्य व्युदासः। एवमपि विभङ्गज्ञानमक्षमेव[1] प्रतिनियतमतोऽस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति । सम्यगित्यधिकारात् तन्निवृत्तिः । सम्यगित्यनुवर्तते तेन ज्ञानं विशिष्यते ततो विभङ्गज्ञानस्य निवृत्तिः कृता । तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद्विपरीतार्थविषयमिति न सम्यक् ।

§ १७७. स्यान्मतमिन्द्रियव्या[3]पारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रि[4]यविषयव्यापारं परोक्षमित्येतदविसंवादि लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति । तदयुक्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्[5] । यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते [6]एवं सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात् । न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः । अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते, तस्यासर्वज्ञत्वं स्यात् । तस्य मानसं प्रत्यक्षमिति चेत्; मनः[7]प्रणिधानपूर्वकत्वात् ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभाव एव । आगमतस्तत्सिद्धिरिति चेत् । न; तस्य[8] प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ।

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥१२॥

§ १७६. अक्ष शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । अक्ष व्याप और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरणरहित आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । **शंका**—अवधिदर्शन और केवलदर्शन भी अक्ष अर्थात् आत्माके प्रति नियत हैं अतः प्रत्यक्ष शब्दके द्वारा उनका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रकृतमें ज्ञान शब्दकी अनुवृत्ति है जिससे दर्शनका निराकरण हो जाता है । **शंका**—यद्यपि इससे दर्शनका निराकरण हो जाता है तो भी विभंगज्ञान केवल आत्माके प्रति नियत है अतः उसका ग्रहण प्राप्त हो जाता है ? **समाधान**—यहाँ 'सम्यक्' पदका अधिकार है, अतः उसका निराकरण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्रमें 'सम्यक्, पदकी अनुवृत्ति होती है जिससे ज्ञान विशेष्य हो जाता है इसलिए विभंगज्ञानका निराकरण हो जाता है। क्योंकि विभंगज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयसे विपरीत पदार्थको विषय करता है इसलिए वह समीचीन नहीं है ।

§ १७७. **शंका**—जो ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए ? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त लक्षणके मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियोंके निमित्त से होनेवाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि आप्तके इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता । कदाचित् उसके भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती । **शंका**—उसके मानस प्रत्यक्ष होता है ? **समाधान**—मनके प्रयत्नसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्वका अभाव ही होता है। **शंका**—आगमसे सब पदार्थोंका ज्ञान हो जायगा ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक प्राप्त होती है ।

---

१. –ज्ञानमपि प्रति–मु०। २. –रात् तस्तन्नि–मु०। ३. 'अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।'–,१,१, ३ न्याय० भा० । ४. 'परोक्ष इत्युच्यते किं परोक्षं नाम । परमक्ष्णः परोक्षम् ।'–पा० म० भा०३।२।२।११५। ५. –प्रसंगता । यदि आ०, दि० १, दि०२ । ६. एवं प्रसक्त्या आप्त–मु० । ७. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम् ।' –न्या० सू० १।१।१६। ८. तस्य आगमस्य प्रत्य–मु० ।

§ १७८. योगिप्रत्यक्षमन्यज्ज्ञानं दिव्यमप्यस्तीति चेत् । न तस्य प्रत्यक्षत्वं; इन्द्रियनिमि[1]-त्तत्वाभावात्; अक्षमक्षं[2] प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात् ।

§ १७९. किंच सर्वज्ञत्वाभावः प्रतिज्ञाहानिर्वा । अस्य योगिनो यज्ज्ञानं तत्प्रत्यर्थवशवर्ति वा स्याद् अनेकार्थग्राहि वा । यदि प्रत्यर्थवशवर्ति, सर्वज्ञत्वमस्य नास्ति योगिनः, ज्ञेयस्यानन्त्यात् । अथानेकार्थग्राहि, या प्रतिज्ञा—

"विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा । एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा ॥"

सा हीयते ।

§ १८०. अथवा "क्षणिकाः[3] सर्वसंस्काराः" इति प्रतिज्ञा हीयते; अनेकक्षण[4]वृत्त्येकविज्ञानाभ्युपगमात् । अनेकार्थग्रहणं हि क्रमेणेति । युगपदेवेति चेत् । योऽस्य जन्मक्षणः स आत्मलाभार्थ एव । लब्धात्मलाभं हि किंचित्स्वकार्यं प्रति व्याप्रियते । प्रदीपवदिति चेत् । तस्याप्यनेकक्षणविषयतायां सत्यामेव प्रकाश्यप्रकाशनाभ्युपगमात् । विकल्पातीतत्वात्तस्य शून्यताप्रसङ्गश्च ।

---

§ १७८. **शंका**—योगी प्रत्यक्ष नामका एक अन्य दिव्य ज्ञान है ? **समाधान**—तो भी उसमें प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियोंके निमित्तसे नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रियसे होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मतमें स्वीकार भी किया गया है।

§ १७९. दूसरे प्रत्यक्षका उपर्युक्त लक्षण माननेपर सर्वज्ञत्वका अभाव और प्रतिज्ञाहानि ये दो दोष आते हैं। विशेष इस प्रकार है—इस योगीके जो ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है या अनेक अर्थोंको युगपत् जानता है। यदि प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है तो इस योगीके सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं। और यदि अनेक अर्थोंको युगपत् जानता है तो जो यह प्रतिज्ञा है कि 'जिस प्रकार एक विज्ञान दो अर्थोंको नहीं जानता है उसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते हैं।' वह नहीं रहती।

§ १८०. अथवा 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा नहीं रहती, क्योंकि आपके मतमें क्षण-तक रहनेवाला एक विज्ञान स्वीकार किया गया है। अतः अनेक पदार्थोंका ग्रहण क्रमसे ही होता है। **शंका**—अनेक पदार्थोंका ग्रहण एक साथ हो जायगा ? **समाधान**—जो ज्ञानको उत्पत्तिका समय है उस समय तो वह स्वरूप लाभ ही करता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वरूपलाभ करनेके पश्चात् ही अपने कार्यके प्रति व्यापार करता है। **शंका**—विज्ञान दीपकके समान है अतः उसमें दोनों बातें एक साथ बन जायेंगो ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि उसके अनेक क्षण तक रहनेपर ही प्रकाश्यभूत पदार्थोंका प्रकाशन करना स्वीकार किया गया है। यदि ज्ञानको विकल्पातीत माना जाता है तो शून्यताकी प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें कौन-कौन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं यह बतलाया गया है। प्रसंगसे इसकी टीकामें इन विशेषताओंपर प्रकाश डाला गया है—

१. अक्ष शब्दका अर्थ। २. प्रत्यक्ष शब्दकी व्युत्पत्ति। ३. अक्ष शब्दका अर्थ इन्द्रिय या मन करके प्रत्यक्ष शब्दका लक्षण करनेपर क्या दोष आते हैं इनका निर्देश। ४. आगमसे सर्वज्ञता नहीं बनती किन्तु वह प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही प्राप्त होती है इसका निर्देश। ५. बौद्धोंके द्वारा माने गये प्रत्यक्षके लक्षणको स्वीकार करनेपर क्या दोष प्राप्त होते हैं इसकी चर्चा। ६. प्रसंगसे बौद्धोंके यहाँ सर्वज्ञता कैसे नहीं बनती और प्रतिज्ञाहानि दोष कैसे आता है इसका निर्देश। तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि प्रत्यक्षज्ञानको इन्द्रियनिमित्तक या मन-निमित्तक माननेपर सर्वज्ञता नहीं बनती। वेद ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान, दूरवर्ती, सूक्ष्म इत्यादि

---

१. निमित्ताभा–मु० । २. 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते तत्प्रत्यक्षम् ।'–न्याय बिन्दु० टी० पृ० ११ । ३. 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ।'....। ४. क्षणवर्त्येक–मु० ।

§ १८१. अभिहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

§ १८२. आदौ[1] उद्दिष्टं यज्ज्ञानं तस्य पर्यायशब्दा एते वेदितव्याः; मतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्तरङ्गनिमित्तजनितोपयोगविषयत्वादेतेषां श्रुतादिष्वप्रवृत्तेश्च। मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध इति। यथासंभवं विग्रहान्तरं विज्ञेयम्।

§ १८३. सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबललाभात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा इन्द्रः[2] शक्रः पुरन्दर इति इन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शचीपतेरेकस्यैव संज्ञा[3]। समभिरूढनयापेक्षया तेषामर्थान्तरकल्पनायां मत्यादिष्वपि स क्रमो विद्यत एव। किं तु मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं [4]नातिवर्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः। 'इति'शब्दः [5]प्रकारार्थः। एवंप्रकारा अस्य पर्यायशब्दा इति। अभिधेयार्थो वा। मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्येतैर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एव इति।

अर्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है। इसीसे सकल पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और मनोजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा मीमांसक मानते हैं। परन्तु उनका ऐसा मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्ष ज्ञानके बिना नहीं बन सकती है। यह बात चौथी विशेषता-द्वारा बतलायी गयी है। बौद्ध भी अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु उनका ऐसा मानना क्यों समीचीन नहीं है यह पाँचवीं विशेषता-द्वारा बतलाया गया है। शेष कथन सुगम है।

§ १८१. प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे। अब प्रथम प्रकारके प्रमाणके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं ॥१३॥

§ १८२. आदिमें जो ज्ञान कहा है उसके ये पर्यायवाची शब्द जानने चाहिए, क्योंकि ये मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अन्तरंग निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको विषय करते हैं और इनकी श्रुतादिकमें प्रवृत्ति नहीं होती। 'मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता और अभिनिबोधनमभिनिबोधः' यह इनकी व्युत्पत्ति है। यथा सम्भव इनका दूसरा विग्रह जानना चाहिए।

§ १८३. यद्यपि इन शब्दोंकी प्रकृति अलग-अलग है अर्थात् यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातुसे बने हैं तो भी रूढ़िसे पर्यायवाची हैं। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर। इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रियाकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपतिकी वाचक संज्ञाएँ हैं। अब यदि समभिरूढ नयकी अपेक्षा इन शब्दोंका अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति आदि शब्दोंमें भी पाया जाता है। किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको उल्लंघन नहीं करते हैं यह अर्थ यहाँपर विवक्षित है। प्रकृतमें 'इति' शब्द प्रकारवाची है जिससे यह अर्थ होता है कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द हैं। अथवा प्रकृतमें मति शब्द अभिधेयवाची है। जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह एक ही है।

---

१. आदौ यदुद्दिष्टं ज्ञानं मु०। २. 'बहवो हि शब्दाः एकार्था भवन्ति। तद्यथा—'इन्द्रः शक्रः पुरुहूतः पुरन्दरः।'—पा० म० भा० १।१।२।४५। ३. संज्ञाः। सम—मु०। ४. नातिवर्तत इति मु०। ५. —कारार्थे। एवं—आ०, दि० १, दि० २। 'हेतावेवं प्रकारे च व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समासौ च इतिशब्दः प्रकीर्तितः।' — अने० ना० श्लो०।

§ १८४. अथास्यात्मलाभे किं निमित्तमित्यत आह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

§ १८५. इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धि[1]लिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रि[2]यमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। यथा इह धूमोऽग्नेः। एवमिदं स्पर्शनादि करणं नासति कर्तर्यात्मनि भवितुमर्हतीति ज्ञातुरस्तित्वं गम्यते। अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते। तेन सृष्टमिन्द्रियमिति[3]। तत्स्पर्शनादि उत्तरत्र वक्ष्यते।

§ १८६. अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्। कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रलिङ्गे

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। षट्खण्डागमके प्रकृति अनुयोगद्वारमें भी मतिज्ञानके ये ही पर्यायवाची नाम आये हैं। अन्तर केवल यह है कि वहाँ मतिज्ञान नाम न देकर आभिनिबोधिकज्ञान नाम दिया है और फिर इसके संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चार पर्यायवाची नाम दिये हैं। इससे जो लोग प्रकृतमें मतिका अर्थ वर्तमान ज्ञान, स्मृतिका अर्थ स्मरणज्ञान, संज्ञाका अर्थ प्रत्यभिज्ञान, चिन्ताका अर्थ तर्क और अभिनिबोधका अर्थ अनुमान करते हैं उनके मतका खण्डन हो जाता है। वास्तवमें यहाँ इन नामोंका विविध ज्ञानों की अपेक्षासे संग्रह नहीं किया गया है किन्तु मतिज्ञानके पर्यायवाची नामोंकी अपेक्षासे ही संग्रह किया गया है। सूत्रकारने इसी अर्थमें इनका अनर्थान्तररूपसे निर्देश किया है। इस सूत्रकी टीकामें इन विशेषताओंपर प्रकाश डाला गया है। १. मति आदि शब्दोंके पर्यायवाची होनेमें हेतु। २. मति आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति। ३. मति आदि शब्दोंमें प्रकृति भेद होनेपर भी उनके पर्यायवाचित्वका दृष्टान्त-द्वारा समर्थन। ४. समभिरूढनयकी अपेक्षा इनमें अर्थ भेद होनेपर भी प्रकृतमें ये पर्यायवाची क्यों हैं इनमें पुनः युक्ति। ५. सूत्रमें आये हुए 'इति' शब्दकी सार्थकता।

§ १८४. मतिज्ञानके स्वरूप लाभमें क्या निमित्त है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और मनरूप निमित्तसे होता है ॥ १४ ॥

§ १८५. इन्द्र शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'इन्दतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके रहते हुए स्वयं पदार्थोंको जानने में असमर्थ है अतः उसको पदार्थके जानने में जो लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्रका लिंग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थका ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इन्द्रिय शब्दका यह अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्माके अस्तित्वका ज्ञान करानेमें लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें कारण होता है। इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्त्ता आत्माके अभावमें नहीं हो सकते हैं अतः उनसे ज्ञाताका अस्तित्व जाना जाता है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि उससे रची गयी इन्द्रिय है। वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक हैं जिनका कथन आगे करेंगे। अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं।

§ १८६. **शंका**—अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रियका निषेधपरक है अतः इन्द्रके लिंग मनमें अनिन्द्रिय

---

१. –लब्धिनिमित्तं लिङ्गं मु०। २. 'भोगसाधनानीन्द्रियाणि।'–न्या० भा० १।१।९। ३. 'भगवा हि सम्मासंबुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो, कुसलाकुसलं च कम्मं, कम्मेसु कस्सचि इस्सरियाभावतो। तेनेत्थ कम्मसज्जनितानि ताव इंद्रियानि कुसलाकुसलं कम्मं उल्लिंगेन्ति, तेन च सिट्ठानीति इन्दलिंगट्ठेन इन्दसिट्ठट्ठेन च इंदियानि।'····वि० म० पृ० ३४३।

एव मनसि अनिन्द्रियशब्दस्य वृत्तिः। ईषदर्थस्य नञः प्रयोगात्। ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति। यथा अनु[1]दरा कन्या इति। कथमीषदर्थः। इमानीन्द्रियाणि[2] प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च। न तथा मनः इन्द्रस्य लिङ्गमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तरावस्थायि च।

§ १८७. तदन्तःकरणमिति चोच्यते। गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं[3]करणमन्तःकरणमित्युच्यते।

§ १८८. तदिति किमर्थम्। मतिज्ञाननिर्देशार्थम्। ननु च तदनन्तरं 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति तस्यैव ग्रहणं भवति। इहार्थमुत्तरार्थं च तदित्युच्यते। यन्मत्यादिपर्यायशब्दवाच्यं ज्ञानं तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तदेवावग्रहेहावायधारणा इति। इतरथा हि प्रथमं मत्यादिशब्दवाच्यं ज्ञानमित्युक्त्वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं श्रुतम्। तदेवावग्रहेहावायधारणा इत्यनिष्टमभिसंबध्येत।

शब्दका व्यापार कैसे हो सकता है? **समाधान**—यहाँ नञ्का प्रयोग 'ईषद्' अर्थमें किया है ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। यथा अनुदरा कन्या। इस प्रयोगमें जो अनुदरा शब्द है उससे उदरका अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। **शंका**—अनिन्द्रिय में नञ्का निषेध रूप अर्थ न लेकर 'ईषद्' अर्थ क्यों लिया गया है? **समाधान**—ये इन्द्रियाँ नियत देशमें स्थित पदार्थोंको विषय करती हैं और कालान्तरमें अवस्थित रहती हैं। किन्तु मन इन्द्रका लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देशमें स्थित पदार्थको विषय नहीं करता और कालान्तरमें अवस्थित नहीं रहता।

§ १८७. यह अन्तःकरण कहा जाता है। इसे गुण और दोषोंके विचार और स्मरण करने आदि कार्योंमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नहीं होती इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्तःकरण कहलाता है। इसलिए अनिन्द्रिय में नञ्का निषेध रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है।

§ १८८. **शंका**—सूत्रमें 'तत्' पद किसलिए दिया है? **समाधान**—सूत्रमें 'तत्' पद मतिज्ञानका निर्देश करनेके लिए दिया है। **शंका**—मतिज्ञानका निर्देश अनन्तर किया ही है और ऐसा नियम है कि 'विधान या निषेध अनन्तरवर्ती पदार्थका हो होता है' अतः यदि सूत्रमें 'तत्' पद न दिया जाय तो भी मतिज्ञानका ग्रहण प्राप्त होता है? **समाधान**—इस सूत्रके लिए और अगले सूत्रके लिए 'तत्' पदका निर्देश किया है। मति आदि पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा जो ज्ञान कहा गया है वह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है और उसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होता। यदि 'तत्' पद न दिया जाय तो मति आदि पर्यायवाची नाम प्रथम ज्ञानके हो जायेंगे और इन्द्रिय-अनिन्द्रियके निमित्त होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलायेगा और इसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद प्राप्त होंगे इस प्रकार अनिष्ट अर्थके सम्बन्धकी प्राप्ति होगी अतः इस अनिष्ट अर्थके सम्बन्धके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पदका निर्देश करना आवश्यक है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तोंकी चर्चा करते हुए वे इन्द्रिय और मनके भेदसे दो प्रकारके बतलाये हैं। यद्यपि इस ज्ञानकी उत्पत्तिमें अर्थ और आलोक आदि भी

---

१. 'अनुदरा कन्येति।' पा० म० भा० ६।३।२।४२। २. 'इन्द्रस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्। भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च....।' न्या० भा० १।१।४। 'सर्वविषयमन्तःकरणं मनः।'—न्या० भा० १।१।९। ३. –र्गतं करणमित्यु मु०।

§ १८९. एवं निर्ज्ञातोत्पत्तिनिमित्तमनिर्णीतभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

§ १९०. विषयविषयिसंनिपातसमनन्तरमाद्यं[1] ग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थ[2]ग्रहणमवग्रहः। यथा—चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः। अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। यथा—शुक्लं रूपं किं बलाका [3]पताका वेति। विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। उत्पतननिप[4]तनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाकैवेयं न पताकेति। अवे[5]तस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा[6]। यथा—सैवेयं बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति। [7]एषामवग्रहादीनामुपन्यासक्रम उत्पत्तिक्रमकृतः।

निमित्त होते हैं पर वे अव्यभिचारी कारण न होनेसे उनका यहाँ निर्देश नहीं किया है। इसकी टीकामें इन्द्रिय-अनिन्द्रिय शब्दका क्या अर्थ है इस पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रियोंको जो प्रतिनियत देशको विषय करनेवाला और कालान्तरमें अवस्थित रहनेवाला तथा मनको अनियत देशको विषय करनेवाला और कालान्तरमें अवस्थित नहीं रहनेवाला बतलाया है सो इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ देश और काल दोनोंकी अपेक्षा नियत विषयको ग्रहण करती हैं वैसा मन नहीं है। इस प्रकार मनका विषय नियत नहीं है। उसकी इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय सब विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। इसका दूसरा नाम अन्तःकरण क्यों है इसका स्पष्टार्थ टीका में किया ही है। शेष कथन सुगम है।

§ १८९. इस प्रकार मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्त जान लिये, किन्तु अभी उसके भेदोंका निर्णय नहीं किया अतः उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए अगला सूत्र कहते हैं—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके चार भेद हैं ॥१५॥

§ १९०. विषय और विषयीके सम्बन्धके बाद होनेवाले प्रथम ग्रहणको अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है उसके पश्चात् जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंमें उसके विशेषके जाननेकी इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे, जो शुक्ल रूप देखा है 'वह क्या बकपंक्ति है' इस प्रकार विशेष जाननेकी इच्छा या 'वह क्या पताका है' इस प्रकार जाननेकी इच्छा ईहा है। विशेषके निर्णय-द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पतन, निपतन और पक्षविक्षेप आदिके द्वारा 'यह बकपंक्ति ही है ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है। जानी हुई वस्तुका जिस कारण कालान्तरमें विस्मरण नहीं होता उसे धारणा कहते हैं। जैसे यह वही बकपंक्ति है जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था ऐसा जानना धारणा है। सूत्रमें इन अवग्रहादिकका उपन्यासक्रम इनके उत्पत्तिक्रमकी अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि जिस क्रमसे ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रमसे इनका सूत्रमें निर्देश किया है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानके चार भेद किये हैं सो ये भेद मतिज्ञानकी उपयोग रूप अवस्थाकी प्रधानतासे किये गये हैं। इससे इसका क्षयोपशम भी इतने प्रकारका मान लिया गया है। पदार्थको जानते समय किस क्रमसे वह उसे जानता है यह इन भेदों-द्वारा बतलाया गया है

---

१. –माद्यग्रह–मु०। २. –मर्थस्य ग्रह–मु०। ३. पताकेति। मु०। ४. उत्पतनपक्ष आ०, दि० १, दि० २। ५. अथैतस्य मु०। ६. 'तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो। कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ।'– वि० भा० गा० २९१। ७. ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं न यावायं। धारिज्जइ जं वत्थुं तेण कमोऽवग्गहाईओ ॥' –वि० भा० गा० २९६।

§ १९१. उक्तानामवग्रहादीनां प्रभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

§ १९२. अवग्रहादयः क्रियाविशेषाः प्रकृताः। तदपेक्षोऽयं कर्मनिर्देशः। बह्वादीनां सेतराणामिति। बहुशब्दस्य संख्यावैपुल्यवाचिनो ग्रहणमविशेषात्। संख्यावाची[1] यथा, एको द्वौ बहव इति। वैपुल्यवाची यथा, [2]बहुरोदनो बहुः सूप इति। विधशब्दः प्रकारवाची। क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम्। अनिःसृतग्रहणं असकलपुद्गलोद्गमार्थम्। अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम्। ध्रुवं [3]निरन्तरं यथार्थग्रहणम्। सेतरग्रहणं प्रतिपक्षसंग्रहार्थम्।

§ १९३. बहूनामवग्रहः अल्पस्यावग्रहः बहुविधस्यावग्रहः एकविधस्यावग्रहः क्षिप्रमवग्रहः चिरेणावग्रहः अनिःसृतस्यावग्रहः निःसृतस्यावग्रहः अनुक्तस्यावग्रहः उक्तस्यावग्रहः ध्रुवस्यावग्रहः अध्रुवस्यावग्रहश्चेति अवग्रहो द्वादशविकल्पः। एवमीहादयोऽपि। त एते पञ्चभिरिन्द्रियद्वारैर्मनसा च प्रत्येकं प्रादुर्भाव्यन्ते। तत्र बह्ववग्रहादयः मतिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् प्रभवन्ति नेतरे इति। तेषामभ्यर्हितत्वादादौ ग्रहणं क्रियते।

यह इस कथनका तात्पर्य है। भेदोंके स्वरूपका निर्देश टीकामें किया ही है। विशेष वक्तव्य इतना है कि यह ज्ञान किसी विषयको जानते समय उसीको जानता है। एक विषयके निमित्तसे इसका दूसरे विषय में प्रवेश नहीं होने पाता। टीकामें अवग्रह आदिके जो दृष्टान्त दिये हैं सो उनका वर्गीकरण इसी दृष्टिसे किया गया है।

§ १९१. इस प्रकार अवग्रह आदिका कथन किया। अब इनके भेदोंके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुवके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं ॥१६॥

§ १९२. अवग्रह आदि क्रिया विशेषोंका प्रकरण है उनकी अपेक्षा 'बह्वादीनां सेतराणां' इस प्रकार कर्मकारकका निर्देश किया है। 'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकारका है। इन दोनोंका यहाँ ग्रहण किया है क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची बहु शब्द यथा—एक, दो, बहुत। वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा—बहुत भात, बहुत दाल। 'विध' शब्द प्रकारवाची है। सूत्रमें 'क्षिप्र' शब्दका ग्रहण, जल्दी होनेवाले ज्ञानके जतानेके लिए किया है। जब पूरी वस्तु प्रकट न होकर कुछ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट तब वह अनिःसृत कही जाती है। यहाँ अनिःसृत अर्थ ईषद्निःसृत है अतः इसका ग्रहण करनेके लिए सूत्रमें 'अनिःसृत' पद दिया है। जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्राय से जानी जाती है उसके ग्रहण करनेके लिए 'अनुक्त' पद दिया है। जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है उसके जतानेके लिए 'ध्रुव' पद दिया है। इनसे प्रतिपक्षभूत पदार्थोंका संग्रह करनेके लिए 'सेतर' पद दिया है।

§ १९३. बहुतका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, बहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, अनिःसृतका अवग्रह, निःसृतका अवग्रह, अनुक्तका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह और अध्रुवका अवग्रह ये अवग्रहके बारह भेद हैं। इसी प्रकार ईहादिकमें से प्रत्येकके बारह-बारह भेद हैं। ये सब अलग-अलग पाँच इन्द्रिय और मनके द्वारा उत्पन्न कराने चाहिए। इनमें-से बहु अवग्रह आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके प्रकर्षसे होते हैं इतर नहीं। बहु आदि श्रेष्ठ हैं अतः उनका प्रथम ग्रहण नहीं किया है।

---

१. 'अस्त्येव संख्यावाची। तद्यथा एको द्वौ बहव इति।' पा० म० भा० १।४।२।२१। २. 'बहुरोदनो बहुः सूप इति।'– पा० म० भा० १।४।२।२१। ३. ध्रुवं यथा ता०, न०।

§ १९४. बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषः; यावता बहुष्वपि[1] बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि बहुत्वमस्ति; एकप्रकारनानाप्रकारकृतो विशेषः। उक्तनिःसृतयोः कः प्रतिविशेषः; यावता सकलनिःसरणान्निःसृतम्। उक्तमप्येवंविधमेव। अयमस्ति विशेषः, अन्योपदेशपूर्वकं ग्रहणमुक्तम्। स्वत एव ग्रहणं निःसृतम्।

§ १९५. अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते। अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य[2] इति।

§ १९६. ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च कः प्रतिविशेषः। उच्यते, क्षयोपशमप्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसंतत्या प्राप्तात्क्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहस्तथैव द्वितीयादिष्वपि समयेषु नोनो[3] नाभ्यधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते। यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिश्रणात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रहः कदाचित् बहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते। धारणा पुनर्गृहीतार्थाविस्मरणकारणमिति महदनयोरन्तरम्।

---

§ १९४. **शंका**—बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है। क्योंकि बहु और बहुविध इन दोनोंमें बहुतपना पाया जाता है? **समाधान**—इनमें एक प्रकार और नाना प्रकारकी अपेक्षा अन्तर है। अर्थात् बहुमें प्रकार भेद इष्ट नहीं और बहुविधमें प्रकार भेद इष्ट है। **शंका**—उक्त और निःसृतमें क्या अन्तर है—क्योंकि वस्तुका पूरा प्रकट होना निःसृत है और उक्त भी इसी प्रकार है? **समाधान**—इन दोनोंमें अन्तर यह है—अन्यके उपदेशपूर्वक वस्तुका ग्रहण करना उक्त है और स्वतः ग्रहण करना निःसृत है।

§ १९५. कुछ आचार्योंके मतसे क्षिप्रानिःसृतके स्थानमें 'क्षिप्रनिःसृत' ऐसा पाठ है। वे ऐसा व्याख्यान करते हैं कि श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा शब्दको ग्रहण करते समय वह मयूरका है अथवा कुररका है ऐसा कोई जानता है। दूसरा स्वरूपके आश्रयसे ही जानता है।

§ १९६. **शंका**—ध्रुवावग्रह और धारणामें क्या अन्तर है? **समाधान**—क्षयोपशमकी प्राप्तिके समय विशुद्ध परिणामोंकी परम्पराके कारण प्राप्त हुए क्षयोपशमसे प्रथम समयमें जैसा अवग्रह होता है वैसा ही द्वितीयादिक समयोंमें भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक। यह ध्रुवावग्रह है। किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामोंके मिश्रणसे क्षयोपशम होकर उससे अवग्रह होता है तब वह कदाचित् बहुतका होता है, कदाचित् अल्पका होता है, कदाचित् बहुविधका होता है और कदाचित् एकविधका होता है। तात्पर्य यह कि उसमें न्यूनाधिक भाव होता रहता है इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थके नहीं भूलनेके कारणभूत ज्ञानको कहते हैं, अतः ध्रुवावग्रह और धारणामें बड़ा अन्तर है।

विशेषार्थ—ये अवग्रह आदि मतिज्ञान-द्वारा जानने रूप क्रियाके भेद हैं और बहु आदि उनके कर्म हैं इसलिए इस सूत्रमें इनका इसी रूपसे निर्देश किया गया है। मतिज्ञान-द्वारा पदार्थोंका बहु आदि रूप इतने प्रकारसे अवग्रहण, ईहन, अवाय और धारण होता है यह इसका तात्पर्य है। इन बहु आदिके स्वरूपका तथा उसके अन्तरका व्याख्यान टीकामें किया ही है। मालूम होता है कि पूज्यपाद स्वामीके समय इस सूत्रके दो पाठ प्रचलित थे और उनका दो प्रकारसे व्याख्यान भी किया जाता था जिनका उल्लेख पूज्यपाद स्वामीने स्वयं किया है। एक पाठ जो उस समय अधिक मान्य था या पूज्यपाद स्वामी जिसे मूल पाठ मानते रहे उसका उल्लेख तो उन्होंने व्याख्यानरूपसे किया

---

१. बहुषु बहुविधे।'–मु०। २. –मेवानिःसृत– आ०, दि० १, दि० २, मु०। ३. नोनाभ्य –ता०, न०, मु०।

§ १९७. यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारः, बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येत्यत आह—

अर्थस्य ॥१७॥

§ १९८. चक्षुरादिविषयोऽर्थः। तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्तीत्यभिसंबन्धः क्रियते। किमर्थमिदमुच्यते यावता बह्वादिरर्थ एव। सत्यमेवं किन्तु प्रवादिपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थं 'अर्थस्य' इत्युच्यते। केचित्प्रवादिनो मन्यन्ते रूपादयो गुणा एव इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते तेनैतेषामेव ग्रहणमिति। तदयुक्तम्; न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसंनिकर्षमापद्यन्ते। न[1] तर्हि इदानीमिदं भवति रूपं मया दृष्टं गन्धो वा घ्रात इति। भवति च। कथम्। इयर्ति पर्यायांस्तैर्वाऽर्यत इत्यर्थो द्रव्यं तस्मिन्निन्द्रियैः संनिकृष्यमाणे तदव्यतिरेकाद्रूपादिष्वपि संव्यवहारो युज्यते।

§ १९९. किमिमे अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीत्यत आह—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

है और दूसरे पाठका उल्लेख अन्य कुछ आचार्योंके मतभेद रूपसे किया है। इन दोनों व्याख्यानोंमें जो अन्तर है वह इस प्रकार है—मूल पाठके अनुसार—अनिःसृतज्ञान—अवयवके ग्रहणके समय ही पूरे अवयवीका ज्ञान होना। निःसृतज्ञान—इससे उलटा। पाठान्तरके अनुसार—निःसृतज्ञान—विशेषताको लिये हुए ज्ञान होना। अनिःसृत ज्ञान—विशेषताके विना साधारण ज्ञान होना। शेष कथन सुगम है।

§ १९७. यदि अवग्रह आदि बहु आदिकको जानते हैं तो बहु आदिक किसके विशेषण हैं अब इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अर्थके (वस्तुके) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं ॥१७॥

§ १९८. चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय अर्थ कहलाता है। बहु आदि विशेषणोंसे युक्त उस (अर्थ) के अवग्रह आदि होते हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। **शंका**—यतः बहु आदिक अर्थ ही हैं, अतः यह सूत्र किसलिए कहा ? **समाधान**—यह सत्य है कि बहु आदिक अर्थ ही हैं तो भी अन्य वादियोंकी कल्पनाका निराकरण करने के लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहा है। कितने ही प्रवादी मानते हैं कि रूपादिक गुण ही इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं अतः उन्हींका ग्रहण होता है किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं अतः उनका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। **शंका**—यदि ऐसा है तो 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा' यह व्यवहार नहीं हो सकता, किन्तु होता अवश्य है सो इसका क्या कारण है ? **समाधान**—'जो पर्यायोंसे प्राप्त होता है या पर्यायोंके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है' यह 'अर्थ' शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है। उसके इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होने पर चूंकि रूपादिक उससे अभिन्न है अतः रूपादिकमें भी ऐसा व्यवहार बन जाता है कि 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूंघा।'

विशेषार्थ—ज्ञानका विषय न केवल सामान्य है और न विशेष किन्तु उभयात्मक पदार्थ है। प्रकृतमें इसी बातका ज्ञान करानेके लिए 'अर्थस्य' सूत्रकी रचना हुई है। इससे नैयायिक वैशेषिकोंके इस मतका खण्डन हो जाता है कि रूपादि गुण इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं।

§ १९९. क्या ये अवग्रह आदि सब इन्द्रिय और मन होते हैं या इनमें विषयकी अपेक्षा कुछ भेद हैं ? अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यंजनका अवग्रह ही होता है ॥१८॥

---

१. 'न तर्हि इदानीमिदं भवति।' वा० भा० १, १, ४।

§ २००. व्यञ्जनमव्यक्तं[1] शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति[2] नेहादयः। किमर्थमिदम्। नियमार्थम्, अवग्रह एव नेहादय इति। स तर्हि एवकारः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। 'सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः'[3] इति अन्तरेणैवकारं नियमार्थो भविष्यति। ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किं कृतोऽयं विशेषः। अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः। कथम्। अभिनवशरावार्द्रीकरणवत्। यथा जलकणद्वित्रा[4]सिक्तः सरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनःपुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला[5] द्वित्रादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनःपुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। ततोऽव्यक्तावग्रहणादीहादयो न भवन्ति।

§ २०१. सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासंभवस्तदर्थं प्रतिषेधमाह—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

---

§ २००. अव्यक्त शब्दादिके समूहको व्यंजन कहते हैं। इसका अवग्रह ही होता है ईहादिक नहीं होते। **शंका**—यह सूत्र किसलिए आया है? **समाधान**—अवग्रह ही होता है ईहादिक नहीं होते इस प्रकारका नियम करनेके लिए यह सूत्र आया है। **शंका**—तो फिर इस सूत्रमें एवकारका निर्देश करना चाहिए। **समाधान**—नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'किसी कार्यके सिद्ध रहते हुए यदि उसका पुनः विधान किया जाता है तो वह नियमके लिए होता है' इस नियमके अनुसार सूत्रमें एवकारके न करने पर भी वह नियमका प्रयोजक हो जाता है। **शंका**—जब कि अवग्रहका ग्रहण दोनों जगह समान है तब फिर इनमें अन्तर किंनिमित्तक है? **समाधान**—इनमें व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है। **शंका**—कैसे? **समाधान**—जैसे माटीका नया सकोरा जलके दो तीन कणोंसे सींचने पर गीला नहीं होता और पुनः-पुनः सींचने पर वह धीरे-धीरे गीला हो जाता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा किये गये शब्दादिरूप पुद्गल स्कन्ध दो तीन समयोंमें व्यक्त नहीं होते हैं किन्तु पुनः-पुनः ग्रहण होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहणसे पहले-पहले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है। यही कारण है कि अव्यक्त ग्रहणपूर्व ईहादिक नहीं होते।

विशेषार्थ—यहाँ अव्यक्त शब्दादिकको व्यंजन कहा है। किन्तु वीरसेन स्वामी इस लक्षणसे सहमत नहीं हैं उनके मतानुसार प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यंजन कहलाता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि दृष्टिभेदसे ही ये दो लक्षण कहे गये हैं। तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं। प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यंजन है यह तो पूज्यपाद स्वामी और वीरसेन स्वामी दोनोंको इष्ट है। केवल पूज्यपाद स्वामीने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियोंके द्वारा विषयके प्राप्त होनेपर प्रथम ग्रहणके समय उसकी क्या स्थिति रहती है इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए शब्दजातके पहले अव्यक्त विशेषण दिया है। और वीरसेन स्वामी ऐसा विशेषण देना इष्ट नहीं मानते। शेष कथन सुगम है।

§ २०१. सब इन्द्रियोंके समान रूपसे व्यंजनावग्रहके प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोंके द्वारा यह सम्भव नहीं है उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता ॥ १९ ॥

---

१. 'तक्कालम्मि वि णाणं तत्थत्थि तणुं ति तो तमव्वत्तं।' वि० भा० गा० १९६। २. –ग्रहो भवति। किम–दि० १, दि० २, आ०, मु०। ३. 'सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति'—पा० म० भा० १, १, ३। ४. द्वित्रिसि—मु०। ५. द्वित्र्यादि–मु०।

§ २०२. चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। कुतः। [1]अप्राप्यकारित्वात्। यतोऽप्राप्तमर्थमविदिक्कं [2]युक्तं संनिकर्षविषये [3]ऽवस्थितं बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तमुपलभते चक्षुः मनश्चाप्राप्तमित्यनयोर्व्य[4]ञ्जनावग्रहो[5] नास्ति।

§ २०३. चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं [6]कथमध्यवसीयते। आगमतो युक्तितश्च। आगमतस्तावत्[7]—

"पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअं।
गंधं रसं च फासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि॥"

§ २०४. युक्तितश्च—अप्राप्यकारि चक्षुः; स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं[8] गृह्णीयात् न तु गृह्णात्यतो [9]मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्। ततश्चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः। सर्वेषामिन्द्रियानिन्द्रियाणामर्थावग्रह इति सिद्धम्।

---

§ २०२. चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता है। **शंका**—क्यों? **समाधान**—क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं। चूँकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशामें अवस्थित, युक्त, सन्निकर्षके योग्य देशमें अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदिसे व्यक्त हुए पदार्थको ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण करता है अतः इन दोनोंके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

§ २०३. **शंका**—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है? **समाधान**—आगम और युक्तिसे जाना जाता है। आगमसे यथा—'श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है और अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती हैं।"

§ २०४. युक्तिसे यथा—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थको नहीं ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रियके समान स्पृष्ट हुए अंजनको ग्रहण करती। किन्तु वह स्पृष्ट अंजनको नहीं ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु और मनको छोड़कर शेष इन्द्रियोंके व्यंजनावग्रह होता है। तथा सब इन्द्रिय और मनके अर्थावग्रह होता है।

विशेषार्थ—पहले अवग्रहके दो भेद बतला आये हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनमेंसे अर्थावग्रह तो पाँचों इन्द्रियों और मन इन छहोंसे होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन इन दोसे नहीं होता यह इस सूत्रका भाव है। चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता, इसका निर्देश करते हुए जो टीकामें लिखा है उसका भाव यह है कि ये दोनों अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये दोनों विषयको स्पृष्ट करके नहीं जानते हैं इसलिए इन द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता। इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि व्यंजनावग्रह प्राप्त अर्थका ही होता है और अर्थावग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंका होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अप्राप्त अर्थका अर्थावग्रह होता है तो होओ इसमें बाधा नहीं, पर प्राप्त अर्थका अर्थावग्रह कैसे हो सकता है? सो इस शंकाका यह समाधान है कि प्राप्त अर्थका सर्व प्रथम ग्रहणके समय तो व्यंजनावग्रह ही होता है किन्तु बादमें उसका भी अर्थावग्रह हो जाता है। नेत्र प्राप्त अर्थको क्यों नहीं जानता इसका

---

१. अप्राप्तिका—आ०, दि० १, दि० २। २. युक्तस –मु०, ता०, ना०। ३. विशेषेऽव—मु०, ता०, ना०। ४. प्राप्तमतो नानयोर्व्य—मु०, ता०, ना०। ५. ग्रहोऽस्ति—मु०। ६. कथमप्यवसी—मु०। ७. तावत्—पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि॥ युक्ति—मु०। आ० नि० गा० ५। .८ "जह पत्तं गेण्हेज उ तग्गयमंजण—।" वि० भा० गा० २१२। ९. 'लोयणमपत्तविसयं मणोव्व।'—वि० भा० गा० २०९।

§ २०५. आह निर्दिष्टं मतिज्ञानं लक्षणतो विकल्पतश्च; तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् श्रुतं तस्येदानीं लक्षणं विकल्पश्च वक्तव्य इत्यत आह–

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

§ २०६. श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते। यथा कुशलवनकर्म प्रतीत्य[1] व्युत्पादितोऽपि कुशलशब्दो रूढिवशात्पर्यवदाते[2] वर्तते। कः पुनरसौ ज्ञानविशेष इति। अत आह 'श्रुतं मतिपूर्वम्' इति। श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयतीति[3] पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्। मतिर्निर्दिष्टा। मतिः पूर्वमस्य मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः। यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इति। नैतदैकान्तिकम्। दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः। अपि च सति तस्मिंस्तदभावात्। सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसंनिधानेऽपि प्रबलश्रुतावरणोदयस्य श्रुताभावः। श्रुतावरणक्षयोपशमप्रकर्षे तु सति श्रुतज्ञानमुत्पद्यत इति मतिज्ञानं निमित्तमात्रं ज्ञेयम्।

निर्देश तो टीकामें किया ही है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी कदाचित् अप्राप्यकारी होती हैं यह भी सिद्ध होता है। प्रायः पृथिवीमें जिस ओर निधि रखी रहती है उस ओर वनस्पतिके मूलका विकास देखा जाता है। यह तभी बन सकता है जब स्पर्शन इन्द्रिय-द्वारा अप्राप्त अर्थका ग्रहण बन जाता है। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय-द्वारा भी उसकी सिद्धि हो जाती है। शेष कथन सुगम है।

§ २०५. लक्षण और भेदोंकी अपेक्षा मतिज्ञानका कथन किया। अब उसके बाद श्रुतज्ञानके लक्षण और भेद कहने चाहिए; इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है ॥ २० ॥

§ २०६. यह 'श्रुत' शब्द सुनने रूप अर्थकी मुख्यतासे निष्पादित है तो भी रूढ़िसे उसका वाच्य कोई ज्ञानविशेष है। जैसे 'कुशल' शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ कुशाका छेदना है तो भी रूढ़िसे उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है। वह ज्ञानविशेष क्या है इस बातको ध्यानमें रखकर 'श्रुतं मतिपूर्वम्' यह कहा है। जो श्रुतकी प्रमाणताको पूरता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची हैं। मतिका व्याख्यान पहले कर आये हैं। वह मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्व कहलाता है जिसका अर्थ मतिकारणक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञानके निमित्तसे होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। **शंका**—यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है; क्योंकि लोकमें कारणके समान ही कार्य देखा जाता है? **समाधान**—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिकसे होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नहीं होता। दूसरे, मतिज्ञानके रहते हुए भी श्रुतज्ञान नहीं होता। यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञानके बाह्य निमित्त भी रहे आते हैं तो भी जिसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल उदय पाया जाता है उसके श्रुतज्ञान नहीं होता। किन्तु श्रुतज्ञानावरण कर्मका प्रकर्ष क्षयोपशम होनेपर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र जानना चाहिए।

---

१. प्रतीत्या व्यु—मु०। २. 'अवदातं तु विमले मनोज्ञा'—'अ० ना० ४, ९६। ३. पुव्वं पूरणगालणभावओ जं मई।' वि० भा० गा० १०५।

§ २०७. आह, श्रुतमनादिनिधनमिष्यते। तस्य मतिपूर्वकत्वे तदभावः; आदिमतोऽन्तवत्त्वात्। ततश्च [1]पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यमिति नैष दोषः; द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिधनमिष्यते। न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित्कदाचित्कथंचिदुत्प्रेक्षितमिति। तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति 'मतिपूर्वम्' इत्युच्यते। यथाङ्कुरो बीजपूर्वकः स च संतानापेक्षया अनादिनिधन इति। न चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः।

§ २०८. आह, [2]प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामान्मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत इति। तदयुक्तम्; सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात्। [3]आत्मलाभस्तु क्रमवानिति मतिपूर्वकत्वव्याघाताभावः।

§ २०९. आह, मतिपूर्वं श्रुतमित्येतल्लक्षणमव्यापि श्रुतपूर्वमपि श्रुतमिष्यते। तद्यथा—शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवा[4]क्यादिभावाच्चक्षुरादिविषयाच्च आद्यश्रुतविषयभावमापन्नादव्यभिचारिणः [5]कृतसंगीतिर्जनो घटाज्जलधारणादि कार्यं संबन्ध्यन्तरं[6] प्रतिपद्यते, धूमादेर्वाग्न्यादिद्रव्यं, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति। नैष दोषः; तस्यापि मतिपूर्वकत्वमुपचारतः। श्रुतमपि क्वचिन्मतिरित्युपचर्यते मतिपूर्वकत्वादिति।

---

§ २०७. **शंका**—श्रुतज्ञानको अनादिनिधन कहा है। ऐसी अवस्थामें उसे मतिज्ञानपूर्वक मान लेने पर उसकी अनादिनिधनता नहीं बनती, क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है। और इसलिए वह पुरुषका कार्य होनेसे उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य आदि सामान्य नयकी मुख्यतासे श्रुतको अनादिनिधन कहा है। किसी पुरुषने कहीं और कभी किसी भी प्रकारसे उसे किया नहीं है। हाँ उन्हीं द्रव्य आदि विशेष नयकी अपेक्षा उसका आदि और अन्त सम्भव है इसलिए 'वह मतिपूर्वक होता है' ऐसा कहा जाता है। जैसे कि अंकुर बीजपूर्वक होता है, फिर भी वह सन्तानकी अपेक्षा अनादिनिधन है। दूसरे जो यह कहा है कि पुरुषका कार्य होनेसे वह अप्रमाण है सो अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है। यदि अपौरुषेयताको प्रमाणताका कारण माना जाय तो जिसके कर्ताका स्मरण नहीं होता ऐसे चोरी आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायँगे। तीसरे प्रत्यक्ष आदि ज्ञान अनित्य होकर भी यदि प्रमाण माने जाते हैं तो इसमें क्या विरोध है, अर्थात् कुछ भी नहीं।

§ २०८. **शंका**—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह कथन नहीं बनता? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होती है। इन दोनोंका आत्मलाभ तो क्रमसे ही होता है, इसलिए 'श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है' इस कथनका व्याघात नहीं होता।

§ २०९. **शंका**—'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि श्रुतज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है ऐसा कहा जाता है। यथा—किसी एक जीवने वर्ण, पद और वाक्य आदि रूपसे शब्द परिणत पुद्गल स्कन्धोंको कर्ण इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण किया। अनन्तर उससे घटपदार्थ विषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। यदि उसने घटके कार्योंका संकेत कर रखा है तो उसे उस घटज्ञानके बाद जलधारणादि दूसरे कार्योंका ज्ञान होता है और तब श्रुतज्ञानसे

---

१. -षकृतत्वा—मु०। २. 'णाणाण्णाणाणि य समकालाइं जओ मइसुयाइं। तो न सुयं मइपुव्वं मइणाणे वा 'सुयन्नाणं'—वि० भा० गा० १०७। ३. 'इहलद्धिमइसुयाइं समकालाइं न तूवओगो सिं। मइपुव्वं सुयमिह पुण सुओपओगो मइप्पभवो। —वि० भा० गा० १०८। ४. पदव्याख्यादि—आ०, दि० १। ५. संगति—मु०। ६. सम्बन्धान्तरं ता०, ना०।

§ २१०. भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति। द्विभेदं तावत्—अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति। अङ्गबाह्यमनेकविधं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि। अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्। तद्यथा, आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं अन्तकृद्दशं अनुत्तरौपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिवाद इति। दृष्टिवादः पञ्चविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति। तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्—उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति। तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति।

§ २११. किंकृतोऽयं विशेषः। [1]वक्तृविशेषकृतः। त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणम्; तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।

श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। या किसी एक जीवने चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयको ग्रहण किया। अनन्तर उसे उससे धूमादि पदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। यदि उसे धूमादि और अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धका ज्ञान है तो वह धूमादिके निमित्तसे अग्नि आदि द्रव्यको जानता है और तब भी श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात नहीं बनती? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँपर श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है वहाँपर प्रथम श्रुतज्ञान उपचारसे मतिज्ञान माना गया है। श्रुतज्ञान भी कहींपर मतिज्ञानरूपसे उपचरित किया जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है ऐसा नियम है।

§ २१०. सूत्रमें आये हुए 'भेद' शब्दको दो आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद। श्रुतज्ञानके दो भेद अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट हैं। अंगबाह्यके दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं। यथा—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें-से पूर्वगतके चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। इस प्रकार यह श्रुत दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है।

§ २११. **शंका**—यह भेद किंकृत है? **समाधान**—यह भेद वक्ताविशेषकृत है। वक्ता तीन प्रकारके हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय। इनमें-से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूतिविशेषसे युक्त हैं। इस कारण उन्होंने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं इसलिए प्रमाण हैं। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धिके अतिशयरूप ऋद्धिसे युक्त गणधर श्रुतकेवलियोंने अर्थरूप आगमका स्मरण कर अंग और पूर्वग्रन्थोंकी रचना की। सर्वज्ञदेवकी प्रमाणताके कारण ये भी प्रमाण हैं। तथा आरातीय आचार्योंने कालदोषसे जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्योंका

---

१. –शेषः। विशेषवक्तृतो विशेषः कृतः। आ०, दि० १, दि० २।

§ २१२. व्याख्यातं परोक्षम् । प्रत्यक्षमिदानीं वक्तव्यम् । तद् द्वेधा—देशप्रत्यक्षं [1]सर्वप्रत्यक्षं च । देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने । सर्वप्रत्यक्षं केवलम् । यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञानं त्रिःप्रकारस्य प्रत्यक्षस्याद्यं व्याक्रियतामित्यत्रोच्यते—द्विविधोऽवधिर्भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्चेति । तत्र भवप्रत्यय उच्यते—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

उपकार करनेके लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमें भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण किस रूपमें है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर क्या है, श्रुत अनादिनिधन और सादि कैसे है, श्रुतके भेद कितने और कौन-कौन हैं, श्रुतमें प्रमाणता कैसे आती है इत्यादि बातोंका विशेष विचार तो मूलमें किया ही है। यहाँ केवल विचारणीय विषय यह है कि श्रुतज्ञानका निरूपण करते समय सूत्रकारने केवल द्रव्य आगम श्रुतका ही निरूपण क्यों किया ? अनुमान आदि ऐसे बहुत-से ज्ञान हैं जिनका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें किया जाता है फिर उनका निर्देश यहाँ क्यों नहीं किया ? क्या श्रुतज्ञान द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक ही सीमित है और अनुमान आदिका अन्तर्भाव सूत्रकारके मतानुसार मतिज्ञानमें होता है ? ये ऐसे विचारणीय प्रश्न हैं जिनका प्रकृतमें समाधान करना आवश्यक है। बात यह है कि जैन परम्परामें द्रव्य आगम श्रुतकी प्रधानता सदासे चली आ रही है, इसलिए सूत्रकारने श्रुतज्ञानके निरूपणके समय उसका प्रमुखतासे निर्देश किया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि श्रुतज्ञान द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक ही सीमित है। मतिके सिवा अनुमान आदि शेष सब परोक्ष ज्ञानोंका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें ही होता है क्योंकि इन ज्ञानोंमें हेतु आदिका प्रत्यक्ष ज्ञान आदि होने पर ही इन ज्ञानोंकी प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ नेत्र इन्द्रियसे धूमका ज्ञान होता है। अनन्तर व्याप्तिका स्मरण होता है तब जाकर 'यहाँ अग्नि होनी चाहिए' यह अनुमान होता है। कहीं-कहीं मतिज्ञानमें भी इनके अन्तर्भावका निर्देश मिलता है पर वह कारणरूपसे ही जानना चाहिए। मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है, इसलिए कारणमें कार्यका उपचार करके कहीं-कहीं अनुमान आदिका भी मतिज्ञान रूपसे निर्देश किया जाता है। एक बात और विचारणीय है और वह यह कि यह श्रुतज्ञानका प्रकरण है द्रव्यश्रुतका नहीं, इसलिए यहाँ सूत्रकारने श्रुतज्ञानके भेद न दिखलाकर द्रव्यश्रुतके भेद क्यों दिखलाये ? उत्तर यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका और द्रव्यश्रुतका अन्योन्य सम्बन्ध है। क्षयोपशमके अनुसार होनेवाले श्रुतज्ञानको ध्यानमें रखकर ही द्रव्यश्रुतका विभाग किया गया है। यही कारण है कि यहाँ श्रुतज्ञानका प्रकरण होते हुए भी द्रव्यश्रुतके भेद गिनाये गये हैं। इस बातकी विशेष जानकारीके लिए गोम्मटसार जीवकाण्डमें निर्दिष्ट ज्ञानमार्गणा द्रष्टव्य है।

§ २१२. परोक्ष प्रमाणका व्याख्यान किया। अब प्रत्यक्ष प्रमाणका व्याख्यान करना है। वह दो प्रकारका है—देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है। सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। यदि ऐसा है तो तीन प्रकारके प्रत्यक्षके आदिमें कहे गये अवधिज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, इसलिए कहते हैं—अवधिज्ञान दो प्रकारका है—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक। उनमें-से सर्वप्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अगले सूत्र द्वारा कथन करते हैं—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है ॥२१॥

---

१. -त्यक्षं सकलप्र—मु०।

§ २१३. भव इत्युच्यते। को भवः। आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां वेदितव्यः। यद्येवं तत्र क्षयोपशमनिमित्तत्वं न प्राप्नोति। नैष दोषः; तदाश्रयात्तत्सिद्धेः। भवं प्रतीत्य क्षयोपशमः संजायत[1] इति कृत्वा भवः प्रधानकारणमित्युपदिश्यते। यथा पतत्रिणो गमनमाकाशे भवनिमित्तम्, न शिक्षागुणविशेषः तथा देवनारकाणां व्रतनियमाद्यभावेऽपि जायत 'इति भवप्रत्ययः'[2]इत्युच्यते। इतरथा हि भवः साधारण इति कृत्वा सर्वेषामविशेषः स्यात्। इष्यते च तत्रावधेः प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिः। 'देवनारकाणाम्' इत्यविशेषाभिधानेऽपि सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम्। कुतः। अवधिग्रहणात्। मिथ्यादृष्टीनां च विभङ्ग इत्युच्यते। प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिश्च आगमतो विज्ञेया।

§ २१४. यदि भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुकः केषामित्यत आह—

---

§ २१३. भवका स्वरूप कहते हैं। **शंका**—भव किसे कहते हैं? **समाधान**—आयु नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं? प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। वह देव और नारकियोंके जानना चाहिए। **शंका**—यदि ऐसा है तो इनके अवधिज्ञानके होनेमें क्षयोपशमकी निमित्तता नहीं बनती? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भवके आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है। भवका आलम्बन लेकर क्षयोपशम हो जाता है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे पक्षियोंका आकाशमें गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नहीं होता वैसे ही देव और नारकियोंके व्रत नियमादिकके अभावमें भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भवनिमित्तक कहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारण रूपसे पाया जाता है, अतः सबके एक-सा अवधिज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु वहाँपर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है, इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि वहाँपर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशमसे ही है पर वह क्षयोपशम भवके निमित्तसे प्राप्त होता है अतः उसे 'भवप्रत्यय' कहते हैं। सूत्रमें 'देवनारकाणाम्' ऐसा सामान्य वचन होने पर भी इससे सम्यग्दृष्टियोंका ही ग्रहण होता हैं, क्योंकि सूत्रमें 'अवधि' पदका ग्रहण किया है। मिथ्यादृष्टियोंका वह विभंगज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान देव और नारकियोंमें न्यूनाधिक किसके कितना पाया जाता है यह आगमसे जान लेना चाहिए।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान वह मर्यादित ज्ञान है जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना मूर्तिक पदार्थोंको स्पष्ट जानता है। मनःपर्ययज्ञानका भी यही स्वरूप कहा जाता है पर इससे मनःपर्ययज्ञानमें मौलिक भेद है। वह मनकी पर्यायों-द्वारा ही मूर्तिक पदार्थोंको जानता है, सीधे तौरसे मूर्तिक पदार्थोंको नहीं जानता। यह अवधिज्ञान देव और नारकियोंके उस पर्यायके प्राप्त होने पर अनायास होता है। इसके लिए उन्हें प्रयत्न विशेष नहीं करना पड़ता। तथा तिर्यञ्चों और मनुष्योंके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है। इससे इसके भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक ये दो भेद किये गये हैं। यहाँ भवप्रत्यय अवधिज्ञान मुख्यतः देव और नारकियोंके बतलाया है, पर तीर्थंकर आदिके भी इस अवधिज्ञानकी प्राप्ति देखी जाती है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए। देव और नारकियोंमें भी उन्हींके भवके प्रथम समयसे अवधिज्ञान होता है जो सम्यग्दृष्टि होते हैं। मिथ्यादृष्टियोंके इसकी उत्पत्ति पर्याप्त होनेपर ही होती है और उसका नाम विभंगज्ञान है। इस ज्ञानकी विशेष जानकारी जीवकाण्ड, धवला वेदनाखण्ड आदिसे करनी चाहिए।

§ २१४. यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है तो क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान किसके होता है। आगे इसी बातको बतलाते हैं—

---

१. –शमः संजात इति आ०, दि० १, दि० २। २. –त्यय इष्यते। इत—आ०, दि० १, दि० २।

[1]क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

§ २१५. अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः। तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः। स शेषाणां वेदितव्यः। के पुनः शेषाः। मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च। तेष्वपि यत्र सामर्थ्यमस्ति तत्रैव वेदितव्यः। न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति। संज्ञिनां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम्। केषां तर्हि। यथोक्तसम्यग्दर्शनादिनिमित्तसंनिधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति। सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थं क्षयोपशम एव निमित्तं न भव इति। स एषोऽवधिः षड्विकल्पः। कुतः अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात्। कश्चिदवधिर्भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति। कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति [2]उन्मुखप्रश्नादेशिपुरुषवचनवत्। अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपर्णोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत्सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसंनिधानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्द्धते आ असंख्येयलोकेभ्यः। अपरोऽवधिः [3]परिच्छिन्नोपादानसंतत्यग्निशिखावत्सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशपरिणामवृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्यासंख्येयभागात्। इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते; न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका है। जो शेष अर्थात् तिर्यंचों और मनुष्योंके होता है ॥ २२ ॥

§ २१५. अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हींका सदवस्थारूप उपशम इन दोनोंके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है। यह शेष जीवोंके जानना चाहिए। **शंका**—शेष कौन हैं? **समाधान**—मनुष्य और तिर्यंच। उनमें भी जिनके सामर्थ्य है उन्हींके जानना चाहिए। असंज्ञी और अपर्याप्तकोंके यह सामर्थ्य नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी सबके यह सामर्थ्य नहीं होती। **शंका**—तो फिर किनके होती है? **समाधान**—यथोक्त सम्यग्दर्शन आदि निमित्तोंके मिलने पर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है उनके यह सामर्थ्य होती है। यद्यपि अवधिज्ञानमात्र क्षयोपशमके निमित्तसे होता है तो भी सूत्रमें क्षयोपशम पदका ग्रहण यह नियम करनेके लिए किया है कि उक्त जीवोंके मात्र क्षयोपशम निमित्त है भव नहीं। यह अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे छह प्रकारका है। कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्यका प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वामीका अनुसरण करता है। कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुषके प्रश्नके उत्तरस्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहींपर छूट जाता है। कोई अवधिज्ञान जंगलके निर्मन्थनसे उत्पन्न हुई और सूखे पत्तोंसे उपचीयमान ईंधनके समुदायसे वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धि रूप परिणामोंके सन्निधानवश जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है। कोई अवधिज्ञान परिमित उपादानसन्ततिवाली अग्निशिखाके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी हानिसे हुए संक्लेश परिणामोंके बढ़नेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे मात्र अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है। कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणोंके समानरूपसे स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है। पर्यायके नाश होते तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक

१. 'सेसाण खओवसमियाओ।'—वि० आ० गा० ५७५। २. –तति। उन्मुग्धप्र–ता०, ना०, मु०।
३. –वधिः परिमितपरि–मु०।

आ भवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा । अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत् । एवं षड्विकल्पोऽवधिर्भवति ।

§ २१६. एवं व्याख्यातमवधिज्ञानं तदनन्तरमिदानीं मनःपर्ययज्ञानं वक्तव्यम् । तस्य भेदपुरःसरं लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

§ २१७. ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च । कस्मान्निर्वर्तिता । वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात् । ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः । अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला । कस्मादनिर्वर्तिता । वाक्कायमनःकृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः । ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती । एकस्य मतिशब्दस्य गतार्थत्वादप्रयोगः । अथवा ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले । ऋजुविपुले मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति । स एष मनःपर्ययो द्विविधः ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति ।

§ २१८. आह, उक्तो भेदः, लक्षणमिदानीं वक्तव्यमित्यत्रोच्यते—वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मनः परकीयमनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः । मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत् उक्तोत्तरं पुरस्तात् । अपेक्षाकारणं मन इति । परकीयमनसि

शरीरमें स्थित मसा आदि चिह्नके समान न घटता है और न बढ़ता है। कोई अवधिज्ञान वायुके वेगसे प्रेरित जलकी तरंगोंके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी कभी वृद्धि और कभी हानि होनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे बढ़ता है जहाँतक उसे बढ़ना चाहिए और घटता है जहाँतक उसे घटना चाहिए। इस प्रकार अवधिज्ञान छह प्रकारका है।

विशेषार्थ—क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि । देशावधि तिर्यंचों और मनुष्योंके होता है पर मनुष्योंके संयत अवस्थामें परमावधि और सर्वावधिका प्राप्त होना भी सम्भव है। मनुष्योंके चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें देशावधि और आगे के गुणस्थानोंमें यथासम्भव तीनों होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अन्तर्भाव देशावधिमें होता है।

§ २१६. इस प्रकार अवधिज्ञानका व्याख्यान किया। अब आगे मनःपर्ययज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए। अतः उसके भेदोंके साथ लक्षणका कथन करनेकी इच्छासे आगेका सूत्र कहते हैं—

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है ॥ २३॥

§ २१७. ऋजुका अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है। **शंका**—किससे निर्वर्तित ? **समाधान**—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे निर्वर्तित। जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है। विपुलका अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल है। **शंका**—किससे अनिर्वर्तित ? **समाधान**—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे अनिर्वर्तित। जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। सूत्रमें जो 'ऋजुविपुलमती' पद आया है वह ऋजुमति और विपुलमति इन पदोंसे समसित होकर बना है। यहाँ एक ही मति शब्द पर्याप्त होनेसे दूसरे मति शब्दका प्रयोग नहीं किया। अथवा ऋजु और विपुल शब्दका कर्मधारय समास करनेके बाद इनका मति शब्दके साथ बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए। तब भी दूसरे मति शब्दकी आवश्यकता नहीं रहती। यह मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति।

§ २१८. **शंका**—मनःपर्ययज्ञानके भेद तो कह दिये। अब उसका लक्षण कहना चाहिए। **समाधान**—वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मामें जो दूसरेके मनके सम्बन्धसे उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते[१]। तत्र ऋजुमतिर्मनःपर्ययः कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च [२]द्वित्राणि भवग्रहणानि, उत्कर्षेण सप्ताष्टौ गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वं, उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं, न बहिः। द्वितीयः कालतो जघन्येन सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, उत्कर्षेणासंख्येयानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वं, उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यन्तरं, न बहिः।

§ २१९. उक्तयोरनयोः पुनरपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

§ २२०. तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। प्रतिपतनं प्रतिपातः। न प्रतिपातः अप्रतिपातः। उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात्प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति। क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः। विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रति-

---

शंका—यह ज्ञान मनके सम्बन्धसे होता है अतः इसे मतिज्ञान होनेका प्रसंग आता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इस शंकाका उत्तर दे आये हैं। अर्थात् यहाँ मनकी अपेक्षामात्र है। दूसरेके मनमें अवस्थित अर्थ को यह जानता है इतनी मात्र यहाँ मनकी अपेक्षा है। इनमेंसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे जीवोंके और अपने दो तीन भवोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा सात-आठ भवोंका कथन करता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्टसे योजनपृथक्त्वके भीतरकी बात जानता है। इससे बाहरकी नहीं। विपुलमति कालकी अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भवोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा असंख्यात भवोंका कथन करता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजनापृथक्त्व और उत्कृष्टसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरकी बात जानता है इससे बाहरकी बात नहीं जानता।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके छठवें अध्यायके दसवें सूत्रके राजवार्तिकमें शंका-समाधानके प्रसंगसे मनःपर्ययज्ञानकी चर्चा की है। वहाँ बतलाया है कि मनःपर्ययज्ञान अपने विषयमें अवधिज्ञानके समान स्वमुखसे प्रवृत्त नहीं होता है। किन्तु दूसरेके मनके सम्बन्धसे ही प्रवृत्त होता है। इसलिए जैसे मन अतीत और अनागत विषयोंका विचार तो करता है पर साक्षात्कार नहीं करता उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत् विषयोंको जानता तो है पर सीधे तौरसे साक्षात्कार नहीं करता। इसी प्रकार यह वर्तमान विषयको भी मनोगत होने पर विशेषरूपसे जानता है।' राजवार्तिकका यह कथन इतना स्पष्ट है जिससे मनःपर्ययज्ञानकी उपयोगात्मक दशाका स्पष्ट आभास मिल जाता है। इसका आशय यह है कि करता तो है यह मनकी पर्यायोंको ही विषय किन्तु तद्द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

§ २१९. पहले मनःपर्ययज्ञानके दो भेद कहे हैं उनका और विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा इन दोनोंमें अन्तर है ॥२४॥

§ २२०. मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। गिरनेका नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात कहलाता है। उपशान्तकषाय जीवका चारित्र मोहनीयके उदयसे संयम शिखर छूट जाता है जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीवका पतनका कारण न होनेसे प्रतिपात नहीं होता। इन दोनोंकी अपेक्षा ऋजुमति

---

१. –पेक्षते आ० दि० १, दि० २। २. –द्वित्रीणि मु०।

पातौ। [1]ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्। तयोर्विशेषस्तद्विशेषः। तत्र विशुद्ध्या तावत्—ऋजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः। कथम्। इह यः कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्यान्त्यो भाग ऋजुमतेर्विषयः। तस्य ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयः। अनन्तस्यानन्तभेदत्वात्। द्रव्यक्षेत्रकालतो विशुद्धिरुक्ता। भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धियोगात्। अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टः; स्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात्। ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती; स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात्।

§ २२१. **यद्यस्य मनःपर्ययस्य प्रत्यात्ममयं विशेषः, अथानयोरवधिमनःपर्ययोः कुतो विशेष इत्यत आह—**

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः ॥२५॥

और विपुलमतिमें भेद है। विशुद्धि यथा—ऋजुमतिसे विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विशुद्धतर है। **शंका**—कैसे? **समाधान**—यहाँ जो कार्मण द्रव्यका अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके भी अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमतिका विषय है। और इस ऋजुमतिके विषयके अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमतिका विषय है। अनन्तके अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि कही। भावकी अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला होनेसे ही जान लेनी चाहिए क्योंकि इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमतिसे विपुलमतिमें विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियोंके प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियोंके कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ मनःपर्यय ज्ञानके दोनों भेदोंमें अन्तर दिखलाया गया है। ऋजुमति स्थूल ज्ञान है और विपुलमति सूक्ष्मज्ञान। इसीसे इसका भेद स्पष्ट हो जाता है। यह विशुद्धिकृत भेद है। इससे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा पदार्थका ज्ञान करनेमें अन्तर पड़ जाता है। किन्तु इन दोनों ज्ञानोंके अन्तरका एक कारण और है जो कि प्रतिपात और अप्रतिपात शब्दसे पुकारा जाता है। प्रतिपातका अर्थ है गिरना और अप्रतिपातका अर्थ है नहीं गिरना। ऐसा नियम है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उसीके होता है जो तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी क्षपकश्रेणीपर चढ़ता है किन्तु ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानके लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वह तद्भव मोक्षगामीके भी हो सकता है और अन्यके भी हो सकता है। इसी प्रकार जो क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है उसके भी हो सकता है और जो उसपर नहीं चढ़कर उपशम श्रेणीपर चढ़ता है या नहीं भी चढ़ता है उसके भी हो सकता है। इसीसे ऋजुमति प्रतिपाती और विपुलमति अप्रतिपाती माना गया है। यह विशेषता योग्यताजन्य है इसलिए इसका निर्देश अलगसे किया है।

§ २२१. यदि इस मनःपर्ययज्ञानका अलग-अलग यह भेद है तो अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें किस कारणसे भेद है? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भेद है ॥२५॥

---

१. ताभ्याम्। तयोः मु०।

§ २२२. विशुद्धिः प्रसादः । क्षेत्रं यत्रस्थान्भावान्प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेयः । तत्रावधेर्मनःपर्ययो विशुद्धतरः । कुतः सूक्ष्मविषयत्वात् । क्षेत्रमुक्तम्[1] । विषयो वक्ष्यते । स्वामित्वं प्रत्युच्यते । प्रकृष्टचारित्रगुणोपेतेषु वर्तते[2] प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु । तत्र चोत्पद्यमानः प्रवर्द्धमानचारित्रेषु न हीयमानचारित्रेषु । प्रवर्द्धमानचारित्रेषु चोत्पद्यमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचिन्न सर्वेषु । इत्यस्यायं[3] स्वामिविशेषो विशिष्टसंयमग्रहणं वा वाक्ये प्रकृतम् । अवधिः पुनश्चातुर्गतिकेष्विति स्वामिभेदादप्यनयोर्विशेषः ।

§ २२३. इदानीं केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकालम् । तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धः परीक्ष्यते । कुतः । तस्य 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

§ २२४. निबन्धनं निबन्धः । कस्य । विषयस्य । तद्विषयग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । प्रकृतं विषयग्रहणम् । क्व प्रकृतम् । 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' [4]इत्यत्र । अतस्तस्यार्थवशाद्वि-

§ २२२. विशुद्धिका अर्थ निर्मलता है। जितने स्थानमें स्थित भावोंको जानता है वह क्षेत्र है। स्वामीका अर्थ प्रयोक्ता है। विषय ज्ञेयको कहते हैं। सो इन दोनों ज्ञानोंमें अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है क्योंकि मनःपर्ययज्ञानका विषय सूक्ष्म है। क्षेत्रका कथन पहले कर आये हैं। विषयका कथन आगे करेंगे। यहाँ स्वामीका विचार करते हैं–मनःपर्ययज्ञान प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उत्कृष्ट चारित्रगुणसे युक्त जीवोंके ही पाया जाता है। वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्रवाले जीवोंके ही उत्पन्न होता है घटते हुए चारित्रवाले जीवोंके नहीं। वर्धमान चारित्रवाले जीवोंमें उत्पन्न होता हुआ भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमें-से किसी एक ऋद्धिको प्राप्त हुए जीवोंके ही उत्पन्न होता है अन्यके नहीं। ऋद्धिप्राप्त जीवोंमें भी किन्हींके ही उत्पन्न होता है सबके नहीं, इस प्रकार सूत्रमें इसका स्वामीविशेष या विशिष्ट संयमका ग्रहण प्रकृत है। परन्तु अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके होता है, इसलिए स्वामियोंके भेदसे भी इनमें अन्तर है।

विशेषार्थ—यों तो अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें मौलिक अन्तर है। अवधिज्ञान सीधे तौरसे पदार्थोंको जानता है और मनःपर्ययज्ञान मनकी पर्यायरूपसे। फिर भी यहाँ अन्य आधारोंसे इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर दिखलाया गया है। वे आधार चार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, स्वामी और विषय।

§ २२३. अब केवलज्ञानका लक्षण कहनेका अवसर है किन्तु उसका कथन न कर पहले ज्ञानोंके विषयका विचार करते हैं, क्योंकि केवलज्ञानका लक्षण 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' यहाँ कहेंगे। यदि ऐसा है तो सर्वप्रथम आदिमें आये हुए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका कथन करना चाहिए। इसी बातको ध्यान में रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति कुछ पर्यायोंसे युक्त सब द्रव्योंमें होती है ॥२६॥

§ २२४. निबन्ध शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—निबन्धनं निबन्धः=जोड़ना, सम्बन्ध करना। **शंका**—किसका सम्बन्ध? **समाधान**—विषयका। **शंका**—तो सूत्रमें विषय पदका ग्रहण करना चाहिए? **समाधान**—नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषय पदका ग्रहण प्रकरण प्राप्त है। **शंका**—कहाँ प्रकरणमें आया है? **समाधान**—'विषयक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इस सूत्रमें आया है।

---

१. मुक्तं विशेषो ब–मु० । २. –तेऽप्रम–मु०, दि० १, २ । ३. इत्यस्य स्वामिविशेषविशिष्टसंयमग्रहणं वाक्ये कृतम् । अव–मु० ता०, ना० । ४. –येभ्य इत्यतस्त–दि० १, दि० २, आ०, मु० ।

भक्तिपरिणामो भवतीति विषयस्य' इत्यभिसंबध्यते। 'द्रव्येषु' इति बहुवचननिर्देशः सर्वेषां जीवधर्माधर्म[1]कालाकाशपुद्गलानां संग्रहार्थः। तद्विशेषणार्थं 'असर्वपर्याय'ग्रहणम्। तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपीति। अत्राह—धर्मास्तिकायादीन्यतीन्द्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते। अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तत इत्ययुक्तम्। नैष दोषः; अनिन्द्रियाख्यं करणमस्ति तदालम्बनो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूपः प्रागेवोपजायते। ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते।

§ २२५. अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशार्हस्यावधेः को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

§ २२६. 'विषयनिबन्धः' इत्यनुवर्तते। 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसंबन्धाश्च जीवाः परिगृह्यन्ते। रूपिष्वेवावधेर्विषयनिबन्धो [2]नारूपिष्विति नियमः क्रियते। रूपिष्वपि भवन्न सर्वपर्यायेषु, स्वयोग्येष्वेवेत्यवधारणार्थमसर्वपर्यायेष्वित्यभिसंबध्यते।

§ २२७. अथ तदनन्तरनिर्देशभाजो मनःपर्ययस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

वहाँसे 'विषय' पदको ग्रहण कर अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति बदल ली गयी है, इसलिए यहाँ षष्ठी विभक्तिके अर्थमें उसका ग्रहण हो जाता है। सूत्रमें 'द्रव्येषु' बहुवचनान्त पदका निर्देश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सब द्रव्योंका संग्रह करनेके लिए किया है। और इन सब द्रव्योंके विशेषण रूपसे 'असर्वपर्यायेषु' पदका ग्रहण किया है। वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय भावको प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायोंके द्वारा ही विषयभावको प्राप्त होते हैं, सब पर्यायोंके द्वारा नहीं और अनन्त पर्यायोंके द्वारा भी नहीं। **शंका**—धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय हैं। उनमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'सब द्रव्योंमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है' यह कहना अयुक्त है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनिन्द्रिय नामका एक करण है। उसके आलम्बनसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिपूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अतः तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोंमें व्यापार करता है।

§ २२५. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके अनन्तर निर्देशके योग्य अवधिज्ञानका विषय क्या है आगे सूत्र द्वारा इसी बातको बतलाते हैं—

अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति रूपी पदार्थोंमें होती है ॥२७॥

§ २२६. पिछले सूत्रसे 'विषयनिबन्धः' पदकी अनुवृत्ति होती है। 'रूपिषु' पद-द्वारा पुद्गलों और पुद्गलोंमें बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है। इस सूत्र-द्वारा 'रूपी पदार्थोंमें ही अवधिज्ञानका विषय सम्बन्ध है अरूपी पदार्थोंमें नहीं' यह नियम किया गया है। रूपी पदार्थोंमें होता हुआ भी उनकी सब पर्यायोंमें नहीं होता किन्तु स्वयोग्य पर्यायोंमें ही होता है इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए 'असर्वपर्यायेषु' पदका सम्बन्ध होता है।

§ २२७. अब इसके अनन्तर निर्देशके योग्य मनःपर्ययज्ञानका विषयसम्बन्ध क्या है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागमें होती है ॥ २८ ॥

---

१. धर्माकाश–मु०। २. नारूपेष्विति मु०।

§ २२८. यदेतद्रूपि[1] द्रव्यं सर्वावधिज्ञानविषयत्वेन समर्थितं तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन्भागे मनःपर्ययः प्रवर्तते।

§ २२९. अथान्ते यन्निर्दिष्टं केवलज्ञानं तस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

§ २३०. द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। तद्विशेषणं 'सर्व'ग्रहणं प्रत्येकमभिसंबध्यते, सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेष्विति। जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि ततोऽप्यनन्तानन्तानि पुद्गलद्रव्याणि च अणुस्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' इत्युच्यते।

§ २३१. आह विषयनिबन्धोऽवधृतो मत्यादीनाम्। इदं तु न निर्ज्ञातमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसंनिधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीत्युच्यते—

---

§ २२८. जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके अनन्त भाग करनेपर उसके एक भागमें मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है।

§ २२९. अब अन्तमें जो केवलज्ञान कहा है उसका विषय क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानकी प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंमें होती है ॥ २९ ॥

§ २३०. सूत्रमें आये हुए द्रव्य और पर्याय इन दोनों पदोंका इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। तथा इन दोनोंके विशेषणरूपसे आये हुए 'सर्व' पदको द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—सब द्रव्योंमें और सब पर्यायोंमें। जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं। पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे हैं। जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असंख्यात हैं। इन सब द्रव्योंकी पृथक्-पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो। केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ चार सूत्रोंमें पाँचों ज्ञानोंके विषयका निर्देश किया गया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनकी सहायतासे प्रवृत्त होते हैं यह तो स्पष्ट ही है इसलिए इनका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है पर मन विकल्प-द्वारा रूपी और अरूपी सभी पदार्थोंको जानता है इसीसे इन दोनों ज्ञानोंका विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंको बतलाया है। अवधिज्ञान यद्यपि बाह्य सहायताके बिना प्रवृत्त होता है पर वह क्षायोपशमिक होनेसे उसका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है। इसी कारणसे अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ कहा है। मनःपर्यय ज्ञान भी क्षायोपशमिक होता है, इसलिए उसका विषय यद्यपि रूपी पदार्थ ही है पर यह रूपी पदार्थको मनकी पर्यायों-द्वारा ही ग्रहण करता है इससे इसका विषय अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागप्रमाण कहा है तथा केवलज्ञान निरावरण होता है इसलिए उसका विषय सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें हैं ऐसा कहा है।

§ २३१. मत्यादिकके विषयसम्बन्धका निश्चय किया, किन्तु यह न जान सके कि एक

---

१. यद्रूपि–दि० १, दि० २। २. भेदेन मि–मु०।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥३०॥

§ २३२. एकशब्दः संख्यावाची, आदिशब्दोऽवयववचनः। एक आदिर्येषां तानि इमान्येकादीनि। भाज्यानि विभक्तव्यानि। यौगपद्येनैकस्मिन्नात्मनि। आ कुतः। आ चतुर्भ्यः। तद्यथा—एकं तावत्केवलज्ञानं, न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मतिश्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा। चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्च सन्ति, केवलस्यासहायत्वात्।

आत्मामें एक साथ अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेपर कितने ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक आत्मामें एक साथ एकसे लेकर चार तक ज्ञान भजनासे होते हैं ॥ ३० ॥

§ २३२. 'एक' शब्द संख्यावाचो है और 'आदि' शब्द अवयववाची है। जिनका आदि एक है वे एकादि कहलाते हैं। 'भाज्यानि' का अर्थ 'विभाग करना चाहिए' होता है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मामें एक साथ एक ज्ञानसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यथा—यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है। उसके साथ दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। तथा चार होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते, क्योंकि केवलज्ञान असहाय है।

विशेषार्थ—यहाँ एक साथ एक आत्मामें कमसे कम कितने और अधिकसे अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं इस बातका निर्देश किया है। यह तो स्पष्ट है कि ज्ञान एक है अतः उसकी पर्यायि भी एक कालमें एक ही हो सकती है फिर भी यहाँ एक आत्मामें एक साथ कई ज्ञान होनेका निर्देश किया है सो उसका कारण अन्य है। बात यह है कि जब ज्ञान निरावरण होता है तब तो उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं किया जा सकता है, अतएव ऐसी अवस्थामें एक केवलज्ञान पर्यायिका ही प्रकाश माना गया है। किन्तु संसार अवस्थामें जब ज्ञान सावरण होता है तब निमित्त भेदसे उसी ज्ञानको कई भागोंमें विभक्त कर दिया जाता है। सावरण अवस्थामें जितने भी ज्ञान प्रकट होते हैं वे सब क्षायोपशमिक ही होते हैं और क्षयोपशम एक साथ कई प्रकारका हो सकता है, इसलिए सावरण अवस्थामें दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता युगपत् मानो गयी है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जब दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता रहती है तब वे सब ज्ञान एक साथ उपयोगरूप हो सकते हैं। उपयोग तो एक कालमें एक ही ज्ञानका होता है अन्य ज्ञान उस समय लब्धिरूपसे रहते हैं। आशय यह है कि ऐसा कोई क्षण नहीं जब ज्ञानकी कोई पर्याय प्रकट न हो। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानकी पर्यायें हैं इसलिए इनमेंसे एक कालमें एक ही पर्यायका उदय रहता है। निरावरण अवस्थामें मात्र केवलज्ञान पर्यायका उदय रहता है और सावरण अवस्थामें प्रारम्भकी चार पर्यायोंमेंसे एक कालमें किसी एक पर्यायका उदय रहता है फिर भी तब युगपत् दो, तीन और चार ज्ञानोंकी सत्ताके माननेका कारण एकमात्र निमित्तभेद है। जब मति और श्रुत इन दो पर्यायोंके प्रकट होनेका निमित्त उपस्थित रहता है तब युगपत् दो ज्ञानोंका सद्भाव कहा जाता है। जब मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मनःपर्यय इन तीन पर्यायोंके प्रकट होनेका निमित्त उपस्थित रहता है तब युगपत् तीन ज्ञानोंका सद्भाव कहा जाता है और जब मति आदि चार पर्यायोंके प्रकट होनेका निमित्त उपस्थित रहता है तब युगपत् चार ज्ञानोंका सद्भाव माना जाता है। यही कारण है कि प्रकृत सूत्रमें एक साथ एक आत्माके एक, दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं यह कहा है।

§ २३३. अथ यथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्ते उतान्यथापीत्यत आह—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च[1] ॥ ३१ ॥

§ २३४. विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः। कुतः। सम्यगधिकारात्। 'च'शब्दः समुच्चयार्थः। विपर्ययश्च सम्यक्चेति। कुतः पुनरेषां विपर्ययः। मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत्। ननु च तत्राधारदोषाद् दुग्धस्य रसविपर्ययो भवति। न च तथा मत्यज्ञानादीनां विषयग्रहणे विपर्ययः। तथा हि, सम्यग्दृष्टिर्यथा चक्षुरादिभी रूपादीनुपलभते तथा मिथ्यादृष्टिरपि[2] मत्यज्ञानेन। यथा च सम्यग्दृष्टिः श्रुतेन रूपादीन् जानाति निरूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन। यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यादृष्टिर्विभङ्गज्ञानेनेति।

§ २३५. अत्रोच्यते—

[3]सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

§ २३६. सद्विद्यमानमसदविद्यमानमित्यर्थः। तयोरविशेषेण यदृच्छया उपलब्धेर्विपर्ययो भवति। कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति प्रतिपद्यते, असदपि सदिति, कदाचित्सत्सदेव, असदप्यसदेवेति मिथ्यादर्शनोदयादध्यवस्यति। यथा पित्तोदयाकुलितबुद्धिर्मातरं भार्येति, भार्यामपि मातेति मन्यते।

---

§ २३३. अब यथोक्त मत्यादिक ज्ञान व्यपदेशको ही प्राप्त होते हैं या अन्यथा भी होते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय भी हैं ॥ ३१ ॥

§ २३४. विपर्ययका अर्थ मिथ्या है, क्योंकि सम्यग्दर्शनका अधिकार है। 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थमें आया है। इससे यह अर्थ होता है कि मति, श्रुत और अवधि विपर्यय भी हैं और समीचीन भी। **शंका**—ये विपर्यय क्यों हैं?—**समाधान**—क्योंकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है। जिस प्रकार रज सहित कड़वी तूंबड़ीमें रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे ये विपर्यय होते हैं। कड़वी तूंबड़ीमें आधारके दोषसे दूधका रस मीठेसे कड़वा हो जाता है, यह स्पष्ट है किन्तु उस प्रकार मत्यादि ज्ञानोंकी विषयके ग्रहण करनेमें विपरीतता नहीं मालूम होती। खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुतके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभंग ज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है।

§ २३५. यह एक प्रश्न है जिसका समाधान करनेके लिए अगला सूत्र कहते हैं।

वास्तविक और अवास्तविकके अन्तरके बिना यदृच्छोपलब्धि (जब जैसा जी में आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्तकी तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

§ २३६. प्रकृतमें 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है। इनकी विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करनेसे विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान हैं तो

---

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। पा० यो० सू० १, ८। २. –रपि। यथा दि० १, दि० २, आ०। ३. 'सदसदविसेसणाओ भवहेउजदिच्छिओवलम्भाओ। नाणफलाभावाओ मिच्छद्दिट्ठस्स अण्णाणं।'–वि० भा० गा० ११५।

यदृच्छया[1] यदापि मातरं मातैवेति भार्यामपि भार्यैवेति च तदापि न तत्सम्यग्ज्ञानम्। एवं मत्यादीनामपि रूपादिषु विपर्ययो वेदितव्यः। तथा हि, कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेदविपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जनयति।

§ २३७. कारणविपर्यासस्तावद्—रूपादीनामेकं कारणममूर्तं नित्यमिति केचित्कल्पयन्ति।[2] अपरे पृथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवश्चतुस्त्रिद्व्येकगुणास्तुल्यजातीयानां कार्याणामारम्भका इति।[3] [4]अन्ये वर्णयन्ति—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकधर्मा वर्णगन्धरसस्पर्शाः, एतेषां समुदायो रूपपरमाणुरष्टक इत्यादि।[5] इतरे[6] वर्णयन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायवः काठिन्यादिद्रवत्वाद्युष्णत्वादीरणत्वादिगुणा[7] जातिभिन्नाः परमाणवः कार्यस्यारम्भकाः।

§ २३८. भेदाभेदविपर्यासः [8]कारणात्कार्यमर्थान्तरभूतमेवेति [9]अनर्थान्तरभूतमेवेति च परिकल्पना।

§ २३९. स्वरूपविपर्यासो रूपादयो निर्विकल्पाः[10] सन्ति न सन्त्येव[11] वा। तदाकारपरिणतं विज्ञानमेव[12]। न च तदालम्बनं वस्तु बाह्यमिति। एवमन्यानपि परिकल्पनाभेदान् दृष्टेष्टविरुद्धा-

भी उन्हें अविद्यमान मानता है। और कदाचित् अविद्यमान वस्तुको भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत्को सत् और असत्को असत् ही मानता है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शनके उदयसे होता है। जैसे पित्तके उदयसे आकुलित बुद्धिवाला मनुष्य माताको भार्या और भार्याको माता मानता है। जब अपनी इच्छाकी लहरके अनुसार माताको माता और भार्या भार्याको ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार मत्यादिकका भी रूपादिकमें विपर्यय जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है—आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासको उत्पन्न करता रहता है।

§ २३७. कारणविपर्यास यथा—कोई मानते हैं कि रूपादिकका एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है। कोई मानते हैं कि पृथिवी जातिके परमाणु अलग हैं जो चार गुणवाले हैं। जल जातिके परमाणु अलग हैं जो तीन गुणवाले हैं। अग्नि जातिके परमणु अलग हैं जो दो गुणवाले हैं और वायु जातिके परमाणु अलग हैं जो एक गुणवाले हैं। तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदायको एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रमसे काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जातिके परमाणु होकर कार्यको उत्पन्न करते हैं।

§ २३८. भेदाभेदविपर्यास यथा—कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना।

§ २३९. स्वरूपविपर्यास यथा—रूपादिक निर्विकल्प हैं, या रूपादिक हैं ही नहीं, या रूपादिकके आकाररूपसे परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान या विभंग ज्ञान होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के ज्ञानमें श्रद्धान उत्पन्न करता है अतः इस प्रकारका ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और और अवधिज्ञान होता है।

१. –च्छया मातरं मु०, ता०, ना०। २. सांख्याः। ३. नैयायिकाः। ४. बौद्धाः। ५. लौकायतिकाः। ६. –तरे कल्पयन्ति पथि–आ०, दि० १। ७. –णत्वादिगमनादिगुणा आ०, दि० १, दि० २। ८. नैयायिकाः। ९. सांख्याः। १०. बौद्धाः। ११. नैयायिकाः। १२. योगाचाराः।

न्मिथ्यादर्शनोदयात्कल्पयन्ति तत्र च श्रद्धानमुत्पादयन्ति। ततस्तन्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं [१]विभङ्गज्ञानं च भवति। सम्यग्दर्शनं पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति। ततस्तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च भवति।

§ २४०. आह प्रमाणं द्विप्रकारं वर्णितम्। प्रमाणैकदेशाश्च नयास्तदनन्तरोद्देशभाजो निर्देष्टव्या इत्यत आह—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

§ २४१. एतेषां सामान्यविशेषलक्षणं वक्तव्यम्। सामान्यलक्षणं तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः[२] प्रयोगो नयः। स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः। तयोर्भेदा नैगमादयः।

§ २४२. तेषां विशेषलक्षणमुच्यते—अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। कंचित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छन्तमवलोक्य कश्चित्पृच्छति किमर्थं भवान्गच्छतीति। स आह प्रस्थमानेतुमिति। नासौ तदा प्रस्थपर्यायः संनिहितः। तदभिनिर्वृत्तये संकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः। तथा

विशेषार्थ—यहाँपर प्रारम्भके तीन ज्ञान विपर्यय होते हैं यह बतलाकर वे विपर्यय क्यों होते हैं यह बतलाया गया है। संसारी जीवकी श्रद्धा विपरीत और समीचीनके भेदसे दो प्रकारकी होती है। विपरीत श्रद्धावाले जीवको विश्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। वह जगत्में कितने पदार्थ हैं उनका स्वरूप क्या है यह नहीं जानता। आत्मा और परमात्माके स्वरूप बोधसे तो वह सर्वथा वंचित रहता है। वह घटको घट और पटको पट ही कहता है पर जिन तत्त्वोंसे इनका निर्माण होता है उनका इसे यथार्थ बोध नहीं होने पाता। यही कारण है कि जीवकी श्रद्धाके अनुसार ज्ञान भी समीचीन ज्ञान और मिथ्या ज्ञान इन दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। यथार्थ श्रद्धाके होनेपर जो ज्ञान होते हैं उन्हें समीचीन ज्ञान कहते हैं और यथार्थ श्रद्धाके अभावमें होनेवाले ज्ञानोंका नाम ही मिथ्या ज्ञान है। ऐसे मिथ्या ज्ञान तीन माने गये हैं—कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और विभंग ज्ञान। ये ही तीन ज्ञान मिथ्या होते हैं अन्य नहीं, क्योंकि ये ज्ञान विपरीत श्रद्धावालेके भी पाये जाते हैं। विपरीत श्रद्धा क्यों होती है इसका निर्देश मूल टीकामें किया ही है।

§ २४०. दो प्रकारके प्रमाणका वर्णन किया। प्रमाणके एकदेशको नय कहते हैं। इनका कथन प्रमाणके अनन्तर करना चाहिए, अतः आगेका सूत्र कहते हैं—

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ॥३३॥

२४१. इनका सामान्य और विशेष लक्षण कहना चाहिए। सामान्य लक्षण—अनेकान्तात्मक वस्तुमें विरोधके बिना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताके प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है। तथा पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इन दोनों नयोंके उत्तर भेद नैगमादिक हैं।

§ २४२. अब इनका विशेष लक्षण कहते हैं—अनिष्पन्न अर्थमें संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम है। यथा—हाथमें फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुषको देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है आप किस कामके लिए जा रहे हैं। वह कहता है प्रस्थ लानेके लिए जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल उसके बनानेका संकल्प होनेसे उसमें प्रस्थ व्यवहार

---

१. –ज्ञानमवध्यज्ञा–मु०। २. –वणप्रयो–मु०।

एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित्पृच्छति किं करोति भवानिति। स आह ओदनं पचामीति। न तदौदनपर्यायः संनिहितः, तदर्थे व्यापारे स प्रयुज्यते। एवंप्रकारो लोकसंव्यवहारः अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रविषयो नैगमस्य गोचरः।

§ २४३. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। सत्, द्रव्यं, घट इत्यादि। सदित्युक्ते सदिति वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण सर्वेषां संग्रहः। द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्युपलक्षितानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रहः। तथा घट इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसकलार्थसंग्रहः। एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य[1] विषयः।

§ २४४. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः। यः संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तत इत्ययं विधिः। तद्यथा—सर्वसंग्रहेण[2] यत्सत्त्वं गृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। यत्सत्तद् द्रव्यं गुणो वेति। द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि[3] च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः।

किया गया है। तथा ईंधन और जल आदिके लानेमें लगे हुए किसी पुरुषसे कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं। उसने कहा भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भातके लिए किये गये व्यापारमें भातका प्रयोग किया गया है। इस प्रकारका जितना लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थके आलम्बनसे संकल्पमात्रको विषय करता है वह सब नैगम नयका विषय है।

§ २४३. भेदसहित सब पर्यायोंको अपनी जातिके अविरोध-द्वारा एक मानकर सामान्यसे सबको ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। यथा—सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहनेपर सत् इस प्रकारके वचन और विज्ञानकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सत्ताके आधारभूत सब पदार्थोंका सामान्य रूपसे संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्तिसे युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदोंका संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहनेपर भी घट इस प्रकारकी बुद्धि और घट इस प्रकारके शब्दकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सब घट पदार्थोंका संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रह नयका विषय है।

§ २४४. संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार नय है। **शंका**--विधि क्या है? **समाधान**--जो संग्रह नयके द्वारा गृहीत अर्थ है उसीके आनुपूर्वी क्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा--सर्वसंग्रह नयके द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है वह अपने उत्तर भेदोंके बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए व्यवहार नयका आश्रय लिया जाता है। यथा--जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रह नयका विषय जो द्रव्य है वह जीव अजीवकी अपेक्षा किये बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है इस प्रकारके व्यवहारका आश्रय लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रह नयके विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार करानेमें असमर्थ हैं इसलिए व्यवहारसे जीव द्रव्यके देव, नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्यके घटादिरूप भेदोंका आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नयकी प्रवृत्ति वहीं तक होती है जहाँ तक वस्तुमें फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता।

---

१. संग्रहनयः ॥२॥ संग्र–मु०। २. यत्संग्र–मु०, दि० १, दि०२, आ०। ३. जीवावपि संग्र–मु०।

§ २४५. ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति[1] तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। [2]पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते[3] अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्। तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्ययमृजुसूत्रः। ननु संव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेद्[4]। न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः।

§ २४६. लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। तत्र लिङ्गव्यभिचारः—पुष्यस्तारका नक्षत्रमिति। संख्याव्यभिचारः—जलमापः, वर्षा ऋतुः, आम्रा वनम्[5], वरणा नगरमिति। साधनव्यभिचारः[6]—सेना[7] पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः—एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पितेति। कालव्यभिचारः—विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता। [9]भावि कृत्यमासीदिति। उपग्रहव्यभिचारः—संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति। एवंप्रकारं व्यवहारमन्याय्यं[10]

§ २४५. ऋजुका अर्थ प्रगुण है। जो ऋजु अर्थात् सरलको सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है। यह नय पहले हुए और पश्चात् होनेवाले तीनों कालोंके विषयोंको ग्रहण न करके वर्तमान कालके विषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करता है, क्योंकि अतीतके विनष्ट और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। वह वर्तमान काल समयमात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्रको विषय करनेवाला यह ऋजुसूत्र नय है। **शंका**—इस तरह संव्यवहारके लोपका प्रसंग आता है ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि यहाँ इस नयका विषयमात्र दिखलाया है, लोक संव्यवहार तो सब नयोंके समूहका कार्य है।

§ २४६. लिंग, संख्या और साधन आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है। लिंगव्यभिचार यथा—पुष्य, तारका और नक्षत्र। ये भिन्न-भिन्न लिंगके शब्द हैं। इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है। संख्याव्यभिचार यथा—'जलं आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणाः नगरम्' ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द हैं। इनका विशेषणविशेष्यरूपसे प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है। साधनव्यभिचार यथा—'सेना पर्वतमधिवसति' सेना पर्वतपर है। यहाँ अधिकरण कारकके अर्थमें सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है इसलिए यह साधनव्यभिचार है। पुरुषव्यभिचार यथा—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता'=आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊँगा, नहीं जाओगे। तुम्हारे पिता गये। यहाँ 'मन्यसे' के स्थानमें 'मन्ये' और 'यास्यामि'के स्थानमें 'यास्यसि' क्रियाका प्रयोग किया गया है इसलिए यह पुरुषव्यभिचार है। कालव्यभिचार यथा—'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' = इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा। यहाँ 'विश्वदृश्वा' कर्ता रखकर 'जनिता' क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह कालव्यभिचार है। अथवा, 'भाविकृत्यमासीत् = होनेवाला कार्य हो गया। यहाँ होनेवाले कार्यको हो गया बतलाया गया है इसलिए यह कालव्यभिचार है। उपग्रहव्यभिचार यथा—'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति।' यहाँ 'सम्' और 'प्र' उपसर्गके कारण 'स्था' धातुका आत्मनेपद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्गके कारण 'रम्' धातुका परस्मैपदमें प्रयोग किया गया है इसलिए यह उपग्रहव्यभिचार है। यद्यपि व्यवहारमें ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अन्य अर्थका

---

१. यत इति ऋजु–मु०, ता०, ना० ॥ २. पूर्वान्परा–मु०। ३. –षयमाद–आ०। ४. चेदस्य दि० १, दि० २। ५. वनमिति। साध–आ, दि० १, दि० २, ता०, ना०। ६. –चारः (कारकव्यभिचारः) सेना मु०। ७. सेना वनमध्यास्ते। पुरु–ता०। ८. 'एहि मन्ये रथेन यास्यसीति।'–पा० म० भा० ८।१।१।६। ९. 'भाविकृत्यमासीत्। पुत्रो जनिष्यमाण आसीत्। पा० म० भा० ३।४।१।२। १०. –हारनयं न्याय्यं मु०, दि० १, दि० २, आ०।

मन्यते; अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमयविरोध इति चेत्। विरुध्यताम्। [1]तत्त्वमिह मीमांस्यते, न[2] भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति।

§ २४७. नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। यतो नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु[3] वर्तमानः पशावभिरूढः। अथवा [4]अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरंदर इत्येवं सर्वत्र। अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते। आत्मनीति। कुतः। वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। [5]यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात्।

§ २४८. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूतः। स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यदेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयित इति। अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति। यथेन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति।

अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता। **शंका**—इससे लोकसमयका (व्याकरण शास्त्रका) विरोध होता है। **समाधान**—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ पीड़ित पुरुषकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती।

§ २४७. नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ़ नय कहलाता है। चूँकि जो नाना अर्थोंको 'सम्' अर्थात् छोड़कर प्रधानतासे एक अर्थमें रूढ़ होता है वह समभिरूढ़ नय है। उदाहरणार्थ–'गो' इस शब्दके वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थमें रूढ़ है। अथवा अर्थका ज्ञान करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालतमें एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है इसलिए पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ़ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्रका अर्थ आज्ञा ऐश्वर्यवान् है, शक्रका अर्थ समर्थ है और पुरन्दरका अर्थ नगरका दारण करनेवाला है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। अथवा जो जहाँ अभिरूढ़ है वह वहाँ 'सम्' अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ़ होनेके कारण समभिरूढ़ नय कहलाता है। यथा—आप कहाँ रहते हैं ? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति होती है ऐसा माना जाय तो ज्ञानादिककी और रूपादिककी आकाशमें वृत्ति होने लगे।

§ २४८. जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करानेवाले नयको एवंभूत नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उस रूप क्रियाके परिणमनके समय ही उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है अन्य समयमें नहीं। जभी आज्ञा ऐश्वर्यवाला हो तभी इन्द्र है अभिषेक करनेवाला नहीं और न पूजा करनेवाला ही। जब गमन करती हो तभी गाय है बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही। अथवा जिस रूपसे अर्थात् जिस ज्ञानसे आत्मा परिणत हो उसी रूपसे

---

१. तत्त्वं मीमां– आ०, दि० १, दि० २। २. न तु भैष–आ०, ता०, दि० १। ३. –गादिषु वर्त–ता०, ना०। ४. 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति' पा० म० भा० २।१।१।१। ५. यद्यस्यान्यत्र आ०।

§ २४९. उक्ता नैगमादयो नयाः। उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च। एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति विभिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते। त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थ-क्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः।

§ २५०. [1]तन्त्वादय इवेति विषम उपन्यासः। तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि कांचिदर्थमात्रां जनयन्ति। भवति हि कश्चित्प्रत्येकं [2]तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः। एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः। इमे पुनर्नया निरपेक्षाः सन्तो न कांचिदपि सम्यग्दर्शनमात्रां प्रादुर्भावयन्तीति। नैष दोषः, अभिहिता-नवबोधात्। अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणेदमुपालभ्यते। एतदुक्तं, निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति। यत्तु तेनोपदर्शितं न तत्पटादिकार्यम्। किं तर्हि। केवलं तन्त्वादिकार्यम्[3]। तन्त्वादि-कार्यमपि तन्त्वाद्यवयवेषु निरपेक्षेषु नास्त्येव इत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव। अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात्सम्यग्दर्शनहेतु-त्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य[4]।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञायां प्रथमोऽध्यायः।

उसका निश्चय करानेवाला नय एवंभूत नय है। यथा—इन्द्ररूप ज्ञानसे परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञानसे परिणत आत्मा अग्नि है।

२४९. ये नैगमादिक नय कहे। उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले होनेके कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व नय आगे-आगेके नयका हेतु है इसलिए भी यह क्रम कहा है। इस प्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं। द्रव्यकी अनन्त शक्ति है इसलिए प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भेदको प्राप्त होकर ये अनेक विकल्पवाले हो जाते हैं। ये सब नय गौण मुख्यरूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शनके हेतु हैं। जिस प्रकार पुरुषकी अर्थक्रिया और साधनोंकी सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट आदिक संज्ञाको प्राप्त होते हैं और स्वतन्त्र रहनेपर कार्यकारी नहीं होते उसी प्रकार ये नय समझने चाहिए।

§ २५०. **शंका**—प्रकृतमें 'तन्त्वादय इव' विषम दृष्टान्त है; क्योंकि तन्तु आदिक निरपेक्ष रहकर भी किसी-न-किसी कार्यको जन्म देते ही हैं। देखते हैं कि कोई एक तन्तु त्वचाकी रक्षा करनेमें समर्थ है और एक वल्कल किसी वस्तुको बाँधनेमें समर्थ है। किन्तु ये नय निरपेक्ष रहते हुए थोड़ा भी सम्यग्दर्शनरूप कार्यको नहीं पैदा कर सकते हैं? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है उसे समझे नहीं। कहे गये अर्थको समझे विना दूसरेने यह उपालम्भ दिया है। हमने यह कहा है कि निरपेक्ष तन्तु आदिमें पटादि कार्य नहीं पाया जाता। किन्तु शंकाकारने जिसका निर्देश किया है वह पटादिका कार्य नहीं है। **शंका**—तो वह क्या है? **समाधान**—केवल तन्तु आदिका कार्य है। तन्तु आदिका कार्य भी सर्वथा निरपेक्ष तन्तु आदिके अवयवोंमें नहीं पाया जाता, इसलिए इससे हमारे पक्षका ही समर्थन होता है। यदि यह कहा जाय कि तन्तु आदिमें पटादि कार्य शक्तिकी अपेक्षा है हो तो यह बात बुद्धि और अभिधान—शब्दरूप निरपेक्ष नयोंके विषयमें भी जानना चाहिए। उनमें भी ऐसी शक्ति पायी

---

१. तन्त्वादिवदेष विष–आ०, दि० १, दि० २, ता० ना०। २. 'एकस्तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बलः समर्थः × × एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च रज्जु समर्था भवति। विषम उपन्यासः। भवति हि तत्र या च यावती चार्थमात्रा। भवति हि कश्चित्प्रत्येकस्तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः। × × एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः।' पा० म० भा० १।२।२।४५। ३. कार्यम्। तर्हि तन्त्वा–ता०, ना०। ४. न्यायस्य। ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम्॥ इति' प्रतिष्वेवं पाठः।

जाती है जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतु रूपसे परिणमन करनेमें समर्थ हैं। इसलिए दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिसे साम्य ही है।

विशेषार्थ—प्रमाणके भेद-प्रभेदोंका कथन करनेके बाद यहाँ नयोंका निर्देश किया गया है। नय श्रुतज्ञानका एक भेद है यह पहले ही बतला आये हैं। यहाँ आलम्बनकी प्रधानतासे उसके सात भेद किये गये हैं। मुख्यतः आलम्बनको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, उपचार, अर्थ और शब्द। पहला नैगमनय उपचारनय है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय हैं और शेष तीन शब्दनय हैं। आशय यह है कि नैगम नयकी प्रवृत्ति उपचारकी प्रधानतासे होती है इसलिए इसे उपचार नय कहा है। वैसे तो इसकी परिगणना अर्थनयमें की गयी है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी प्रवृत्ति अर्थकी प्रधानतासे होती है इसलिए इन्हें अर्थनय कहा है और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत नयकी प्रवृत्ति शब्दकी प्रधानतासे होती है इसलिए इन्हें शब्द नय कहा है। जैसा कि हमने संकेत किया है कि नैगमनयका समावेश अर्थनयोंमें किया जाता है किन्तु शेष अर्थनयोंसे नैगमनयको अर्थनय माननेमें मौलिक भेद है। बात यह है कि उपचारकी प्रधानतासे वस्तुको स्वीकार करना यह नैगमनयका काम है शेष अर्थनयोंका नहीं इसलिए इसे उपचार नय कहा है। शेष अर्थनय तो भेदाभेद या सामान्य विशेषकी प्रधानतासे सीधा ही वस्तुको विषय करते हैं वहाँ उपचारको विशेषस्थान नहीं इसलिए हमने अर्थनयोसे नैगमनयको पृथक् बतलाया है। माना कि नैगमनय भी गौण मुख्यभावसे भेदाभेद या सामान्यविशेषको विषय करता है पर इन सबकी जड़में उपचार काम करता है इसलिए नैगमनय मुख्यतः उपचारनय ही है। सिद्धसेन दिवाकरने नैगमनयको नय ही नहीं माना है इसका कारण यह उपचार ही है। सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें उपचारको कहाँ तक स्थान दिया जाय यह एक प्रश्न तो है ही। वस्तुस्पर्शी विकल्प और वस्तुमें आरोपित विकल्प इनमें बड़ा अन्तर है। वस्तुस्पर्शी विकल्पोंको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें स्थान देना तो अनिवार्य है, किन्तु यदि वस्तुमें आरोपित विकल्पोंको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें स्थान दिया जाय तो अनवस्थाकी सीमा हो न रहे यह एक भय था जिसके कारण आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने नय प्रकरणमें नैगमका नामोल्लेख तक न किया। किन्तु ऐसा उपचार, जो परम्परासे ही सही मूल कार्यका ज्ञान करानेमें सहायक हो और जिससे अवास्तविक भ्रम फैलनेका भय न हो या जो वस्तुका विपरीतरूपसे बोध न कराकर वस्तुके गूढ़तम तत्त्वकी ओर इशारा करता हो, ग्राह्य है ऐसा मानकर उपचार प्रधान नैगमनयको नयप्रकरणमें स्थान दिया गया है। इससे विचार करने-की परिधि बढ़ जाती है और सम्यग्ज्ञानके जनक समग्र विचारोंका वर्गीकरण करनेमें सहायता मिलती है। यदि नैगमनयकी श्रेणीमें जो विचार आते हैं उन्हें मिथ्या मानकर सर्वथा छोड़ दिया जाता है—सम्यग्ज्ञानकी श्रेणीमें स्थान नहीं दिया जाता है तो अभेदकी ओर ले जानेवाले जितने विचार हैं उनकी भी यही गति होनी चाहिए। यदि उनसे वस्तुके स्वरूपका विश्लेषण करनेमें सहायता मिलती है इसलिए उनकी नयोंकी श्रेणीमें परिगणना की जाती है तो यही बात नैगमनयके ऊपर भी लागू करनी चाहिए। इन नयोंका सामान्य और विशेष स्वरूप टीकामें दिया हो है इसलिए यहाँ इस विषयमें विशेष नहीं लिखा गया है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय-द्वारा वस्तुको ग्रहण करता है और शब्दादिक नय शब्दों-द्वारा वर्तमान पर्यायमुखेन वस्तुको ग्रहण करते हैं, इसलिए इन नयोंका विषय द्वित्व नहीं हो सकता। यही कारण है कि शब्दनयके विषयका निरूपण करते समय एक साथ प्रयुक्त किये गये एकवचनान्त और द्विवचनान्त आदि शब्दके वाच्य आदि इसके अविषय बतलाये हैं और समभिरूढ़के विषयका निरूपण करते समय एक शब्दके अनेक अर्थ या एक अर्थमें अनेक शब्दोंका प्रयोग करना इसका अविषय बतलाया है, क्योंकि एकवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है और द्विवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है, इसलिए शब्द नय इनको

एक वाच्य रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार गो शब्दका गाय अर्थ अन्यार्थ है और वाणी अर्थ अन्यार्थ है, इसलिए समभिरूढ़ नय इन अर्थोंको एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार सभी नयोंके विषयको समझना चाहिए। नय अंश-द्वारा वस्तुको स्पर्श करनेवाला एक विकल्प है। प्रमाण ज्ञानके समान यह समग्र वस्तुको स्पर्श नहीं करता, इसलिए ही निरपेक्ष नयको मिथ्या और सापेक्षनयको सम्यक् कहा गया है। इस विषयका विशेष खुलासा और सब नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताका विचार मूलमें किया ही है। इस प्रकार नय सात हैं और वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागोंमें बटे हुए हैं यह निश्चित होता है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

§ २५१. आह, सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपदिष्टेषु जीवादिष्वादावुपन्यस्तस्य जीवस्य किं स्वतत्त्वमित्युच्यते—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

§ २५२. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्यसंबन्धादम्भसि पङ्कस्य उपशमः। क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभाव उभयात्मको मिश्रः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसंबन्धात्पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः। द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। एवं क्षायिकः क्षायोपशमिकः औदयिकः पारिणामिकश्च। त एते पञ्च भावा असाधारणा जीवस्य स्वतत्त्वमित्युच्यन्ते।

§ २५३. सम्यग्दर्शनस्य प्रकृतत्वात्तस्य त्रिषु विकल्पेषु औपशमिकमादौ लभ्यत इति तस्यादौ ग्रहणं क्रियते। तदनन्तरं क्षायिकग्रहणम्; तस्य प्रतियोगित्वात् संसार्यपेक्षया द्रव्यतस्ततोऽसंख्येयगुणत्वाच्च। तत उत्तरं मिश्रग्रहणम्; तदुभयात्मकत्वात्ततोऽसंख्येयगुणत्वाच्च। तेषां सर्वेषामनन्तगुणत्वाद् औदयिकपारिणामिकग्रहणमन्ते क्रियते। अत्र द्वन्द्वनिर्देशः कर्तव्यः—औपशमिकक्षायिक-

---

§ २५१. सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जीवादि पदार्थोंका कथन किया। उनके आदिमें जो जीव पदार्थ आया है उसका स्वतत्त्व क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व हैं ॥१॥

§ २५२. जैसे कतक आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलमें कीचड़का उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे प्रकट न होना उपशम है। जैसे उसी जलको दूसरे साफ बर्तनमें बदल देनेपर कीचड़का अत्यन्त अभाव हो जाता है वैसे ही कर्मोंका आत्मासे सर्वथा दूर हो जाना क्षय है। जिस प्रकार उसी जलमें कतकादि द्रव्यके सम्बन्धसे कुछ कीचड़का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है उसी प्रकार उभयरूप भाव मिश्र है। द्रव्यादि निमित्तके वशसे कर्मोंके फलका प्राप्त होना उदय है। और जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूपलाभमात्र कारण है वह परिणाम है। जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है। इसी प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोंकी व्युत्पत्ति कहनी चाहिए। ये पाँच भाव असाधारण हैं इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहलाते हैं।

§ २५३. सम्यग्दर्शनका प्रकरण होनेसे उसके तीन भेदोंमेंसे सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है अतएव औपशमिक भावको आदिमें ग्रहण किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भावका प्रतियोगी है और संसारी जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे है अतः औपशमिक भावके पश्चात् क्षायिक भावको ग्रहण किया है। मिश्रभाव इन दोनोंरूप होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे असंख्यातगुणे होते हैं अतः तत्पश्चात् मिश्रभावको ग्रहण किया है। इन सबसे अनन्तगुणे होनेके कारण इन सबके अन्तमें औदयिक और पारिणामिक भावोंको रखी है। शंका—यहाँ 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयि-

मिश्रौदयिकपारिणामिका इति। तथा सति द्विः 'च'शब्दो न कर्तव्यो भवति। नैवं शङ्क्यम्; अन्यगुणापेक्षया मिश्र इति प्रतीयेत। वाक्ये पुनः सति 'च'शब्देन प्रकृतोभयानुकर्षः कृतो भवति। तर्हि क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमिति चेत्। न; गौरवात्। मिश्रग्रहणं मध्ये क्रियते उभयापेक्षार्थम्। भव्यस्य औपशमिकक्षायिकौ भावौ। मिश्रः पुनरभव्यस्यापि भवति औदयिकपारिणामिकाभ्यां सह भव्यस्यापीति। भावापेक्षया तल्लिङ्गसंख्याप्रसङ्गः स्वतत्त्वस्येति चेत्। न; उपात्तलिङ्गसंख्यत्वात्[1]। तद्भावस्तत्त्वम्। स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वमिति।

§ २५४. अत्राह तस्यैकस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताभेदा इति। अत्रोच्यते, भेदवन्तः। यद्येवं, भेदा उच्यन्तामित्यत आह—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

§ २५५. द्व्यादीनां संख्याशब्दानां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन सह स्वपदार्थेऽन्यपदार्थे वा वृत्तिर्वेदितव्या। द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः[2]। ते च

कपारिणामिकाः' इस प्रकार द्वन्द्व समास करना चाहिए। ऐसा करनेसे सूत्रमें दो 'च' शब्द नहीं रखने पड़ते हैं? **समाधान**—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सूत्रमें यदि 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्रकी प्रतीति अन्य गुणकी अपेक्षा होती। किन्तु वाक्यमें 'च' शब्दके रहनेपर उससे प्रकरणमें आये हुए औपशमिक और क्षायिक भावका अनुकर्षण हो जाता है। **शंका**—तो फिर सूत्रमें 'क्षायोपशमिक' पदका ही ग्रहण करना चाहिए? **समाधान**—नहीं, क्योंकि क्षायोपशमिक पदके ग्रहण करनेमें गौरव है; अतः इस दोषको दूर करनेके लिए क्षायोपशमिक पदका ग्रहण न करके मिश्र पद रखा है। दोनोंकी अपेक्षासे मिश्र पद मध्यमें रखा है। औपशमिक और क्षायिकभाव भव्यके ही होते हैं। किन्तु मिश्रभाव अभव्यके भी होता है। तथा औदयिक और पारिणामिक भावोंके साथ भव्यके भी होता है। **शंका**—भावोंकी अपेक्षा स्वतत्त्वपदका वही लिंग और संख्या प्राप्त होती है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि जिस पदको जो लिंग और संख्या प्राप्त हो गयी है उसका वही लिंग और वही संख्या बनी रहती है। स्वतत्त्वका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम् = जिस वस्तुका जो भाव है वह तत्त्व है और स्व तत्त्व स्वतत्त्व है।

विशेषार्थ—पाँच भावोंमें प्रारम्भके चार भाव निमित्तकी प्रधानतासे कहे गये हैं और अन्तिम भाव योग्यताकी प्रधानतासे। जगमें जितने कार्य होते हैं उनका त्रिभागीकरण इसी हिसाबसे किया जाता है। कहीं निमित्तको प्रमुखता दी जाती है और कहीं योग्यताको। पर इससे अन्य वस्तुका कर्तृत्व अन्यमें मानना उचित नहीं। ऐसे विभागीकरणके दिखलानेका इतना ही प्रयोजन है कि जहाँ जिस कार्यका जो सुनिश्चित निमित्त हो उसका परिज्ञान हो जावे। यों तो कार्य अपनी योग्यतासे होता है किन्तु जिसके बिना जो कार्य नहीं होता वह उसका सुनिश्चित निमित्त कहा जाता है। इस हिसाबसे विचार करनेपर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार नैमित्तिक भाव ठहरते हैं।

§ २५४. एक आत्माके जो औपशमिक आदि भाव कहे हैं, उनके कोई भेद हैं या नहीं? भेद हैं। यदि ऐसा है तो इनके भेदोंका कथन करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त पाँच भावोंके क्रमसे दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ॥२॥

§ २५५. संख्यावाची दो आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके पश्चात् उनका भेद शब्दके साथ स्वपदार्थमें या अन्यपदार्थमें समास जानना चाहिए। स्वपदार्थ प्रधान समास यथा—द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च इति द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः, ते एव भेदाः इति

---

१. संख्यात्वात् मु०। २. त्रयः। त एव भेदाः मु०।

ते भेदाश्च, त एव भेदा येषामिति वा वृत्तिर्द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति। यदा स्वपदार्थे वृत्तिस्तदा औपशमिकादीनां[1] भावानां द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा इत्यभिसंबन्धः क्रियते; अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति। यदान्यपदार्थे वृत्तिस्तदा निर्दिष्टविभक्त्यन्ता एवाभिसबन्ध्यन्ते, औपशमिकादयो भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति। 'यथाक्रम'वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम्। औपशमिको द्विभेदः। क्षायिको नवभेदः। मिश्रोऽष्टादशभेदः। औदयिक एकविंशतिभेदः। पारिणामिकस्त्रिभेद इति।

§ २५६. यद्येवमौपशमिकस्य कौ द्वौ भेदावित्यत आह—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

§ २५७. व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे। औपशमिकत्वं कथमिति चेदुच्यते। चारित्रमोहो द्विविधः कषायवेदनीयो नोकषायवेदनीयश्चेति। तत्र कषायवेदनीयस्य भेदा अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। दर्शनमोहस्य त्रयो भेदाः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वमिति। आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्।

§ २५८. अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः। काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्–कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः। अन्यपदार्थप्रधान समास यथा—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषां ते द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः। जब स्वपदार्थमें समास करते हैं तब औपशमिक आदि भावोंके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेते हैं। यद्यपि पूर्व सूत्रमें औपशमिक आदि पदकी षष्ठी विभक्ति नहीं है तो भी अर्थवश विभक्ति बदल जाती है। और जब अन्य पदार्थमें समास करते हैं तब विभक्ति बदलनेका कोई कारण नहीं रहता। सूत्रमें इनकी विभक्तिका जिस प्रकार निर्देश किया है तदनुसार सम्बन्ध हो जाता है। सूत्रमें 'यथाक्रम' वचन यथासंख्यके ज्ञान करानेके लिए दिया है। यथा–औपशमिक भावके दो भेद हैं, क्षायिकके नौ भेद हैं, मिश्रके अठारह भेद हैं, औदयिकके इक्कीस भेद हैं और पारिणामिकके तीन भेद हैं।

§ २५६. यदि ऐसा है तो औपशमिकके दो भेद कौन-से हैं? इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औपशमिक भावके दो भेद हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ॥३॥

§ २५७. सम्यक्त्व और चारित्रके लक्षणका व्याख्यान पहले कर आये हैं। **शंका**—इनके औपशमिकपना किस कारणसे है? **समाधान**—चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। इनमें-से कषायवेदनीयके अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद इन सातके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

§ २५८. **शंका**—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोंके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है। **समाधान**—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बतलाते हैं—कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नामके कालके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है इनसे अधिक कालके शेष रहनेपर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्म स्थितिसे है। उत्कृष्ट स्थितिवाले

---

१. –दीनां द्वि–मु०

कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। 'आदि'शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।

§ २५९. कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम्। तत्र सम्यक्त्वस्यादौ वचनं; तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य।

§ २६०. यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टस्तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

§ २६१. 'च'शब्दः सम्यक्त्वचारित्रानुकर्षणार्थः। ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात्केवलज्ञानं

कर्मोंके शेष रहनेपर या जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वका लाभ नहीं होता। शंका—तो फिर किस अवस्थामें होता है? समाधान—जब बँधनेवाले कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामोंके वशसे सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है। एक काललब्धि भवकी अपेक्षा होती है—जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण करना चाहिए।

§ २५९. समस्त मोहनीय कर्मके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है। इनमेंसे 'सम्यक्त्व' पदको आदिमें रखा है क्योंकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक होता है।

विशेषार्थ—उपशम दो प्रकारका है—करणोपशम और अकरणोपशम। कर्मोंका अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है वह करणोपशम कहलाता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोका ही होता है इसलिए उपशम भावके दो ही भेद बतलाये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तरकरण उपशम नहीं होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशमका विधान किया गया है वहाँ इसका अकरणोपशम ही लेना चाहिए। औपशमिक सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका तो अन्तरकरण उपशम होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अनुदयरूप उपशम—यह उक्त कथनका भाव है। यद्यपि उपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तरकरण उपशम होता है इस मतका उल्लेख सप्ततिकामें देखा जाता है पर मुख्य मत वही है जिसका यहाँ हमने निर्देश किया है। प्रकृतमें जिस जीवके औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उसकी योग्यताका निर्देश करते हुए ऐसी चार योग्यताएँ बतलायी हैं। विशेष इस प्रकार हैं—पहली योग्यता अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण कालकी है जिस जीवके संसारमें रहनेका इतना काल शेष रहा है उसे ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। पर इतने कालके शेष रहनेपर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके पहले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती इतना सुनिश्चित है। शेष कथन सुगम है।

§ २६०. जो क्षायिकभाव नौ प्रकारका कहा है उसके भेदोंके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षायिक भावके नौ भेद हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ॥४॥

§ २६१. सूत्रमें 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्रके ग्रहण करनेके लिए आया है। ज्ञानावरण

क्षायिकं तथा केवलदर्शनम् । दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम् । लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य[1] तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः । यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः । यतः सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादयो विभूतयः । वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम् । पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात्क्षायिकं सम्यक्त्वम् । चारित्रमपि तथा । यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः । नैष दोषः; शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् । तेषां तदभावे तदप्रसङ्गः । कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः । [2]परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक केवलज्ञान होता है । इसी प्रकार केवलदर्शन भी होता है । दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंके समुदायका उपकार करनेवाला क्षायिक अभयदान होता है । समस्त लाभान्तराय कर्मके क्षयसे कवलाहार क्रियासे रहित केवलियोंके क्षायिक लाभ होता है जिससे उनके शरीरको बल प्रदान करनेमें कारणभूत, दूसरे मनुष्योंको असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होनेवाले, परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोगका प्रादुर्भाव होता है । जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं । समस्त उपभोगान्तरायके नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है । जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं । वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक अनन्त वीर्य प्रकट होता है । पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके अत्यन्त विनाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इसी प्रकार क्षायिक चारित्रका स्वरूप समझना चाहिए । **शंका**—यदि क्षायिक दान आदि भावोंके निमित्तसे अभयदान आदि कार्य होते हैं तो सिद्धोंमें भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि इन अभयदान आदिके होनेमें शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रहती है । परन्तु सिद्धोंके शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नहीं होते अतः उनके अभयदान आदि नहीं प्राप्त होते । **शंका**—तो सिद्धोंके क्षायिक दान आदि भावोंका सद्भाव कैसे माना जाय ? **समाधान**—जिस प्रकार सिद्धोंके केवलज्ञान रूपसे अनन्तवीर्यका सद्भाव माना गया है उसी प्रकार परमानन्दके अव्याबाध रूपसे ही उनका सिद्धोंके सद्भाव है ।

विशेषार्थ-घातिकर्मोंके चार भेद हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय । इनमें-से ज्ञानावरणके अभावसे क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरणके अभावसे क्षायिक दर्शन, मोहनीयके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र तथा अन्तरायके अभावसे क्षायिक दानादि पाँच लब्धियाँ होती हैं । इसीसे क्षायिक भावके नौ भेद किये हैं । यद्यपि अघाति कर्मोंके अभावसे जीवके क्षायिक अगुरुलघु आदि गुण प्रकट होते हैं पर वे अनुजीवी न होनेसे उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है । प्रश्न यह है कि टीकामें जो अभयदान आदिको शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनेवाले क्षायिक दान आदिके कार्य बतलाये हैं सो ऐसा बतलाना कहाँ तक उचित है ? बात यह है कि ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि तीर्थंकरके गर्भमें आनेपर छह महीना पहलेसे भक्तिवश देव आकर जिस नगरीमें तीर्थंकर जन्म लेते हैं वहाँ रत्न वर्षा करते हैं । छप्पन कुमारिकाएँ

---

१. –यस्यात्यन्ताभा–मु० । २. –मानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपे–मु० ।—मानन्ताव्याबाधसुखरूप–आ०, दि० १, दि० २ ।

§ २६२. य उक्तः क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

§ २६३. चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च[1]। ते भेदाः यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः। यथाक्रममित्यनुवर्तते। तेनाभिसंबन्धाच्चतुरादिभिर्ज्ञानादीन्यभिसंबध्यन्ते। चत्वारि ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि, त्रीणि दर्शनानि, पञ्च लब्धय इति। सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदय-

---

आकर माताकी सेवा करती हैं, गर्भशोधन करती हैं, रक्षा करती हैं। तीर्थंकरके गर्भमें आनेपर देव-देवियाँ उत्सव मनाते हैं। जन्म, तप, केवल और निर्वाणके समय भी ऐसा ही करते हैं। केवलज्ञान होनेके बाद समवसरणको रचना करते हैं, कुसुमवृष्टि करते हैं आदि। इसलिए मुख्यतः ये अभयदानादि देवादिकोंकी भक्ति और धर्मानुरागके कार्य हैं, शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनेवाले क्षायिक दान आदिके नहीं। फिर भी इन अभयदानादिको उपचारसे इनका कार्य कहा है। ऐसा नहीं माननेपर ये तीन दोष आते हैं—१. निर्वाण कल्याणकके समय शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नहीं रहता, इसलिए वह नहीं बन सकेगा। २. गर्भमें आनेके पहले जो रत्नवर्षा आदि कार्य होते हैं उन्हें अकारण मानना पड़ेगा। ३. गर्भ, जन्म और तप कल्याणकके समय न तो क्षायिक दान आदि ही पाये जाते हैं और न तीर्थंकर प्रकृतिका उदय ही रहता है, इसलिए इन कारणोंके अभावमें इन्हें भी अकारण मानना पड़ेगा। इन सब दोषोंसे बचनेका एक ही उपाय है कि पाँच कल्याणकोंको और समवसरण आदि बाह्य विभूतिको देवादिककी भक्ति और धर्मानुरागका कार्य मान लिया जाय। जिस प्रकार जिन-प्रतिमाका अभिषेक आदि महोत्सव भी इसीके कार्य हैं इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। इसपर यह प्रश्न होता है कि उक्त कार्य भले ही देवादिककी भक्ति और धर्मानुराग वश होते हों पर जन्मकल्याणकके समय जो घण्टानाद आदि कार्य विशेष होते हैं उनका कारण तो धर्मानुराग और भक्ति नहीं है। यदि उनका कारण पुण्यातिशय माना जाता है तो शेष कार्योंका कारण पुण्यातिशय माननेमें क्या आपत्ति है? समाधान यह है कि जिस प्रकार एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र आदिके होनेका नियम है। यह कर्म विशेषका कार्य नहीं। उस-उस कालके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस कालमें इतने तीर्थंकर, इतने चक्रवर्ती आदि ही होंगे न्यूनाधिक नहीं, इसी प्रकार तीर्थंकरके जन्मकालके साथ ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस समय अमुक स्थानके अमुक प्रकारके बाजे बजेंगे, इसलिए इसे कर्म विशेषका कार्य मानना उचित नहीं। कर्मकी अपनी मर्यादाएँ हैं। उन तक ही वह सीमित है। फिर भी मूलमें जिस स्थितिके रहते हुए ये कार्य होते हैं उस स्थितिको ध्यानमें रखकर उपचारसे उस स्थितिको इनका कारण कहा है। और हमने कार्यकारणभावका सीधा विचार करके यह लिखा है। शेष कथन सुगम है।

§ २६२. जो अठारह प्रकारका क्षायोपशमिक भाव कहा है उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हैं—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ॥५॥

§ २६३. जिनके चार, तीन, तीन और पाँच भेद हैं वे चार, तीन, तीन और पाँच भेदवाले कहलाते हैं। इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे चार आदि पदोंके साथ ज्ञान आदि पदोंका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन और पाँच लब्धियाँ। वर्तमान कालमें सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालकी

---

१. पञ्च भेदा यासां मु०।

क्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तरायक्षयोपशमाद् व्याख्यातव्या। 'सम्यक्त्व'ग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वं गृह्यते। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात्सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये संज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयम इत्याख्यायते।

अपेक्षा उन्हींका सदवस्था रूप उपशम होनेसे देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। इन उपर्युक्त भावोंमें-से ज्ञान आदि भाव अपने-अपने आवरण और अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए। सूत्रमें आये हुए सम्यक्त्वपदसे वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और इन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा चार संज्वलनोंमें-से किसी एक देशघाती प्रकृतिके उदय होनेपर और नौ नोकषायोंका यथासम्भव उदय होनेपर जो त्यागरूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरण कषायके और संज्वलन कषायके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेपर तथा नौ नोकषायोंका यथासम्भव उदय होनेपर जो विरताविरतरूप परिणाम होता है वह संयमासंयम कहलाता है।

विशेषार्थ—वर्तमान समयमें सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय, आगामी कालकी अपेक्षा उन्हींका सदवस्था रूप उपशम और देशघाति स्पर्धकोंका उदय यह क्षयोपशमका लक्षण है। यह तो सुनिश्चित है कि अधिकतर देशघाति कर्म ऐसे होते हैं जिनमें देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकारके स्पर्धक पाये जाते हैं। केवल नौ नोकषाय और सम्यक् प्रकृति ये दस प्रकृतियाँ इसके अपवाद हैं। इनमें मात्र देशघाति स्पर्धक पाये जाते हैं, अतः नौ नोकषायोंके सिवा शेष सब देशघाति कर्मोंका क्षयोपशम सम्भव है, क्योंकि पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार क्षयोपशममें दोनों प्रकारके कर्म लगते हैं। उसमें भी संयमासंयम भावकी प्राप्तिमें प्रत्याख्यानावरण कर्म अपेक्षा भेदसे देशघाति मान लिया जाता है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वसे मिलकर क्षायोपशमिक भावको जन्म देती है, इसलिए क्षायोपशमिक भावके कुल अठारह भेद हो घटित होते हैं। उदाहरणार्थ-ज्ञानावरणकी देशघाति प्रकृतियाँ चार हैं, अतः इनके क्षयोपशमसे चार ज्ञान प्रकट होते हैं, पर मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञान और सम्यग्दृष्टिके चार ज्ञान इस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञानके कुल भेद सात होते हैं। इसीसे अठारह क्षायोपशमिक भावोंमें इन सात ज्ञानोंकी परिगणना की जाती है। प्रकृतमें दर्शन तीन और लब्धि पाँच क्षायोपशमिक भाव हैं यह स्पष्ट ही है। शेष रहे तीन भाव सो ये वेदक सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम लिये गये हैं। इन सब भावोंमें देशघाति स्पर्धकोंका उदय होता है इसलिए इन्हें वेदक भाव भी कहते हैं। जितने भी क्षायोपशमिक भाव होते हैं वे देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे वेदक भी होते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसमें सर्वघाति स्पर्धकों या सर्वघाति प्रकृतियोंका वर्तमान समयमें अनुदय रहता है, इसलिए इनका उदय कालके एक समय पहले उदयरूप स्पर्धकों या प्रकृतिमें स्तिवुक संक्रमण हो जाता है। प्रकृतमें इसे

§ २६४. य एकविंशतिविकल्प औदयिको भाव उद्दिष्टस्तस्य [1]भेदसंज्ञासंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

§ २६५. यथाक्रममित्यनुवर्तते, तेनाभिसंबन्धाद् गतिश्चतुर्भेदा, नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति। तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति नरकगतिरौदयिकी। एवमितरत्रापि। कषायश्चतुर्भेदः, क्रोधो मानो माया लोभ इति। तत्र क्रोधनिर्वर्तनस्य कर्मण उदयात्क्रोधः औदयिकः। एवमितरत्रापि। लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति। स्त्रीवेदकर्मण उदयात्स्त्रीवेद औदयिकः। एवमितरत्रापि। मिथ्यादर्शनमेकभेदम्। मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। ज्ञानावरणकर्मण उदयात्पदार्थानवबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्द्धकस्योदयादसंयत औदयिकः। कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्ध औदयिकः। लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। जीवभावाधिकाराद् द्रव्यलेश्या नाधिकृता। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकोत्युच्यते। सा षड्विधा-कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति।

ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। यहाँ उदयका अभाव ही क्षय रूपसे विवक्षित है। और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य इन्हीं सर्वघाति स्पर्धकों व प्रकृतियोंका सदवस्था रूप उपशम रहता है। इसका आशय यह है कि वे सत्तामें रहते हैं। उनकी उदीरणा नहीं होती। मात्र स्तिवुक संक्रमणके द्वारा इनका उदय कालसे एक समय पहले सजातीय देशघाति प्रकृति या स्पर्धकरूपसे संक्रमण होता रहता है। सर्वघाति अंशका उदय और उदीरणा न होनेसे जीवका निजभाव प्रकाशमें आता है और देशघाति अंशका उदय रहनेसे उसमें सदोषता आती है यह इस भावका तात्पर्य है।

§ २६४. अब जो इक्कीस प्रकारका औदयिक भाव कहा है उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ ॥६॥

§ २६५. इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध है। गति चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। इनमें-से नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव होता है इसलिए नरकगति औदयिक है। इसी प्रकार शेष तीन गतियोंका भी अर्थ करना चाहिए। कषाय चार प्रकारका है-क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें-से क्रोधको पैदा करनेवाले कर्मके उदयसे क्रोध औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष तीन कषायोंको औदयिक जानना चाहिए। लिंग तीन प्रकारका है स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। स्त्रीवेद कर्मके उदयसे स्त्रीवेद औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष दो वेद औदयिक हैं। मिथ्यादर्शन एक प्रकारका है। मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है इसलिए वह औदयिक है। पदार्थोंके नहीं जाननेको अज्ञान कहते हैं। चूंकि वह ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है इसलिए औदयिक है। असंयतभाव चारित्रमोहनीय कर्मके सर्वघातीस्पर्द्धकोंके उदयसे होता है इसलिए औदयिक है। असिद्धभाव कर्मोदय सामान्यकी अपेक्षा होता है इसलिए औदयिक है। लेश्या दो प्रकारकी है-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। यहाँ जीवके भावोंका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नहीं ली गयी है। चूंकि भावलेश्या कषायके उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिरूप है इसलिए वह औदयिक कही जाती है। वह छह प्रकारकी है-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

1. संज्ञाकीर्त-आ०, दि० १, दि० २।

§ २६६. ननु च उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्याऽस्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते।

§ २६७. यः पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्तस्तद्भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

§ २६८. जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्याः। कुतः पुनरेषां पारिणामिकत्वम्। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षित्वात्[1]। जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः। सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। त एते त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिकाः।

---

§ २६६. **शंका**—उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है परन्तु वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्तिके उदयसे अनुरंजित है वही यह है इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याको औदयिक कहा गया है। किन्तु अयोगकेवलीके योगप्रवृत्ति नहीं होती इसलिए वे लेश्यारहित हैं ऐसा निश्चय होता है।

विशेषार्थ—कर्मोंकी जातियाँ और उनके अवान्तर भेद अनेक हैं, इसलिए उनके उदयसे होनेवाले भाव भी अनेक हैं, पर यहाँ मुख्य-मुख्य औदयिक भाव ही गिनाये गये हैं। ऐसे भाव इक्कीस होते हैं। प्रथम चार भेद चार गति हैं। ये गति-नामकर्मके उदयसे होते हैं। नामकर्म अघातिकर्म है। गति-नामकर्म उसीका एक भेद है। जो प्रकृतमें अन्य जीवविपाकी अघाति कर्मोंका उपलक्षण है। पुद्गलविपाकी कर्मोंके जीवभाव नहीं होते, इसलिए उनकी यहाँ परिगणना नहीं की गयी है। घाति कर्मोंमें क्रोधादि चारों कषायोंके उदयसे क्रोधादि चार भाव होते हैं। तीन वेदोंके उदयसे तीन लिंग होते हैं। तीन वेद उपलक्षण हैं। इनसे हास्य आदि छह भावोंका भी ग्रहण होता है। दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है। दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनभावोंका इसीमें ग्रहण होता है। ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानभाव होता है, असंयत भाव चारित्रमोहनीयके उदयका कार्य है और असिद्ध भाव सब कर्मोंके उदयका कार्य है। रहीं लेश्याएँ सो ये कषाय और योग इनके मिलनेसे उत्पन्न हुई परिणति विशेष हैं। फिर भी इनमें कर्मोदयकी मुख्यता होनेसे इनकी औदयिक भावोंमें परिगणना की गयी है। इन भावोंमें कर्मोंका उदय निमित्त है, इसलिए इन्हें औदयिक कहते हैं।

§ २६७. अब जो तीन प्रकारका पारिणामिक भाव कहा है उसके भेदोंके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पारिणामिक भावके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ॥७॥

§ २६८. जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्योंमें नहीं होते इसलिए ये आत्माके जानने चाहिए। **शंका**—ये पारिणामिक क्यों हैं? **समाधान**—ये तीनों भाव कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं। जीवत्वका अर्थ चैतन्य है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इसका उलटा है। ये तीनों जीवके पारिणामिक भाव हैं।

---

१. –पनापेक्ष–आ०, दि० १, दि० २।

§ २६९. ननु चास्तित्वनित्यत्वप्रदेशवत्त्वादयो[1]ऽपि भावाः पारिणामिकाः सन्ति, तेषामिह ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम्; कृतमेव । कथम् । 'च'[2]शब्देन समुच्चितत्वात् । यद्येवं त्रय इति संख्या विरुध्यते । न विरुध्यते, असाधारणा जीवस्य भावाः पारिणामिकास्त्रय एव । अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च'शब्देन पृथग्गृह्यन्ते । आह, औपशमिकादिभावानुपपत्तिरमूर्तत्वादात्मनः । कर्मबन्धापेक्षा हि [3]ते भावाः । न चामूर्तेः कर्मणां बन्धो युज्यत इति । तन्न; अनेकान्तात् । नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति । कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः । शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः । यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति । नैष दोषः; बन्धं [4]प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते । उक्तं च—

§ २६९. **शंका**—अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी पारिणामिक भाव हैं उनका इस सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए ? **समाधान**—अलगसे उनके ग्रहण करनेका कोई काम नहीं; क्योंकि उनका ग्रहण किया ही है । **शंका**—कैसे ? **समाधान**—क्योंकि सूत्रमें आये हुए 'च'शब्दसे इनका समुच्चय हो जाता है । **शंका**—यदि ऐसा है तो 'तीन' संख्या विरोधको प्राप्त होती है, क्योंकि इस प्रकार तीनसे अधिक पारिणामिक भाव हो जाते हैं ? **समाधान**—तब भी 'तीन' यह संख्या विरोधको नहीं प्राप्त होती, क्योंकि जीवके असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं । अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनोंके साधारण हैं इसलिए उनका 'च'शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया है । **शंका**—औपशमिक आदि भाव नहीं बन सकते; क्योंकि आत्मा अमूर्त है । ये औपशमिक आदि भाव कर्मबन्धकी अपेक्षा होते हैं परन्तु अमूर्त आत्माके कर्मोंका बन्ध नहीं बनता है ? **समाधान**—आत्माके अमूर्तत्वके विषयमें अनेकान्त है । यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्ति ही है । कर्मबन्धरूप पर्यायकी अपेक्षा उससे युक्त होनेके कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है । **शंका**—यदि ऐसा है तो कर्मबन्धके आवेशसे आत्माका ऐक्य हो जानेपर आत्माका उससे भेद नहीं रहता ? अमूर्ति । **समाधान**—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यद्यपि बन्धकी अपेक्षा अभेद है तो भी लक्षणके भेदसे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है । कहा भी है—

'आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी लक्षणकी अपेक्षा वह भिन्न है । इसलिए जीवका अमूर्तीकभाव अनेकान्तरूप है । वह एक अपेक्षासे है और एक अपेक्षासे नहीं है ।

विशेषार्थ—पारिणामिक भाव तीन हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीवत्वके दो भेद हैं—एक जीवन-क्रियासापेक्ष और दूसरा चैतन्यगुणसापेक्ष । जीवनक्रिया प्राणसापेक्ष होती है, इसलिए ऐसे जीवत्वकी मुख्यता नहीं है, यहाँ तो चैतन्यगुणसापेक्ष जीवत्वको ही मुख्यता है । यह सब जीवोंमें समाधानरूपसे पाया जाता है और कारणनिरपेक्ष होता है इसलिए इसे पारिणामिक कहा है । यही बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमें भी जाननी चाहिए, क्योंकि ये दोनों भाव भी कारणनिरपेक्ष होते हैं । साधारणतः जिनमें रत्नत्रय गुण प्रकट होनेकी योग्यता होती है वे भव्य कहलाते हैं और जिनमें ऐसी योग्यता नहीं होती उन्हें अभव्य कहते हैं । जीवोंमें ये दोनों प्रकारकी योग्यताएँ स्वभावसे होती हैं । इसीसे भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनों भाव भी पारिणामिक माने गये हैं । अभिप्राय यह है कि किन्हीं जीवोंका स्वभावसे अनादि-अनन्त बन्ध होता है और किन्हींका अनादिसान्त । जीवोंका इस तरहका बन्ध कारणनिरपेक्ष होता है । यह किसी कर्मविशेषका कार्य नहीं है, किन्तु ऐसी योग्यता पारिणामिक मानी गयी है । इसीसे जीवत्वके साथ भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनों भाव भी पारिणामिक कहे गये हैं । यद्यपि जीवमें अस्तित्व आदि और बहुत-से

१. प्रदेशत्वा–आ०, दि० १, दि० २, मु० । २. कथं चेच्चशब्देन मु० । कथं चेतनशब्देन आ०, । ३. ते । न चामूर्तेः कर्मणा आ० दि० १, दि० २; ता०, ना० । ४. प्रत्येकत्वे (ऽविवेके) सत्य–मु० ।

"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स॥" इति।

§ २७०. यद्येवं तदेव लक्षणमुच्यतां येन नानात्वमवसीयते इत्यत आह—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

§ २७१. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्ष्यते सुवर्णरजतयोर्बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिभेदवत्।

§ २७२. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९॥

§ २७३. स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति। तयोः कथं भेदः। साकारानाकारभेदात्। साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरा-

---

पारिणामिक भाव पाये जाते हैं पर वे जीवके असाधारण धर्म न होनेसे उनकी यहाँ परिगणना नहीं की गयी है।

इन भावोंके सम्बन्धमें मुख्य प्रश्न यह है कि जब कि जीव अमूर्त है ऐसी दशामें उसका कर्मके साथ बन्ध नहीं हो सकता और कर्मबन्धके अभावमें औपशमिक आदि भावोंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि पारिणामिक भावोंके सिवा शेष सब भाव कर्मनिमित्तक माने गये हैं? उत्तर यह कि कर्मका आत्मासे अनादि सम्बन्ध है, इसलिए कोई दोष नहीं आता। आशय यह है कि संसार अवस्थामें जीवका कर्मके साथ अनादिकालीन बन्ध होनेके कारण वह व्यवहारसे मूर्त हो रहा है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि मदिरा आदिका सेवन करनेपर ज्ञानमें मूर्च्छा देखी जाती है। पर इतने मात्रसे आत्माको मूर्तस्वभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गलके धर्म हैं। आत्मा मूर्तरूप इन धर्मोंसे भिन्न स्वभाववाला है।

§ २७०. यदि ऐसा है तो वही लक्षण कहिए जिससे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है, इसी बातको ध्यानमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

उपयोग जीवका लक्षण है॥ ८ ॥

§ २७१. जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके निमित्तोंसे होता है और चैतन्यका अन्वयी है अर्थात् चैतन्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यद्यपि आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी इससे वह स्वतन्त्र जाना जाता है। जिस प्रकार स्वर्ण और चाँदी बन्धकी अपेक्षा एक हैं तो भी वर्णादिके भेदसे उनमें पार्थक्य रहता है उसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिए।

§ २७२. अब उपयोगके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है॥ ९ ॥

§ २७३. वह उपयोग दो प्रकारका है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

शंका—इन दोनों उपयोगोंमें किस कारणसे भेद है? **समाधान**—साकार और अनाकारके भेदसे इन दोनों उपयोगोंमें भेद है। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग। ये दोनों

वरणेषु युगपत्। पूर्वकालभाविनोऽपि दर्शनाज्ज्ञानस्य प्रागुपन्यासः; अभ्यर्हितत्वात्। सम्यग्ज्ञान-प्रकरणात्पूर्वं पञ्चविधो ज्ञानोपयोगो व्याख्यातः। इह पुनरुपयोगग्रहणाद्विपर्ययोऽपि गृह्यते इत्यष्ट-विध[1] इति उच्यते।

§ २७४. यथोक्तेनानेनाभिहितपरिणामेन सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन ये उपलक्षिता उप-योगिनस्ते द्विविधाः—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

§ २७५. संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः। तत्परिवर्तनं पञ्चविधं द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं चेति। तत्र

छद्मस्थोंके क्रमसे होते हैं और आवरणरहित जीवोंके युगपत् होते हैं। यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होनेके कारण सूत्रमें ज्ञानको दर्शनसे पहले रखा है। सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेके कारण पहले पाँच प्रकारके ज्ञानोपयोगका व्याख्यान कर आये हैं। परन्तु यहाँ उपयोगका ग्रहण करनेसे विपर्ययका भी ग्रहण होता है इसलिए वह आठ प्रकारका कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ जीवका लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेदोंकी परिगणना की गयी है। उपयोगके मुख्य भेद दो हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनों प्रकारके उपयोग सब जीवोंके पाये जाते हैं। इनके अवान्तर भेद कई हैं जो निमित्तविशेषसे होते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अवान्तर भेदोंका यथायोग्य क्षयोपशम और क्षय तथा दर्शनमोहनीयका उदय ये प्रधान निमित्त हैं। इनके कारण दोनों प्रकारके उपयोग बारह भेदोंमें विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद प्राप्त होते हैं। मुख्यतया संसारी जीवके एक कालमें एक उपयोग और केवलीके दो उपयोग होते हैं। पर नाना जीवोंकी अपेक्षा परिगणना करनेपर वे बारह होते हैं। यद्यपि प्रथम अध्यायमें एक जीवके एक साथ चार ज्ञान बतला आये हैं और जिसके एक साथ चार ज्ञान होंगे उसके उसी समय तीन दर्शन भी पाये जायेंगे, पर यह कथन क्षयोपशमकी प्रधानतासे किया गया जानना चाहिए। एक जीवके एक कालमें मतिज्ञानावरण आदि चार ज्ञाना-वरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण इन सात कर्मोंका क्षयोपशम हो सकता है पर तत्त्वतः उनके उस समय उपयोग एक ही होगा। क्षयोपशम ज्ञानोत्पत्ति और दर्शनोत्पत्तिमें निमित्त है और उपयोग ज्ञान दर्शनकी प्रवृत्ति है। जीवमें ज्ञान और दर्शन गुणकी धारा निरन्तर प्रवर्तित होती रहती है। वह जिस समय बाह्य और अन्तरंग जैसा निमित्त मिलता है उसके अनु-सार काम करने लगती है। इतना अवश्य है कि संसार अवस्थामें वह मलिन, मलिनतर और मलिनतम रहती है और कैवल्य लाभ होनेपर वह विशुद्ध हो जाती है फिर उसकी प्रवृत्तिके लिए अन्तरंग व बाह्य कारण अपेक्षित नहीं रहते। यही कारण है कि यहाँ जीवका लक्षण उपयोग कहा है।

§ २७४. सब आत्माओंमें साधारण उपयोगरूप जिस आत्मपरिणामका पहले व्याख्यान किया है उससे उपलक्षित सब उपयोगवाले जीव दो प्रकारके हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त ॥ १० ॥

§ २७५. संसरण करनेको संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवोंके पाया जाता है वे संसारी हैं। परिवर्तनके पाँच भेद हैं—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरि-

---

१. –विध उच्यते दि० २, मु०।

द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधम्—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति। तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य मिश्रकांश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन ये गृहीताः पुद्गलाः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। उक्तं च—

"सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
[1]असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे[2]॥"

§ २७६. क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान्स्वशरीरमध्ये[3] कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः। स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावद् [4]घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम्। उक्तं च—

वर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्म द्रव्यपरिवर्तन। अब नोकर्म द्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—किसी एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदिके द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावसे ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयोंमें निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीचमें गृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीवके सर्व प्रथम ग्रहण किये गये वे ही कर्म परमाणु उसी प्रकारसे नोकर्म भावको प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। अब कर्मद्रव्यपरिवर्तनका कथन करते हैं—एक जीवने आठ प्रकारके कर्मरूपसे जिन पुद्गलोंको ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकालके बाद द्वितीयादिक समयोंमें झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमें बतलाया है उसी क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे उस जीवके जब कर्मभावको प्राप्त होते हैं तब यह सब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन कहलाता है। कहा भी है—

'इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमसे भोगकर छोड़ दिया। और इस प्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप संसारमें घूमता है।'

§ २७६. अब क्षेत्रपरिवर्तनका कथन करते हैं—जिसका शरीर आकाशके सबसे कम प्रदेशोंपर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभवग्रहण काल तक जीकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अंगुलके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाशका एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है। कहा भी है—

---

१. अच्छइ अणं–दि० १, दि० २, आ०, मु०। २. बा० अणु०, गा० २५। ३. शरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वा मु०। ४. यावदङ्गुलस्या–दि० १, दि० २, आ०।

[1]"सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
ओगाहणाए[2] बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ।।"

§ २७७. कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः । स एव [3]पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः । एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथावसर्पिणी च । एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम् । [4]मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यम् । एतावत्कालपरिवर्तनम् । उक्तं च—

"[5]उस्सप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ।।"

§ २७८. भवपरिवर्तनमुच्यते—नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा जातः । एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः । पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि । एवं मनुष्यगतौ च[6] । देवगतौ च नारकवत् । अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद् भवपरिवर्तनम् । उक्तं च—

'सब लोक क्षेत्रमें ऐसा एक प्रदेश नहीं है जहाँ यह अवगाहनाके साथ क्रमसे नहीं उत्पन्न हुआ । इस प्रकार इस जीवने क्षेत्र संसारमें अनेक बार परिभ्रमण किया ।'

§ २७७. अब कालपरिवर्तनका कथन करते हैं—कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त हो जानेपर मर गया । पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होनेपर मर गया । पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार इसने क्रमसे उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी । यह जन्मका नैरन्तर्य कहा । तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य लेना चाहिए । इस प्रकार यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है । कहा भी है—

'कालसंसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें अनेक बार जन्मा और मरा ।'

§ २७८. अब भवपरिवर्तनका कथन करते हैं—नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । एक जीव उस आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ पुनः घूम-फिरकर उसी आयुसे वहीं उत्पन्न हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा । पुनः आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरककी तेंतीस सागर आयु समाप्त की । तदनन्तर नरकसे निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयुके साथ तिर्यंचगतिमें उत्पन्न हुआ । और पूर्वोक्त क्रमसे उससे तिर्यंचगतिकी तीन पल्य आयु समाप्त की । इसी प्रकार मनुष्यगतिमें अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य आयु समाप्त की । तथा देवगतिमें नरकगतिके समान आयु समाप्त की । किन्तु देवगतिमें इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए । इस प्रकार यह सब मिलकर एक भवपरिवर्तन है । कहा भी है—

---

१. बा० अणु०, गा० २६ । २. -हणेण बहुसो मु०, ना० । ३. एव तृती–आ०, दि० १, दि० २ । ४. मरणमपि तथैव ग्रा–ता० । मरणस्यापि तथैव ग्रा–ना० । ५. बा० अणु० गा० २७ । ६. च तिर्यग्वत् । देव–मु०, ता० ।

"णिरयादि[1]जहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा ॥"

§ २७९. भावपरिवर्तनमुच्यते—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते । तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनु[2]भागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति । एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागबन्धस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति । तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति । एवं च तृतीयादिषु[4] चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगस्थानानि पूर्व[3]वद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदित-

---

'इस जीवने मिथ्यात्वके संसर्गसे उपरिम ग्रैवेयक तक नरक आदि गतियोंकी जघन्य आदि स्थितियोंमें उत्पन्न हो-होकर अनेक बार परिभ्रमण किया ।'

§ २७९. अब भावपरिवर्तनका कथन करते हैं—पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिको प्राप्त होता है । उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं । और सबसे जघन्य इन कषाय अध्यवसाय स्थानोंके निमित्तसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थानको धारण करनेवाले इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है । तत्पश्चात् स्थिति, कषाय अध्यवसायस्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान वही रहते हैं किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भागवृद्धि संयुक्त होता है । इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानोंमें समझना चाहिए । ये सब योगस्थान चार स्थान पतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणीके असंख्यातवें भाग है । तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय अध्यवसाय स्थानको धारण करनेवाले जीवके दूसरा अनुभाग अध्यवसाय स्थान होता है । इसके योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं । इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थानोंके होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानोंमें जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसाय स्थान तो जघन्य ही रहते हैं । किन्तु अनुभाग अध्यवसायस्थान क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थानके प्रति जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं । तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है । इसके भी अनुभाग अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए । अर्थात् एक-एक कषाय अध्यवसाय स्थानके प्रति असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होते हैं और एक-एक अनुभाग अध्यवसायस्थानके प्रति जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं ।

---

१. बा० अ० गा० २८ । २. –नुभवाध्य–दि० । ३. नुभवस्था–मु० । ४. –दिषु योगस्थानेषु चतुः –मु०, ता० ।

व्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववत्[1]। एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि[2] वेदितव्यानि। अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिः असंख्येयगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः इमानि षट् वृद्धिस्थानानि। हानिरपि तथैव। अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि चत्वारि स्थानानि। एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः। तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम्। उक्तं च—

[3]"सव्वा पयडिट्ठिदीओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे॥"

§ २८०. **उक्तात्पञ्चविधात्संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः। संसारिणां प्रागुपादानं तत्पूर्वकत्वान्मुक्तव्यपदेशस्य।**

इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थानोंके होने तक तीसरे आदि कषाय अध्यवसाय स्थानोंमें वृद्धिका क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थितिके कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थितिके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति विकल्पके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए। अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार ये वृद्धिके छह स्थान हैं तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकारकी है। इनमें-से अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन दो स्थानोंके कम कर देनेपर चार स्थान होते हैं। इसी प्रकार सब मूल प्रकृतियोंका और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके परिवर्तनका क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भावपरिवर्तन होता है। कहा भी है—

'इस जीवने मिथ्यात्वके संसर्गसे सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धके स्थानोंको प्राप्त कर भावसंसारमें परिभ्रमण किया।'

§ २८०. जो उक्त पाँच प्रकारके संसारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं। सूत्रमें 'संसारि' पदका पहले ग्रहण किया, क्योंकि 'मुक्त' यह संज्ञा संसारपूर्वक प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जीवके मुख्य भेद दो हैं—संसारी और मुक्त। ये भेद जीवकी बद्ध और अबद्ध अवस्थाको ध्यानमें रखकर किये गये हैं। वस्तुतः ये जीवकी दो अवस्थाएँ हैं। पहले जीव बद्ध अवस्थामें रहता है इसलिए उसे संसारी कहते हैं और बादमें उसके मुक्त होनेपर वही मुक्त कहलाता है। जीवका संसार निमित्त-सापेक्ष होता है, इसलिए इस अपेक्षासे संसारके पाँच भेद किये गये हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। इनका दूसरा नाम परिवर्तन भी है। द्रव्य पदसे कर्म और नोकर्म लिये गये हैं, क्षेत्र पद से आकाशके प्रदेशों का ग्रहण किया है, काल पदसे समयका ग्रहण किया है, भव पदसे जीवकी नर नारक आदि अवस्थाओंका ग्रहण किया है और भाव पदसे जीवके योग और कषायस्थान विवक्षित हैं। इन द्रव्यादिके निमित्तसे संसारमें जीवका परिभ्रमण किस प्रकार होता रहता है यही यहाँ बतलाया गया है। इन परिवर्तनोंके होनेमें उत्तरोत्तर अधिक-अधिक काल लगता है। मुख्य रूपसे जीवका संसार सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेके पूर्वतक माना गया है, इससे ये परिवर्तन जीवकी मिथ्यात्व अवस्थामें होते हैं यह सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवका ईषत् संसार शेष रहनेपर भी वह इन परिवर्तनोंसे

---

१. पूर्ववदेकसम–मु०। २. –स्थानानि (पूर्ववत्) वेदि–मु०। ३. बा० अणु० गा० २९।

§ २८१. य एते संसारिणस्ते द्विविधाः—

समनस्कामनस्काः ॥११॥

§ २८२. मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा[1] आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः। तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः। न विद्यते मनो येषां त इमे अमनस्काः। एवं मनसो भावाभावाभ्यां संसारिणो द्विविधा विभज्यन्ते। समनस्काश्चामनस्काश्च समनस्कामनस्का इति। अभ्यर्हितत्वात्समनस्कशब्दस्य पूर्वनिपातः। कथमभ्यर्हितत्वम्। गुणदोषविचारकत्वात्।

§ २८३. पुनरपि संसारिणां भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

§ २८४. 'संसारि' ग्रहणमनर्थकम्; प्रकृतत्वात्। क्व प्रकृतम्। 'संसारिणो मुक्ताश्च' इति। नानर्थकम्। पूर्वापेक्षार्थम्। ये उक्ताः समनस्का अमनस्कास्ते संसारिण इति। यदि हि पूर्वस्य विशेषणं न स्यात् समनस्कामनस्कग्रहणं संसारिणो मुक्ताश्चेत्यनेन यथासंख्यमभिसंबध्येत। एवं च कृत्वा 'संसारि'ग्रहणमादौ क्रियमाणमुपपन्नं भवति। तत्पूर्वापेक्षं सदुत्तरार्थमपि भवति[2]। ते संसारिणो द्विविधाः—त्रसाः स्थावरा इति। त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः[3]। स्थावरनामकर्मोदय-

---

मुक्त हो जाता है। पूर्ण मोक्ष मुक्त अवस्थामें होता है। इसीसे जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद किये गये हैं।

§ २८१. पहले जो संसारी जीव कह आये हैं वे दो प्रकारके हैं। आगेके सूत्र-द्वारा इसी बातको बतलाते हैं—

मनवाले और मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं ॥११॥

§ २८२. मन दो प्रकारका है द्रव्यमन और भावमन। उनमें-से द्रव्यमन पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयसे होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माकी विशुद्धिको भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवोंके पाया जाता है वे समनस्क हैं। और जिनके मन नहीं पाया जाता है वे अमनस्क हैं। इस प्रकार मनके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा संसारी जीव दो भागोंमें बँट जाते हैं। 'समनस्कामनस्काः' इसमें समनस्क और अमनस्क इस प्रकार द्वन्द्व समास है। समनस्क शब्द श्रेष्ठ है अतः उसे सूत्रमें पहले रखा। **शंका**—श्रेष्ठता किस कारणसे है? **समाधान**—क्योंकि समनस्क जीव गुण और दोषोंके विचारक होते हैं। इसलिए समनस्क पद श्रेष्ठ है।

§ २८३. अब फिरसे भी संसारी जीवोंके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकार हैं ॥१२॥

§ २८४. **शंका**—सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण करना निरर्थक है क्योंकि वह प्रकरण प्राप्त है? **प्रतिशंका**—इसका प्रकरण कहाँ है? **शंकाकार**—'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रसे उसका प्रकरण है। **समाधान**—सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण करना अनर्थक नहीं है, क्योंकि पूर्व सूत्रकी अपेक्षा इस सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्रमें जो समनस्क और अमनस्क जीव बतलाये हैं वे संसारी हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए इस सूत्रमें 'संसारी' पद दिया है। यदि 'संसारी' पदको पूर्वका विशेषण न माना जाय तो समनस्क और अमनस्क इनका संसारी और मुक्त इनके साथ क्रमसे सम्बन्ध हो जायगा। और इस अभिप्रायसे 'संसारी' पदका आदिमें ग्रहण करना बन जाता है। इस प्रकार 'संसारी' पदका ग्रहण पूर्व सूत्रकी अपेक्षासे होकर अगले

---

१. –पेक्षया आत्मनो मु०, ता०। २. भवति। संसा–मु०। ३. त्रसनाम आ०, दि० १, दि० २, ता०।

वशवर्तिनः स्थावराः। त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत्। न; आगमविरोधात्। आगमे हि कायानुवादेन त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति। तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम्। कर्मोदयापेक्षमेव। त्रसग्रहणमादौ क्रियते; अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च। सर्वोपयोगसंभवादभ्यर्हितत्वम्।

§ २८५. एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावादुल्लङ्घ्यानुपूर्वीं स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

§ २८६. स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति। तदुदयनिमित्ता[1] जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः। प्रथनादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रूढिवशात्प्रथनाद्यनपेक्षा वर्तन्ते। एषां पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेद्। उच्यते–पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीव इत्यादि। तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथिवी। अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीकायनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम्। अथवा पृथिवीति सामान्यम्; उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात्। कायः शरीरम्। पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायो मृतमनुष्यादि-

---

सूत्रके लिए भी हो जाता है। यथा—वे संसारी जीव दो प्रकारके हैं त्रस और स्थावर। जिनके त्रस नामकर्मका उदय है वे त्रस कहलाते हैं और जिनके स्थावर नाम कर्मका उदय है उन्हें स्थावर कहते हैं। **शंका**—'त्रस्यन्ति' अर्थात् जो चलते-फिरते हैं वे त्रस हैं और जो स्थिति स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं, क्या त्रस और स्थावरका यह लक्षण ठीक है? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेमें आगमसे विरोध आता है। क्योंकि कायानुवादकी अपेक्षा कथन करते हुए आगम में बतलाया है कि द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोग केवली तकके सब जीव त्रस हैं। इसलिए गमन करने और न करनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावर यह भेद नहीं है किन्तु त्रस और स्थावर कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही है। सूत्रमें त्रसपदका प्रारम्भमें ग्रहण किया है क्योंकि स्थावर पदसे इसमें कम अक्षर हैं और यह श्रेष्ठ है। त्रस श्रेष्ठ इसलिए हैं कि इनके सब उपयोगोंका पाया जाना सम्भव है।

§ २८५. एकेन्द्रियोंके विषयमें अधिक वक्तव्य नहीं है इसलिए आनुपूर्वीको छोड़कर पहले स्थावरके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं॥ १३॥

§ २८६. पृथिवीकाय आदि स्थावर नामकर्मके भेद हैं। उनके उदयके निमित्तसे जीवोंके पृथिवी आदिक नाम जानने चाहिए। यद्यपि ये नाम प्रथन आदि धातुओंसे बने हैं तो भी ये रौढिक हैं इसलिए इनमें प्रथन आदि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं है। **शंका**—आर्षमें ये पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं? **समाधान**—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं। इनमें-से जो अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनोंसे बनी है और कठिन गुणवाली है वह पृथिवी है। अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथनक्रियासे उपलक्षित होनेके कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है। अथवा पृथिवी यह सामान्य भेद है क्योंकि आगेके तीन भेदोंमें भी यह पाया जाता है। कायका अर्थ शरीर है, अतः पृथिवीकायिक जीवके द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है। यथा मरे हुए मनुष्य

---

१. –निमित्ता अमी इति जीवेषु मु० ता०।

कायवत्। पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः। तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा। समवाप्त-पृथिवीकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः[1]। एवमबादिष्वपि योज्यम्। एते पञ्चविधाः प्राणिनः स्थावराः। कति पुनरेषां प्राणाः। चत्वारः स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति।

§ २८७. अथ त्रसाः के ते, इत्यत्रोच्यते--

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

§ २८८. द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽयं द्वीन्द्रियः। द्वीन्द्रिय आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादयः[2]। 'आदि'-शब्दो व्यवस्थावाची। क्व व्यवस्थिताः। आगमे। कथम्। द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियश्चेति। 'तद्गुणसंविज्ञानवृत्तिग्रहणाद् द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भावः। कति पुनरेषां प्राणाः। द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणाः, पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिकाः। त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव घ्राणप्राणाधिकाः। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षुःप्राणाधिकाः। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव त एव श्रोत्र-प्राणाधिकाः। संज्ञिनो दश त एव मनोबल[3]प्राणाधिकाः।

आदिकका शरीर। जिस जीवके पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है। कार्मणकाययोगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको कायरूपसे ग्रहण नहीं किया है तबतक वह पृथिवीजीव कहलाता है इसी प्रकार जलादिकमें भी चार-चार भेद कर लेने चाहिए। ये पाँचों प्रकारके प्राणी स्थावर हैं। **शंका**—इनके कितने प्राण होते हैं? **समाधान**—इनके चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रियप्राण, कायबल-प्राण, उच्छ्वास निःश्वासप्राण और आयुःप्राण।

§ २८७. अब त्रस कौन हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं ॥ १४ ॥

§ २८८. जिन जीवोंके दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं। तथा जिनके प्रारम्भमें दो इन्द्रिय जीव हैं वे दो इन्द्रियादिक कहलाते हैं। यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है। **शंका**—ये व्यवस्थित जीव कहाँ बतलाये हैं? **समाधान**—आगममें बतलाये हैं। **शंका**—किस क्रमसे? **समाधान**—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस क्रमसे व्यवस्थित हैं। यहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समासका ग्रहण किया है इसलिए द्वीन्द्रियका भी अन्तर्भाव हो जाता है। **शंका**—इन द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके कितने प्राण होते हैं? **समाधान**—पूर्वोक्त चार प्राणोंमें रसनाप्राण और वचनप्राण इन दो प्राणोंके मिला देनेपर दो इन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। इनमें घ्राणप्राणके मिला देनेपर तीनइन्द्रिय जीवके सात प्राण होते हैं। इनमें चक्षुप्राणके मिला देनेपर चौइन्द्रिय जीवके आठ प्राण होते हैं। इनमें श्रोत्रप्राणके मिला देनेपर तिर्यंच असंज्ञीके नौ प्राण होते हैं। इनमें मनोबलके मिला देनेपर संज्ञी जीवोंके दस प्राण होते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ द्वीन्द्रियके छह, त्रीन्द्रियके सात, चतुरिन्द्रियके आठ, असंज्ञीके नौ और संज्ञोके दस प्राण पर्याप्त अवस्थाकी अपेक्षा बतलाये हैं। अपर्याप्त अवस्थामें इनके क्रमसे चार, पाँच, छह और सात प्राण होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—कुल प्राण दस हैं—पाँच इन्द्रिय प्राण, तीन बल प्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें-से संज्ञी और असंज्ञीके अपर्याप्त अवस्थामें श्वासोच्छ्वास, मनोबल और वचनबल ये तीन प्राण नहीं

---

१. जीवः। उक्तं च–पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य। साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥ एव –मु०। २. 'बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि—परि०-शे० प० ४।४। ३. बलाधिकाः, आ०, दि० १, दि० २।

§ २८९. 'आदि'शब्देन निर्दिष्टानामनिर्ज्ञातसंख्यानामियत्तावधारणं कर्त्तव्यमित्यत आह—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

§ २९०. 'इन्द्रिय'शब्दो व्याख्यातार्थः। 'पञ्च'ग्रहणमवधारणार्थम्, पञ्चैव नाधिकसंख्यानीति। कर्मेन्द्रियाणां [1]वागादीनामिह ग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्; उपयोगप्रकरणात्। उपयोगसाधनानामिह ग्रहणं[2] न क्रियासाधनानाम्; अनवस्थानाच्च। क्रियासाधनानामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्वर्तितानां सर्वेषामपि क्रियासाधनत्वमस्तीति न पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि।

§ २९१. तेषामन्तर्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

द्विविधानि[3] ॥ १६ ॥

§ २९२. 'विध'शब्दः प्रकारवाची। द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि, द्विप्रकाराणीत्यर्थः। कौ पुनस्तौ द्वौ प्रकारौ। द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति।

§ २९३. तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

होते, शेष सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें तीन ये और श्रोत्रेन्द्रिय ये चार प्राण नहीं होते, शेष छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें चार ये और चक्षुरिन्द्रिय ये पाँच प्राण नहीं होते, शेष पाँच प्राण होते हैं और द्वीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें पाँच ये और घ्राणेन्द्रिय ये छह प्राण नहीं होते, शेष चार प्राण होते हैं।

§ २८९. पूर्व सूत्रमें जो आदि शब्द दिया है उससे संख्या नहीं ज्ञात होती अतः उसके परिमाणका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥ १५ ॥

§ २९०. इन्द्रिय शब्दका व्याख्यान कर आये। सूत्रमें जो 'पंच' पदका ग्रहण किया है वह मर्यादाके निश्चित करनेके लिए किया है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं। इन्द्रियोंकी इससे और अधिक संख्या नहीं पायी जाती। **शंका**—इस सूत्रमें वचनादिक कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण करना चाहिए? **समाधान**—नहीं करना चाहिए, क्योंकि उपयोगका प्रकरण है। इस सूत्रमें उपयोगकी साधनभूत इन्द्रियोंका ग्रहण किया है, क्रियाकी साधनभूत इन्द्रियोंका नहीं। दूसरे क्रियाकी साधनभूत इन्द्रियोंकी मर्यादा नहीं है। अंगोपांग नामकर्मके उदयसे जितने भी अंगोपांगोंकी रचना होती है वे सब क्रियाके साधन हैं इसलिए कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता है।

§ २९१. अब उन पाँचों इन्द्रियोंके अन्तर्भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे प्रत्येक दो-दो प्रकार की हैं ॥१६॥

§ २९२. विध शब्द प्रकारवाची है। 'द्विविधानि' पदमें 'द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। जिसका यह आशय है कि ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्येक दो प्रकारकी हैं। **शंका**—वे दो प्रकार कौन हैं? **समाधान**—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

§ २९३. अब द्रव्येन्द्रियके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है ॥१७॥

---

१. 'वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।'—सां० कौ० श्लो० २६। २. ग्रहणं कृतं न क्रिया—मु०, ता०, ना०। ३. 'कतिविहाणं भंते इंदिया पण्णत्ता। गोयमा, दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्विंदिया य भाविंदिया य —पण्णवणा पद १५।

§ २९४. निर्वर्त्यते [1]इति निर्वृत्तिः। केन निर्वर्त्यते। कर्मणा। सा द्विविधा; बाह्याभ्यन्तरभेदात्। उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलं बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं [2]शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम्।

§ २९५. भावेन्द्रियमुच्यते—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

§ २९६. लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ। ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः। तदुभये भावेन्द्रियम्। इन्द्रियफलमुपयोगः, तस्य कथमिन्द्रियत्वम्। कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात्। यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। स्वार्थस्य तत्र मुख्यत्वाच्च। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमिति यः स्वार्थः स उपयोगे [3] मुख्यः, उपयोगलक्षणो जीव इति वचनात्। अत उपयोगस्येन्द्रियत्वं न्याय्यम्।

---

§ २९४. रचनाका नाम निर्वृत्ति है। **शंका**—यह रचना कौन करता है? **समाधान**—कर्म। निर्वृत्ति दो प्रकार की है—बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति। उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे अवस्थित शुद्ध आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा इन्द्रिय नामवाले उन्हीं आत्मप्रदेशोंमें प्रतिनियत आकाररूप और नामकर्मके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त जो पुद्गलप्रचय होता है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं। जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। निर्वृत्तिके समान यह भी दो प्रकारका है—आभ्यन्तर और बाह्य। नेत्र इन्द्रियमें कृष्ण शुक्लमण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक और दोनों बरोनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ—आगममें संसारी जीवके प्रदेश चलाचल बतलाये हैं। मध्यके आठ प्रदेश अचल होते हैं और शेष प्रदेश चल। ऐसी अवस्थामें नियत आत्म प्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रियरूप बने रहते हैं यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्दके अनुसार प्रति समय अन्य-अन्य प्रदेश आभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप होते रहते हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए। जिसके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उसके उतने इन्द्रियावरण कर्मोंका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिए आभ्यन्तर निवृत्तिकी उक्त प्रकारसे व्यवस्था माननेमें कोई बाधा नहीं आती। यह उक्त कथनका तात्पर्य है। शेष कथन सुगम है।

§ २९५. अब भावेन्द्रियका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय है ॥१८॥

§ २९६. लब्धि शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—लम्भनं लब्धिः—प्राप्त होना। **शंका**—लब्धि किसे कहते हैं? **समाधान**—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। जिसके संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है तन्निमित्तक आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं। **शंका**—उपयोग इन्द्रियका फल है, वह इन्द्रिय कैसे हो सकता है? **समाधान**—कारणका धर्म कार्यमें देखा जाता है। जैसे घटाकार परिणत हुआ ज्ञान भी घट कहलाता है, अतः इन्द्रियके फलको इन्द्रिय माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। दूसरे इन्द्रियका जो अर्थ है वह मुख्यतासे उपयोगमें पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं' यह जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ है वह उपयोगमें मुख्य है, क्योंकि जीवका लक्षण

---

१. निर्वर्त्यत इति मु०। २. शेषेष्विन्द्रि–मु०। ३. –योगो मुख्यः दि० १, दि० २, मु०।

§ २९७. उक्तानामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्वीप्रतिपादनार्थमाह—

[1]स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

§ २९८. लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु श्रृणोमीति। ततः पारतन्त्र्यात्स्पर्शनादीनां करणत्वम्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरण-

---

उपयोग है ऐसा वचन है अतः उपयोगको इन्द्रिय मानना उचित है।

विशेषार्थ—ज्ञानकी अमुक पर्यायको प्रकट न होने देना विवक्षित ज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका काम है। किन्तु जिस जीवके विवक्षित ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उसके उस ज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय न होनेसे विवक्षित ज्ञानके प्रकाशमें आनेकी योग्यता होती है और इसी योग्यताका नाम लब्धि है। ऐसी योग्यता एक साथ सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी हो सकती है किन्तु उपयोगमें एक कालमें एक ही ज्ञान आता है। इसका अभिप्राय यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञानकी पर्यायका नाम लब्धि न होकर क्षयोपशमविशेषका नाम लब्धि है और उपयोग ज्ञानकी पर्यायका नाम है। यही कारण है कि लब्धि एक साथ अनेक ज्ञानोंकी हो सकती है पर उपयोग एक कालमें एक ही ज्ञानका होता है। पहले प्रथम अध्याय सूत्र १४ में यह कह आये हैं कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है इससे ज्ञात होता है कि उपयोग स्वरूप ज्ञानकी इन्द्रिय संज्ञा न होकर जो उपयोगरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमें साधकतम करण है उसीकी इन्द्रिय संज्ञा है इसलिए यहाँ निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय कहना तो ठीक है, क्योंकि ये उपयोगरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमें साधकतम करण हैं पर स्वयं उपयोगको इन्द्रिय कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय व्यापारका फल है। यह एक शंका है जिसका समाधान पूज्यपाद स्वामीने दो प्रकारसे किया है। प्रथम तो यह बतलाया है कि कारणके धर्म इन्द्रियत्वका कार्यमें उपचार करके उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है। अर्थात् उपयोग स्वयं इन्द्रिय नहीं है किन्तु इन्द्रियके निमित्तसे वह होता है इसलिए यहाँ उपचारसे उसे इन्द्रिय कहा है। यह प्रथम समाधान है। दूसरा समाधान करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जिससे इन्द्र अर्थात् आत्माकी पहचान हो वह इन्द्रिय कहलाती है और ऐसी पहचान करानेवाली वस्तु निज अर्थ होनी चाहिए। यदि इस दृष्टिसे देखा जाता है तो इन्द्रिय शब्दका मुख्य वाच्य उपयोग ही ठहरता है, क्योंकि वह आत्माका निज अर्थ है। यही कारण है कि यहाँ उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है। तात्पर्य यह है कि निमित्तकी अपेक्षा विचार करनेपर निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है और स्वार्थकी अपेक्षा विचार करनेपर उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है। पहले प्रथम अध्यायमें केवल निमित्तकी अपेक्षा इन्द्रिय शब्दका व्यवहार किया गया था और यहाँ निमित्त और मुख्यार्थ दोनोंको ध्यानमें रखकर इन्द्रियके भेद दिखलाये गये हैं इसलिए कोई विरोध नहीं है।

§ २९७. अब उक्त इन्द्रियोंके क्रमसे संज्ञा दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं ॥१९॥

§ २९८. लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है। जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ। अतः पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका

---

१. 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।' सां०-कौ०, श्लो० ६। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।' –न्या० सू० १, १, १२।

क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना [1]स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्। रस्यतेऽनेनेति रसनम्। घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्। चक्षेरनेकार्थत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टे अर्थान्पश्यत्यनेनेति चक्षुः। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते। इदं[2] मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। ततः स्पर्शनादीनां कर्तरि निष्पत्तिः। स्पृशतीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोतीति श्रोत्रम्। एषां निर्देशक्रमः एकैकवृद्धिक्रमप्रज्ञापनार्थः।

§ २९९. तेषामिन्द्रियाणां विषयप्रदर्शनार्थमाह—

[3]स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

§ ३००. द्रव्यपर्याययोः प्राधान्यविवक्षायां कर्मभावसाधनत्वं स्पर्शादिशब्दानां वेदितव्यम्। द्रव्यप्राधान्यविवक्षायां कर्मनिर्देशः। स्पृश्यत इति स्पर्शः। रस्यत इति रसः। गन्ध्यत इति गन्धः। वर्ण्यत इति वर्णः। शब्दयत इति शब्दः। पर्यायप्राधान्यविवक्षायां भावनिर्देशः। स्पर्शनं स्पर्शः। रसनं रसः। गन्धनं गन्धः। वर्णनं वर्णः। शब्दनं शब्द[4] इति। एषां क्रम इन्द्रियक्रमेणैव व्याख्यातः।

करणपना बन जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राण इन्द्रिय है। चक्षि धातुके अनेक अर्थ हैं। उनमें-से यहाँ दर्शनरूप अर्थ लिया गया है इसलिए जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है। इसीप्रकार इन इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। और इसलिए इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी कर्ताकारकमें सिद्धि होती है। यथा—जो स्पर्श करती है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो स्वाद लेती है वह रसन इन्द्रिय है, जो सूँघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है और जो सुनती है वह कर्ण इन्द्रिय है। सूत्रमें इन इन्द्रियोंका जो स्पर्शनके बाद रसना और उसके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे निर्देश किया है वह एक-एक इन्द्रियकी इस क्रमसे वृद्धि होती है यह दिखलानेके लिए किया है।

§ २९९. अब उन इन्द्रियोंका विषय दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे उन इन्द्रियोंके विषय हैं ॥२०॥

§ ३००. द्रव्य और पर्यायकी प्राधान्य विवक्षामें स्पर्शादि शब्दोंकी क्रमसे कर्मसाधन अरौ भावसाधनमें सिद्धि जानना चाहिए। जब द्रव्यकी अपेक्षा प्रधान रहती है तब कर्मनिर्देश होता है। जैसे—जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है, जो सूँघा जाता है वह गन्ध है, जो देखा जाता है वह वर्ण है और जो शब्दरूप होता है वह शब्द है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक द्रव्य ठहरते हैं। तथा जब पर्यायकी विवक्षा प्रधान रहती है तब भावनिर्देश होता है। जैसे—स्पर्शन स्पर्श है, रसन रस है, गन्धन गन्ध है, वर्णन वर्ण है और शब्दन शब्द है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक धर्म निश्चित होते हैं। इन

---

१. जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेनि रसनं रसं गृह्णातीति। चष्टेऽनेनेति चक्षू रूपं पश्यतीति × × शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति। –वा० भा० १, १, १२। २. इमानीन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति। तद्यथा—इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। कदाचित्पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि इति। –पा० म० भा० १।२।२।५९। ३. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। –वा० भा० १, १, ४१। ४. –शब्दः। एषां मु० ता०। –शब्दः। तेषां मु०।

§ ३०१. अत्राह, यत्तावन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियं न भवतीति प्रत्याख्यातं तत्किमुपयोगस्योपकारि उत नेति। तदप्युपकार्येव। तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात्। किमस्यैषां सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनमुतान्यदपीत्यत आह--

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

§ ३०२. श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम्। स विषयोऽनिन्द्रियस्य; परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः [1]श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्तेः। अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतम्, तदनिन्द्रियस्यार्थः प्रयोजनमिति यावत्। स्वातन्त्र्यसाध्यमिदं प्रयोजनमनिन्द्रियस्य।

§ ३०३. उक्तानामिन्द्रियाणां प्रतिनियतविषयाणां स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं स्पर्शनं तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह--

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

§ ३०४. एकं प्रथममित्यर्थः। किं तत्। स्पर्शनम्। तत्केषाम्। पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां वेदितव्यम्। तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते--वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रिय-

---

स्पर्शादिकका क्रम इन्द्रियोंके क्रमसे ही व्याख्यात है। अर्थात् इन्द्रियोंके क्रमको ध्यानमें रखकर इनका कथन किया है।

§ ३०१. आगे कहते हैं कि मन अनवस्थित है इसलिए वह इन्द्रिय नहीं। इस प्रकार जो मनके इन्द्रियपनेका निषेध किया है, सो यह मन उपयोगका उपकारी है या नहीं? मन भी उपकारी है, क्योंकि मनके बिना स्पर्शादि विषयोंमें इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं होतीं। तो क्या इन्द्रियोंकी सहायता करना ही मनका प्रयोजन है या और भी इसका प्रयोजन है? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

श्रुत मनका विषय है ॥२१॥

§ ३०२. श्रुतज्ञानका विषयभूत अर्थ श्रुत है वह अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय है, क्योंकि श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवके श्रुतज्ञानके विषयमें मनके आलम्बनसे ज्ञान होता है। अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है। और वह मनका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। यह प्रयोजन मनके स्वतः आधीन है इसमें उसे दूसरेके साहाय्यकी आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती।

विशेषार्थ—यहाँ श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञानका विषय या श्रुतज्ञान किया है और उसे अनिन्द्रियका विषय बतलाया है। आशय यह है कि श्रुतज्ञानकी उपयोग दशा पाँच इन्द्रियोंके निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अनिन्द्रियके निमित्तसे केवल श्रुतज्ञान ही होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनोंके निमित्तसे होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान इन दोनोंके निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है।

§ ३०३. किस इन्द्रियका क्या विषय है यह बतला आये। अब उनके स्वामीका कथन करना है अतः सर्व प्रथम जो स्पर्शन इन्द्रिय कही है उसके स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है ॥ २२ ॥

३०४. सूत्रमें आये हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है। **शंका**—यह कौन है? **समाधान**—स्पर्शन। **शंका**—वह किन जीवोंके होती है? **समाधान**—पृथिवीकायिक जीवोंसे लेकर वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके जानना चाहिए। अब उसकी उत्पत्तिके कारणका कथन करते हैं—वीर्या-

---

१. श्रुतस्यार्थे मु०, ता०, ना०।

सर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

§ ३०५. इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

§ ३०६. 'एकैकम्' इति वीप्सायां द्वित्वम् । एकैकेन वृद्धानि एकैकवृद्धानि । कृमिमादिं[1] कृत्वा, स्पर्शनाधिकारात् स्पर्शनमादिं कृत्वा एकैकवृद्धानीत्यभिसंबन्धः क्रियते । 'आदि'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । कृम्यादीनां स्पर्शनं रसनाधिकम्, पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणाधिके, भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानि, मनुष्यादीनां तान्येव श्रोत्राधिकानीति यथासंख्येनाभिसंबन्धो व्याख्यातः । तेषां निष्पत्तिः स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वघातिस्पर्धकोदयेन ।

§ ३०७. एवमेतेषु संसारिषु द्विभेदेषु इन्द्रियभेदात्पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्यानुक्तस्य प्रतिपादनार्थमाह—

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

§ ३०८. मनो व्याख्यातम् । सह तेन ये वर्तन्ते ते समनस्काः । संज्ञिन[2] इत्युच्यन्ते । पारिशेष्यादितरे संसारिणः प्राणिनोऽसंज्ञिन इति सिद्धम् । ननु च संज्ञिन इत्यनेनैव गतार्थत्वात्समनस्का

न्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर और शेष इन्द्रियोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयके होनेपर तथा शरीर नामकर्मके आलम्बनके होनेपर और एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी आधीनताके रहते हुए एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है

§ ३०५. अब इतर इन्द्रियोंके स्वामित्वका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदिके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ॥२३॥

§ ३०६. 'एकैकम्' यह वीप्सामें द्वित्व है । इन्द्रियाँ एक-एकके क्रमसे बढ़ी हैं इसलिए वे 'एकैकवृद्ध' कही गयी हैं । ये इन्द्रियाँ कृमिसे लेकर बढ़ी हैं । यहाँ स्पर्शन इन्द्रिय का अधिकार स्पर्शन इन्द्रियसे लेकर एक-एकके होनेसे क्रमसे बढ़ी हैं इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए । आदि शब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है । जिससे यह अर्थ हुआ कि कृमि आदि जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । पिपीलिका आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । भ्रमर आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । मनुष्यादिकके श्रोत्र इन्द्रियके और मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । इस प्रकार उक्त जीव और इन्द्रिय इनका यथाक्रमसे सम्बन्धका व्याख्यान किया । पहले स्पर्शन इन्द्रियकी उत्पत्तिका व्याख्यान कर आये हैं उसी प्रकार शेष इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका व्याख्यान करना चाहिए । किन्तु उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान करते समय जिस इन्द्रियकी उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान किया जाय, वहाँ उससे अगली इन्द्रिय सम्बन्धी सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयके साथ वह व्याख्यान करना चाहिए ।

§ ३०७. इस प्रकार इन दो प्रकारके और इन्द्रिय-भेदोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारके संसारी जीवमें जो पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके भेद नहीं कहे अतः उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनवाले जीव संज्ञी होते हैं ॥२४॥

§ ३०८. मनका व्याख्यान कर आये । उसके साथ जो रहते हैं वे समनस्क कहलाते हैं ।

---

१. –किस्यादिं आ० । –कृम्यादि दि० १, दि० २ । २. –ज्ञिनः उच्य-दि० १, दि० २, आ० ।

इति विशेषणमनर्थकम्[1]। यतो मनोव्यापारो हिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा। संज्ञापि सैवेति। नैतद्युक्तम्, संज्ञाशब्दार्थव्यभिचारात्। संज्ञा नामेत्युच्यते। तद्वन्तः संज्ञिन इति सर्वेषामतिप्रसङ्गः। संज्ञा ज्ञानमिति चेत्; सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वादतिप्रसङ्गः। आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति चेत्। तुल्यम्। तस्मात्समनस्का इत्युच्यते। एवं च कृत्वा गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्त्याद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मनःसंनिधानात्संज्ञित्वमुपपन्नं भवति।

§ ३०९. यदि हिताहितादिविषयपरिस्पन्दः प्राणिनां मनःप्रणिधानपूर्वकः। अथाभिनवशरीरग्रहणं प्रत्यागूर्णस्य विशीर्णपूर्वमूर्तेर्निर्मनस्कस्य यत्कर्म तत्कुत इत्युच्यते—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

§ ३१०. विग्रहो देहः। विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः[2]। कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः। विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः। सर्वशरीरप्ररोहणबीज-

---

और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्यायसे यह सिद्ध हुआ कि इनसे अतिरिक्त जितने संसारी जीव होते हैं वे सब असंज्ञी होते हैं। **शंका**—सूत्रमें 'संज्ञिनः' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता है, अतः 'समनस्काः' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी परीक्षा करनेमें मनका व्यापार होता है और यही संज्ञा है? **समाधान**—यह कहना उचित नहीं, क्योंकि संज्ञा शब्दके अर्थमें व्यभिचार पाया जाता है। अर्थात् संज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं। संज्ञाका अर्थ नाम है। यदि नामवाले जीव संज्ञी माने जायँ तो सब जीवोंको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। संज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञान स्वभाव होनेसे सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है। अर्थात् आहारादि विषयक अभिलाषा सबके पायी जाती है इसलिए भी सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। चूंकि ये दोष न प्राप्त हों अतः सूत्रमें 'समनस्काः' यह पद रखा है। इससे यह लाभ है कि गर्भज, अण्डज, मूर्च्छित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें हिताहितकी परीक्षाके न होनेपर भी मनके सम्बन्धसे संज्ञीपना बन जाता है।

विशेषार्थ—प्रायः एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक जीव अपने इष्ट विषयमें प्रवृत्ति करता है और अनिष्ट विषयसे निवृत्त होता है, फिर भी मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है सो इसका कारण यह है कि तुलनात्मक अध्ययन, लोक-परलोकका विचार, हिताहितका विवेक आदि कार्य ऐसे हैं जो मनके बिना नहीं हो सकते। इसीसे मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। यह मन जिनके होता है वे संज्ञी होते हैं अन्य नहीं। जीवोंका संज्ञी और असंज्ञी यह भेद पंचेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जाता है। अन्य एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव तो असंज्ञी ही होते हैं। अर्थात् उनके मन न होनेसे उक्त प्रकारके ज्ञानसे वंचित रहते हैं।

§ ३०९. यदि जीवोंके हित और अहित आदि विषयके लिए क्रिया मनके निमित्तसे होती है तो जिसने पूर्व शरीरको छोड़ दिया है और जो मनरहित है ऐसा जीव जब नूतन शरीरको ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके जो क्रिया होती है वह किस निमित्तसे होती है यही बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिमें कर्मयोग होता है ॥२५॥

§ ३१०. विग्रहका अर्थ देह है। विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है वह विग्रहगति है। अथवा विरुद्ध ग्रहको विग्रह कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है और

---

१. –नर्थकम्। मनो–ता० [illegible] २. [illegible]व्याघातः। नोकर्म–ता०, ना०।

भूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। कर्मणा कृतो योगः कर्मयोगो विग्रहगतौ भवतीत्यर्थः। तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति।

§ ३११. आह जीवपुद्गलानां गतिमास्कन्दतां देशान्तरसंक्रमः किमाकाशप्रदेशक्रमवृत्त्या भवति, उताविशेषेणेत्यत आह—

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

§ ३१२. लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिः इत्युच्यते। 'अनु'शब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्तिः। [1]श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणीति जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवतीत्यर्थः। अनधिकृतानां पुद्गलानां कथं ग्रहणमिति चेत्। गतिग्रहणात्। यदि जीवानामेव गतिरिष्टा स्याद् गतिग्रहणमनर्थकम्; अधिकारात्तत्सिद्धेः। उत्तरत्र जीवग्रहणाच्च पुद्गलसंप्रत्ययः। ननु चन्द्रादीनां ज्योतिष्काणां[2] मेरुप्रदक्षिणाकाले विद्याधरादीनां च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते, 'अनुश्रेणि गतिः' इति। कालदेशनियमोऽत्र वेदितव्यः। तत्र कालनियमस्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः। देशनियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगतिः, अधोलोकादूर्ध्वगतिः, तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव। पुद्गलानां च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेण्येव। इतरा गतिर्भजनीया।

इस विग्रहके साथ होनेवाली गतिका नाम विग्रहगति है। सब शरीरोंकी उत्पत्तिके मूलकारण कार्मण शरीरको कर्म कहते हैं। तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं। कर्मके निमित्तसे जो योग होता है वह कर्मयोग है। वह विग्रहगतिमें होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इससे नूतन कर्मका ग्रहण और एक देशसे दूसरे देशमें गमन होता है।

§ ३११. गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंका एक देशसे दूसरे देशमें गमन आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिक्रमसे होता है या इसके बिना होता है, अब इसका खुलासा करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति श्रेणीके अनुसार होती है ॥२६॥

§ ३१२. लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थमें समसित है। इसलिए 'अनुश्रेणि' का अर्थ 'श्रेणीकी आनुपूर्वीसे' होता है। इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती है यह इसका भाव है। **शंका**—पुद्गलोंका अधिकार न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण कैसे हो सकता है? **समाधान**—सूत्रमें गतिपदका ग्रहण किया है इससे सिद्ध हुआ कि अनधिकृत पुद्गल भी यहाँ विवक्षित हैं। यदि जीवोंकी गति ही इष्ट होती तो सूत्रमें गति पदके ग्रहण करनेको आवश्यकता न थी, क्योंकि गति पदका ग्रहण अधिकारसे सिद्ध है। दूसरे अगले सूत्रमें जीव पदका ग्रहण किया है इसलिए इस सूत्रमें पुद्गलोंका भी ग्रहण इष्ट है यह ज्ञान होता है। **शंका**—चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनुश्रेणि गति होती है यह किसलिए कहा? **समाधान**—यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोड़कर दूसरे भवके लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्व गमन करते हैं तब उनको गति अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम यथा—जब कोई जीव ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या ऊर्ध्वलोकके प्रति

---

१. –रानुपूर्वेणा-आ०। २. ज्योतिषां आ०, दि० १, दि० २।

§ ३१३. पुनरपि गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

§ ३१४. विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः। स यस्यां न विद्यतेऽसावविग्रहा गतिः। कस्य। जीवस्य। कीदृशस्य। मुक्तस्य। कथं गम्यते मुक्तस्येति। उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तस्येति विज्ञायते। ननु च 'अनुश्रेणि गतिः' इत्यनेनैव श्रेण्यन्तरसंक्रमाभावो व्याख्यातः। नार्थोऽनेन। पूर्वसूत्रे विश्रेणिगतिरपि क्वचिदस्तीति ज्ञापनार्थमिदं वचनम्। ननु तत्रैव देशकालनियम उक्तः। न; अतस्तत्सिद्धेः।

§ ३१५. यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला[1] प्रतिज्ञायते, सदेहस्य पुनर्गतिः किं प्रतिबन्धिनी उत मुक्तात्मवदित्यत आह—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

§ ३१६. कालावधारणार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इत्युच्यते। 'प्राग्' इति वचनं मर्यादार्थम्, चतुर्थात्समयात्प्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति। कुत इति चेत्। सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्सुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषु गत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्तां त्रिवि-

---

जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणि ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलोंको जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकारकी होनेका कोई नियम नहीं है।

§ ३१३. अब फिर भी गति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है ॥२७॥

§ ३१४. विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है। जिस गतिमें विग्रह अर्थात् कुटिलता नहीं होती वह विग्रहरहित गति है। **शंका**—यह किसके होती है? **समाधान**—जीवके। **शंका**—किस प्रकारके जीवके? **समाधान**—मुक्त जीवके। **शंका**—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है कि मुक्तजीवके विग्रहरहित गति होती है? **समाधान**—अगले सूत्रमें संसारी पदका ग्रहण किया है इससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रमें मुक्त जीवके विग्रहरहित गति ली गयी है। **शंका**—'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्रसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि एक श्रेणिसे दूसरी श्रेणिमें संक्रमण नहीं होता फिर इस सूत्रके लिखनेसे क्या प्रयोजन है? **समाधान**—पूर्व सूत्रमें कहींपर विश्रेणिगति भी होती है इस बातका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र रचा है। **शंका**—पूर्वसूत्रकी टीकामें ही देशनियम और कालनियम कहा है? **समाधान**—नहीं; क्योंकि उसकी सिद्धि इस सूत्रसे होती है।

§ ३१५. मुक्तात्माकी लोकपर्यन्त गति बिना प्रतिबन्धके नियत समयके भीतर होती है यदि ऐसा आपका निश्चय है तो अब यह बतलाइए कि सदेह आत्माकी गति क्या प्रतिबन्धके साथ होती है या मुक्तात्माके समान बिना प्रतिबन्धके होती है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संसारी जीवकी गति विग्रहरहित और विग्रहवाली होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समयसे पहले अर्थात् तीन समय तक होती है ॥२८॥

§ ३१६. कालका अवधारण करनेके लिए 'प्राक्चतुर्भ्यः' पद दिया है। 'प्राक्' पद मर्यादा निश्चित करनेके लिए दिया है। चार समयसे पहले मोड़ेवाली गति होती है चौथे समयमें नहीं यह इसका तात्पर्य है। **शंका**—मोड़ेवाली गति चार समयसे पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समयमें क्यों नहीं होती? **समाधान**—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले जीवको सबसे अधिक

---

१. –न्तादवगतकाला मु०।

ग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वाम्; तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्। 'च'शब्दः समुच्चयार्थः। विग्रहवती चाविग्रहा[1] चेति।

§ ३१७. विग्रहवत्या गतेः कालोऽवधृतः। अविग्रहायाः कियान् काल इत्युच्यते—

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

§ ३१८. एकः समयो[2] यस्याः सा एकसमया। न विद्यते विग्रहो[3] यस्याः सा अविग्रहा। गतिमतां हि जीवपुद्गलानामव्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपीति।

§ ३१९. अनादिकर्मबन्धसंततौ मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययवशात्कर्माण्याददानो विग्रहगतावप्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिदमुच्यते—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

§ ३२०. अधिकारात्समयाभिसंबन्धः। 'वा'शब्दो विकल्पार्थः। विकल्पश्च यथेच्छातिसर्गः। एकं वा द्वौ वा त्रीन्वा [4]समयाननाहारको भवतीत्यर्थः। त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। तदभावादनाहारकः। कर्मादानं हि निरन्तरं कार्मणशरीरसद्भावे। उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः। इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारकः॥

मोड़े लेने पड़ते हैं; क्योंकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणिका अभाव होनेसे इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोड़ेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इस प्रकारका कोई उपपादक्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती। 'च' शब्द समुच्चयके लिए दिया है। जिससे विग्रहवाली और विग्रहरहित दोनों गतियोंका समुच्चय होता है।

§ ३१७. विग्रहवाली गतिका काल मालूम पड़ा। अब विग्रहरहित गतिका कितना काल है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है ॥२९॥

§ ३१८. जिस गतिमें एक समय लगता है वह एक समयवाली गति है। जिस गतिमें विग्रह अर्थात् मोड़ा नहीं लेना पड़ता वह मोड़ारहित गति है। गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके व्याघातके अभावमें एक समयवाली गति लोकपर्यन्त भी होती है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ ३१९. कर्मबन्धकी परम्परा अनादिकालीन है अतः मिथ्यादर्शन आदि बन्ध कारणोंके वशसे कर्मोंको ग्रहण करनेवाला जीव विग्रहगतिमें भी आहारक प्राप्त होता है, अतः नियम करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥३०॥

§ ३२०. समयका अधिकार होनेसे यहाँ उसका सम्बन्ध होता है। 'वा' पदका अर्थ विकल्प है और विकल्प जहाँ तक अभिप्रेत है वहाँ तक लिया जाता है। जीव एक समय तक, दो समय तक या तीन समय तक अनाहारक होता है यह इस सूत्रका अभिप्राय है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। जिन जीवोंके इस प्रकारका आहार नहीं होता वे अनाहारक कहलाते हैं। किन्तु कार्मण शरीरके सद्भावमें कर्मके ग्रहण करनेमें अन्तर नहीं पड़ता। जब यह जीव उपपादक्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमें रहता है तब आहारक होता है। बाकीके तीन समयोंमें अनाहारक होता है।

---

१. चाविग्रहवती चेति मु०। २. समयोऽस्याः, एक-आ०,दि० १। समयोऽस्याः सा एक- दि० २, ता०, ना०। ३. –ग्रहोऽस्याः अवि–आ०, दि० १, ता०, ना०। ४. 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।'–पा० २, ३, ५।

§ ३२१. एवं गच्छतोऽभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमाह[1]—

संमूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

§ ३२२. त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं संमूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्। स्त्रिया उदरे [2]शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः। [3]मात्रुपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भः। उपेत्य[4] पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषसंज्ञा। एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्मप्रकाराः शुभाशुभपरिणामनिमित्तकर्मभेदविपाककृताः।

§ ३२३. अथाधिकृतस्य संसारविषयोपभोगोपलब्ध्य[5]धिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योनिविकल्पा[6] वक्तव्या इत्यत आह—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

§ ३२४. आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। शीत इति स्पर्शविशेषः; शुक्लादिवदुभयवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह [7]सम्यग्वृतः संवृतः। संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते। सह इतरैर्वर्तन्त इति सेतराः। सप्रतिपक्षा इत्यर्थः। के पुनरितरे। अचित्तोष्णविवृताः। उभयात्मको मिश्रः। सचित्ताचित्तः शीतोष्णः संवृतविवृत इति। 'च'शब्दः समुच्चयार्थः मिश्राश्च योनयो भवन्तीति। इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यात्। 'एकशः'

---

§ ३२१. इस प्रकार अन्य गतिको गमन करनेवाले जीवके नूतन दूसरे पर्यायकी उत्पत्तिके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं ॥३१॥

§ ३२२. तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारों ओरसे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना संमूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है चारों ओरसे पुद्गलोंको ग्रहण कर अवयवोंकी रचना होना। स्त्रीके उदरमें शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको गर्भ कहते हैं। अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं। प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं। उपपाद यह देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थान विशेषकी संज्ञा है। संसारी जीवोंके ये तीनों जन्मके भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामोंके निमित्तसे अनेक प्रकारके कर्म बँधते हैं, उनके फल हैं।

§ ३२३. यहाँ तक संसारी विषयोंके उपभोगकी प्राप्तिमें आधारभूत जन्मोंका अधिकार था। अब इनकी योनियोंके भेद कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचि उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ हैं ॥३२॥

§ ३२४. आत्माके चैतन्यविशेषरूप परिणामको चित्त कहते हैं। जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। शीत यह स्पर्शका एक भेद है। शुक्ल आदिके समान यह द्रव्य और गुण दोनोंका वाची है अतः शीतगुणवाला द्रव्य भी शीत कहलाता है। जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है। यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे। इतरका अर्थ अन्य है और इनके साथ रहनेवाले सेतर कहे जाते हैं। **शंका**—वे इतर कौन हैं? **समाधान**—अचित्त, उष्ण और विवृत। जो उभयरूप होते हैं वे मिश्र कहलाते हैं। यथा—सचित्ताचित्त, शीतोष्ण

१.–निर्वृत्तिजन्मप्रका–मु०। २. शुक्लशोणित–ता०, ना०, दि० १, मु०। ३. मात्रोपभुक्त–मु०। मात्रोपयुक्त –दि० १, दि० २। ४. उपेत्योत्पद्य–मु०। ५. –लब्ध्याधिष्ठा–आ०, दि० १, दि० २। ६. –कल्पो वक्तव्यः आ० ता०, ना०। ७. सम्यग्वृतः संवृत इति आ० दि० १, दि० २।

इति वीप्सार्थः। तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम्। यथैवं विज्ञायेत—सचित्तश्च अचित्तश्च, शीतश्च उष्णश्च, संवृतश्च विवृतश्चेति। मैवं विज्ञायि—सचित्तश्च शीतश्चेत्यादि। 'तद्ग्रहणं जन्मप्रकारप्रतिनिर्देशार्थम्। तेषां संमूर्च्छनादीनां जन्मनां योनय इति। त एते नव योनयो वेदितव्याः। योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्; न; आधाराधेयभेदात्तद्भेदः। त एते सचित्तादयो योनय आधाराः। आधेया जन्मप्रकाराः। यतः सचित्तादियोन्यधिष्ठाने आत्मा संमूर्च्छनादिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान्पुद्गलानुपादत्ते। देवनारका अचित्तयोनयः। तेषां हि योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः। गर्भजा मिश्रयोनयः। तेषां हि मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनिः[१]। संमूर्च्छनजास्त्रिविकल्पयोनयः। केचित्सचित्तयोनयः। अन्ये अचित्तयोनयः। अपरे मिश्रयोनयः। सचित्तयोनयः साधारणशरीराः। कुतः। परस्पराश्रयत्वात्। इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च। शीतोष्णयोनयो देवनारकाः। तेषां हि उपपादस्थानानि कानिचिच्छीतानि कानिचिदुष्णानीति। उष्णयोनयस्तैजस्कायिकाः। इतरे त्रिविकल्पयोनयः। केचिच्छीतयोनयः। केचिदुष्णयोनयः। अपरे मिश्रयोनय इति। देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः। विकलेन्द्रिया विवृतयोनयः। गर्भजाः मिश्रयोनयः। तद्भेदाश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्या आगमतो वेदितव्याः। उक्तं च—

और संवृतविवृत। सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयवाची है। जिससे योनियाँ मिश्र भी होती हैं' इसका समुच्चय हो जाता है। यदि 'च' पदका यह अर्थ न लिया जाय तो मिश्रपद पूर्वोक्त पदोंका ही विशेषण हो जाता। 'एकशः' यह पद वीप्सावाची है। सूत्रमें इस पदका ग्रहण क्रम और मिश्रका ज्ञान करानेके लिए किया है। जिससे यह ज्ञान हो कि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत, विवृत इस क्रमसे योनियाँ ली हैं। यह ज्ञान न हो कि सचित्त, शीत इत्यादि क्रमसे योनियाँ ली हैं। जन्मके भेदोंके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'तत्' पदका ग्रहण किया है। उन संमूर्च्छन आदि जन्मोंकी ये नौ योनियाँ हैं यह इसका भाव है। **शंका**—योनि और जन्ममें कोई भेद नहीं ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद हैं। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं ओर जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सचित्त आदि योनिरूप आधारमें संमूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। देव और नारकियोंकी अचित्त योनि होती है, क्योंकि उनके उपपाददेशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है। गर्भजोंकी मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माताकी आत्मासे मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है। संमूर्च्छनोंकी तीन प्रकारकी योनियाँ होती हैं। किन्हींकी सचित्त योनि होती है, किन्हींकी अचित्तयोनि होती है और किन्हींकी मिश्रयोनि होती है। साधारण शरीरवाले जीवोंकी सचित्त योनि होती है क्योंकि ये एक-दूसरेके आश्रयसे रहते हैं। इनमे अतिरिक्त शेष संमूर्च्छन जीवोंके अचित्त और मिश्र दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं। देव और नारकियोंकी शीत और उष्ण दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं; क्योंकि इनके कुछ उपपादस्थान शीत हैं और कुछ उष्ण। तेजस्कायिक जीवोंकी उष्णयोनि होती है। इनसे अतिरिक्त जीवोंकी योनियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। किन्हींकी शीत योनियाँ होती हैं, किन्हींकी उष्णयोनियाँ होती हैं और किन्हींकी मिश्रयोनियाँ होती हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रियोंकी संवृत योनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रियोंकी विवृत योनियाँ होती हैं। तथा गर्भजोंकी मिश्र योनियाँ होती हैं। इन सब योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगमसे जाननी चाहिए। कहा भी है—

---

१. –मिश्रं मिश्रयोनिः आ०, दि० १, दि० २।

'[1]णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥"

§ ३२५. एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसंकटे त्रिविधजन्मनि सर्वप्राणभृतामनियमेन प्रसक्ते तदवधारणार्थमाह—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

§ ३२६. यज्जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः । यन्नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं परिमण्डलं तदण्डम् । किंचित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः । जरायौ जाता जरायुजाः । अण्डे जाता अण्डजाः । जरायुजाश्च अण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोता गर्भयोनयः ।

§ ३२७. यद्यमीषां जरायुजाण्डजपोतानां गर्भोऽवध्रियते, अथोपपादः केषां भवतीत्यत आह–

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देवानां नारकाणां चोपपादो जन्म वेदितव्यम् ।

§ ३२८. अथान्येषां किं जन्मेत्यत आह—

शेषाणां संमूर्च्छनम् ॥३५॥

§ ३२९. गर्भजेभ्य औपपादिकेभ्यश्चान्ये शेषाः । संमूर्च्छनं जन्मेति । एते त्रयोऽपि योगा नियमार्थाः । उभयतो नियमश्च द्रष्टव्यः । जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः । गर्भ एव च जरायु-

---

'नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, और वायुकायिक जीवोंकी सात-सात लाख योनियाँ हैं । वृक्षोंको दस लाख योनियाँ हैं । विकलेन्द्रियोंकी मिलाकर छह लाख योनियाँ हैं । देव, नारकी और तिर्यंचोंकी चार-चार लाख योनियाँ हैं तथा मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ हैं ।'

§ ३२५. इस प्रकार नौ योनियोंसे युक्त तीन जन्म सब जीवोंके अनियमसे प्राप्त हुए अतः निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भजन्म होता है ॥३३॥

§ ३२६. जो जालके समान प्राणियोंका आवरण है और जो मांस और शोणितसे बना है उसे जरायु कहते हैं । जो नखकी त्वचाके समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे बना है उसे अण्ड कहते हैं । जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते हैं । इनमें जो जरसे पैदा होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं । जो अण्डोंसे पैदा होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं । सूत्रमें जरायुज, अण्डज और पोत इनका द्वन्द्व समास है । ये सब गर्भकी योनियाँ हैं ।

§ ३२७. यदि इन जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भ जन्म निर्णीत होता है तो अब यह बतलाइए कि उपपाद जन्म किन जीवोंके होता है, अतः इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है ॥३४॥

§ ३२८. इनसे अतिरिक्त अन्य जीवोंके कौन-सा जन्म होता है । अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष सब जीवोंका सम्मूर्च्छन जन्म होता है ॥३५॥

§ ३२९. इस सूत्रमें 'शेष' पदसे वे जीव लिये गये हैं जो गर्भ और उपपाद जन्मसे नहीं पैदा होते । इनके संमूर्च्छन जन्म होता है । ये तीनों ही सूत्र नियम करते हैं । और यह नियम

---

१. मूलाचा० गा० । गो० जी० गा० ।

जाण्डजपोतानाम् । देवनारकाणामेवोपपादः । उपपाद एव च देवनारकाणाम् । शेषाणामेव संमूर्च्छनम् । संमूर्च्छनमेव शेषाणामिति ।

§ ३३०. तेषां पुनः संसारिणां त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्पनवयोनिभेदानां शुभाशुभनामकर्मविपाकनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कानीत्यत आह—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

§ ३३१. विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि[1] । औदारिकादिप्रकृतिविशेषोदयप्राप्तवृत्तीनि औदारिकादीनि । उदारं स्थूलम् । उदारे[2] भवं उदारं प्रयोजनमस्येति वा, औदारिकम् । अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् । सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भवं तत्तैजसम् । कर्मणां कार्यं कार्मणम् । सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया ।

§ ३३२. यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषां कस्मान्न भवतीत्यत आह—

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

§ ३३३. 'पर'शब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वेऽपि विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः । पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः क्रियते परम्परमिति । औदारिकं स्थूलम्, ततः सूक्ष्मं वैक्रियिकम्, ततः

दोनों ओरसे जानना चाहिए । यथा—गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका ही होता है । या जरायुज, अण्डज और पोत जीवों के गर्भजन्म ही होता है । उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है या देव और नारकियोंके उपपाद जन्म ही होता है समूर्च्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है या शेष जीवोंके संमूर्च्छन जन्म ही होता है ।

§ ३३०. जो तीन जन्मोंसे पैदा होते हैं और जिनके अपने अवान्तर भेदोंसे युक्त नौ योनियाँ हैं उन संसारी जीवोंके शुभ और अशुभ नामकर्मके उदयसे निष्पन्न हुए और बन्धफलके अनुभव करनेमें आधारभूत शरीर कितने हैं । अब इसी बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं ॥३६॥

§ ३३१. जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं । इसके औदारिक आदि पाँच भेद हैं । ये औदारिक आदि प्रकृति विशेषके उदयसे होते हैं । उदार और स्थूल ये एकार्थवाची शब्द हैं । उदार शब्दसे होनेरूप अर्थमें या प्रयोजनरूप अर्थमें ठक् प्रत्यय होकर औदारिक शब्द बनता है । अणिमा आदि आठ गुणोंके ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकारका शरीर करना विक्रिया है । यह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है । सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान करनेके लिए या असंयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्तसंयत जिस शरीरको रचना करता है वह आहारक शरीर है । जो दीप्तिका कारण है या तेजमें उत्पन्न होता है उसे तैजस शरीर कहते हैं । कर्मोंका कार्य कार्मण शरीर है । यद्यपि सब शरीर कर्मके निमित्तसे होते हैं तो भी रूढ़िसे विशिष्ट शरीरको कार्मण शरीर कहा है ।

§ ३३२. जिस प्रकार इन्द्रियाँ औदारिक शरीरको जानती हैं उस प्रकार इतर शरीरोंको क्यों नहीं जानतीं ? अब इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगे-आगेका शरीर सूक्ष्म है ॥३७॥

§ ३३३. पर शब्दके अनेक अर्थ हैं तो भी यहाँ विवक्षासे व्यवस्थारूप अर्थका ज्ञान होता है । यद्यपि शरीर अलग-अलग हैं तो भी उनमें सूक्ष्म गुणका अन्वय है यह दिखलानेके लिए

---

१. 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।' न्या० सू० १, १, ११ । २. उदारे भवमौदारिकम् । उदारं मु० ।

सूक्ष्मं आहारकम्, ततः सूक्ष्मं तैजसम्, तैजसात्कार्मणं सूक्ष्ममिति ।

§ ३३४. यदि परम्परं सूक्ष्मम्, प्रदेशतोऽपि[1] न्यूनं परम्परं हीनमिति विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥

§ ३३५. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः । संख्यामतीतोऽसंख्येयः । असंख्येयो गुणोऽस्य तदिदमसंख्येयगुणम् । कुतः । प्रदेशतः । नावगाहतः । परम्परमित्यनुवृत्तेरा कार्मणात्प्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह प्राक्तैजसादिति । औदारिकादसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकम् । वैक्रियिकादसंख्येयगुणप्रदेशमाहारकमिति । को गुणकारः । पल्योपमासंख्येयभागः । यद्येवम्, परम्परं महापरिमाणं प्राप्नोति[2] । नैवम्; बन्धविशेषात्परिमाणभेदाभावस्तूलनिचयायःपिण्डवत् ।

§ ३३६. अथोत्तरयोः किं समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेष इत्यत आह—

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

§ ३३७. प्रदेशत इत्यनुवर्तते, तेनैवमभिसंबन्धः क्रियते—आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति । को गुणकारः । अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः[3] ।

'परम्परम्' इस प्रकार वीप्सा निर्देश किया है । औदारिक शरीर स्थूल है । इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है । इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है । इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है ।

§ ३३४. यदि ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तो प्रदेशोंकी अपेक्षा भी उत्तरोत्तर हीन होंगे । इस प्रकार विपरीत ज्ञानका निराकरण करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तैजससे पूर्व तीन शरीरोंमें आगे-आगेका शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणा है ॥३८॥

§ ३३५. प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है । इसका अर्थ परमाणु है । संख्यातीतको असंख्येय कहते हैं । जिसका गुणकार असंख्यात है वह असंख्येयगुणा कहलाता है । **शंका**—किसकी अपेक्षा ? **समाधान**—प्रदेशोंकी अपेक्षा, अवगाहनकी अपेक्षा नहीं । पूर्व सूत्रमें 'परम्परम्' इस पदकी अनुवृत्ति होकर असंख्येयगुणत्वका प्रसंग कार्मण शरीर तक प्राप्त होता है अतः उसकी निवृत्तिके लिए सूत्रमें 'प्राक् तैजसात्' पद रखा है । अर्थात् तैजस शरीरसे पूर्ववर्ती शरीर तक ये शरीर उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं । औदारिक शरीरसे वैक्रियिक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है । **शंका**—गुणकारका प्रमाण क्या है ? **समाधान**—पल्यका असंख्यातवाँ भाग । **शंका**—यदि ऐसा है तो उत्तरोत्तर एक शरीरसे दूसरा शरीर महापरिमाणवाला प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, बन्धविशेषके कारण परिमाणमें भेद नहीं होता । जैसे रूईका ढेर और लोहेका गोला ।

§ ३३६. आगेके दो शरीरोंके प्रदेश क्या समान हैं या उनमें भी कुछ भेद है । इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परवर्ती दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं ॥ ३९ ॥

§ ३३७. पूर्व सूत्रसे 'प्रदेशतः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । जिससे इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि आहारक शरीरसे तैजस शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीरसे कार्मण शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं । **शंका**—गुणकार क्या है ? **समाधान**—अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंका अनन्तवाँ भाग गुणकार है ।

---

१. –प्रदेशतः । परस्पर-ता०, ना० । २. प्राप्नोति । बन्ध–ता० । ३. –मनन्तो भागः ता०, ना० ।

§ ३३८. तत्रैतत्स्याच्छल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात्संसारिणो जीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधप्रसङ्ग इति । तन्न; किं कारणम् । यस्मादुभे अप्येते—

अप्रतीघाते ॥४०॥

§ ३३९. मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघातः । स नास्त्यनयोरित्यप्रतीघाते; सूक्ष्मपरिणामात्[1] । अयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्तैजसकार्मणयोर्नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघातः । ननु च वैक्रियिकाहारकयोरपि नास्ति प्रतीघातः । सर्वत्राप्रतीघातोऽत्र विवक्षितः । यथा तैजसकार्मणयोरालोकान्तात् सर्वत्र नास्ति प्रतीघातः, न तथा वैक्रियिकाहारकयोः ।

§ ३४०. आह किमेतावानेव विशेष उत कश्चिदन्योऽप्यस्तीत्याह—

अनादिसंबन्धे च ॥४१॥

§ ३४१. 'च' शब्दो विकल्पार्थः । अनादिसंबन्धे सादिसंबन्धे चेति । कार्यकारणभावसंतत्या अनादिसंबन्धे, विशेषापेक्षया सादिसंबन्धे[2] च बीजवृक्षवत् । यथौदारिकवैक्रियिकाहारकाणि जीवस्य कदाचित्कानि, न तथा तैजसकार्मणे । नित्यसंबन्धिनी हि ते आ संसारक्षयात् ।

§ ३४२. त एते तैजसकार्मणे किं कस्यचिदेव भवत उताविशेषेणेत्यत आह—

सर्वस्य ॥४२॥

---

§ ३३८. **शंका**—जिस प्रकार कील आदिके लग जानेसे कोई भी प्राणी इच्छित स्थानको नहीं जा सकता उसी प्रकार मूर्तिक द्रव्यसे उपचित होनेके कारण संसारी जीवकी इच्छित गतिके निरोधका प्रसंग प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ये दोनों शरीर—

प्रतीघातरहित हैं ॥ ४० ॥

§ ३३९. एक मूर्तिक पदार्थका दूसरे मूर्तिक पदार्थके द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतीघात कहते हैं। इन दोनों शरीरोंका इस प्रकारका प्रतीघात नहीं होता इसलिए ये प्रतीघात रहित हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म होनेसे अग्नि लोहेके गोलेमें प्रवेश कर जाती है। उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका वज्रपटलादिकमें भी व्याघात नहीं होता। **शंका**—वैक्रियिक और आहारक शरीरका भी प्रतीघात नहीं होता फिर यहाँ तैजस और कार्मण शरीरको ही अप्रतीघात क्यों कहा ? **समाधान**—इस सूत्रमें सर्वत्र प्रतीघातका अभाव विवक्षित है। जिस प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका लोक पर्यन्त सर्वत्र प्रतीघात नहीं होता वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीरकी नहीं है।

§ ३४०. इन दोनों शरीरोंमें क्या इतनी ही विशेषता है या और भी कोई विशेषता है। इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

आत्माके साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं ॥ ४१ ॥

§ ३४१. सूत्रमें 'च' शब्द विकल्पको सूचित करनेके लिए दिया है। जिससे यह अर्थ हुआ कि तैजस और कार्मण शरीरका अनादि सम्बन्ध है और सादि सम्बन्ध भी है। कार्यकारणभावकी परम्पराकी अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषकी अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। यथा बीज और वृक्ष। जिस प्रकार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर जीवके कदाचित् होते हैं उस प्रकार तैजस और कार्मण शरीर नहीं हैं। संसारका क्षय होने तक उनका जीवके साथ सदा सम्बन्ध है।

§ ३४२. ये तैजस और कार्मण शरीर क्या किसी जीवके ही होते हैं या सामान्यरूपसे सबके होते हैं। इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा सब संसारी जीवोंके होते हैं ॥ ४२ ॥

---

१. –परिमाणात् मु० । २. –सम्बन्धेऽपि च मु० ।

§ ३४३. 'सर्वं' शब्दो निरवशेषवाची। निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः।

§ ३४४. अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभिः सर्वस्य संसारिणो यौगपद्येन संबन्धप्रसङ्गे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तदादीनि भाज्यानि युगपदे[1]कस्या चतुर्भ्यः ॥४३॥

§ ३४५. 'तत्' शब्दः प्रकृततैजसकार्मणप्रतिनिर्देशार्थः। ते तैजसकार्मणे आदिर्येषां तानि तदादीनि। भाज्यानि विकल्प्यानि। आ कुतः। आ चतुर्भ्यः। युगपदेकस्यात्मनः। कस्यचिद् द्वे तैजसकार्मणे। अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारकतैजसकार्मणानीति विभागः क्रियते।

§ ३४६. पुनरपि तेषां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

§ ३४७. अन्ते भवमन्त्यम्। किं। तत् कार्मणम्। इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुप-

---

§ ३४३. यहाँ 'सर्व' शब्द निरवशेषवाची है। वे दोनों शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ ३४४. सामान्य कथन करनेसे उन औदारिकादि शरीरों के साथ सब संसारी जीवोंका एक साथ सम्बन्ध प्राप्त होता है अतः एक साथ कितने शरीर सम्भव है इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक जीवके तैजस और कार्मणसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं ॥४३॥

§ ३४५. सूत्रमें प्रकरणप्राप्त तैजस और कार्मण शरीरका निर्देश करनेके लिए 'तत्' शब्द दिया है। तदादि शब्दका समासलभ्य अर्थ है—तैजस और कार्मण शरीर जिनके आदिमें हैं वे। भाज्य और विकल्प्य ये पर्यायवाची नाम हैं। तात्पर्य यह है कि एक साथ एक आत्माके पूर्वोक्त दो शरीरसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं। किसीके तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं। अन्यके औदारिक तैजस और कार्मण या वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। किसी दूसरेके औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर होते हैं। इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया है।

विशेषार्थ—आगे ४७वें सूत्रमें तपोविशेषके बलसे वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिका निर्देश किया है इसलिए प्रश्न होता है कि किसी ऋद्धिधारी साधुके एक साथ पाँच शरीरका सद्भाव माननेमें क्या हानि है? समाधान यह है कि एक साथ वैक्रियिक और आहारक ऋद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए एक तो एक साथ आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीरका अवस्थान नहीं बन सकता। दूसरे तपोविशेषसे जो विक्रिया प्राप्त होती है वह औदारिक शरीर सम्बन्धी ही विक्रिया है। उसे स्वतन्त्र वैक्रियिक शरीर मानना उचित नहीं है। कर्मसाहित्यमें वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे जो शरीर प्राप्त होता है उसकी परिगणना ही वैक्रियिक शरीरमें की गयी है। इसलिए अधिकारी भेद होनेसे औदारिक और आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीर नहीं बन सकता। यही कारण है कि एक साथ अधिकसे अधिक चार शरीर बतलाये हैं।

§ ३४६. फिर भी उन शरीरोंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अन्तिम शरीर उपभोगरहित है ॥४४॥

§ ३४७. जो अन्तमें होता है वह अन्त्य कहलाता है। **शंका**—अन्तका शरीर कौन है?

---

१. –देकस्मिन्ना च-म०।

भोगः। तदभावान्निरुपभोगम्। विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यभावाच्छब्दाद्युपभोगाभाव इति। ननु तैजसमपि निरुपभोगम्। तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति। तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति, ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकारः।[1]

§ ३४८. एवं तत्रोक्तलक्षणेषु जन्मसु अमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किमविशेषेण भवन्ति, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

§ ३४९. सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यम्। औदारिकमित्यर्थः। यद् गर्भजं यच्च संमूर्च्छनजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम्।

§ ३५०. तदनन्तरं यन्निर्दिष्टं तत्कस्मिन् जन्मनीत्यत आह—

समाधान—कार्मण। इन्द्रियरूपी नालियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। यह बात अन्तके शरीरमें नहीं पायी जाती; अतः वह निरुपभोग है। विग्रहगतिमें लब्धिरूप भावेन्द्रियके रहते हुए भी वहाँ द्रव्येन्द्रियकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नहीं होता। **शंका**—तैजस शरीर भी निरुपभोग है इसलिए वहाँ यह क्यों कहते हो कि अन्तका शरीर निरुपभोग है? **समाधान**—तैजस शरीर योगमें निमित्त भी नहीं होता, इसलिए इसका उपभोगके विचारमें अधिकार नहीं है।

विशेषार्थ—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमें इन्द्रियोंकी रचना होकर उन द्वारा अपने-अपने विषयोंका ग्रहण होता है इसलिए ये तीनों शरीर सोपभोग माने गये हैं। यद्यपि कार्मण काययोग केवली जिनके प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके समय तथा विग्रहगतिमें होता है। पर इनमें-से प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके समय केवलज्ञान होनेसे वहाँ उपभोगका प्रश्न ही नहीं उठता। मात्र विग्रहगतिमें कार्मण काययोगके रहते हुए उपभोग होता है या नहीं यह प्रश्न होता है और इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए 'निरुपभोगमन्त्यम्' यह सूत्र रचा गया है। अन्तका शरीर उपभोगरहित क्यों है इस बातका खुलासा करते हुए बतलाया है कि विग्रहगतिमें भावेन्द्रियाँ तो होती हैं पर द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होतीं इसलिए यहाँ शब्दादि विषयोंका ग्रहण नहीं होता। यही कारण है कि अन्तके शरीरको निरुपभोग कहा है। रहा तैजस शरीर सो अन्य चार शरीरोंके समान इसका स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। अनिःसृत तैजस शरीर सब संसारी जीवोंके सदा होता है और निःसृत तैजस शरीर कादाचित्क होता है। इस प्रकार तैजस शरीर पाया तो जाता है सब संसारी जीवोंके, पर आत्मप्रदेश परिस्पन्दमें यह शरीर कारण नहीं है इसलिए इन्द्रियों-द्वारा विषयोंके ग्रहण करनेमें इस शरीरको उपयोगी नहीं माना गया है। यही कारण है कि तैजस शरीर निरुपभोग है कि सोपभोग यह प्रश्न ही नहीं उठता।

§ ३४८. इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाले इन जन्मोंमें क्या सामान्यसे सब शरीर उत्पन्न होते हैं या इसमें कुछ विशेषता है। इस बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला शरीर गर्भ और संमूर्छन जन्मसे पैदा होता है ॥ ४५ ॥

§ ३४९. सूत्रमें जिस क्रमसे निर्देश किया है तदनुसार यहाँ आद्यपदसे औदारिक शरीरका ग्रहण करना चाहिए। जो शरीर गर्भजन्मसे और संमूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह सब औदारिक शरीर है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ ३५०. इसके अनन्तर जिस शरीरका निर्देश किया है उसकी उत्पत्ति किस जन्मसे होती है अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. –नधिकारः। तत्रोक्त-ता०, ना०।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६।।

§ ३५१. उपपादे भवमौपपादिकम् । तत्सर्वं वैक्रियिकं वेदितव्यम् ।

§ ३५२. यद्यौपपादिकं वैक्रियिकम्, अनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इत्यत आह—

लब्धिप्रत्ययं च ।।४७।।

§ ३५३. 'च' शब्देन वैक्रियिकमभिसंबध्यते । तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः । लब्धिः प्रत्ययः कारणमस्य लब्धिप्रत्ययम् । वैक्रियिकं लब्धिप्रत्ययं च भवतीत्यभिसंबध्यते ।

§ ३५४. किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्तीत्यत आह—

तैजसमपि ।।४८।।

§ ३५५. 'अपि'शब्देन लब्धिप्रत्ययमभिसंबध्यते । तैजसमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति ।

§ ३५६. वैक्रियिकानन्तरं यदुपदिष्टं तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिर्देशार्थं चाह—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।४९।।

§ ३५७. शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशः । शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वाच्छुभमित्युच्यते अन्नस्य प्राणव्यपदेशवत् । विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेशः । विशुद्धस्य [1]पुण्यकर्मणः

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है ।। ४६ ।।

§ ३५१. जो उपपादमें होता है उसे औपपादिक कहते हैं । इस प्रकार उपपाद जन्मसे पैदा होनेवाले शरीरको वैक्रियिक जानना चाहिए ।

§ ३५२. यदि जो शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है वह वैक्रियिक है तो जो शरीर उपपाद जन्मसे नहीं पैदा होता उसमें वैक्रियिकपन नहीं बन सकता । अब इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा लब्धिसे भी पैदा होता है ।। ४७ ।।

§ ३५३. सूत्रमें 'च' शब्द आया है । उससे वैक्रियिक शरीरका सम्बन्ध करना चाहिए । तपविशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते हैं । इस प्रकारको लब्धिसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है । वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी होता है ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए ।

§ ३५४. क्या यही शरीर लब्धिकी अपेक्षासे होता है या दूसरा शरीर भी होता है । अब इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तैजस शरीर भी लब्धिसे पैदा होता है ।। ४८ ।।

§ ३५५. सूत्रमें 'अपि' शब्द आया है । उससे 'लब्धिप्रत्ययम्' पदका ग्रहण होता है । तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है यह इस सूत्रका भाव है ।

§ ३५६. वैक्रियिक शरीरके पश्चात् जिस शरीरका उपदेश दिया है उसके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए और उसके स्वामीका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयतके ही होता है ।।४९।।

§ ३५७. शुभकर्मका कारण होनेसे इसे शुभ कहा है । यह शरीर आहारक काययोग रूप शुभकर्मका कारण है, इसलिए आहारक शरीर शुभ कहलाता है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार है । जैसे अन्नमें प्राणका उपचार करके अन्नको प्राण कहते हैं । विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहा है । तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध

---

१. पुण्यस्य कर्मणः मु० ।

अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते तन्तूनां कार्पासव्यपदेशवत् । उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति । न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातः । नाप्यन्येनाहारकस्येति । तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थः 'च'शब्दः क्रियते । तद्यथा—कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च । आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः । यदाहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति 'प्रमत्तसंयतस्य' इत्युच्यते । इष्टतोऽवधारणार्थं 'एव'कारोपादानम् । यथैवं विज्ञायेत प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्येति । मैवं विज्ञायि प्रमत्तसंयतस्याहारकमेवेति । मा भूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

§ ३५८. एवं विभक्तानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां प्रतिगति किं त्रिलिङ्गसंनिधानं उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीत्यत आह—

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

§ ३५९. नरकाणि वक्ष्यन्ते । नरकेषु भवा नारकाः । संमूर्छनं संमूर्च्छः स येषामस्ति[1] ते संमूर्च्छिनः । नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसंमूर्च्छिनः । चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति । नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकान्येवेति नियमः । तत्र हि स्त्रीपुंसविषयमनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति ।

अर्थात् पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको भी विशुद्ध कहते हैं । यहाँ कार्यमें कारणका उपचार है । जैसे तन्तुओंमें कपासका उपचार करके तन्तुओंको कपास कहते हैं । दोनों ओरसे व्याघात नहीं होता इसलिए यह अव्याघाती है । तात्पर्य यह है कि आहारक शरीरसे अन्य पदार्थका व्याघात नहीं होता और अन्य पदार्थसे आहारक शरीरका व्याघात नहीं होता । आहारक शरीरके प्रयोजनका समुच्चय करनेके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है । यथा—आहारक शरीर कदाचित् लब्धि-विशेषके सद्भावको जतानेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थका निश्चय करनेके लिए और संयमकी रक्षा करनेके लिए उत्पन्न होता है । सूत्रमें 'आहारक' पद आया है उससे पूर्वमें कहे गये आहारक शरीरको दुहराया है । जिस समय जीव आहारक शरीरको रचनाका आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है इसलिए सूत्रमें प्रमत्तसंयतके ही आहारक शरीर होता है यह कहा है । इष्ट अर्थके निश्चय करनेके लिए सूत्रमें 'एवकार' पदको ग्रहण किया है । जिससे यह जाना जाय कि आहारक शरीर प्रमत्तसंयतके ही होता है अन्यके नहीं । किन्तु यह न जाना जाय कि प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है । तात्पर्य यह है कि प्रमत्तसंयतके औदारिक आदि शरीरोंका निराकरण न हो इसलिए प्रमत्तसंयत पदके साथ ही एवकार पद लगाया है ।

§ ३५८. इस प्रकार इन शरीरोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंके प्रत्येक गतिमें क्या तीनों लिंग होते हैं या लिंगका कोई स्वतन्त्र नियम है । अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नारक और सम्मूर्च्छिन नपुंसक होते हैं ॥ ५० ॥

§ ३५९. नरकोंका कथन आगे करेंगे । जो नरकोंमें उत्पन्न होते हैं वे नारकी कहलाते हैं । जो सम्मूर्च्छन जन्मसे पैदा होते हैं वे सम्मूर्च्छिन कहलाते हैं । सूत्रमें नारक और सम्मूर्च्छिन इन दोनों पदोंका द्वन्द्वसमास है । चारित्रमोहके दो भेद हैं—कषाय और नोकषाय । इनमें-से नोकषायके भेद नपुंसकवेदके उदयसे और अशुभ नामकर्मके उदयसे उक्त जीव स्त्री और पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं । यहाँ ऐसा नियम जानना कि नारक और सम्मूर्च्छिन नपुंसक ही होते हैं । इन जीवोंके

---

१. –मस्तीति सम्मू-मु० ।

§ ३६०. यद्येवमवध्रियते, अर्थादापन्नमेतदुक्तेभ्योऽन्ये संसारिणस्त्रिलिङ्गा इति यत्रात्यन्तं[1] नपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

न देवाः ॥५१॥

§ ३६१. स्त्रैणं पौंस्नं च यन्निरतिशयसुखं[2] शुभगतिनामोदयापेक्षं तद्देवा अनुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि[3] सन्ति।

§ ३६२. अथेतरे कियल्लिङ्गा इत्यत आह—

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

§ ३६३. त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः। के पुनस्ते वेदाः। स्त्रीत्वं पुंस्त्वं नपुंसकत्वमिति। कथं तेषां सिद्धिः। वेद्यत इति वेदः। लिङ्गमित्यर्थः। तद् द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्। स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भं इति स्त्री। पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्[4]। नपुंसकवेदोदयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। रूढिशब्दाश्चैते। रूढिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थं च। यथा गच्छतीति गौरिति। इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात्स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात्। त एते त्रयो वेदाः शेषाणां गर्भजानां भवन्ति।

मनोज्ञ शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्शके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता है।

§ ३६०. यदि उक्त जीवोंके नपुंसकवेद निश्चित होता है तो यह अर्थात् सिद्ध है कि इनसे अतिरिक्त अन्य संसारी जीव तीन वेदवाले होते हैं। इसमें भी जिनके नपुंसकवेदका अत्यन्त अभाव है उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव नपुंसक नहीं होते ॥ ५१ ॥

§ ३६१. शुभगति नामकर्मके उदयसे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी जो निरतिशय सुख है उसका देव अनुभव करते हैं इसलिए उनमें नपुंसक नहीं होते।

§ ३६२. इनसे अतिरिक्त शेष जीव कितने लिंगवाले होते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेषके सब जीव तीन वेदवाले होते हैं ॥ ५२ ॥

§ ३६३. जिनके तीन वेद होते हैं वे तीन वेदवाले कहलाते हैं। **शंका**—वे तीन वेद कौन हैं? **समाधान**—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। **शंका**—इसकी सिद्धि कैसे होती है? **समाधान**—जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। इसीका दूसरा नाम लिंग है। इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। जो योनि मेहन आदि नामकर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भावलिंग है। स्त्रीवेदके उदयसे जिसमें गर्भ रहता है वह स्त्री है। पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है और नपुंसकवेदके उदयसे जो उक्त दोनों प्रकारकी शक्तिसे रहित है वह नपुंसक है। वास्तवमें ये तीनों रौढ़िक शब्द हैं और रूढ़िमें क्रिया व्युत्पत्तिके लिए ही होती है। यथा जो गमन करती है वह गाय है। यदि ऐसा न माना जाय और इसका अर्थ गर्भधारण आदि क्रियाप्रधान लिया जाय तो बालक और वृद्धोंके, तिर्यंच और मनुष्योंके, देवोंके तथा कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंके गर्भधारण आदि

---

१. –त्यन्तनपुं-आ०, दि० १। –त्यन्तिकनपुं-दि० २। २. -शयं सुखं गति-मु०। ३. नपुंसकलिङ्गानि सन्ति मु०। ४. पुमान्। तदुभय-आ०, दि० १- दि० २।

§ ३६४. य इमे जन्मयोनिशरीरलिङ्गसंबन्धाहितविशेषाः प्राणिनो निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्माधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्तस्ते किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्तराण्यास्कन्दन्ति उतायथाकालमपीत्यत आह—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

§ ३६५. औपपादिका व्याख्याता देवनारका इति। चरमशब्दोऽन्त्यवाची। उत्तम उत्कृष्टः। चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः।[1] परीतसंसारास्तज्जन्मनिर्वाणार्हा[2] इत्यर्थः। असंख्येयमतीतसंख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्येषां त इमे असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्या उत्तरकुर्वादिषु प्रसूताः। औपपादिकाश्च चरमोत्तमदेहाश्च असंख्येयवर्षायुषश्च औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषः। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति संनिधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्। अपवर्त्यमायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः। न अपवर्त्यायुषः अनपवर्त्यायुषः। न ह्येषामौप-

---

क्रियाका अभाव होनेसे स्त्री आदि संज्ञा नहीं बन सकती है। ये तीनों वेद शेष जीवोंके अर्थात् गर्भजोंके होते हैं।

विशेषार्थ—इसी अध्यायमें औदयिक भावोंका निर्देश करते समय उनमें तीन लिंग भी गिनाये हैं। ये तीनों लिंग वेदके पर्यायवाची हैं जो वेदनाकषायके उदयसे होते हैं। यहाँ किन जीवोंके कौन लिंग होता है इसका विचार हो रहा है। इसी प्रसंगसे आचार्य पूज्यपादने लिंगके दो भेद बतलाये हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। प्रश्न यह है कि लिंगके ये दो भेद सूत्रोंसे फलित होते हैं या विशेष जानकारीके लिए मात्र टीकाकारने इनका निर्देश किया है। उत्तर स्पष्ट है कि मूल सूत्रोंमें मात्र वेद नोकषायके उदयसे होनेवाले वेदोंका ही निर्देश किया है जैसा कि इसी अध्यायके ६वें सूत्रसे ज्ञात होता है।

§ ३६४. जो ये देवादिक प्राणी जन्म, योनि, शरीर और लिंगके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके बतलाये हैं वे विचित्र पुण्य और पापके वशीभूत होकर चारों गतियोंमें शरीरको धारण करते हुए यथाकाल आयुको भोगकर अन्य शरीरको धारण करते हैं या आयुको पूरा न करके भी अन्य शरीरको धारण करते हैं? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपादजन्मवाले, चरमोत्तमदेहवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं ॥ ५३ ॥

§ ३६५. उपपादजन्मवाले देव और नारकी हैं यह व्याख्यान कर आये। चरम शब्द अन्त्यवाची है। उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है। जिनका शरीर चरम और उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते हैं। जिनका संसार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते हैं। असंख्येय परिमाण विशेष है जो संख्यातसे परे है। तात्पर्य यह है कि पल्य आदि उपमा प्रमाणके द्वारा जिनकी आयु जानी जाती है वे उत्तरकुरु आदिमें उत्पन्न हुए तिर्यंच और मनुष्य असंख्यात वर्षकी आयुवाले कहलाते हैं। उपघातके निमित्त विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है। इस प्रकार जिनकी आयु घट जाती है वे अपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं और जिनकी आयु नहीं घटती वे अनपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं। इन औपपादिक आदि जीवोंकी आयु बाह्य निमित्तसे नहीं घटती यह नियम है तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवोंका ऐसा कोई नियम नहीं है। सूत्रमें जो उत्तम विशेषण दिया है वह चरम शरीरके उत्कृष्टपनको दिखलानेके लिए दिया है। यहाँ इसका और कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा 'चरमोत्तमदेहा' पाठके स्थानमें 'चरमदेह' यह पाठ भी मिलता है।

---

१. –देहाः। विपरीत-मु०। २. इत्यर्थः। अतीतसंख्यान-ता० ना०।

पादिकादीनां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्यते, इत्ययं नियमः। इतरेषामनियमः। चरमस्य देहस्योत्कृष्टत्वप्रदर्शनार्थमुत्तमग्रहणं नार्थान्तरविशेषोऽस्ति। चरमदेहा इति वा पाठः[1]।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

विशेषार्थ—भुज्यमान आयुका उत्कर्षण नहीं होता केवल उदीरणा होकर आयु घट सकती है, इसलिए प्रश्न होता है कि क्या सब संसारी जीवोंकी आयुका ह्रास होता है या इसका भी कोई अपवाद है। इसी प्रश्नके उत्तर स्वरूप प्रकृत सूत्रकी रचना हुई है। इसमें बतलाया है कि उपपादजन्मवाले देव और नारकी, तद्भवमोक्षगामी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंच और मनुष्य इनकी आयुका ह्रास नहीं होता। इन्हें जो आयु प्राप्त होती है उसका पूरा भोग होकर ही उस पर्यायका अन्त होता है। यह विशेष नियम करनेका कारण यह है कि कर्मशास्त्रके अनुसार कोई भी अधिक स्थितिवाला कर्म कारणविशेषके मिलनेपर अल्पकालमें भोगा जा सकता है। भुज्यमान आयुपर भी यह नियम लागू होता है, इसलिए इस सूत्र-द्वारा यह व्यवस्था दी गयी है कि उक्त जीवोंकी भुज्यमान आयुपर यह नियम लागू नहीं होता। आशय यह है कि इन जीवोंके भुज्यमान आयुके प्रारम्भ होनेके प्रथम समयमें आयुके जितने निषेक होते हैं वे क्रमसे एक-एक निषेक उदयमें आकर ही निर्जराको प्राप्त होते हैं। विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तके बलसे उनका घात नहीं होता। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इन जीवोंके आयुकर्मकी उदीरणा ही न होती होगी। इनके उदीरणाका होना तो सम्भव है पर स्थितिघात न होकर ही यह उदीरणा होती है। स्थितिघात न होनेसे हमारा अभिप्राय है कि इनके पूरे निषेकका उदीरणा-द्वारा क्षय नहीं होता। सूत्रमें तद्भव मोक्षगामीके लिए 'चरमोत्तमदेह' पाठ आया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें इसकी व्याख्या करते हुए चरम शरीरको ही उत्तम बतलाया गया है किन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिकमें पहले तो चरमदेह और उत्तमदेह ऐसा अलग-अलग अर्थ किया गया है किन्तु बादमें उत्तम देहवाले चक्रधर आदिके शरीरको अपवर्त्य आयुवाला बतलाकर उत्तम शब्दको चरमदेहका ही विशेषण मान लिया है। एक बात स्पष्ट है कि प्रारम्भसे ही उत्तम पदपर विवाद रहा है। तभी तो सर्वार्थसिद्धिमें 'चरमदेह' इस प्रकार पाठान्तरकी सूचना की गयी है और यह पाठान्तर उन्हें पूर्व परम्परासे प्राप्त था।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

---

१. पाठः ॥२॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्वरूपभेदाश्च। गतिजन्मयोनिदेहलिङ्गानपवर्तितायुष्कभेदाश्चाध्यायेऽस्मिन्निरूपिता भवन्तीति संबन्धः ॥ इति तत्त्वा-मु०। पाठः ॥२॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्वरूपभेदाश्च। गतिजन्मयोनिदेहलिङ्गानपवर्त्यायुर्भिदास्तत्र ॥ इति तत्त्वा-ना०।

अथ तृतीयोऽध्यायः

§ ३६६. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिषु नारकाः श्रुतास्ततः पृच्छति के ते नारका इति । तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देशः क्रियते—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

§ ३६७. रत्नं च शर्करा च वालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसि । 'प्रभा' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । साहचर्यात्ताच्छब्द्यम् । चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमिः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभासहचरिता भूमिः शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभासहचरिता भूमिर्वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभासहचरिता भूमिः पङ्कप्रभा, धूमप्रभासहचरिता भूमिर्धूमप्रभा, तमःप्रभासहचरिता भूमिस्तमःप्रभा, महातमःप्रभासहचरिता भूमिर्महातमःप्रभा इति । एताः संज्ञा अनेनोपायेन व्युत्पाद्यन्ते । 'भूमि'ग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्य व्यवस्थितानि न तथा नारकावासाः । किं तर्हि । भूमिमाश्रिता इति[1] । आसां भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्बुवातादिग्रहणं क्रियते । घनाम्बु च वातश्च आकाशं च घनाम्बुवाताकाशानि । तानि प्रतिष्ठा आश्रयो यासां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः[2] । सर्वा एता भूमयो घनो-

---

§ ३६६. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्यादिक सूत्रोंमें नारक शब्द सुना है इसलिए पूछते हैं कि वे नारकी कौन हैं ? अतः नारकियोंका कथन करनेके लिए उनकी आधारभूत पृथिवियोंका निर्देश करते हैं—

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाशके सहारे स्थित हैं तथा क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥१॥

§ ३६७. 'रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमाः' इसमें सब पदोंका परस्पर द्वन्द्व समास है। प्रभा शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। पृथिवियोंकी प्रभा क्रमसे रत्न आदिके समान होनेसे इनके रत्नप्रभा आदि नाम पड़े हैं। यथा—जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है वह वालुकाप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा कीचड़के समान है वह पंकप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा धुँवाके समान है वह धूमप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तमःप्रभा भूमि है और जिसकी प्रभा गाढ अन्धकारके समान है वह महातमःप्रभा भूमि है। इस प्रकार इन नामोंकी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। सूत्रमें भूमि पदका ग्रहण अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिके बिना स्थित है उस प्रकार नारकियोंके निवासस्थान नहीं हैं। किन्तु वे भूमिके आश्रयसे अवस्थित हैं। इन भूमियोंके आलम्बनका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बुवात' आदि पदका ग्रहण किया है। अभिप्राय यह है कि ये भूमियाँ क्रमसे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आश्रयसे स्थित हैं इस बातके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' पद दिया है।

---

१. –इति । तासां भूमी-मु०, ता०, ना० । २. प्रतिष्ठाः । घनं च घनो मन्दो महान् आयत, इत्यर्थः । अम्बु च जलम् उदकमित्यर्थः । वात-शब्दोऽन्त्यदीपकः । तत एवं संबन्धनीयः । घनो घनवातः । अम्बु अम्बुवातः । वातस्तनुवातः । इति महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः । अन्यः पाठः । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातश्चेति । वातशब्दः सोपस्क्रियते । वातस्तनुवात इति वा । सर्वा एता मु०, ता०, ना० ।

दधिवलयप्रतिष्ठाः। घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठम्। घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्। तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम्। आकाशमात्मप्रतिष्ठं, तस्यैवाधाराधेयत्वात्। त्रीण्यप्येतानि वलयानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबाहुल्यानि। 'सप्त'ग्रहणं संख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम्। सप्त भूमयो नाष्टौ न नव चेति 'अधोऽधः'वचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम्।

§ ३६८. किं ता भूमयो नारकाणां सर्वत्रावासा आहोस्वित्क्वचित्क्वचिदिति तन्निर्धारणार्थमाह—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

ये सब भूमियाँ घनोदधिवातवलयके आश्रयसे स्थित हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधारसे स्थित है। घनवातवलय तनुवातवलयके आश्रयसे स्थित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रयसे स्थित है और आकाश स्वयं अपने आधारसे स्थित है; क्योंकि वह आधार और आधेय दोनों है। ये तीनों वातवलय प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। सूत्रमें 'सप्त' पदका ग्रहण दूसरी संख्याके निराकरण करनेके लिए किया है। भूमियाँ सात ही हैं, न आठ हैं और न नौ। ये भूमियाँ तिर्यक् रूपसे अवस्थित नहीं हैं। इस बातको दिखानेके लिए सूत्रमें 'अधोऽधः' यह वचन दिया है।

विशेषार्थ—आकाशके दो भेद हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश। लोकाकाश अलोकाकाशके बीचोबीच अवस्थित है। यह अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वभावसे निर्मित और छह द्रव्योंसे व्याप्त है। यह उत्तर-दक्षिण अधोभागसे लेकर ऊर्ध्वभाग तक विस्तारकी अपेक्षा सर्वत्र सात राजु है। पूर्व पश्चिम नीचे सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते-घटते सात राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओर बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस राजुकी ऊँचाईपर पाँच राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओर घटते-घटते चौदह राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौड़ा है। पूर्व पश्चिमकी ओरसे लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके आकारका प्रतीत होता है। इससे अधोभाग वेतके आसनके समान, मध्यभाग झालरके समान और ऊर्ध्वभाग मृदंगके समान दिखाई देता है। इसके तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। मध्यलोकके बीचोबीच मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। उसके नीचेका भाग अधोलोक, ऊपरका भाग ऊर्ध्वलोक और बराबर रेखामें तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है। मध्यलोकका तिरछा विस्तार अधिक होनेसे इसे तिर्यग्लोक भी कहते हैं। प्रकृत सूत्रमें अधोलोकका विचार किया गया है। इसमें सात भूमियाँ हैं जो उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं पर आपसमें भिड़कर नहीं हैं। किन्तु एक दूसरी भूमिके बीचमें असंख्य योजनोंका अन्तर है। इन भूमियोंके नाम सूत्रमें क्रमसे दिये ही हैं। ये इनके गुणनाम हैं। घम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा और माघवी ये इनके रौढिक नाम हैं। पहली पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। दूसरी बत्तीस हजार योजन मोटी है, तीसरी अट्ठाईस हजार योजन मोटी है, चौथी चौबीस हजार योजन मोटी है, पाँचवीं बीस हजार योजन मोटी है, छठी सोलह हजार योजन मोटी है, और सातवीं आठ हजार योजन मोटी है। ये सातों भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाशके आधारसे स्थित हैं। अर्थात् प्रत्येक पृथिवी घनोदधिके आधारसे स्थित है, घनोदधि घनवातके आधारसे स्थित है, घनवात तनुवातके आधारसे स्थित है, तनुवात आकाशके आधारसे स्थित है और आकाश अपने आधारसे स्थित है।

§ ३६८. क्या इन भूमियोंमें सर्वत्र नारकियोंके निवास-स्थान हैं या कहीं-कहीं, इस बातका निश्चय करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

उन भूमियोंमें क्रमसे तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक हैं ॥२॥

§ ३६९. तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन संख्यायन्ते यथाक्रमम्। रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिर्नरकशतसहस्राणि, वालुकाप्रभायां पञ्चदश नरकशतसहस्राणि, पङ्कप्रभायां दश नरकशतसहस्राणि, धूमप्रभायां त्रीणि नरकशतसहस्राणि, तमःप्रभायां पञ्चोनमेकं नरकशतसहस्रं, महातमःप्रभायां पञ्च नरकाणि। रत्नप्रभायां नरकप्रस्तारास्त्रयोदश। ततोऽध आ सप्तम्या द्वौ[1] द्वौ नरकप्रस्तारौ[2] हीनौ। इतरो विशेषो लोकानुयोगतो वेदितव्यः।

§ ३७०. अथ तासु भूमिषु नारकाणां कः प्रतिविशेष इत्यत आह—

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

§ ३७१. लेश्यादयो व्याख्यातार्थाः। अशुभतरा इति प्रकर्षनिर्देशः तिर्यग्गतिविषयाशुभलेश्याद्यपेक्षया, अधोऽधः स्वगत्यपेक्षया च वेदितव्यः। 'नित्य'शब्द[3] आभीक्ष्ण्यवचनः। नित्य-

---

§ ३६९. उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें, इस सूत्र-द्वारा क्रमसे नरकोंकी संख्या बतलायी गयी है। रत्नप्रभामें तीस लाख नरक हैं। शर्कराप्रभामें पचीस लाख नरक हैं। वालुकाप्रभामें पन्द्रह लाख नरक हैं। पंकप्रभामें दश लाख नरक हैं। धूमप्रभामें तीन लाख नरक हैं। तमःप्रभामें पाँच कम एक लाख नरक हैं और महातमःप्रभामें पाँच नरक हैं। रत्नप्रभामें तेरह नरक पटल हैं। इससे आगे सातवीं भूमि तक दो-दो नरक पटल कम हैं। इसके अतिरिक्त और विशेषता लोकानुयोगसे जान लेनी चाहिए।

विशेषार्थ—पहले सात पृथिवियोंका निर्देश किया ही है। उनमें-से पहली पृथिवीके तीन भाग हैं–खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग। खर भाग सबसे ऊपर है। इसमें रत्नोंकी बहुतायत है और यह सोलह हजार योजन मोटा है। दूसरा पंकभाग है, इसकी मोटाई चौरासी हजार योजन है। तथा तीसरा अब्बहुल भाग है। इसकी मोटाई अस्सी हजार योजन है। नारकियोंके रहनेके आवासको नरक कहते हैं। रत्नप्रभा भूमिके प्रथम भाग और दूसरे भाग में नरक नहीं हैं। तीसरे भागमें हैं। इस प्रकार प्रथम भूमिके तीसरे भागकी और शेष छह भूमियों को जितनी-जितनी मोटाई बतलायी है उसमें-से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन भूमिको छोड़कर सातों भूमियोंके बाकीके मध्य भागमें नरक हैं। इनका आकार विविध प्रकारका है। कोई गोल हैं, कोई त्रिकोण हैं, कोई चौकोण हैं और कोई अनिश्चित आकारवाले हैं। ये सब नरकपटल क्रमसे अवस्थित हैं। जिस प्रकार पत्थर या मिट्टीके एक थरपर दूसरा थर अवस्थित होता है उसी प्रकार ये पटल हैं। पहली भूमिमें ये पटल तेरह हैं और आगेकी भूमियोंमें दो-दो पटल कम होते गये हैं। एक पटल दूसरे पटलसे सटा हुआ है। इनमें नरक हैं। नरक जमीनके भीतर कुएँके समान पोलका नाम है। यह ऊपर, नीचे, चारों ओर जमीनसे घिरी रहती है। इन्हीं नरकोंमें नारकी जीव अपनी आयुके अन्तिम समय तक रहते हैं और वहाँ नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं।

§ ३७०. उन भूमियोंमें रहनेवाले नारकियोंमें क्या विशेषता है इस बातको बतलानेके लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं—

नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले हैं ॥३॥

§ ३७१. लेश्यादिकका पहले व्याख्यान कर आये हैं। 'अशुभतर' इस पद के द्वारा तिर्यंचगतिमें प्राप्त होनेवाली अशुभ लेश्या आदिककी अपेक्षा और नीचे-नीचे अपनी गतिकी अपेक्षा लेश्यादिक-

---

१. –सप्तम्या द्वं द्वं नरक–आ० दि० १, दि० २। २. –प्रस्तारा हीनाः। इतरो आ०, दि० १, दि० २। २. लोकनियोगतो दि० १, दि० २। ३. 'अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि ? आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा-नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति।' पा० म० भा०, पृ० ५७।

मशुभतरा लेश्यादयो येषां ते नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया नारकाः। प्रथमाद्वितीययोः कापोती लेश्या, तृतीयायामुपरिष्टात्कापोती अधो नीला, चतुर्थ्यां नीला, पञ्चम्यामुपरि नीला अधः कृष्णा, षष्ठयां कृष्णा, सप्तम्यां परमकृष्णा। स्वायुः[1]प्रमाणावधृता[2] द्रव्यलेश्या उक्ताः। भावलेश्यास्तु अन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः। परिणामाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतराः। देहाश्च तेषामशुभनाम[3]कर्मोदयादत्यन्ताशुभतरा विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना[4] दुर्दर्शनाः। तेषामुत्सेधः प्रथमायां सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलयः। अधोऽधो—द्विगुणद्विगुण[5] उत्सेधः। अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिता[6] अतितीव्रा वेदना भवन्ति नारकाणाम्। प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीषु उष्णवेदनान्येव नरकाणि। पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने[7] द्वे नरकशतसहस्रे। अधः शीतवेदनमेकं शतसहस्रम्। षष्ठीसप्तम्योः शीतवेदनान्येव। शुभं[8] विकरिष्याम इति अशुभतरमेव विकुर्वन्ति, सुखहेतूनुत्पादयाम इति दुःखहेतूनेवोत्पादयन्ति। त एते भावा अधोऽधोऽशुभतरा वेदितव्याः।

की प्रकर्षता बतलायी गयी है। अर्थात् तिर्यंचोंमें जो लेश्यादिक हैं उनसे प्रथम नरकके नारकियोंके अधिक अशुभ हैं आदि। नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थात् निरन्तरवाची है। तात्पर्य यह है कि नारकियोंकी लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया निरन्तर अशुभ होती है। यथा, प्रथम और दूसरी पृथिवीमें कापोत लेश्या है। तीसरी पृथिवीमें ऊपरके भागमें कापोत लेश्या है और नीचेके भागमें नील लेश्या है। चौथी पृथिवीमें नील लेश्या है। पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके भागमें नील लेश्या है और नीचेके भागमें कृष्ण लेश्या है। छठी पृथिवीमें कृष्ण लेश्या है। और सातवीं पृथिवी में परम कृष्ण लेश्या है। द्रव्य लेश्याएँ अपनी आयु तक एक सी कही गयी हैं। किन्तु भावलेश्याएँ अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं। परिणामसे यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द लिये गये हैं। ये क्षेत्रविशेषके निमित्तसे अत्यन्त दुःखके कारण अशुभतर हैं। नारकियोंके शरीर अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंड संस्थान है और देखनेमें बुरे लगते हैं। उनकी ऊँचाई प्रथम पृथिवीमें सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है। तथा नीचे-नीचे प्रत्येक पृथिवीमें वह दूनी-दूनी है। नारकियोंके अभ्यन्तर कारण असाता वेदनीयका उदय रहते हुए अनादिकालीन शीत और उष्णरूप बाह्य निमित्तसे उत्पन्न हुई अति तीव्र वेदना होती है। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवीमें मात्र उष्ण वेदनावाले नरक हैं। पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके दो लाख नरक उष्ण वेदनावाले हैं। और नीचेके एक लाख नरक शीत वेदनावाले हैं। तथा छठी और सातवीं पृथिवीके नरक शीत वेदनावाले ही हैं। नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते हैं पर उत्तरोत्तर अशुभ विक्रियाको ही करते हैं। 'सुखकर हेतुओंको उत्पन्न करेंगे' ऐसा विचार करते हैं परन्तु वे दुःखकर हेतुओंको ही उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये भाव नीचे-नीचे अशुभतर जानने चाहिए।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामें लेश्याके दो भेद करके भावलेश्या अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती है यह कहा है। सो इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जो भावलेश्या कही है उसमें परिवर्तन नहीं होता। मात्र उसमें योग और कषायके अनुसार तरतमभाव होता रहता है; क्योंकि प्रत्येक नारकीके वही योग और वही कषाय रहनी चाहिए ऐसा नियम नहीं है। किन्तु अपने-अपने जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट कालके अनुसार योग और कषायका परिवर्तन नियमसे होता है। यतः कषायानुरंजित

१. स्वायुषः प्रमा—मु०, ता०, ना०। २.–माणेऽववृता आ०, दि० १, दि० २। ३. नामोदया—आ०, दि० १, दि० २। ४. संस्थापना। तेषां० आ०, दि० १, दि० २। ५. द्विगुणो द्विगुण आ०, दि० १, दि० २। ६. जनिताः सुतीव्रा मु०, दि० १, दि० २, आ०, ता०। ७. –वेदनानामेकं आ०, दि० १, दि० २। ८. शुभं करि-मु०, आ०, दि० १, दि० २।

§ ३७२. किमेतेषां नारकाणां शीतोष्णजनितमेव दुःखमुतान्यथापि भवतीत्यत आह—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

§ ३७३. कथं परस्परोदीरितदुःखत्वम् । नारकाः[1] भवप्रत्ययेनावधिना मिथ्यादर्शनोदयाद्विभङ्गव्यपदेशभाजा च दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः पूर्वभवानुस्मरणाच्चातितीव्रानुबद्धवैराश्च श्वशृगालादिवत्स्वाभिघाते प्रवर्तमानाः स्वविक्रियाकृतासिवासीपरशुभिण्डिमालशक्तितोमरकुन्तायोधनादिभिरायुधैः स्वकरचरणदशनैश्च छेदनभेदनतक्षणदंशनादिभिः परस्परस्यातितीव्रं दुःखमुत्पादयन्ति ।

§ ३७४. किमेतावानेव दुःखोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीत्यत आह—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

§ ३७५. देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति परानित्यसुराः । पूर्वजन्मनि[2] भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात्सततं क्लिष्टाः[3] संक्लिष्टाः, संक्लिष्टा असुराः, संक्लिष्टासुराः । संक्लिष्टा इति विशेषणान्न सर्वे असुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति । किं तर्हि । अम्बावरीषादय एव केचनेति । अवधिप्रदर्शनार्थं 'प्राक्चतुर्थ्याः' इति

योगप्रवृत्तिका नाम लेश्या है अतः योग और कषायके बदलनेसे वह भी बदल जाती है । मात्र जहाँ कापोत लेश्याका जघन्य अंश कहा है वहाँ वही रहता है वह बदलकर कापोत लेश्याका मध्यम और उत्कृष्ट अंश नहीं होता या जहाँ परम कृष्ण लेश्या कही है वहाँ वही रहती है वह बदल कर अन्य लेश्या नहीं होती । शेष कथन सुगम है ।

§ ३७२. क्या इन नारकियोंके शीतोष्णजनित ही दुःख है या दूसरे प्रकारका भी दुःख है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं ॥ ४ ॥

§ ३७३. **शंका**—नारकी परस्पर एक-दूसरेको कैसे दुःख उत्पन्न करते हैं ? **समाधान**—नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान है जिसे मिथ्यादर्शनके उदयसे विभंगज्ञान कहते हैं । इस ज्ञानके कारण दूरसे ही दुःखके कारणोंको जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें आनेपर एक-दूसरेको देखनेसे उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है । तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे उनकी वैरकी गाँठ और दृढ़तर हो जाती है । जिससे वे कुत्ता और गीदड़के समान एक-दूसरे का घात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं । वे अपनी विक्रियासे तलवार, बसूला, फरसा, हाथसे चलानेका तीर, बर्छी, तोमर नामका अस्त्र विशेष, बरछा और हथौड़ा आदि अस्त्र-शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ, पाँव और दाँतोंसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर अतितीव्र दुःखको उत्पन्न करते हैं ।

§ ३७४. जिन कारणोंसे दुःख उत्पन्न होता है वे इतने ही हैं या और भी हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और चौथी भूमिसे पहले तक वे संक्लिष्ट असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये गये दुःखवाले भी होते हैं ॥ ५ ॥

§ ३७५. देवगति नामक नामकर्मके भेदोंमें एक असुर नामकर्म है जिसके उदयसे 'परान् अस्यन्ति' जो दूसरोंको फेंकते हैं उन्हें असुर कहते हैं । पूर्व जन्ममें किये गये अतितीव्र संक्लेशरूप परिणामोंसे इन्होंने जो पापकर्म उपार्जित किया उसके उदयसे ये निरन्तर क्लिष्ट रहते हैं इसलिए संक्लिष्ट असुर कहलाते हैं । सूत्रमें यद्यपि असुरोंको संक्लिष्ट विशेषण दिया है पर इसका यह अर्थ

१. नारकाणाम् ? भव-मु०, ता०, ना० । २. जन्मनि संभावि-मु० । ३. क्लिष्टाः संक्लिष्टा असुराः मु० ।

विशेषणम्। उपरि तिसृषु पृथ्वीषु संक्लिष्टासुरा बाधाहेतवो नातः परमिति प्रदर्शनार्थम्। 'च'-शब्दः पूर्वोक्तदुःखहेतुसमुच्चयार्थः। सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभर्जनवैतरणीमज्जन - यन्त्रनिष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। एवं छेदनभेदनादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले भवति। कुतः। अनपवर्त्यायुष्कत्वात्[1]।

§ ३७६. यद्येवं, तदेव तावदुच्यतां नारकाणामायुःपरिमाणमित्यत आह—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

§ ३७७. यथाक्रममित्यनुवर्तते। तेषु नरकेषु भूमिक्रमेण यथासंख्यमेकादयः स्थितयोऽभिसंबध्यन्ते। रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा। शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा। वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमा। पङ्कप्रभायां दशसागरोपमा। धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा। तमःप्रभायां

नहीं कि सब असुर नारकियोंको दुःख उत्पन्न कराते हैं। किन्तु अम्बावरीष आदि कुछ असुर ही दुःख उत्पन्न कराते हैं। मर्यादाके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'प्राक् चतुर्थ्याः' यह विशेषण दिया है। इससे यह दिखलाया है कि ऊपरकी तीन पृथिवियोंमें हो संक्लिष्ट असुर बाधाके कारण हैं इससे आगे नहीं। सूत्रमें 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःखके कारणोंका समुच्चय करनेके लिए दिया है। परस्पर खूब तपाया हुआ लोहेका रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लौहस्तम्भका आलिंगन, कूट और सेमरके वृक्षपर चढ़ाना-उतारना, लोहेके घनसे मारना, बसूला और छुरासे तरासना, तपाये गये खारे तेलसे सींचना, तेलकी कढ़ाईमें पकाना, भाड़में भूँजना, वैतरणीमें डुबाना, यन्त्रसे पेलना आदिके द्वारा नारकियोंके परस्पर दुःख उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार छेदन, भेदन आदिके द्वारा उनका शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता है, क्योंकि उनको आयु घटती नहीं।

विशेषार्थ—नारक जीव स्वभावसे क्रूर स्वभाववाले होते हैं। एक-दूसरेको देखते ही उनका क्रोध भभक उठता है और वे एक-दूसरेको मारने काटने लगते हैं। उनका शरीर वैक्रियिक होता है इसलिए उससे वे नाना प्रकारके आयुध आदिका आकार धारण कर उनसे दूसरे नारकियोंको पोड़ा पहुँचाते हैं। तीसरे नरक तक देवोंका भी गमन होता है, इसलिए ये भी कुतूहल वश उन्हें आपसमें भिड़ा देते हैं और उनका घात-प्रत्याघात देखकर मजा लूटते हैं। पर यह काम सब देव नहीं करते किन्तु अम्बावरीष आदि जातिके कुछ ही असुर कुमार देव करते हैं। इतना सब होते हुए भी उन नारकियोंका अकाल मरण नहीं होता इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए।

§ ३७६. यदि ऐसा है तो यह कहिए कि उन नारकियोंकी कितनी आयु है? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर है॥ ६॥

§ ३७७. इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। जिससे उन नरकोंमें भूमिके क्रमसे एक सागर आदि स्थितियोंका क्रमसे सम्बन्ध हो जाता है। रत्नप्रभामें एक सागर उत्कृष्ट स्थिति है। शर्कराप्रभामें तीन सागर उत्कृष्ट स्थिति है। वालुकाप्रभामें सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है। पंकप्रभामें दस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। धूमप्रभामें सत्रह सागर उत्कृष्ट स्थिति है। तमःप्रभामें

---

१. –युषत्वात् आ० दि० १, दि० २।

द्वाविंशतिसागरोपमा। महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा इति। परा उत्कृष्टेत्यर्थः। 'सत्त्वानाम्' इति वचनं भूमिनिवृत्त्यर्थम्। भूमिषु सत्त्वानामियं स्थितिः, न भूमीनामिति।

§ ३७८. उक्तः सप्तभूमिविस्तीर्णोऽधोलोकः। इदानीं तिर्यग्लोको वक्तव्यः। कथं पुनस्तिर्यग्लोकः। यतोऽसंख्येयाः स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्ततस्तिर्यग्लोक इति। के[1] पुनस्तिर्यग्व्यवस्थिता इत्यत आह—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

§ ३७९. जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः। लवणोदादयः समुद्राः। यानि लोके शुभानि नामानि तन्नामानस्ते। तद्यथा—जम्बूद्वीपो द्वीपः। लवणोदः समुद्रः। धातकीखण्डो द्वीपः। कालोदः समुद्रः। पुष्करवरो द्वीपः। पुष्करवरः समुद्रः। वारुणीवरो द्वीपः। वारुणीवरः समुद्रः। क्षीरवरो द्वीपः। क्षीरवरः समुद्रः। घृतवरो द्वीपः। घृतवरः समुद्रः। इक्षुवरो द्वीपः। इक्षुवरः समुद्रः। नन्दीश्वरवरो द्वीपः। नन्दीश्वरवरः समुद्रः। अरुणवरो द्वीपः। अरुणवरः समुद्रः। इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयंभूरमणपर्यन्ता वेदितव्याः।

§ ३८०. अमीषां विष्कम्भसंनिवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

§ ३८१. द्विर्द्विरिति [2]वीप्साभ्यावृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम्। आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भः तद्द्विगुणविष्कम्भो लवणजलधिः। तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीपः। तद्द्विगुण-

बाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है और महातमःप्रभामें तैंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। 'परा' शब्दका अर्थ 'उत्कृष्ट' है। और 'सत्त्वानाम्' पद भूमियोंके निराकरण करनेके लिए दिया है। अभिप्राय यह है कि भूमियोंमें जीवोंकी यह स्थिति है भूमियोंकी नहीं।

§ ३७८. सात भूमियोंमें बँटे हुए अधोलोकका वर्णन किया। अब तिर्यग्लोकका कथन करना चाहिए। **शंका**—तिर्यग्लोक यह संज्ञा क्यों है? **समाधान**—चूँकि स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र तिर्यक् प्रचयविशेषरूपसे अवस्थित हैं इसलिए तिर्यग्लोक संज्ञा है। वे तिर्यक् रूपसे अवस्थित क्या हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥७॥

§ ३७९. जम्बूद्वीप आदिक द्वीप हैं और लवणोद आदिक समुद्र हैं। तात्पर्य यह है कि लोकमें जितने शुभ नाम हैं उन नामवाले वे द्वीप समुद्र हैं। यथा-जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोद समुद्र, घातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणोवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीश्वरवर द्वीप, नन्दीश्वरवर समुद्र, अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्र, इस प्रकार स्वयंभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र जानने चाहिए।

§ ३८०. अब इन द्वीप-समुद्रोंके विस्तार, रचना और आकारविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने व्यासवाले, पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्रको वेष्टित करनेवाले और चूड़ीके आकारवाले हैं ॥ ८ ॥

§ ३८१. द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है इस बातको दिखलानेके लिए सूत्रमें 'द्विर्द्विः' इस प्रकार वीप्सा अर्थमें अभ्यावृत्ति वचन है। प्रथम द्वीपका जो विस्तार है लवणसमुद्रका विस्तार

१. के पुनस्ते तिर्य–आ०, दि० १। २. वीप्सायां वृत्तिवचनं आ०, दि० १, दि० २, मु०।

विष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति। द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भाः। पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनं ग्रामनगरादिवद्विनिवेशो मा विज्ञायीति। वलयाकृतिवचनं चतुरस्रादिसंस्थानान्तरनिवृत्त्यर्थम्।

§ ३८२. अत्राह, जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वक्तव्यास्तन्मूलत्वादितरविष्कम्भादिविज्ञानस्येत्युच्यते—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

§ ३८३. तेषां मध्ये तन्मध्ये। केषाम्। पूर्वोक्तानां[1] द्वीपसमुद्राणाम्। नाभिरिव नाभिः[2]। मेरुर्नाभिर्यस्य स मेरुनाभिः। वृत्त आदित्यमण्डलोपमानः। शतानां सहस्रं शतसहस्रम्। योजनानां शतसहस्रं, योजनशतसहस्रम्। योजनशतसहस्रं विष्कम्भो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कम्भः। कोऽसौ। जम्बूद्वीपः। कथं जम्बूद्वीपः। जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वात्। उत्तरकुरूणां मध्ये जम्बूवृक्षोऽनादिनिधनः पृथिवीपरिणामो[3]ऽकृत्रिमः सपरिवारस्तदुपलक्षितोऽयं द्वीपः।

उससे दूना है। तथा दूसरे द्वीपका विस्तार इससे दूना है और दूसरे समुद्रका इससे दूना है। इस प्रकार उत्तरोत्तर दूना-दूना विस्तार है। तात्पर्य यह है कि इन द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है इसलिए सूत्रमें उन्हें दूने-दूने विस्तारवाला कहा है। ग्राम और नगरादिकके समान इन द्वीप-समुद्रोंकी रचना न समझी जाये इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' यह वचन दिया है। अर्थात् वे द्वीप और समुद्र उत्तरोत्तर एक दूसरेको घेरे हुए हैं। सूत्रमें जो 'वलयाकृतयः' वचन दिया है वह चौकोर आदि आकारोंके निराकरण करनेके लिए दिया है।

§ ३८२. अब पहले जम्बू द्वीपका आकार और विस्तार कहना चाहिए, क्योंकि दूसरे द्वीप समुद्रोंका विस्तार आदि तन्मूलक है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन सबके बीचमें गोल और एक लाख योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है ॥ ९ ॥

§ ३८३. 'तन्मध्ये' पदका अर्थ है 'उनके बीचमें'। **शंका**—किनके बीचमें? **समाधान**—पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके बीचमें। नाभिस्थानीय होनेसे नाभि कहा है। जिसका अर्थ मध्य है। अभिप्राय यह है कि जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है, जो सूर्यके मण्डलके समान गोल है और जिसका एक लाख योजन विस्तार है ऐसा यह जम्बूद्वीप है। **शंका**—इसे जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं? **समाधान**—जम्बूवृक्षसे उपलक्षित होनेके कारण इसे जम्बूद्वीप कहते हैं। उत्तरकुरुमें अनादिनिधन, पृथिवी से बना हुआ, अकृत्रिम और परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है जिसके कारण यह जम्बूद्वीप कहलाता है।

विशेषार्थ—अधोलोकका विवेचन कर आये हैं इसके बाद मध्यलोक है। यह रत्नप्रभा पृथिवीके ऊपरी भागपर अवस्थित है। इसमें गोल आकारको लिये हुए और एकके बाद एकको घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। इन सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। इसके बीचमें और दूसरा द्वीप समुद्र नहीं है। यद्यपि गोल तो सब द्वीप और समुद्र हैं पर वे सब चूड़ीके समान गोल हैं और यह थालीके समान गोल है। इसका व्यास एक लाख योजन है। इसके ठीक बीचमें मेरु पर्वत है। यह एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। इसमें-से एक हजार योजन जमीनमें है। चालीस योजनकी आखीरमें चोटी है और शेष निन्यानबे हजार योजनका समतलसे चूलिका तक है। प्रारम्भमें जमीनपर मेरु पर्वतका व्यास दस हजार योजन है। ऊपर क्रमसे घटता गया है। जिस हिसाबसे ऊपर घटा है उसी हिसाबसे जमीनमें उसका व्यास बढ़ा है। मेरु पर्वतके तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड जमीनसे पाँच सौ योजनका, दूसरा साढ़े बासठ हजार योजनका और तीसरा छत्तीस हजार

---

१. पूर्वोक्तद्वीप—आ०, दि० १, दि० २, मु०। २. नाभिर्मध्यम। मेरु-आ०, दि० १, दि० २, मु०।
३. परिमाणोऽकृ-मु०।

§ ३८४. तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि कानि तानीत्यत आह—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि[1] ॥१०॥

§ ३८५. भरतादयः संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्ताः। तत्र भरतवर्षः क्व संनिविष्टः। दक्षिणदिग्भागे हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां[2] समुद्राणां मध्ये आरोपितचापाकारो भरतवर्षः। विजयार्द्धेन गङ्गासिन्धुभ्यां च विभक्तः[3] स षट्खण्डः। क्षुद्रहिमवन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षः। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः। निषधस्योत्तरान्नीलतो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे विदेहस्य संनिवेशो द्रष्टव्यः। नीलत[4] उत्तरात्[5](द्) रुक्मिणो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये रम्यकवर्षः। रुक्मिण उत्तराच्छिखरिणो दक्षिणात्पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये संनिवेशी[6] हैरण्यवतवर्षः। शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणां समुद्राणां मध्ये ऐरावतवर्षः। विजयार्द्धेन रक्तारक्तोदाभ्यां च विभक्तः[7] स षट्खण्डः।

§ ३८६. षट् कुलपर्वता इत्युक्तं के पुनस्ते कथं वा व्यवस्थिता इत्यत आह—

योजनका है। प्रत्येक काण्डके अन्तमें एक-एक कटनी है। जिसका एक ओरका व्यास पाँचसौ योजन है। अन्तिम कटनीका व्यास मात्र छह योजन कम है। एक जमीनपर और तीन इन तीन कटनियोंपर इस प्रकार यह चार वनोंसे सुशोभित है। इनके क्रमसे भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये नाम हैं। पहली और दूसरी कटनीके बाद मेरु पर्वत सीधा गया है फिर क्रमसे घटने लगता है। इसके चारों वनोंमें चारों दिशाओंमें एक-एक वनमें चार-चार इस हिसाबसे सोलह चैत्यालय हैं। पाण्डुक वनमें चारों दिशाओंमें चार पाण्डुक शिलाएँ हैं। जिनपर उस-उस दिशाके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए तीर्थंकरोंका अभिषेक होता है। इसका रंग पीला है।

§ ३८४. इस जम्बूद्वीप में छह कुलपर्वतोंसे विभाजित होकर जो सात क्षेत्र हैं वे कौन-से हैं? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

§ ३८५. क्षेत्रोंकी भरत आदि संज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और अनिमित्तक हैं। इनमें-से भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है? हिमवान् पर्वतके दक्षिणमें और तीन समुद्रोंके बीचमें चढ़े हुए धनुषके आकारवाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्ध और गंगा सिन्धुसे विभाजित होकर छह खण्डोंमें बँटा हुआ है। क्षुद्र हिमवान्के उत्तरमें और महाहिमवान्के दक्षिणमें तथा पूर्व पश्चिम समुद्रके बीचमें हैमवत क्षेत्र है। निषधके दक्षिणमें और महाहिमवान्के उत्तरमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरिक्षेत्र है। निषधके उत्तरमें और नीलके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें विदेह क्षेत्रकी रचना है। नीलके उत्तरमें और रुक्मीके दक्षिणमें तथा पूर्व पश्चिम समुद्रके बीचमें रम्यक क्षेत्र है। रुक्मीके उत्तरमें और शिखरीके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हैरण्यवत क्षेत्र है। शिखरीके उत्तरमें और तीन समुद्रोंके बीचमें ऐरावत क्षेत्र है। जो विजयार्ध और रक्ता रक्तोदासे विभाजित होकर छह खण्डोंमें बँटा हुआ है।

§ ३८६. कुलपर्वत छह हैं यह पहले कह आये हैं परन्तु वे कौन हैं और कहाँ स्थित हैं यह बतलाना शेष है अतः आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. क्षेत्राणि ॥१०॥ भिन्न-भिन्नानि भरता–। आ०। २. –याणां च समु–मु०। ३. विभक्तः षट्-मु०। ४. नीलवत उत्त-आ०, दि० १, दि० २। ५. उत्तरः रुक्मिणो दक्षिणः मु०। ६. संनिवेशो हैर-मु०। ७. -विभक्तः षट्- मु०।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

§ ३८७. तानि क्षेत्राणि विभजन्त इत्येवंशीलास्तद्विभाजिनः। पूर्वापरायता इति पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थः। हिमवदादयोऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तसंज्ञा वर्षविभागहेतुत्वाद्वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते। तत्र क्व हिमवान्। भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि[1] व्यवस्थितः। क्षुद्रहिमवान् योजनशतोच्छ्रायः। हैमवतस्य हरिवर्षस्य[2] च विभागकरो महाहिमवान् द्वियोजनशतोच्छ्रायः[3]। विदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्योत्तरतो निषधो नाम पर्वतश्चतुर्योजनशतोच्छ्रायः। उत्तरे त्रयोऽपि पर्वताः स्ववर्षविभाजिनो व्याख्याताः। उच्छ्रायश्च तेषां चत्वारि द्वे एकं च योजनशतं वेदितव्यम्[4]। सर्वेषां पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्भागोऽवगाहः।

§ ३८८. तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

§ ३८९. त एते हिमवदादयः पर्वता हेमादिमया वेदितव्या यथाक्रमम्। हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्णः। अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्लवर्णः। तपनीयमयो निषधस्तरुणादित्यवर्णः। वैडूर्यमयो नीलो मयूरग्रीवाभः। रजतमयो रुक्मी शुक्लः। हेममयः शिखरी चीनपट्टवर्णः।

उन क्षेत्रोंको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरिण ये छह वर्षधर पर्वत हैं॥ ११॥

§ ३८७. इन पर्वतोंका स्वभाव उन क्षेत्रोंका विभाग करना है इसलिए इन्हें उनका विभाग करनेवाला कहा है। ये पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं। इसका यह भाव है कि इन्होंने अपने पूर्व और पश्चिम सिरेसे लवण समुद्रको स्पर्श किया है। ये हिमवान् आदि संज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और बिना निमित्तको हैं। इन पर्वतोंके कारण क्षेत्रोंका विभाग होता है इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं। हिमवान् पर्वत कहाँ है अब इसे बतलाते हैं–भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर हिमवान् पर्वत स्थित है। इसे क्षुद्र हिमवान् भी कहते हैं। यह सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला महाहिमवान् है। यह दो सौ योजन ऊँचा है। विदेहके दक्षिणमें और हरिवर्षके उत्तरमें निषध पर्वत है। यह चार सौ योजन ऊँचा है। इसी प्रकार आगेके तीन पर्वत भी अपने-अपने क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले जानने चाहिए। उनकी ऊँचाई क्रमशः चार सौ, दो सौ और सौ योजन जाननी चाहिए। इन सब पर्वतोंकी जड़ अपनी ऊँचाईका एक बटे चार भाग है।

§ ३८८. अब इन पर्वतोंके वर्णविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ये छहों पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं॥ १२॥

§ ३८९. वे पर्वत क्रमसे हेम आदि वर्णवाले जानने चाहिए। हिमवान् पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है। महाहिमवान्‌का रंग अर्जुनमय अर्थात् सफेद है। निषध पर्वतका रंग तपाये गये सोनेके समान अर्थात् उगते हुए सूर्यके रंगके समान है। नील पर्वतका रंग वैडूर्यमय अर्थात् मोरके गलेकी आभावाला है। रुक्मी पर्वतका रंग रजतमय अर्थात् सफेद है और शिखरी पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है।

---

१. सीमन्यव-आ०, दि० १, दि० २ । २. हरिवंशस्य च विभा-आ०, दि० १, दि० २ । ३. -च्छ्रायः। महाविदेहस्य आ०, दि० १, दि० २ । ४. -तव्यम्। पर्वता-मु०।

§ ३९०. पुनरपि [1]तद्विशेषणार्थमाह—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

§ ३९१. नानावर्णप्रभादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते मणिविचित्रपार्श्वाः। अनिष्ट[2]संस्थानस्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं क्रियते। 'च'शब्दो मध्यसमुच्चयार्थः। य एषां मूले विस्तारः स उपरि मध्ये च तुल्यः।

§ ३९२. तेषां मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

§ ३९३. पद्मो महापद्मस्तिगिञ्छः केसरो महापुण्डरीकः पुण्डरीक इति तेषां हिमवदादीनामुपरि यथाक्रममेते ह्रदा वेदितव्याः।

§ ३९४. तत्राद्यस्य संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

§ ३९५. प्राक्प्रत्यग् योजनसहस्रायाम उदगवाक् पञ्चयोजनशतविस्तारो वज्रमयतलो विविधमणिकनकविचित्रिततटः पद्मनामा ह्रदः।

§ ३९६. तस्यावगाहप्रक्लृप्त्यर्थमिदमुच्यते—

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

---

§ ३९०. इन पर्वतोंकी और विशेषताका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इनके पार्श्व मणियोंसे चित्र-विचित्र हैं तथा वे ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तार-वाले हैं ॥ १३ ॥

§ ३९१. इन पर्वतोंके पार्श्व भाग नाना रंग और नाना प्रकारकी प्रभा आदि गुणोंसे युक्त मणियोंसे विचित्र हैं इसलिए सूत्रमें इन्हें मणियोंसे विचित्र पार्श्ववाले कहा है। अनिष्ट आकारके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'उपरि' आदि पद रखे हैं। 'च' शब्द समुच्चयवाची है। तात्पर्य यह है कि इनका मूलमें जो विस्तार है वही ऊपर और मध्यमें है।

§ ३९२. इन पर्वतोंके मध्यमें जो तालाब हैं उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाब हैं ॥ १४ ॥

§ ३९३. पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाब हैं जो उन हिमवान् आदि पर्वतोंपर क्रमसे जानना चाहिए।

§ ३९४. इनमेंसे पहले तालाबके आकार-विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा और इससे आधा चौड़ा है ॥ १५ ॥

§ ३९५. पद्म नामक तालाब पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है और पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तलभाग वज्रसे बना हुआ है। तथा इसका तट भाग नाना प्रकारके मणि और सोनेसे चित्रविचित्र है।

§ ३९६. अब इसकी गहराई दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दस योजन गहरा है ॥ १६ ॥

---

१. तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह मु०। २. –ष्टस्य संस्था-मु०।

§ ३९७. अवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता। दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाहः।

§ ३९८. [1]तन्मध्ये किम्—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

§ ३९९. योजनप्रमाणं योजनम्, क्रोशायामपत्रत्वात्क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भम्। जलतलात्क्रोशद्वयोच्छ्रायनालं तावद्बहुलपत्रप्रचयं पुष्करमवगन्तव्यम्।

§ ४००. इतरेषां ह्रदानां पुष्कराणां चायामादिनिर्ज्ञानार्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

§ ४०१. स च तच्च ते, तयोर्द्विगुणा[2] द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्ति[3]ज्ञापनार्थम्। केन द्विगुणाः। आयामादिना। पद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मो[4] ह्रदः। तस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छो[5] ह्रदः। पुष्कराणि च। किम्। द्विगुणानि द्विगुणानीत्यभिसंबध्यते।

§ ४०२. तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

---

§ ३९७. अवगाह, अधःप्रवेश और निम्नता ये एकार्थवाची नाम हैं। पद्म तालाबकी गहराई दस योजन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ ३९८. इसके बीचमें क्या है?

इसके बीचमें एक योजनका कमल है ॥ १७ ॥

§ ३९९. सूत्रमें जो 'योजनम्' पद दिया है उसमें एक योजन प्रमाण लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कमलका पत्ता एक कोस लम्बा है और उसकी कर्णिकाका विस्तार दो कोसका है इसलिए कमल एक योजन लम्बा और एक योजन विस्तारवाला है। इस कमलकी नाल जलतलसे दो कोस ऊपर उठी है और इसके पत्तोंकी उतनी ही मोटाई है। इस प्रकार यह कमल जानना चाहिए।

§ ४००. अब दूसरे तालाब और कमलोंकी लम्बाई आदिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं ॥ १८ ॥

§ ४०१. सूत्रमें जो 'तत्' पद आया है उससे तालाब और कमल दोनोंका ग्रहण किया है। आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं इस व्याप्तिका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' कहा है। **शंका**—ये तालाब और कमल किसकी अपेक्षा दूने हैं? **समाधान**—लम्बाई आदिकी अपेक्षा। पद्म तालाबकी जो लम्बाई, विस्तार और गहराई है महापद्म तालाबकी लम्बाई, विस्तार और गहराई इससे दूनी है। इसमे तिगिंछ तालाबकी लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है। **शंका**—कमल क्या हैं? **समाधान**—वे भी लम्बाई आदिकी अपेक्षा दूने-दूने हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए।

§ ४०२. इनमें निवास करनेवाली देवियोंके नाम, आयु और परिवारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इनमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ सामानिक और परिषद् देवोंके साथ निवास करती हैं। तथा इनकी आयु एक पल्यकी है ॥ १९ ॥

---

१. -गाहः। तन्मध्ये योजनं आ०, दि० १, दि० २। २. –तयोर्द्विगुणास्तद्विगुणास्त-मु०। ३. –ज्ञानार्थम् मु०। ४. –पद्महृदः मु०। ५. –गिञ्छह्रदः मु०।

§ ४०३. तेषु पुष्करेषु कर्णिकामध्यदेशनिवेशिनः शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामाः क्रोशार्द्धविष्कम्भा देशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः। तेषु निवसन्तीत्येवंशीलास्तन्निवासिन्यः, देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मीसंज्ञिकास्तेषु पद्मादिषु यथाक्रमं वेदितव्याः। 'पल्योपमस्थितयः' इत्यनेनायुषः प्रमाणमुक्तम्। समाने स्थाने भवाः सामानिकाः। सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः। सह सामानिकपरिषद्भिर्वर्तन्त इति ससामानिकपरिषत्काः। तस्य पद्मस्य परिवारपद्मेषु प्रासादानामुपरि सामानिकाः परिषदश्च वसन्ति।

§ ४०४. यकाभिः सरिद्भिस्तानि क्षेत्राणि प्रविभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता-
सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

§ ४०५. सरितो न वाप्यः। ताः किमन्तरा उत समीपाः। इत्यत आह तन्मध्यगाः। तेषां क्षेत्राणां मध्यं, तन्मध्यम्। तन्मध्यं तन्मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगाः। एकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

§ ४०६. द्वयोर्द्वयोः सरितोरेकैकं क्षेत्रं विषय इति वाक्यशेषाभिसंबन्धादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्तिः कृता। 'पूर्वाः पूर्वगाः' इति वचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। तत्र पूर्वा याः सरितस्ताः पूर्वगाः। [2]पूर्वंजलधिं गच्छन्तीति पूर्वगाः। किमपेक्षं पूर्वत्वम्। सूत्रनिर्देशापेक्षम्। यद्येवं गङ्गा-

---

§ ४०३. इन कमलोंकी कर्णिकाके मध्यमें शरत्कालीन निर्मल पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको हरनेवाले एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे महल हैं। उनमें निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामवाली देवियाँ क्रमसे पद्म आदि छह कमलोंमें जानना चाहिए। 'उनकी स्थिति एक पल्यकी है' इस पदके द्वारा उनकी आयुका प्रमाण कहा है। समान स्थानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। सामानिक और परिषत्क ये देव हैं। वे देवियाँ इनके साथ रहती हैं। तात्पर्य यह है कि मुख्य कमलके जो परिवार कमल हैं उनके महलोंमें सामानिक और परिषद् जातिके देव रहते हैं।

§ ४०४. जिन नदियोंसे क्षेत्रोंका विभाग हुआ है अब उन नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बही हैं ॥ २० ॥

§ ४०५. ये नदियाँ हैं तालाब नहीं। वे नदियाँ अन्तरालसे हैं या पास-पास इस बातका खुलासा करनेके लिए सूत्रमें 'तन्मध्यगाः' पद दिया है। इसका यह भाव है कि उन क्षेत्रोंमें या उन क्षेत्रोंमें-से होकर वे नदियाँ बही हैं। एक स्थानमें सबका प्रसंग प्राप्त होता है अतः इसका निराकरण करके दिशा विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो-दो नदियोंमें-से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रको जाती है ॥ २१ ॥

§ ४०६. इस सूत्रमें -दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमें हैं' इस प्रकार वाक्यविशेषका सम्बन्ध कर लेनेसे एक क्षेत्रमें सब नदियोंके प्रसंग होनेका निराकरण हो जाता है। 'पूर्वाः पूर्वगाः' यह वचन दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए दिया है। इन नदियोंमें जो प्रथम नदियाँ हैं वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं। सूत्रमें जो 'पूर्वगाः' पद है उसका अर्थ 'पूर्व समुद्रको जाती हैं' यह है।

---

१. मध्यं तन्मध्यं तन्मध्येन मु०। मध्यं तन्मध्येन आ०, दि० १, दि० २। २. –पूर्वं जलधिं मु०।

सिन्ध्वादयः सप्त पूर्वंगा इति प्राप्तम्। नैष दोषः; द्वयोर्द्वयोरित्यभिसंबन्धात्। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वंगा इति वेदितव्याः।

§ ४०७. इतरासां दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

§ ४०८. द्वयोर्द्वयोर्या अवशिष्टास्ता अपरगाः प्रत्येतव्याः। अपरसमुद्रं गच्छन्तीत्यपरगाः। तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा। अपरतोरणद्वारनिर्गता सिन्धुः। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या। महापद्महृदप्रभवा [1]अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित्। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकान्ता। तिगिञ्छहृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता हरित्। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता सीतोदा। केसरिहृदप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सीता। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता। महापुण्डरीकहृदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नारी। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रूप्यकूला। पुण्डरीकहृदप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला। पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता। [2]प्रतीच्यतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा।

§ ४०९. तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृत्ता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

§ ४१०. किमर्थं 'गङ्गासिन्ध्वादि' ग्रहणं क्रियते। नदीग्रहणार्थम्। प्रकृतास्ता अभिसंब-

---

शंका—पूर्वत्व किस अपेक्षासे है ? समाधान—सूत्रमें किये गये निर्देशकी अपेक्षा। शंका—यदि ऐसा है तो गंगा, सिन्धु आदि सात नदियाँ पूर्व समुद्रको जानेवाली प्राप्त होती हैं ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि 'द्वयोः द्वयोः' इन पदोंका सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि दो-दो नदियोंमें-से प्रथम-प्रथम नदी बहकर पूर्व समुद्रमें मिली है।

§ ४०७. अब इतर नदियोंके दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

किन्तु शेष नदियाँ पश्चिम समुद्रको जाती हैं ॥ २२ ॥

§ ४०८. दो-दो नदियोंमें जो शेष नदियाँ हैं वे बहकर पश्चिम समुद्रमें मिली हैं। 'अपरगाः' पदका अर्थ अपर समुद्रको जाती हैं यह है। उनमें-से पद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और पूर्व तोरण द्वारसे निकली हुई गंगा नदी है। पश्चिम तोरण द्वारसे निकली हुई सिन्धु नदी है तथा उत्तर तोरण द्वारसे निकली हुई रोहितास्या नदी है। महापद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई रोहित नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई हरिकान्ता नदी है। तिगिञ्छ तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई हरित नदी है और उत्तर तोरण द्वारसे निकली हुई सीतोदा नदी है। केसरी तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सीता नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई नरकान्ता नदी है। महापुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई नारी नदी है। तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई रूप्यकूला नदी है। पुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सुवर्णकूला नदी है। पूर्व तोरणद्वारसे निकली हुई रक्ता नदी है और पश्चिम तोरणद्वारसे निकली हुई रक्तोदा नदी है।

§ ४०९. अब इनकी परिवार-नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गंगा और सिन्धु आदि नदियोंको चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं ॥ २३ ॥

§ ४१०. शंका—'गंगा सिन्धु आदि' पदका ग्रहण किसलिए किया है ? समाधान—नदियों-

---

१. अपाच्यतोरण-आ० २, दि० १, दि० २, ता०, ना०। २. अपरतोरण-मु०।

ध्यन्ते । नैवं शङ्क्यम्; [1]अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इति अपरगाणामेव ग्रहणं स्यात् । गङ्गादिग्रहणमेवास्तीति चेत् । पूर्वगाणामेव ग्रहणं स्यात् । अत उभयीनां ग्रहणार्थं 'गङ्गासिन्ध्वादि' ग्रहणं क्रियते । 'नदी'ग्रहणं द्विगुणा द्विगुणा इत्यभिसंबन्धार्थम् । गङ्गा चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता । सिन्धुरपि । एवमुत्तरा अपि नद्यः प्रतिक्षेत्रं तद्द्विगुणद्विगुणा[2] भवन्ति; आ विदेहान्तात् । तत उत्तरा अर्द्धार्द्धहीनाः ।

§ ४११. उक्तानां क्षेत्राणां विष्कम्भप्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

§ ४१२. षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः । षड्विंशतिरधिका[3] येषु तानि षड्विंशानि । षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारो यस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतः । किमेतावानेव । न; इत्याह षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य विस्तारोऽस्येत्यभिसंबध्यते ।

§ ४१३. इतरेषां विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

§ ४१४. [4]ततो भरताद् द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां त इमे तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः । के ते वर्षधरवर्षाः । किं सर्वे । न; इत्याह विदेहान्ता इति ।

का ग्रहण करनेके लिए। **शंका**—उनका तो प्रकरण है ही, अतः 'गंगासिन्ध्वादि' पदके बिना ग्रहण किये ही उनका सम्बन्ध हो जाता है? **समाधान**—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'अनन्तरका विधान होता है या प्रतिषेध' इस नियमके अनुसार पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता जो कि इष्ट नहीं अतः सूत्रमें 'गंगासिन्ध्वादि' पद दिया है। **शंका**—तो सूत्रमें 'गंगादि' इतने पदका ही ग्रहण रहे ? **समाधान**—यदि 'गंगादि' इतना पदका ही ग्रहण किया जाये तो पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होवे जो भी इष्ट नहीं। अतः दोनों प्रकारकी नदियोंका ग्रहण करनेके लिए 'गंगासिन्ध्वादि' पदका ग्रहण किया है। यद्यपि 'गंगासिन्ध्वादि' इतने पदके ग्रहण करनेसे ही यह बोध हो जाता है कि ये नदियाँ हैं फिर भी सूत्रमें जो 'नदी' पदका ग्रहण किया है वह 'द्विगुणा द्विगुणाः' इसके सम्बन्धके लिए किया है। गंगाकी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इसी प्रकार सिन्धुकी भी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इस प्रकार आगेकी परिवार नदियाँ विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी-दूनी होती गयी हैं। और इससे आगेकी परिवार नदियाँ आधी-आधी होती गयी हैं।

§ ४११. अब उक्त क्षेत्रोंके विस्तारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन है ॥ २४ ॥

§ ४१२. यहाँ टीकामें 'पहले 'षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः' पदका समास किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि भरतवर्ष पाँच सौ छब्बीस योजनप्रमाण विस्तार है ? **शंका**—क्या इसका इतना ही विस्तार है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इसका एक योजनका छह बटे उन्नीस योजन विस्तार और जोड़ लेना चाहिए।

§ ४१३. अब इतर क्षेत्रोंके विस्तार विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार भरत क्षेत्रके विस्तारसे दूना-दूना है ॥ २५ ॥

§ ४१४. जिनका भरतसे दूना-दूना विस्तार है वे भरतसे दूने-दूने विस्तारवाले कहे गये हैं। यहाँ 'तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः' में बहुव्रीहि समास है। **शंका**—वे दूने-दूने विस्तारवाले क्या हैं ? **समाधान**—पर्वत और क्षेत्र। **शंका**—क्या सबका दूना-दूना विस्तार है ? **समाधान**—नहीं, किन्तु

---

१. पा० म० भा०, पृ० ३३५ । २. –क्षेत्रं द्विगुणा द्विगुणा मु० । ३. –रधिकानि येषु मु० । ४. ततो द्विगुणो ता०, ना० ।

§ ४१५. अथोत्तरेषां कथमित्यत आह—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

§ ४१६. उत्तरा ऐरावतादयो नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणैस्तुल्या द्रष्टव्याः। अतीतस्य सर्वस्यायं विशेषो वेदितव्यः। तेन ह्रदपुष्करादीनां तुल्यता योज्या।

§ ४१७. अत्राह, उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं तुल्योऽनुभवादिः[१], आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

§ ४१८. वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। काभ्याम्। षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्। कयोः। भरतैरावतयोः। न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्तः; असंभवात्। तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ भवतः। अथवाधिकरणनिर्देशः। भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति। किंकृतौ वृद्धिह्रासौ। अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ। अनुभव उपभोगः, आयुर्जीवितपरिमाणम्[३], प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्येवमादिभिर्वृद्धिह्रासौ मनुष्याणां भवतः[४]। किंहेतुकौ पुनस्तौ। कालहेतुकौ। स च कालो द्विविधः-उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति। तद्भेदाः प्रत्येकं षट्। अन्वर्थसंज्ञे चैते। अनुभवादि-

---

विदेह तक दूना-दूना विस्तार है।

§ ४१५. आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार किस प्रकार है अब इस बात के बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तरके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार दक्षिणके क्षेत्र और पर्वतोंके समान है ॥ २६ ॥

§ ४१६. 'उत्तर' इस पदसे ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नील पर्यन्त क्षेत्र और पर्वत लिये गये हैं। इनका विस्तार दक्षिण दिशावर्ती भरतादिके समान जानना चाहिए। पहले जितना भी कथन कर आये हैं उन सबमें यह विशेषता जाननी चाहिए। इससे तालाब और कमल आदिकी समानता लगा लेनी चाहिए।

§ ४१७. यहाँपर शंकाकार कहता है कि इन पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्रोंमें मनुष्योंका अनुभव आदि क्या समान हैं या कुछ विशेषता है। इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है ॥ २७ ॥

§ ४१८. वृद्धि और ह्रास इन दोनों पदोंमें कर्मधारय समास है। **शंका**—किनकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता है? **समाधान**—छह समयोंकी अपेक्षा। **शंका**—किनका छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता है? **समाधान**—भरत और ऐरावत क्षेत्रका। इसका यह मतलब नहीं कि उन क्षेत्रोंका वृद्धि और ह्रास होता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। किन्तु उन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है। अथवा, 'भरतैरावतयोः' षष्ठी विभक्ति न होकर अधिकरणमें यह निर्देश किया है जिससे इस प्रकार अर्थ होता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रमें मनुष्योंकी वृद्धि और ह्रास होता है। **शंका**—यह वृद्धि और ह्रास किंनिमित्तक होता है? **समाधान**—अनुभव, आयु और प्रमाण आदि निमित्तक होता है। अनुभव, उपभोगको कहते हैं, जीवित रहनेके परिमाणको आयु कहते हैं। और शरीरकी ऊँचाईको प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार इन पूर्वोक्त कारणोंसे और अन्य कारणोंसे मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है। **शंका**—ये वृद्धि-ह्रास किस निमित्तसे होते हैं? **समाधान**—ये कालके निमित्त से होते हैं। वह काल दो प्रकारका है–उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। और इनमें-से प्रत्येकके छह

---

१. –तुल्योऽनुभवः आहो-ता०, ना०। २. –याभ्याम्। कयोः मु०। ३. –परिमाणम्, शरी -मु०। ४. भवतः तयोः। किंहेतु–ता०, ना०।

भिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी। तैरेवावसर्पणशीला अवसर्पिणी। तत्रावसर्पिणी षड्विधा—सुषमसुषमा सुषमा सुषमदुष्षमा दुष्षमसुषमा दुष्षमा अतिदुष्षमा चेति। उत्सर्पिण्यपि अतिदुष्षमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति। अवसर्पिण्याः परिमाणं दशसागरोपमकोटीकोटयः। उत्सर्पिण्या अपि तावत्य एव। सोभयी कल्प इत्याख्यायते। तत्र सुषमसुषमा चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः। तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमदुष्षमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ। तदादौ मनुष्या हैमवतकमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। ततः क्रमेण हानौ सत्यामतिदुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या।

§ ४१९. अथेतरासु भूमिषु कावस्थेत्यत आह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

§ ४२०. ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता भवन्ति। न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्तः।

§ ४२१. किं तासु भूमिषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

भेद हैं। ये दोनों काल सार्थक नामवाले हैं। जिसमें अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। और जिसमें इनका ह्रास होता है वह अवसर्पिणी काल है। अवसर्पिणीके छह भेद हैं–सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुष्षमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकारकी है। अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर है और उत्सर्पिणी भी इतना ही है। ये दोनों मिलकर एक कल्पकाल कहे जाते हैं। इनमें-से सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य उत्तरकुरुके मनुष्योंके समान होते हैं। फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमदुष्षमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुष्षमसुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका दुष्षमा काल प्राप्त होता है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुष्षमा काल प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी इससे विपरीत क्रमसे जाननी चाहिए।

§ ४१९. इतर भूमियोंमें क्या अवस्था है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत और ऐरावतके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं ॥ २८ ॥

§ ४२०. सूत्रमें 'ताभ्याम्' पदसे भरत और ऐरावत क्षेत्रका ग्रहण किया है। इन दोनों क्षेत्रोंसे शेष भूमियाँ अवस्थित हैं। उन क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नहीं हैं।

§ ४२१. इन भूमियोंमें मनुष्य क्या तुल्य आयुवाले होते हैं या कुछ विशेषता है। इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुके प्राणियोंकी स्थिति क्रमसे एक, दो और तीन पल्य प्रमाण है ॥ २९ ॥

§ ४२२. हैमवते भवा हैमवतका इत्येवं 'वुञि' सति मनुष्यसंप्रत्ययो भवति। एवमुत्तरयोरपि। हैमवतकादयस्त्रयः। एकादयस्त्रयः। तत्र यथासंख्यमभिसंबन्धः क्रियते। एकपल्योपमस्थितयो हैमवतकाः। द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः। त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इति। तत्र पञ्चसु हैमवतेषु सुषमदुष्षमा सदावस्थिता। तत्र मनुष्या एकपल्योपमायुषो द्विधनुःसहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः। पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदावस्थिता। तत्र मनुष्या द्विपल्योपमायुषश्चापसहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहाराः शङ्खवर्णाः। पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदावस्थिता। तत्र मनुष्या स्त्रिपल्योपमायुषः षड्धनुःसहस्रोच्छ्राया अष्टमभक्ताहाराः कनकवर्णाः।

§ ४२३. अथोत्तरेषु कावस्थेत्यत आह—

तथोत्तराः ॥३०॥

§ ४२४. यथा दक्षिणा व्याख्यातास्तथैवोत्तरा वेदितव्याः। हैरण्यवतका हैमवतकैस्तुल्याः। राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्याः। दैवकुरवकैरौत्तरकुरवकाः समाख्याताः।

§ ४२५. अथ विदेहेष्ववस्थितेषु का स्थितिरित्यत्रोच्यते—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

§ ४२६. [1]सर्वेषु विदेहेषु संख्येयकाला मनुष्याः। तत्र कालः [2]सुषमदुष्षमान्तोपमः सदा-

§ ४२२. हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैमवतक कहलाते हैं। यहाँ हैमवत शब्दसे 'वुञ्' प्रत्यय करके हैमवतक शब्द बना है जिससे मनुष्योंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार आगेके हारिवर्षक और दैवकुरवक इन दो शब्दोंमें जान लेना चाहिए। हैमवतक आदि तीन हैं और एक आदि तीन हैं। यहाँ इनका क्रमसे सम्बन्ध करते हैं जिससे यह अर्थ हुआ कि हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति एक पल्यकी है। हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति दो पल्यकी है और देवकुरुक्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति तीन पल्यकी है। ढाई द्वीपमें जो पाँच हैमवत क्षेत्र हैं उनमें सदा सुषमदुष्षमा काल है। वहाँ मनुष्योंकी आयु एक पल्यकी है, शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है, उनका आहार एक दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग नील कमलके समान है। पाँच हरिवर्ष नामके क्षेत्रोंमें सदा सुषमा काल रहता है। वहाँ मनुष्योंकी आयु दो पल्यकी है, शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है, उनका आहार दो दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग शंखके समान सफेद है। पाँच देवकुरु नामके क्षेत्रमें सदा सुषमसुषमा काल है। वहाँ मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी है, शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष है। उनका भोजन तीन दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग सोनेके समान पीला है।

§ ४२३. उत्तर दिशावर्ती क्षेत्रोमें क्या अवस्था है इसके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

दक्षिणके समान उत्तरमें है ॥ ३० ॥

§ ४२४. जिस प्रकार दक्षिणके क्षेत्रोंका व्याख्यान किया उसी प्रकार उत्तरके क्षेत्रोंका जानना चाहिए। हैरण्यवत क्षेत्रोंके मनुष्योंकी सब बातें हैमवतके मनुष्योंके समान हैं, रम्यक क्षेत्रके मनुष्योंकी सब बातें हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं और देवकुरु क्षेत्रके मनुष्योंकी सब बातें उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं।

§ ४२५. पाँच विदेहोंमें क्या स्थिति है इसके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विदेहोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले प्राणी हैं ॥ ३१ ॥

§ ४२६. सब विदेहोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं। वहाँ सुषमदुःषमा कालके

१. सर्वेषु पञ्चसु महाविदे-मु०। २. कालः दुःषमसुषमादिः सदा ता०, ना०।

वस्थितः। मनुष्याश्च पञ्चधनुःशतोत्सेधाः। नित्याहाराः। उत्कर्षेणैकपूर्वकोटीस्थितिकाः। जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुषः। तस्याश्च[1] संबन्धे गाथां पठन्ति—

"पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं[2]॥"

§ ४२७. उक्तो भरतस्य विष्कम्भः। पुनः प्रकारान्तरेण तत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

§ ४२८. जम्बूद्वीपविष्कम्भस्य योजनशतसहस्रस्य नवतिशतभागीकृतस्यैको भागो भरतस्य विष्कम्भः। स पूर्वोक्त एव। उक्तं जम्बूद्वीपं परिवृत्य वेदिका स्थिता, ततः परो लवणोदः समुद्रो द्वियोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः। ततः परो धातकीखण्डो द्वीपश्चतुर्योजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः।

§ ४२९. तत्र वर्षादीनां संख्यादि[3]विधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

§ ४३०. भरतादीनां द्रव्याणामिहाभ्यावृत्तिर्विवक्षिता। तत्र कथं सुच्। अध्याह्रियमाणक्रियाभ्यावृत्तिद्योतनार्थः सुच्। यथा द्विस्तावानयं प्रासादो मीयत इति। एवं [4]द्विर्धातकीखण्डे भरतादयो मीयन्ते इति। तद्यथा—द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां लवणोदकालोदवेदिकास्पृष्टकोटिभ्यां विभक्तो धातकीखण्डः पूर्वापर इति। तत्र पूर्वस्य[5] अपरस्य च मध्ये द्वौ

अन्तके समान काल सदा अवस्थित है। मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती है, वे प्रतिदिन आहार करते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसके सम्बन्धमें एक गाथा कही जाती है—

"एक पूर्वकोटिका प्रमाण सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना चाहिए"

§ ४२७. भरतक्षेत्रका विस्तार पहले कह आये हैं। अब प्रकारान्तरसे उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका एकसौ नब्बेवाँ भाग है ॥ ३२ ॥

§ ४२८. एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विस्तारके एक सौ नब्बे भाग करनेपर जो एक भाग प्राप्त हो उतना भरतक्षेत्रका विस्तार है जो कि पूर्वोक्त पाँचसौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन होता है।

§ ४२९. जो पहले जम्बूद्वीप कह आये उसके चारों ओर एक वेदिका है। इसके बाद लवणसमुद्र है जिसका विस्तार दो लाख योजन है। इसके बाद धातकीखण्ड द्वीप है जिसका विस्तार चार लाख योजन है। अब इसमें क्षेत्र आदिकी संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धातकीखण्डमें क्षेत्र तथा पर्वत आदि जम्बूद्वीपसे दूने हैं ॥ ३३ ॥

§ ४३०. भरत आदि क्षेत्रोंकी यहाँ आवृत्ति विवक्षित है। **शंका**—सूत्रमें 'सुच्' प्रत्यय किसलिए किया है? **समाधान**—वाक्य पूरा करने के लिए जो क्रिया जोड़ी जाती है उसकी आवृत्ति बतलानेके लिए 'सुच्' प्रत्यय किया है। जैसे 'द्विस्तावान् अयं प्रासादः' यहाँ 'सुच्' प्रत्ययके रहनेसे है यह अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार धातकीखण्डमें 'सुच्'से भरतादिक दूने ज्ञात हो जाते हैं। यथा—अपने सिरेसे लवणोद और कालोदको स्पर्श करनेवाले और दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतोंसे विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीपके दो भाग हो जाते हैं—पूर्व धातकी-

---

१. तस्यास्ति सम्बन्धे आ०, दि० १, दि० २। २. –डीणं ॥ ७०५६०००००००००० उक्तो मु०, ता०, ना०। ३. संख्याविधि-मु०। ४. –तकीषंडे ता०, ना०, दि० १, दि० २, आ०। ५. –र्वस्य चापरस्य मध्ये मु०।

मन्दरौ। तयोरुभयतो भरतादीनि क्षेत्राणि हिमवदादयश्च वर्षधरपर्वताः। एवं द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तौ इत्येवमादि संख्यानं द्विगुणं वेदितव्यम्। जम्बूद्वीपहिमवदादीनां वर्षधराणां यो विष्कम्भस्तद्द्विगुणो धातकीखण्डे हिमवदादीनां वर्षधराणाम्। वर्षधराश्चक्रारवदवस्थिताः। अरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि। जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः स्थितः, तत्र धातकीखण्डे धातकीवृक्षः सपरिवारः। तद्योगाद्धातकीखण्ड इति द्वीपस्य नाम प्रतीतम्। तत्परिक्षेपी कालोदः समुद्रः टङ्कच्छिन्नतीर्थः अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः। कालोदपरिक्षेपी पुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः।

§ ४३१. तत्र द्वीपाम्भोनिधिविष्कम्भद्विगुणपरिक्लृप्तिवद्धातकीखण्डवर्षादिद्विगुणवृद्धिप्रसङ्गे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

§ ४३२. किम्। द्विरित्यनुवर्तते। किमपेक्षा द्विरावृत्तिः। जम्बूद्वीपभरतहिमवदाद्यपेक्षयैव[1]। कुतः। व्याख्यानतः। यथा धातकीखण्डे हिमवदादीनां विष्कम्भस्तथा पुष्करार्धे हिमवदादीनां विष्कम्भो द्विगुण इति व्याख्यायते। नामानि तान्येव, इष्वाकारौ मन्दरौ च पूर्ववत्। यत्र[2] जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम्। तत एव तस्य[3] द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति। अथ कथं पुष्करार्द्धसंज्ञा। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धसंज्ञा।

खण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड। इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डोंके मध्यमें दो मन्दर अर्थात् मेरु पर्वत हैं। इन दोनोंके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वत हैं। इस प्रकार दो भरत दो हिमवान् इत्यादि रूपसे जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीपमें दूनी संख्या जाननी चाहिए। जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका जो विस्तार है धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका उससे दूना विस्तार है। चक्केमें जिस प्रकार आरे होते हैं उसी प्रकार ये पर्वत क्षेत्रोंके मध्यमें अवस्थित हैं। और चक्केमें छिद्रोंका जो आकार होता है यहाँ क्षेत्रोंका वही आकार है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है धातकीखण्डद्वीपमें परिवार वृक्षोंके साथ वहाँ धातकी वृक्ष स्थित है। और इसके सम्बन्धसे द्वीपका नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है। इसको घेरे हुए कालोद समुद्र है। जिसका घाट ऐसा मालूम देता है कि उसे टाँकीसे काट दिया हो और जिसका विस्तार आठ लाख योजन है। कालोदको घेरे हुए पुष्करद्वीप है जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है।

§ ४३१. द्वीप और समुद्रोंका उत्तरोत्तर जिस प्रकार दूना दूना विस्तार बतलाया है उसी प्रकार यहाँ धातकीखण्ड द्वीपके क्षेत्र आदि की संख्या दूनी प्राप्त होती है अतः विशेष निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुष्करार्धमें उतने ही हैं ॥३४॥

§ ४३२. यहाँ 'द्वि' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। **शंका**—'द्वि' इस पदकी किसकी अपेक्षा अनुवृत्ति होती है? **समाधान**—जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंकी अपेक्षा 'द्विः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। **शंका**—यह कैसे समझा जाता है? **समाधान**—व्याख्यानसे। जिस प्रकार धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदिका विस्तार कहा है उसी प्रकार पुष्करार्धमें हिमवान् आदिका विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही हैं। दो इष्वाकार और दो मन्दर पर्वत पहलेके समान जानना चाहिए। जहाँ पर जम्बूद्वीपमें जम्बू वृक्ष है पुष्कर द्वीपमें वहाँ अपने परिवार वृक्षोंके साथ पुष्करवृक्ष है। और इसीलिए इस द्वीपका पुष्करद्वीप यह नाम रूढ़ हुआ है। **शंका**—इस द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा कैसे प्राप्त हुई? **समाधान**—इस द्वीपके मानुषोत्तर पर्वतके कारण दो विभाग हो गये हैं अतः आधे द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई।

---

१. –पेक्षयैव। जम्बूद्वीपात्पुष्करार्धे द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तौ, इत्यादि। कुतः मु०, दि० १, दि० २, आ०।
२. यत्र जम्बूद्वीपे जम्बू– मु०, दि०, दि० २, आ०। ३. तस्य द्वीपस्यानुरूढं पुष्करद्वीप इति नाम। अथ मु०।

§ ४३३. अत्राह किमर्थं जम्बूद्वीपहिमवदादिसंख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्धे कथ्यते, न पुनः कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे। इत्यत्रोच्यते—

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

§ ४३४. पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलः। तस्मात्प्रागेव मनुष्या न बहिरिति। ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्। ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा। एवं जम्बूद्वीपादिष्वर्धतृतीयेषु[1] द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्मनुष्या वेदितव्याः। ते द्विविधाः—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

§ ४३५. गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः। ते द्विविधा ऋद्धिप्राप्तार्या अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति। अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः क्षेत्रार्या जात्यार्याः कर्मार्याश्चारित्रार्या दर्शनार्याश्चेति। ऋद्धिप्राप्तार्याः

§ ४३३. यहाँ शंकाकारका कहना है कि जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदिकी जो संख्या है उससे हिमवान् आदिकी दूनी संख्या आधे पुष्करद्वीपमें क्यों कही जाती है पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं कही जाती ? अब इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मानुषोत्तर पर्वतके पहले तक ही मनुष्य हैं ॥३५॥

§ ४३४. पुष्करद्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है। उसके पहले-पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं। इसलिए मानुषोत्तर पर्वतके बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रोंका विभाग नहीं है। इस पर्वतके उस ओर उपपाद जन्मवाले और समुद्घातको प्राप्त हुए मनुष्योंको छोड़ कर और दूसरे विद्याधर या ऋद्धिप्राप्त मुनि भी कदाचित् नहीं जाते हैं इसलिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है। इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीपोंमें और दो समुद्रोंमें मनुष्य जानना चाहिए।

विशेषार्थ—ढाई द्वीप और इनके मध्यमें आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोककी सीमापर स्थित होनेसे इसका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें रहते हैं उनका बाहर जाना सम्भव नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि गर्भमें आनेके बाद मरण पर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीरके साथ वे इस क्षेत्रसे बाहर नहीं जा सकते। सम्मूर्च्छन मनुष्य तो इसके औदारिक शरीर के आश्रयसे होते हैं इसलिए उनका मनुष्यलोकके बाहर जाना कथमपि सम्भव नहीं है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी अवस्थामें मनुष्य इस क्षेत्रके बाहर नहीं पाये जाते हैं। ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं जिनके होनेपर मनुष्य इस क्षेत्रके भी बाहर पाये जाते हैं, यथा—(१) जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीपके बाहर उत्पन्न होनेवाले हैं वे यदि मरणके पहले मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो इसके द्वारा उनका ढाई द्वीपके बाहर गमन देखा जाता है। (२) ढाई द्वीपके बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं उनका मनुष्य गतिनाम कर्मका उदय होनेपर भी ढाई द्वीपमें प्रवेश करनेके पूर्व तक इस क्षेत्रके बाहर अस्तित्व देखा जाता है। (३) केवलिसमुद्घातके समय उनका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व देखा जाता है। इन तीन अपवादोंको छोड़कर और किसी अवस्थामें मनुष्योंका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व नहीं देखा जाता। वे मनुष्य दो प्रकारके हैं अब ये बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥३६॥

§ ४३५. जो गुणों या गुणवालोंके द्वारा माने जाते हैं—वे आर्य कहलाते हैं। उनके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके हैं—क्षेत्रार्य,

१. –तीयेषु द्वयोश्च मु०।

सप्तविधाः; बुद्धिविक्रियातपोबलौषधरसाक्षीणभेदात् । म्लेच्छा द्विविधाः—अन्तर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति । तत्रान्तर्द्वीपा लवणोदधेरभ्यतरे[1] पार्श्वेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ । तदन्तरेषु चाष्टौ । हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्द्धयोरन्तेष्वष्टौ । तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक् पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशत्पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति । शैलान्तेषु द्वीपाः षड्योजनशतेषु गतेषु भवन्ति । दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्ताराः । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपास्तदर्धविष्कम्भाः । शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः । तत्र पूर्वस्यां दिश्येकोरुकाः । अपरस्यां दिशि लाङ्गूलिनः । उत्तरस्यां[2] दिश्यभाषकाः । दक्षिणस्यां[3] दिशि विषाणिनः । शशकर्णशष्कुलीकर्णप्रा[4]वरणकर्णलम्बकर्णाः विदिक्षु । अश्वसिंहश्वमहिषवराहव्याघ्रका[5]ककपिमुखा अन्तरेषु । मेघ[6]मुखविद्युन्मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयोः । मत्स्यमुखकालमुखा हिमवत उभयोरन्तयोः । हस्तिमुखादर्शमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः । गोमुखमेषमुखा [7]दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयोः । एकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः । शेषाः पुष्पफलाहारा वृक्षवासिनः । सर्वे ते पल्योपमायुषः । ते चतुर्विंशतिरपि[8] द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः[9] । लवणोदधेर्बाह्यपार्श्वेऽप्येवं चतुर्विंशतिर्द्वीपा

जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य । बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धिके भेदसे ऋद्धि प्राप्त आर्य सात प्रकारके हैं । म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ । लवणसमुद्रके भीतर आठों दिशाओंमें आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तरालमें आठ अन्तर्द्वीप और हैं । तथा हिमवान् और शिखरी इन दोनों पर्वतोंके अन्तमें और दोनों विजयार्ध पर्वतोंके अन्तमें आठ अन्तर्द्वीप हैं । इनमें-से जो दिशाओंमें द्वीप हैं वे वेदिकासे तिरछे पाँचसौ योजन भीतर जाकर हैं । विदिशाओं और अन्तरालोंमें जो द्वीप हैं वे पाँचसौ पचास योजन भीतर जाकर हैं । तथा पर्वतोंके अन्तमें जो द्वीप हैं वे छहसौ योजन भीतर जाकर हैं । दिशाओंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार सौ योजन है । विदिशाओं और अन्तरालोंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार उससे आधा अर्थात् पचास योजन है । तथा पर्वतोंके अन्तमें स्थित द्वीपोंका विस्तार पच्चीस योजन है । पूर्व दिशामें एक टाँगवाले मनुष्य हैं । पश्चिम दिशामें पूँछवाले मनुष्य हैं । उत्तर दिशामें गूँगे मनुष्य हैं और दक्षिण दिशामें सींगवाले मनुष्य हैं । चारों विदिशाओंमें क्रमसे खरगोशके समान कानवाले, शष्कुली अर्थात् मछली अथवा पूड़ीके समान कानवाले, प्रावरणके समान कानवाले और लम्बे कानवाले मनुष्य हैं । आठों अन्तरालके द्वीपोंमें क्रमसे घोड़ेके समान मुखवाले, सिंहके समान मुखवाले, कुत्ताके समान मुखवाले, भैंसाके समान मुखवाले, सुअरके समान मुखवाले, व्याघ्रके समान मुखवाले, कौआके समान मुखवाले और बन्दरके समान मुखवाले मनुष्य हैं ।—शिखरी पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप हैं उनमें मेघके समान मुखवाले और बिजलीके समान मुखवाले मनुष्य हैं । हिमवान् पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप हैं उनमें मछलीके समान मुखवाले और कालके समान मुखवाले मनुष्य हैं । उत्तर विजयार्धके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप हैं उनमें हाथीके समान मुखवाले और दर्पणके समान मुखवाले मनुष्य हैं । तथा दक्षिण विजयार्धके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप हैं उनमें गायके समान मुखवाले और मेढाके समान मुखवाले मनुष्य हैं । इनमें-से एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओंमें निवास करते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं । तथा शेष मनुष्य फूलों और फलोंका आहार करते हैं और पेड़ोंपर रहते हैं । इन सबकी आयु

१. लवणोदे अष्टासु दिक्ष्वष्टौ आ० दि० १, दि० २ । लवणोदधेरभ्यन्तरेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ मु० । २. उत्तरस्यामभाषकाः आ० दि० १, दि० २ । ३. –णस्यां विषा– दि० १, दि० २ । ४. –वरणलम्ब मु० । ५ काकघूककपि–मु० । ६. मेघविद्यु–मु० । ७. दक्षिणदिग्विज– मु० । ८. –शतिद्वितीयपक्षेऽपि उभयोस्तत्प्रेष्टचत्वारिंशद्द्वीपाः जलतला– दि० २ । ९. –त्सेधाः । तथा कालोदेऽपि आ०, दि० १ ।

विज्ञातव्याः। तथा कालोदेऽपि वेदितव्याः। त एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादयः।

§ ४३६. काः पुनः कर्मभूमय इत्यत आह—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

§ ४३७. भरता[1] ऐरावता विदेहाश्च पञ्च, पञ्च, एताः कर्मभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। तत्र 'विदेह'ग्रहणाद्देवकुरूत्तरकुरुग्रहणे प्रसक्ते तत्प्रतिषेधार्थमाह—'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' इति। 'अन्यत्र' शब्दो वर्जनार्थः। देवकुरव उत्तरकुरवो हैमवतो हरिवर्षो[2] रम्यको हैरण्यवतोऽन्तर्द्वीपाश्च भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। अथ कथं कर्मभूमित्वम्। शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वं[3] लोकत्रितयं कर्मणोऽधिष्ठानमेव। तत एवं[4] प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभकर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य[5] च सर्वार्थसिद्ध्यादि[6]स्थानविशेषप्रापणस्य[7] कर्मण उपार्जनं तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य षड्विधस्य कर्मणः पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात्कर्मभूमिव्यपदेशो वेदितव्यः। इतरास्तु दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषयत्वाद् भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते।

एक पल्यप्रमाण है। ये चौबीसों अन्तर्द्वीप जलकी सतहसे एक योजन ऊँचे हैं। इसी प्रकार कालोद समुद्रमें भी जानना चाहिए। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। इनसे अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक हैं वे सब कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

विशेषार्थ—षट्खण्डागममें मनुष्योंके दो भेद किये गये हैं—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। अकर्मभूमि भोगभूमिका दूसरा नाम है। भोगभूमिका एक भेद कुभोगभूमि है। उसमें जन्म लेनेवाले मनुष्य ही यहाँ अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे गये हैं। शेष रहे शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि म्लेच्छ कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। इसी प्रकार आर्य भी क्षेत्रकी अपेक्षा दो भागोंमें विभक्त हैं—कर्मभूमिज आर्य और अकर्मभूमिज आर्य। तीनों भोगभूमियोंके मनुष्य अकर्मभूमिज आर्य हैं और कर्मभूमिके आर्य कर्मभूमिज आर्य हैं। इनमें-से अकर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छोंके अविरत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ अणुव्रत और महाव्रतके भी अधिकारी हैं। इनके संयमासंयम और संयमस्थानोंका विशेष व्याख्यान लब्धिसार क्षपणासारमें किया है।

§ ४३६. कर्मभूमियाँ कौन-कौन हैं, अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देवकुरु और उत्तरकुरुके सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमि हैं ॥३७॥

§ ४३७. भरत, ऐरावत और विदेह ये प्रत्येक पाँच-पाँच हैं। ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं। इनमें विदेहका ग्रहण किया है इसलिए देवकुरु और उत्तरकुरुका भी ग्रहण प्राप्त होता है अतः उनका निषेध करनेके लिए 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' यह पद रखा है। अन्यत्र शब्दका अर्थ निषेध है। देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत और अन्तर्द्वीप ये भोगभूमियाँ कही जाती हैं। **शंका**—कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है? **समाधान**—जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय है फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय हैं। सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहीं पर होता है। तथा पात्रदान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहीं पर होता है इसलिए भरतादिकको कर्मभूमि

---

१. भरतैरावतविदेहाश्च मु०, ता०, ना०। २. हरिवंशः रम्य–आ०, दि० १, दि० २। ३. सर्वो लोकत्रितयः कर्म–आ०, दि० १, दि० २। ४. एक प्रक–मु०। ५. शुभस्य सर्वा–मु०। ६. –दृष्यादिषु स्थान–आ०, दि० १, दि० २। ७. –पणस्य पुण्यकर्म–मु०।

§ ४३८. उक्तासु भूमिषु[1] मनुष्याणां स्थितिपरिच्छेदार्थमाह—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

§ ४३९. त्रीणि पल्योपमानि यस्याः सा त्रिपल्योपमा। अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता। यथासंख्येनाभिसंबन्धः। मनुष्याणां परा उत्कृष्टा स्थितिस्त्रिपल्योपमा। अपरा जघन्या अन्तर्मुहूर्ता। मध्ये अनेकविकल्पाः। तत्र पल्यं त्रिविधम्—व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति। अन्वर्थसंज्ञा एताः। आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते; उत्तरपल्यद्वय[2]व्यवहारबीजत्वात्। नानेन किंचित्परिच्छेद्यमस्तीति। द्वितीयमुद्धारपल्यम्। तत उद्धृतैर्लोमकच्छेदैर्द्वीपसमुद्राः संख्यायन्त इति। तृतीयमद्धापल्यम्। अद्धा कालस्थितिरित्यर्थः। तत्राद्यस्य प्रमाणं कथ्यते[3], तत्परिच्छेदनार्थत्वात्। तद्यथा—प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनविष्कम्भायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थः। एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताविबालाग्राणि तावच्छिन्नानि यावद्द्वितीयं कर्तरिच्छेदं नावाप्नुवन्ति, तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते। ततो वर्षशते वर्षशते[6] गते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत्तावान्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः।

चाहिए। इतर क्षेत्रोंमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त भोगोंकी मुख्यता है इसलिए वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं।

विशेषार्थ—यह पहले ही बतला आये हैं कि भरतादि क्षेत्रोंका विभाग ढाई द्वीपमें ही है। जम्बूद्वीपमें भरतादि क्षेत्र एक-एक हैं और धातकीखण्ड व पुष्करार्धमें ये दो-दो हैं। इस प्रकार कुल क्षेत्र ३५ होते हैं। उसमें भी उत्तरकुरु और देवकुरु विदेह क्षेत्रमें होकर भी अलग गिने जाते हैं, क्योंकि यहाँ उत्तम भोगभूमिकी व्यवस्था है, इसलिए पाँच विदेहोंके पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इनको उक्त ३५ क्षेत्रोंमें मिलानेपर कुल ४५ क्षेत्र होते हैं। इनमें-से ५ भरत, ५ विदेह और ५ ऐरावत ये १५ कर्मभूमियाँ हैं और शेष ३० भोगभूमियाँ हैं। ये सब कर्मभूमि और भोगभूमि क्यों कहलाती हैं इस बातको निर्देश मूल टीकामें किया ही है।

§ ४३८. उक्त भूमियोंमें स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ॥३८॥

§ ४३९. 'त्रिपल्योपमा' इस वाक्यमें 'त्रि' और 'पल्योपम' का बहुव्रीहि समास है। मुहूर्तके भीतरके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। पर और अपर के साथ इन दोनोंका क्रमसे सम्बन्ध है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। तथा मध्यकी स्थिति अनेक प्रकारकी है। पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहार पल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों सार्थक नाम हैं। आदिके पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं, क्योंकि वह आगेके दो पल्योंके व्यवहारका मूल है। इसके द्वारा और किसी वस्तुका परिमाण नहीं किया जाता। दूसरा उद्धारपल्य है। उद्धारपल्यमें-से निकाले गये लोमके छेदोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है। तीसरा अद्धापल्य है। अद्धा और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं। इनमें-से अब प्रथम पल्यका प्रमाण कहते हैं—जो इस प्रकार है—प्रमाणांगुलकी गणनासे एक-एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे तीन गढ़ा करो और इनमें-से एकमें एक दिनसे लेकर सात दिन तक के पैदा हुए मेढ़के रोमोंके अग्र भागोंको ऐसे टुकड़े करके भरो जिससे कैंचीसे उसके दूसरे टुकड़े न किये जा सकें। अनन्तर सौ-सौ वर्षमें एक-एक रोमका टुकड़ा निकालो। इस विधिसे जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो वह सब काल व्यवहार पल्योपम नामसे कहा जाता है। अनन्तर असंख्यात करोड़ वर्षोंके जितने समय हों

---

१. -मिषु स्थिति-मु०। २. -द्वयस्य व्यव- मु०। ३. कथ्यते। तद्यथा मु०। ४. नाप्नु-मु०। ५. घनीभूतं मु०। ६. ततो वर्षशते एकैक- मु०।

तैरेव लोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटीसमयमात्रच्छिन्नैस्ततपूर्णमुद्धारपल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान्काल उद्धारपल्योपमाख्यः। एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटच एकमुद्धारसागरोपमम्। अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः। पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान्कालोऽद्धापल्योपमाख्यः। एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोटच एकमद्धासागरोपमम्। दशाद्धासागरोपमकोटीकोटच एकावसर्पिणी। तावत्येवोत्सर्पिणी। अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या। उक्ता च संग्रहगाथा—

"ववहारुद्धारद्धा[1] पल्ला तिण्णेव होंति बोद्धब्बा।
संखा दीव-समुद्दा कम्मट्ठिदि वण्णिदा तदिए॥"

§ ४४०. यथैवैते[2] उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणां तथैव—

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

§ ४४१. तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः। तिर्यग्गतिनामकर्मोदयापादितं जन्मेत्यर्थः। तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजाः। तेषां तिर्यग्योनिजानामुत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रिपल्योपमा। जघन्या अन्तर्मुहूर्ता। मध्येऽनेकविकल्पाः।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

उतने उन लोमच्छेदोंमें-से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गढ़ेके भरनेपर उद्धारपल्य होता है। और इसमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमको निकालते हुए जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम उद्धार पल्योपम है। इन दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धार सागरोपम काल होता है। तथा ढाई उद्धार सागरके जितने रोमखण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र हैं। अनन्तर सौ वर्षके जितने समय हों उतने उद्धारपल्यके रोमखण्डोंमें-से प्रत्येकके खण्ड करके और उनसे तीसरे गढ़ेके भरनेपर एक अद्धापल्य होता है। और इनमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमके निकालनेपर जितने समयमें वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम अद्धापल्योपम है। तथा ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंका एक अवसर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी भी इतना ही बड़ा होता है।

इस अद्धापल्यके द्वारा नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयु-स्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चाहिए। संग्रह गाथा भी कही है—

व्यवहार, उद्धार और अद्धा ये तीन पल्य जानने चाहिए। संख्याका प्रयोजक व्यवहार पल्य है। दूसरेसे द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है और तीसरे अद्धापल्यमें कर्मोंकी स्थितिका लेखा है।

§ ४४०. जिस प्रकार मनुष्योंकी यह उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति है उसी प्रकार—

तिर्यंचों की स्थिति भी उतनी ही है ॥३९॥

§ ४४१. तिर्यंचोंकी योनिको तिर्यग्योनि कहते हैं। इसका अर्थ तिर्यंचगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ जन्म है। जो तिर्यंचयोनिमें पैदा होते हैं वे तिर्यग्योनिज कहलाते हैं। इन तिर्यंचयोनिसे उत्पन्न जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्य और जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तथा बीचकी स्थितिके अनेक विकल्प हैं।

---

१. ववहारुद्धारद्धा तियपल्ला पढयंम्मि संखाओ। विदिए दीवसमुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी ति० प० गा० ९४। २. –वेते द्वे उत्क–आ०, दि० १, दि० २।

विशेषार्थ—स्थिति दो प्रकारकी होती है—भवस्थिति और कायस्थिति। एक पर्यायमें रहनेमें जितना काल लगे वह भवस्थिति है। तथा विवक्षित पर्यायके सिवा अन्य पर्यायमें उत्पन्न न होकर पुनः पुनः उसी पर्यायमें निरन्तर उत्पन्न होनेसे जो स्थिति प्राप्त होती है वह कायस्थिति है। यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचोंकी भवस्थिति कही गयी है। इनकी जघन्य कायस्थिति जघन्य भवस्थिति प्रमाण है; क्योंकि एक बार जघन्य आयुके साथ भव पाकर उसका अन्य पर्यायमें जाना सम्भव है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्य है। पृथक्त्व यह रौढिक संज्ञा है। मुख्यतः इसका अर्थ तीनसे ऊपर और नौसे नीचे होता है। यहाँ बहुत अर्थमें पृथक्त्व शब्द आया है। तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनोंके बराबर है। यह तिर्यंचगति सामान्यकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति कही है। यदि अन्य गतिसे आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यंचगतिमें परिभ्रमण करता रहता है तो अधिकसे अधिक इतने काल तक वह तिर्यंचगति में रह सकता है। इसके बाद वह नियमसे अन्य गतिमें जन्म लेता है। वैसे तिर्यंचोंके अनेक भेद हैं इसलिए उन भेदोंकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति जुदी-जुदी है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

§ ४४२. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिष्वसकृद्देवशब्द उक्तस्तत्र न ज्ञायते के देवाः कतिविधा इति[1] तन्निर्णयार्थमाह—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

§ ४४३. देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषैः[2] द्वीपाद्रिसमुद्रादिप्रदेशेषु [3]यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति[4] देवाः। इहैकवचननिर्देशो युक्तः 'देवश्चतुर्णिकायः' इति[5]। स [6]जात्यभिधानाद् बहूनां प्रतिपादको भवति बहुत्वनिर्देशस्तदन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः। इन्द्रसामानिकादयो बहवो भेदाः सन्ति स्थित्यादिकृताश्च तत्सूचनार्थः। देवगतिनामकर्मोदयस्य [7]स्वकर्मविशेषापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः। चत्वारो निकाया येषां ते चतुर्णिकायाः। के पुनस्ते? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति।

§ ४४४. तेषां लेश्यावधारणार्थमुच्यते—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

---

§ ४४२. 'देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है' इत्यादि सूत्रोंमें अनेक बार देव शब्द आया है। किन्तु वहाँ यह न जान सके कि देव कौन हैं और वे कितने प्रकारके हैं अतः इसका निर्णय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव चार निकायवाले हैं ॥१॥

§ ४४३. अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्मके उदय होनेपर जो नाना प्रकारकी बाह्य विभूतिसे द्वीपसमुद्रादि अनेक स्थानोंमें इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं। **शंका**—'देवश्चतुर्णिकायः' इस प्रकार एकवचनरूप निर्देश करना उचित था, क्योंकि जातिका कथन कर देनेसे बहुतका कथन हो ही जाता है। **समाधान**—देवोंके अन्तर्गत अनेक भेद हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें बहुवचनका निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि देवोंके इन्द्र, सामानिक आदिकी अपेक्षा अनेक भेद हैं और स्थिति आदिकी अपेक्षा भी अनेक भेद हैं अतः उनको सूचित करनेके लिए बहुवचनका निर्देश किया है। अपने अवान्तर कर्मोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले देवगति नामकर्मके उदयकी सामर्थ्यसे जो संग्रह किये जाते हैं वे निकाय कहलाते हैं। निकाय शब्दका अर्थ संघात है। 'चतुर्णिकाय' में बहुव्रीहि समास है, जिससे देवोंके मुख्य निकाय चार ज्ञात होते हैं। **शंका**—इन चार निकायोंके क्या नाम हैं? **समाधान**—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

§ ४४४. अब इनकी लेश्याओंका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिके तीन निकायोंमें पीत पर्यन्त चार लेश्याएँ हैं ॥२॥

---

१. इति वा तन्नि–मु०। २. विशेषाद् द्वीपा– मु०। ३. मुद्रादिषु प्रदे–मु०। ४. –डन्ति ते देवाः मु०। ५. इति। जात्य– मु०। ६. 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् पा० १, २, २, ५८। ७. स्वधर्मविशे– मु०, ता०, ना०।

§ ४४५. 'आदित इत्युच्यते,[1] अन्ते मध्ये अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति। आदौ आदितः। द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं 'त्रि'ग्रहणं क्रियते। अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति। 'आदितः' इति वचनात्। षड्लेश्या उक्ताः। तत्र चतसृणां लेश्यानां ग्रहणार्थं 'पीतान्त'ग्रहणं क्रियते। पीतं तेज इत्यर्थः। पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः[2]। पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्तलेश्याः। एतदुक्तं भवति—आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कनामसु[3] देवानां कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्ति।

§ ४४६. तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

§ ४४७. चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः। दशविकल्पा भवनवासिनः। अष्टविकल्पा व्यन्तराः। पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः। द्वादशविकल्पा वैमानिका इति। सर्ववैमानिकानां द्वादशविकल्पान्तःपातित्वे प्रसक्ते ग्रैवेयकादिनिवृत्त्यर्थं विशेषणमुपादीयते 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः' इति। अथ कथं कल्पसंज्ञा। इन्द्रादयः प्रकारा दश एतेषु कल्प्यन्त इति

---

§ ४४५. अन्तके तीन निकायोंका, मध्यके निकायोंका या विपरीत क्रमसे निकायोंका ग्रहण न समझ लिया जाय इसलिए सूत्रमें 'आदितः' पद दिया है। दो और एक निकायके निराकरण करनेके लिए 'त्रि' पदका ग्रहण किया है। **शंका**—'त्रि' पदसे चारकी निवृत्ति क्यों नहीं होती है? **समाधान**—सूत्रमें जो 'आदितः' पद दिया है इससे ज्ञात होता है कि 'त्रि' पद चारकी निवृत्तिके लिए नहीं है। लेश्याएँ छह कही हैं उनमें-से चार लेश्याओंके ग्रहण करनेके लिए सूत्रमें, 'पीतान्त' पदका ग्रहण किया है। यहाँ पीतसे तेज लेश्या लेनी चाहिए। यहाँ पहले पीत और अन्त इन शब्दोंमें और अनन्तर पीतान्त और लेश्या शब्दोंमें बहुव्रीहि समास है। इसका यह अभिप्राय है कि आदिके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

विशेषार्थ—यों तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-देवोंके एक पीत लेश्या ही होती है किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच और पीत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिकमें उत्पन्न होते हैं। यतः ऐसे कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचोंके मरते समय प्रारम्भकी तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं अतः इनके मरकर भवनत्रिकोंमें उत्पन्न होनेपर वहाँ भी अपर्याप्त अवस्थामें ये अशुभ लेश्याएँ पायी जाती हैं। इसीसे इनके पीत तक चार लेश्याएँ कही हैं। अभिप्राय यह है कि भवनत्रिकोंके अपर्याप्त अवस्थामें पीत तक चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्थामें एक पीत लेश्या होती है।

§ ४४६. अब इन निकायोंके भीतरी भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे कल्पोपपन्न देव तकके चार निकायके देव क्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेदवाले हैं ॥३॥

§ ४४७. देव निकाय चार हैं और दश आदि संख्या शब्द चार हैं अतः इनका क्रमसे सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा—भवनवासी दस प्रकारके हैं, व्यन्तर आठ प्रकारके हैं, ज्योतिषी पाँच प्रकारके हैं और वैमानिक बारह प्रकारके हैं। उपर्युक्त कथनसे सब वैमानिक बारह भेदोंमें आ जाते हैं, अतः ग्रैवेयक आदिके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'कल्पोपन्नपर्यन्ताः' यह पद दिया

---

१. – च्यते अन्यथा वा ग्रह-दि० २। –च्यते अन्ते मध्ये वा ग्रह-मु०, ता०, ना०। –च्यते अन्ते अन्यथा वा ग्रह-आ०। २. –ताः पीतान्ता लेश्या मु०, दि० २। ३. ज्योतिष्काणां देवा- आ०, दि० १, दि० २।

कल्पाः। भवनवासिषु तत्कल्पनासंभवेऽपि रूढिवशाद्वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः। कल्पेषूपपन्ना कल्पोपपन्नाः। कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।

§ ४४८. पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णका-
भियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥**

§ ४४९. अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीति इन्द्राः। आज्ञैश्वर्यवर्जितं यत्स्था-[1]नायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तत्समानं, तस्मिन्समाने भवाः सामानिका महत्तराः पितृगुरूपाध्यायतुल्याः। मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः। त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशाः। वयस्यपीठमर्दसदृशाः परिषदि भवाः पारिषदाः। आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमानाः। अर्थचरारक्षकसमाना लोकपालाः। लोकं पालयन्तीति लोकपालाः। पदात्यादीनि सप्त अनीकानि दण्डस्थानीयानि। प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः। आभियोग्या दाससमाना वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः[2]। अन्तेवासिस्थानीयाः[3] किल्विषिकाः। किल्विषं पापं येषामस्तीति[4] किल्विषिकाः।

§ ४५०. एकैकस्य निकायस्य एकश एते, इन्द्रादयो दश विकल्पाश्चतुर्षु निकायेषूत्सर्गेण प्रसक्तास्ततोऽपवादार्थमाह—

है। **शंका**—कल्प इस संज्ञाका क्या कारण है? **समाधान**—जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार कल्पे जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिककी कल्पना ही कल्प संज्ञाका कारण है। यद्यपि इन्द्रादिक- की कल्पना भवनवासियोंमें भी सम्भव है फिर भी रूढ़िसे कल्प शब्दका व्यवहार वैमानिकोंमें ही किया जाता है। जो कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। तथा जिनके अन्तमें कल्पोपपन्न देव हैं उन सबको कल्पोपपन्नपर्यन्त कहा है।

§ ४४८. प्रकारान्तरसे इनके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त दस आदि भेदोंमें-से प्रत्येक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक रूप हैं ॥४॥

§ ४४९. जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणोंके सम्बन्धसे शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं। आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवा जो आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग हैं वे समान कहलाते हैं। उस समानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता, गुरु और उपाध्यायके समान सबसे बड़े हैं जो मंत्री और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये तैंतीस ही होते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। जो सभामें मित्र और प्रेमीजनोंके समान होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। जो अंगरक्षकके समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। जो रक्षकके समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। जैसे यहाँ सेना है उसी प्रकार सात प्रकारके पदाति आदि अनीक कहलाते हैं। जो गाँव और शहरोंमें रहनेवालोंके समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। जो दासके समान वाहन आदि कर्ममें प्रवृत्त होते हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं। जो सीमाके पास रहनेवालों के समान हैं वे किल्विषिक कहलाते हैं। किल्विष पापको कहते हैं इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विषिक कहलाते हैं।

§ ४५०. चारों निकायोंमें-से प्रत्येक निकायमें ये इन्द्रादिक दस भेद उत्सर्गसे प्राप्त हुए अतः जहाँ अपवाद है, उसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. –यत्समानायु–मु०। २. – वृत्ताः। अन्त्यवासि–आ०, दि० १, दि० २। ३. –स्थानीयाः। किल्विषं मु०। ४. – येषामस्ति ते किल्वि-मु०।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या[1] व्यन्तरज्योतिष्काः ।।५।।

§ ४५१. व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशांल्लोकपालांश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टौ विकल्पा द्रष्टव्याः ।

§ ४५२. अथ तेषु निकायेषु किमेकैक इन्द्र उतान्यः प्रतिनियमः कश्चिदस्तीत्यत आह—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।६।।

§ ४५३. पूर्वयोर्निकाययोर्भवनवासिव्यन्तरनिकाययोः । कथं द्वितीयस्य पूर्वत्वम् । सामीप्यात्पूर्वत्वमुपचर्योक्तम् । 'द्वीन्द्राः' इति अन्तर्नीतवीप्सार्थः । द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्रा इति । यथा सप्तपर्णोऽष्टापद इति । तद्यथा—भवनवासिषु तावदसुरकुमाराणां द्वाविन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहो हरिकान्तश्च । सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च । अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां वैलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां पूर्णो वसिष्ठश्च । दिक्कुमाराणाममितगतिरमितवाहनश्चेति । व्यन्तरेष्वपि किन्नराणां द्वाविन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च[2] । महोरगाणामतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च । राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्च ।

किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों से रहित हैं ।।५।।

§ ४५१. व्यन्तर और ज्योतिषियोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदोंके सिवा शेष आठ भेद जानना चाहिए ।

§ ४५२. उन निकायोंमें क्या एक-एक इन्द्र है या और दूसरा कोई नियम है, इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं ।

प्रथम दो निकायोंमें दो दो इन्द्र हैं ।।६।।

§ ४५३. पूर्व दो निकायोंसे भवनवासी और व्यन्तर ये दो निकाय लेना चाहिए । **शंका**—दूसरे निकायको पूर्व कैसे कहा जा सकता है ? **समाधान**—प्रथमके समीपवर्ती होनेसे दूसरे निकाय को उपचारसे पूर्व कहा है । 'द्वीन्द्राः' इस पदमें वीप्सा रूप अर्थ गर्भित है अतः इसका विग्रह इस प्रकार हुआ कि 'द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्राः' जैसे सप्तपर्ण और अष्टापद । तात्पर्य यह है जिस प्रकार सप्तपर्ण और अष्टापद इन पदोंमें वीप्सारूप अर्थ गर्भित है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है—भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं । नाग कुमारोंके धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं । विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं । सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं । अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव ये दो इन्द्र हैं । वातकुमारोंके वैलम्ब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं । स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं । उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं । द्वीपकुमारोंके पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं । तथा दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं । व्यन्तरोंमें भी किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं । किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं । महोरगोंके अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं । गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं । यक्षोंके पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो इन्द्र हैं । राक्षसोंके भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं । भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं । तथा पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं ।

---

१. –वर्जा व्य- ता०, ना०, । २. – रुषश्चेति महो-मु० ।

§ ४५४. अथैषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधनार्थमाह—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

§ ४५५. प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम्। कायेन प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। आङ्[1] अभिविध्यर्थः। असंहितया निर्देशः असंदेहार्थः। एते भवनवास्यादय ऐशानान्ताः संक्लिष्टकर्मत्वान्मनुष्यवत्स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः।

§ ४५६. अवधिग्रहणादितरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥८॥

§ ४५७. उक्तावशिष्टग्रहणार्थं 'शेष' ग्रहणम्। के पुनरुक्तावशिष्टाः। कल्पवासिनः। स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, तेषु प्रवीचारो येषां ते स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः। कथमभिसंबन्धः। आर्षाविरोधेन। कुतः पुनः 'प्रवीचार'ग्रहणम्। इष्टसंप्रत्ययार्थमिति। कः पुनरिष्टोऽभिसंबन्धः। आर्षाविरोधी—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवा देवाङ्गनाङ्गस्पर्शमात्रादेव[2] परां प्रीतिमुपलभन्ते, तथा देव्योऽपि। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनानां शृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपावलोकनमात्रादेव परमसुखमाप्नुवन्ति। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु देवा देववनितानां मधुरसंगीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवा स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखमाप्नुवन्ति।

---

§ ४५४. इन देवोंका सुख किस प्रकारका होता है ऐसा पूछने पर सुखका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ऐशान तकके देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीरसे विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं ॥७॥

§ ४५५. मैथुनके उपसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका कायसे प्रवीचार है वे कायप्रवीचारवाले कहे जाते हैं। कहाँतक कायसे प्रवीचारकी व्याप्ति है इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'आङ्' का निर्देश किया है। सन्देह न हो इसलिए 'आ ऐशानात्' इस प्रकार सन्धिके बिना निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि ऐशान स्वर्ग पर्यन्त ये भवनवासी आदि देव संक्लिष्ट कर्मवाले होनेके कारण मनुष्योंके समान स्त्रीविषयक सुखका अनुभव करते हैं।

§ ४५६. ऊपरके सूत्रमें कायसे प्रवीचारकी मर्यादा कर दी है इसलिए इतर देवोंके सुखका विभाग नहीं ज्ञात होता है, अतः इसके प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं ॥८॥

§ ४५७. पहले जिन देवोंका प्रवीचार कहा है उनसे अतिरिक्त देवोंके ग्रहण करनेके लिए 'शेष' पदका ग्रहण किया है। **शंका**—उक्त देवोंसे अवशिष्ट और कौन देव हैं ? **समाधान**—कल्पवासी। यहाँ स्पर्श, रूप, शब्द और मन इनका परस्पर द्वन्द्व समास करके अनन्तर प्रवीचार शब्दके साथ बहुव्रीहि समास किया है। **शंका**—इनमें-से किन देवोंके कौन-सा प्रवीचार है इसका सम्बन्ध कैसे करना चाहिए ? **समाधान**—इसका सम्बन्ध जिस प्रकार आर्षमें विरोध न आवे उस प्रकार कर लेना चाहिए। **शंका**—पुनः 'प्रवीचार' शब्दका ग्रहण किसलिए किया है ? **समाधान**—इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए। **शंका**—जिसमें आर्षसे विरोध न आवे ऐसा वह इष्ट अर्थ क्या है ? **समाधान**—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव देवांगनाओंके स्पर्श मात्रसे परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार वहाँकी देवियाँ भी। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव देवांगनाओंके शृंगार, आकृति, विलास, चतुर और मनोज्ञ वेष तथा मनोज्ञ रूपके देखने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव देवांगनाओंके मधुर

---

१. 'आङ् मर्यादाभिविध्योः।' पा० २, १, १३। २. –ङ्गकास्पर्श-मु०।

§ ४५८. अथोत्तरेषां किंप्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह—

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

§ ४५९. 'पर'ग्रहणमितराशेषसंग्रहार्थम् । 'अप्रवीचार'ग्रहणं परमसुखप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रवीचारो हि वेदनाप्रतिकारः । तदभावे तेषां परमसुखमनवरतं भवति ।

§ ४६०. उक्ता ये आदिनिकायदेवा दशविकल्पा इति तेषां सामान्यविशेषसंज्ञाविज्ञापनार्थमिदमुच्यते—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

§ ४६१. भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः । आदिनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा । असुरादयो विशेषसंज्ञा विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तयः सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि वेषभूषायुधयानवाहनक्रीडनादिकुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः । स प्रत्येकं परिसमाप्यते असुरकुमारा इत्येवमादि । क्व तेषां भवनानीति चेत् । उच्यते—रत्नप्रभायाः पङ्क[1]बहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि । खरपृथिवीभागे उपर्यधश्च एकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषनवानां कुमाराणामावासाः ।

§ ४६२. द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञावधारणार्थमाह—

संगीत, कोमल हास्य, ललित कथा और भूषणोंके कोमल शब्दोंके सुननेमात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देव अपनी अंगनाका मनमें संकल्प करनेमात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं।

§ ४५८. अब आगेके देवोंका किस प्रकारका सुख है ऐसा प्रश्न करनेपर उसका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाकीके सब देव विषय-सुख से रहित होते हैं ॥९॥

§ ४५९. शेष सब देवोंका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें 'पर' शब्दका ग्रहण किया है। परम सुखका ज्ञान करानेके लिए अप्रवीचार पदका ग्रहण किया है। प्रवीचार वेदनाका प्रतिकारमात्र है। इसके अभावमें उनके सदा परम सुख पाया जाता है।

§ ४६०. आदिके निकायके देवोंके दस भेद कहे हैं। अब उनकी सामान्य और विशेष संज्ञाका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासी देव दस प्रकार हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ॥१०॥

§ ४६१. जिनका स्वभाव भवनोंमें निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। प्रथम निकायकी यह सामान्य संज्ञा है। तथा असुरादिक विशेष संज्ञाएँ हैं जो विशिष्ट नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन सब देवोंका वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनका वेष, भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारोंके समान होती है इसलिए सब भवनवासियोंमें कुमार शब्द रूढ़ है। यह कुमार शब्द प्रत्येकके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा असुरकुमार आदि। **शंका**—इनके भवन कहाँ हैं? **समाधान**—रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन हैं। और खर पृथिवीभागमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष नौ प्रकारके कुमारोंके भवन हैं।

§ ४६२. अब दूसरे निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाके निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. पङ्कबहुल-आ०, दि० १, दि० २ ।

व्यन्तराः किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

§ ४६३. विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते 'व्यन्तराः' इत्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम् । तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किंनरादयो वेदितव्या नामकर्मोदयविशेषापादिताः । क्व पुनस्तेषामावासा इति चेत् । उच्यते—अस्माज्जम्बूद्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य उपरिष्टे[1] खरपृथिवीभागे सप्तानां व्यन्तराणामावासाः । राक्षसानां पङ्कबहुलभागे ।

§ ४६४. तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

§ ४६५. ज्योतिस्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि 'ज्योतिष्काः' इति सामान्यसंज्ञा अन्वर्था । सूर्यादयस्तद्विशेषसंज्ञा नामकर्मोदयप्रत्ययाः । 'सूर्याचन्द्रमसौ' इति पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । किंकृतं पुनः प्राधान्यम् । प्रभावादिकृतम् । क्व पुनस्तेषामावासाः । इत्यत्रोच्यते, अस्मात्समाद् भूमिभागादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्युत्तराणि[2] उत्पत्य सर्वज्योतिषामधोभागविन्यस्तास्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भ्रमन्ति । तत[3]श्चत्वारि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि । ततश्च[4]त्वारि योजनान्युत्पत्य बुधाः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शुक्राः । तत[5]स्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बृहस्पतयः । ततस्त्रीणि[6] योजनान्युत्पत्याङ्गारकाः ।

व्यन्तर देव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ॥११॥

§ ४६३. जिनका नानाप्रकारके देशोंमें निवास है वे व्यन्तर देव कहलाते हैं । यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदोंमें लागू है । इन व्यन्तरोंके किन्नरादिक आठों भेद विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं ऐसा जानना चाहिए । **शंका**—इन व्यन्तरोंके आवास कहाँ हैं ? **समाधान**—इस जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप और समुद्र लाँघकर ऊपरके खर पृथिवी भागमें सात प्रकारके व्यन्तरोंके आवास हैं । तथा पंकबहुल भागमें राक्षसोंके आवास हैं ।

§ ४६४. अब तीसरे निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ॥१२॥

§ ४६५. ये सब पाँचों प्रकारके देव ज्योतिर्मय हैं इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है । तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएँ विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं । सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानताको दिखलानेके लिए 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस प्रकार इन दोनोंका अलगसे ग्रहण किया है । **शंका**—इनमें प्रधानता किस निमित्तसे प्राप्त होती है ? **समाधान**—इनमें प्रभाव आदिककी अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है । **शंका**—इनका आवास कहाँपर है ? **समाधान**—इस समान भूमिभागसे सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर तारकाएँ विचरण करती हैं जो सब ज्योतिषियोंके अधोभागमें स्थित हैं । इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं । इससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं । इससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र हैं । इससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति हैं । इससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल हैं । इससे तीन योजन ऊपर

---

१. -तीत्य परिष्टे आ०, ता०, ना०, दि० १, दि० २ । २. -त्तराणि ७९० उत्प-मु० । ३. ततस्त्रीणि योज-ता०, ना०, । तत्त्वा० । ४. ततस्त्रीणि योज-ता०, ना०, तत्त्वा० । ५. ततश्चत्वारि योज-ता०, ना०, तत्त्वा० । ६. ततश्चत्वारि योज-ता०, ना०, तत्त्वा० ।

ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शनैश्चराश्चरन्ति । स एषः ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशो दशाधिकयोजनशतबहलस्तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः । उक्तं च—

"णउदुत्तरसत्तसया दससीदो[1] चदुगं तियचउक्कं ।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी[2] ॥"

§ ४६६. ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

§ ४६७. मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणाः । 'मेरुप्रदक्षिणाः' इति वचनं गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं विपरीता गतिर्मा विज्ञायीति । 'नित्यगतयः' इति विशेषणमनुपरतक्रियाप्रतिपादनार्थम् । 'नृलोक'-ग्रहणं विषयार्थम् । अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्का नित्यगययो नान्यत्रेति । ज्योतिष्कविमानानां गतिहेत्वभावात्तद्वृत्त्यभाव इति चेत् । न; असिद्धत्वात्, गतिरताभियोग्यदेवप्रेरितगतिपरिणामात्कर्मविपाकस्य वैचित्र्यात् । तेषां हि गतिमुखेनैव कर्म विपच्यत इति । एकादशभिर्योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्य ज्योतिष्काः प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

§ ४६८. गतिमज्ज्योतिस्संबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

जाकर शनीचर हैं । यह ज्योतिषियोंसे व्याप्त नभःप्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और घनोदधिपर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्रप्रमाण लम्बा है । कहा भी है—

'इस पृथिवी तलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराएँ हैं । पुनः दस योजन ऊपर जाकर सूर्य हैं । पुनः अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा हैं । पुनः चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र और चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं । पुनः चार बार तीन योजन ऊपर जाकर अर्थात् तीन-तीन योजन ऊपर जाकर क्रमसे शुक्र, गुरु, मंगल और शनि हैं ॥'

§ ४६६. अब ज्योतिषी देवोंकी गतिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करनेवाले और निरन्तर गतिशील हैं ॥१३॥

§ ४६७. 'मेरुप्रदक्षिणा' इस पदमें षष्ठी तत्पुरुष समास है । 'मेरुप्रदक्षिणा' यह वचन गतिविशेषका ज्ञान करानेके लिए और कोई विपरीत गति न समझ बैठे इसके लिए दिया है । वे निरन्तर गतिरूप क्रिया युक्त हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए 'नित्यगतयः' पद दिया है । इस प्रकारके ज्योतिषी देवोंका क्षेत्र बतलानेके लिए 'नृलोक' पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं अन्यत्र नहीं । **शंका**—ज्योतिषी देवोंके विमानोंकी गतिका कारण नहीं पाया जाता, अतः उनका गमन नहीं बन सकता ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि यह हेतु असिद्ध है । बात यह है कि गमन करनेमें रत जो आभियोग्य जातिके देव हैं उनसे प्रेरित होकर ज्योतिषी देवोंके विमानोंका गमन होता रहता है । यदि कहा जाय कि आभियोग्य जातिके देव निरन्तर गतिमें ही क्यों रत रहते हैं तो उसका उत्तर यह है कि यह कर्मके परिपाककी विचित्रता है । उनका कर्म गतिरूप से ही फलता है । यही कारण है कि वे निरन्तर गमन करनेमें ही रत रहते हैं । यद्यपि ज्योतिषी देव मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हैं तो भी वे मेरु पर्वतसे ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर ही विचरण करते हैं ।

§ ४६८. अब गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके सम्बन्धसे व्यवहार-कालका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके द्वारा किया हुआ कालविभाग है ॥१४॥

---

१. –सीदिं चदुतियं दुगचउक्कं । तारा-ता०, ना०, तत्त्वा० । २. 'णउदुत्तरसत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के । तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी।'-ति०, सा०, गा० ३३२ ।

§ ४६९. 'तद्'ग्रहणं गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थम्। न केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्योतिर्भिः कालः परिच्छिद्यते; अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च। कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च। व्यावहारिकः कालविभागस्तत्कृतः समयावलिकादिः क्रियाविशेषपरिच्छिन्नोऽन्यस्यापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः। मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षणः।

§ ४७०. इतरत्र ज्योतिषामवस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

§ ४७१. 'बहिः' इत्युच्यते। कुतो बहिः। नृलोकात्। कथमवगम्यते। अर्थवशाद्विभक्ति-

---

§ ४६९. गमन करनेवाले ज्योतिषी देवोंका निर्देश करनेके लिए 'तत्' पदका ग्रहण किया है। केवल गतिसे कालका निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि वह पायी नहीं जाती और गतिके बिना केवल ज्योतिसे भी कालका निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि परिवर्तनके बिना वह सदा एक-सी रहेगी। यही कारण है कि यहाँ 'तत्' पदके द्वारा गतिवाले ज्योतिषियोंका निर्देश किया है। काल दो प्रकारका है—व्यावहारिककाल और मुख्यकाल। इनमें-से समय और आवलि आदि रूप व्यावहारिककालका विभाग गतिवाले ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया हुआ है। यह क्रिया विशेषसे जाना जाता है और अन्य नहीं जानी हुई वस्तुओंके जाननेका हेतु है। मुख्यकाल इससे भिन्न है जिसका लक्षण आगे कहनेवाले हैं।

विशेषार्थ—मनुष्य मानुषोत्तर पर्वतके भीतर पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वतके एक ओरसे लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं। इसलिए यह मनुष्यलोक कहलाता है। इस लोकमें ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं। इनका भ्रमण मेरुके चारों ओर होता है। मेरुके चारों ओर ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क मण्डल नहीं है। इसके आगे आकाशमें सर्वत्र बिखरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। एक सूर्य जम्बूद्वीपकी पूरी प्रदक्षिणा दो दिन-रातमें करता है। इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीपमें १८० योजन और लवण समुद्रमें ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन माना गया है। सूर्यके घूमनेकी कुल गलियाँ १८४ हैं। इनमें यह क्षेत्र विभाजित हो जाता है। एक गलीसे दूसरी गलीमें २ योजनका अन्तर माना गया है। इसमें सूर्यबिम्बके प्रमाणको मिला देनेपर वह २$\frac{४८}{६१}$ योजन होता है। इतना उदयान्तर है। मण्डलान्तर दो योजनका ही है। चन्द्रको पूरी प्रदक्षिणा करनेमें दो दिन-रातसे कुछ अधिक समय लगता है। चन्द्रोदयमें न्यूनाधिकता इसीसे आती है। लवण समुद्रमें चार सूर्य, चार चन्द्र, धातकीखण्डमें बारह सूर्य, बारह चन्द्र, कालोदधिमें ब्यालीस सूर्य, ब्यालीस चन्द्र और पुष्करार्धमें बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्र हैं। इस प्रकार ढाई द्वीपमें एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्र हैं। इन दोनोंमें चन्द्र, इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र हैं। एक-एक चन्द्रका परिवार एक सूर्य, अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नौ सौ कोड़ाकोड़ी तारे हैं। इन ज्योतिष्कोंका गमन स्वभाव है तो भी आभियोग्य देव सूर्य आदि के विमानोंको निरन्तर ढोया करते हैं। ये देव सिंह, गज, बैल और घोड़ेका आकार धारण किये रहते हैं। सिंहाकार देवोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर रहता है। तथा गजाकार देवोंका मुख दक्षिण दिशाकी ओर, वृषभाकार देवोंका मुख पश्चिमकी ओर, और अश्वाकार देवोंका मुख उत्तर दिशाकी ओर रहता है।

§ ४७०. अब ढाई द्वीपके बाहर ज्योतिषियोंके अवस्थानका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-लोकके बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं ॥१५॥

§ ४७१. सूत्रमें 'बहिः' पद दिया है। **शंका**—किससे बाहर? **समाधान**—मनुष्य-लोकसे

परिणामो भवति। ननु च नृलोके 'नित्यगति'वचनादन्यत्रावस्थानं ज्योतिष्काणां सिद्धम्। अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति। तन्न; किं कारणम्। नृलोकादन्यत्र[1] हि ज्योतिषामस्तित्वमवस्थानं चासिद्धम्। अतस्तदुभयसिद्ध्यर्थं बहिरवस्थिता इत्युच्यते। विपरीतगतिनिवृत्त्यर्थं कादाचित्कगतिनिवृत्त्यर्थं च सूत्रमारब्धम्।

§ ४७२. तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

वैमानिकाः ॥१६॥

§ ४७३. 'वैमानिक'ग्रहणमधिकारार्थम्। इत उत्तरं ये वक्ष्यन्ते तेषां वैमानिकसंप्रत्ययो यथा स्यादिति अधिकारः क्रियते। विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। विमानेषु भवा वैमानिकाः। तानि विमानानि[2] त्रिविधानि—इन्द्रकश्रेणीपुष्पप्रकीर्णकभेदेन। तत्र इन्द्रकविमानानि इन्द्रवन्मध्येऽवस्थितानि[3]। तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणिविमानानि। विदिक्षु प्रकीर्णपुष्पवदवस्थानात्पुष्पप्रकीर्णकानि।

§ ४७४. तेषां वैमानिकानां भेदावबोधनार्थमाह—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

§ ४७५. कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः—कल्पानतीताः कल्पातीताश्चेति द्विविधा वैमानिकाः।

बाहर। शंका—यह कैसे जाना जाता है? समाधान—पिछले सूत्रमें 'नृलोके' पद आया है। अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति बदल जाती है, जिससे यह जाना जाता है कि यहाँ 'बहिः' पदसे मनुष्यलोकके बाहर यह अर्थ इष्ट है। शंका—मनुष्य-लोकमें ज्योतिषी निरन्तर गमन करते हैं यह पिछले सूत्रमें कहा ही है अतः अन्यत्र ज्योतिषियोंका अवस्थान सुतरां सिद्ध है। इसलिए 'बहिरवस्थिताः' यह सूत्रवचन निरर्थक है? समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिषियोंका अस्तित्व और अवस्थान ये दोनों असिद्ध हैं। अतः इन दोनोंकी सिद्धिके लिए 'बहिरवस्थिताः' यह सूत्रवचन कहा है। दूसरे विपरीत गतिके निराकरण करनेके लिए और कादाचित्क गतिके निराकरण करनेके लिए यह सूत्र रचा है। अतः यह सूत्रवचन अनर्थक नहीं है।

§ ४७२. अब चौथे निकायकी सामान्य संज्ञाके कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चौथे निकायके देव वैमानिक हैं ॥१६॥

§ ४७३. वैमानिकोंका अधिकार है यह बतलानेके लिए 'वैमानिक' पदका ग्रहण किया है। आगे जिनका कथन करनेवाले हैं वे वैमानिक हैं। इनका ज्ञान जैसे हो इसके लिए यह अधिकार वचन है। जो विशेषतः अपनेमें रहनेवाले जीवोंको पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान हैं और जो उन विमानोंमें होते हैं वे वैमानिक हैं। इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान अनेक प्रकारके हैं। उनमें से इन्द्रक विमान इन्द्रके समान मध्यमें स्थित हैं। उनके चारों ओर आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिके समान जो स्थित हैं वे श्रेणिविमान हैं। तथा बिखरे हुए फूलोंके समान विदिशाओंमें जो विमान अवस्थित हैं वे पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं।

§ ४७४ उन वैमानिकोंके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे दो प्रकारके हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत ॥१७॥

§ ४७५. जो कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। और जो कल्पोके परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। इस प्रकार वैमानिक दो प्रकारके हैं।

---

१. -न्यत्र बहिर्ज्यो-मु०। २. -नानि विविधा-मु०। ३. मध्ये व्यव- मु०।

§ ४७६. **तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह—**

उपर्युपरि ॥१८॥

§ ४७७. **किमर्थमिदमुच्यते । तिर्यगवस्थितिप्रतिषेधार्थमुच्यते । न ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिताः । न व्यन्तरवदसमावस्थितयः । 'उपर्युपरि' इत्युच्यन्ते । के ते । कल्पाः ।**

§ ४७८. **यद्येवं, कियत्सु कल्पविमानेषु ते देवा भवन्तीत्यत आह—**

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

§ ४७९. **कथमेषां सौधर्मादिशब्दानां कल्पाभिधानम् । चातुरर्थिकेनाणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् । स्वभावतः साहचर्याद्वा । तत्कथमिति चेत् । उच्यते—सुधर्मा नाम सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः । "तदस्मिन्नस्तीति[1]" अण् । तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः । ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावतः । ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः । "तस्य निवासः[2]" इत्यण् । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽप्यैशानः । सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावतः । "तस्य निवासः" इत्यण् । सानत्कुमारः कल्पः । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः । महेन्द्रो**

---

§ ४७६. अब उनके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे ऊपर-ऊपर रहते हैं ॥१८॥

§ ४७७. **शंका**—यह सूत्र किसलिए कहा है ? **समाधान**—ये कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूपसे रहते हैं इसका निषेध करनेके लिए कहा है । ये ज्योतिषियोंके समान तिरछे रूपसे नहीं रहते हैं । उसी प्रकार व्यन्तरोंके समान विषमरूपसे नहीं रहते हैं । किन्तु ऊपर-ऊपर हैं । **शंका**—वे ऊपर-ऊपर क्या हैं ? **समाधान**—कल्प ।

§ ४७८. यदि ऐसा है तो कितने कल्प विमानोंमें वे देव निवास करते हैं, इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार तथा आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धिमें वे निवास करते हैं ॥१९॥

§ ४७९. **शंका**—इन सौधर्मादिक शब्दोंको कल्प संज्ञा किस निमित्तसे मिली है ? **समाधान**—व्याकरणमें चार अर्थमें 'अण्' प्रत्यय होता है उससे सौधर्म आदि शब्दोंकी कल्पसंज्ञा है या स्वभावसे ही वे कल्प कहलाते हैं । **शंका**—सौधर्म आदि शब्द इन्द्रके वाची कैसे हैं ? **समाधान**—स्वभावसे या साहचर्यसे । **शंका**—कैसे ? **समाधान**—सुधर्मा नामकी सभा है वह जहाँ है उस कल्पका नाम सौधर्म है । यहाँ 'तदस्मिन्नस्ति' इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ है । और इस कल्पके सम्बन्धसे वहाँका इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है । इन्द्रका ईशान यह नाम स्वभावसे है । वह इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम ऐशान कल्प है । यहाँ 'तस्य निवासः' इस सूत्रसे 'अण्' प्रत्यय हुआ है । तथा इस कल्पके सम्बन्धसे इन्द्र भी ऐशान कहलाता है । इन्द्रका सनत्कुमार नाम स्वभावसे है । यहाँ 'तस्य निवासः' इस सूत्रसे 'अण्' प्रत्यय हुआ है इससे कल्पका नाम सानत्कुमार

---

१. 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि'-पा० ४, २, ६७ । 'तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ'-जैनेन्द्र ४, १, २५ । २. 'तस्य निवासः'-पा० ४, २, ६९, । तस्य निवासादूरभवौ'–जैनेन्द्र० ३, २, ८६ ।

नामेन्द्रः स्वभावतः। तस्य निवासः कल्पो माहेन्द्रः। तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि माहेन्द्रः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। आगमापेक्षया व्यवस्था भवतीति 'उपर्युपरि' इत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः। प्रथमो सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ, तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ, तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ, तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ, तयोरुपरि शतारसहस्रारौ, तयोरुपरि आनतप्राणतौ, तयोरुपरि आरणाच्युतौ। अध उपरि च प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्यः। मध्ये तु प्रतिद्वयम्[1]। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्राणां चतुर्णां चत्वार इन्द्राः। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेको ब्रह्मा[2] नाम। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाख्यः। शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञः। शतारसहस्रारयोरेकः शतारनामा। आनतप्राणतारणाच्युतानां चतुर्णां चत्वारः। एवं कल्पवासिनां द्वादश इन्द्रा भवन्ति। जम्बूद्वीपे महामन्दरो योजनसहस्रावगाहो[3] नवनवतियोजनसहस्रोच्छ्रायः। तस्याधस्तादधोलोकः। बाहल्येन[4] तत्प्रमाणस्तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोकः[5]। तस्योपरिष्टादूर्ध्वलोकः। मेरुचूलिका चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया। तस्या उपरि केशान्तरमात्रे व्यवस्थितमृजुविमानमिन्द्रकं सौधर्मस्य। सर्वमन्यल्लोकानुयोगाद्वेदितव्यम्। 'नवसु ग्रैवेयकेषु' इति नवशब्दस्य पृथग्वचनं[6] किमर्थम्। अन्यान्यपि नवविमानानि[7] अनुदिशसंज्ञकानि सन्तीति ज्ञापनार्थम्। तेनानुदिशानां ग्रहणं वेदितव्यम्।

पड़ा और इसके सम्बन्धसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहलाता है। इन्द्रका माहेन्द्र नाम स्वभावसे है। वह इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम माहेन्द्र है। और इसके सम्बन्धसे इन्द्र भी माहेन्द्र कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना। 'व्यवस्था आगमके अनुसार होती है इसलिए 'उपर्युपरि' इस पदके साथ दो दो कल्पोंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम सौधर्म और ऐशान कल्प हैं। इनके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प है। इनके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प हैं। इनके ऊपर लान्तव और कापिष्ठ कल्प हैं। इनके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्प हैं। इनके ऊपर शतार और सहस्रार कल्प हैं। इनके ऊपर आनत और प्राणत कल्प हैं। इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प हैं। नीचे और ऊपर प्रत्येक कल्पमें एक एक इन्द्र है तथा मध्यमें दो दो कल्पोंमें एक एक इन्द्र है। तात्पर्य यह है कि सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पोंका एक ब्रह्म नामका इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पोंमें एक लान्तव नामका इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्रमें एक शुक्र नामका इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पोंमें एक शतार नामका इन्द्र है। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। इस प्रकार कल्पवासियोंके बारह इन्द्र होते हैं। जम्बूद्वीप में एक महामन्दर नामका पर्वत है जो मूलमें एक हजार योजन गहरा है। और निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक है। मेरु पर्वतकी जितनी ऊँचाई है उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसकी मेरु चूलिका चालीस योजन विस्तृत है। उसके ऊपर एक बालके अन्तरसे ऋजुविमान है जो सौधर्म कल्पका इन्द्रक विमान है। शेष सव लोकानुयोगसे जानना चाहिए। **शंका**—'नवसु ग्रैवेयकेषु' यहाँ 'नव' शब्दका कथन अलगसे क्यों किया है? **समाधान**—अनुदिश नामके नौ विमान और हैं इस बातके बतलानेके लिए 'नव' शब्दका अलगसे कथन किया है। इससे नौ अनुदिशोंका ग्रहण कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले वमानिक निकायके बारह भेद कर आये हैं और यहाँ सोलह भेद गिनाये हैं इसलिए यह शंका होती है कि इनमें-से कोई एक कथन समीचीन होना चाहिए? समा-

१. द्वयमेकम् मु०। २. ब्रह्मेन्द्रो नाम मु०। ३. -गाहो भवति नव मु०, ता०,ना०। ४. बाहुल्येन मु०, ता०, ना०, दि० २। ५. तत्प्रमाण(मेरुप्रमाण)स्तिर्य-मु०। ६. –वचनं अन्या- ता०, ना०। ७. –मानानि सन्तीति आ०, ता०, ना०।

§ ४८०. एषामधिकृतानां[1] वैमानिकानां परस्परतो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

§ ४८१. स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन्भवे शरीरेण सहावस्थानं[2] स्थितिः। शापानुग्रहशक्तिः प्रभावः। सुखमिन्द्रियार्थानुभवः। शरीरवसनाभरणादिदीप्तिः द्युतिः। लेश्या उक्ता। लेश्याया विशुद्धिर्लेश्याविशुद्धिः। इन्द्रियाणामवधेश्च विषय इन्द्रियावधिविषयः। [3]तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति[4] तसिः। उपर्युपरि प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च वैमानिकाः स्थित्यादिभिरधिका इत्यर्थः।

§ ४८२. यथा स्थित्यादिभिरुपर्युपर्यधिका एवं गत्यादिभिरपीत्यतिप्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

§ ४८३. देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः। शरीरं वैक्रियिकमुक्तम्। लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्गः परिग्रहः। मानकषायादुत्पन्नोऽहंकारोऽभिमानः। एतैर्गत्यादिभिरुपर्युपरि हीनाः। देशान्तरविषयक्रीडारतिप्रकर्षाभावादुपर्युपरि गतिहीनाः। शरीरं सौधर्मैशानयोर्देवानां सप्तारत्निप्रमाणम्।

धान यह है कि कल्पोपपन्नोंके बारह इन्द्र होते हैं, इसलिए उनके भेद भी बारह ही हैं पर वे रहते हैं सोलह कल्पोंमें। यहाँ कल्पोंमें रहनेवाले देवोंके भेद नहीं गिनाये हैं। यहाँ तो उनके निवासस्थानोंकी परिगणना की गयी है, इसलिए दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है। शेष कथन सुगम है।

§ ४८०. अब इन अधिकार प्राप्त वैमानिकोंके परस्पर विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषयकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव अधिक हैं ॥२०॥

§ ४८१. अपने द्वारा प्राप्त हुई आयुके उदयसे उस भवमें शरीरके साथ रहना स्थिति कहलाती है। शाप और अनुग्रहरूप शक्तिको प्रभाव कहते हैं। इन्द्रियोंके विषयोंके अनुभवन करनेको सुख कहते हैं। शरीर, वस्त्र और आभूषण आदिकी कान्तिको द्युति कहते हैं। लेश्याका कथन कर आये। लेश्याकी विशुद्धि लेश्याविशुद्धि कहलाती है। इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय इन्द्रियविषय और अवधिविषय कहलाता है। इनसे या इनकी अपेक्षा वे सब देव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक हैं। तात्पर्य यह है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्पमें और प्रत्येक प्रस्तारमें वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा अधिक-अधिक हैं।

§ ४८२. जिस प्रकार ये वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिक हैं उसी प्रकार गति आदिकी अपेक्षा भी प्राप्त हुए, अतः इसका निराकरण करनेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव हीन हैं ॥२१॥

§ ४८३. एक देशसे दूसरे देशके प्राप्त करनेका जो साधन है उसे गति कहते हैं। यहाँ शरीरसे वैक्रियिक शरीर लिया है यह पहले कह आये हैं। लोभ कषायके उदयसे विषयोंके संगको परिग्रह कहते हैं। मानकषायके उदयसे उत्पन्न हुए अहंकारको अभिमान कहते हैं। इन गति आदिकी अपेक्षा वैमानिक देव ऊपर-ऊपर हीन हैं। भिन्न देशमें स्थित विषयोंमें क्रीड़ा विषयक रतिका प्रकर्ष नहीं पाया जाता इसलिए ऊपर-ऊपर गमन कम है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गके

---

१. –तानां परस्प– आ०। २. सह स्थानं आ०, दि० १, दि० २। ३. 'अपादाने चाहीयरुहोः'- पा० ५, ४, ४५। –अपादानेऽहीयरुहोः' –जैनेन्द्र ४, २, ६२। 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्'–पा० ५, ४, ४४ वार्ति०। 'आद्यादिभ्यस्तसिः' –जैनन्द्र० ४, २, ६०। ४. इति तस्मिन्नुप– मु०।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः षडरत्निप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारत्निप्रमाणम् । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु चतुररत्निप्रमाणम् । आनतप्राणतयोरर्द्धचतुर्थारत्निप्रमाणम् । आरणाच्युतयोस्त्र्यरत्निप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्द्धतृतीयारत्निप्रमाणम् । मध्यग्रैवेयकेष्वरत्निद्वयप्रमाणम् । उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानकेषु च अध्यर्द्धारत्निप्रमाणम्[1] । अनुत्तरेष्वरत्निप्रमाणम् । परिग्रहश्च विमानपरिच्छदादिरुपर्युपरि हीनः । अभिमानश्चोपर्युपरि तनुकषायत्वाद्धीनः ।

§ ४८४. पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्याविधिरुक्तः । इदानीं वैमानिकेषु लेश्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

§ ४८५. पीता च पद्मा च शुक्ला च[2] ताः पीतपद्मशुक्लाः । पीतपद्मशुक्ला लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः । कथं ह्रस्वत्वम् । औत्तरपदिकम्[3] । यथा[4]—"द्रुतायां[5] तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्[6]" इति । अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीतपद्मशुक्ला वर्णवन्तोऽर्थाः ।

देवोंका शरीर सात अरत्निप्रमाण है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका शरीर छह अरत्निप्रमाण है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पके देवोंका शरीर पाँच अरत्निप्रमाण है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पके देवोंका शरीर चार अरत्निप्रमाण है । आनत और प्राणत कल्पके देवोंका शरीर साढ़े तीन अरत्निप्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंका शरीर तीन अरत्निप्रमाण है । अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्रोंका शरीर ढाई अरत्निप्रमाण है । मध्यग्रैवेयकमें अहमिन्द्रोंका शरीर दो अरत्निप्रमाण है । उपरिम ग्रैवेयकमें और अनुदिशोंमें अहमिन्द्रोंका शरीर डेढ़ अरत्निप्रमाण है । तथा पाँच अनुत्तर विमानोंमें अहमिन्द्रोंका शरीर एक अरत्निप्रमाण है । विमानोंकी लम्बाई चौड़ाई आदि रूप परिग्रह ऊपर-ऊपर कम है । अल्प कषाय होनेसे अभिमान भी ऊपर-ऊपर कम है ।

विशेषार्थ—ऊपरके देवोंमें परिग्रह कमती-कमती होता है और पुण्यातिशय अधिक-अधिक, इससे ज्ञात होता है कि बाह्य परिग्रहका संचय पुण्यका फल न होकर मूर्च्छाका फल है । ऊपर-ऊपर मूर्च्छा न्यून होती है जो उनके पूर्वभवके संस्कारका फल है, इसलिए परिग्रह भी न्यून-न्यून होता है ।

§ ४८४. पहले तीन निकायोंमें लेश्याका कथन कर आये । अब वैमानिकोंमें लेश्याओंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो, तीन कल्प युगलोंमें और शेषमें क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं ॥२२॥

§ ४८५. पीता, पद्मा और शुक्लामें द्वन्द्व समास है, अनन्तर लेश्या शब्दके साथ बहुव्रीहि समास है । जिनके ये पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं । **शंका**—पीता, पद्मा और शुक्ला ये तीनों शब्द दीर्घ हैं वे ह्रस्व किस नियमसे हो गये ? **समाधान**—जैसे 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्' अर्थात् द्रुतावृत्तिमें तपर-

---

१. –रत्निमात्रम् । अनु–आ०, दि० १, दि० २, ता० । २. च पीत– आ०, दि० २, । ३. –तरपादिकम् आ०, दि० १, दि० २ । ४. यथाहुः द्रु–मु०, ना०, ता० । ५. 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात् । द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् । तथा मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः । किं पुनः कारणं न सिद्धयति । कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम् । ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् ।' –पा० म० भा० १, १, ९ । ६. –ख्यानमिति । द्रुतमध्यमविलम्बिता इति । अथवा आ०, दि० १ । –ख्यानमिति । द्रुतमध्यमविलम्बिता इति । अथवा दि० २ ।

तेषामिव लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः। तत्र कस्य का लेश्या इति। अत्रोच्यते—सौधर्मैशानयोः पीतलेश्याः। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पीतपद्मलेश्याः। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः। आनतादिषु शुक्ललेश्याः। तत्राप्यनुदिशानुत्तरेषु परमशुक्ललेश्याः। सूत्रेऽनभिहितं कथं मिश्रग्रहणम्। साहचर्याल्लोकवत्। तद्यथा—छत्रिणो गच्छन्ति इति अच्छत्रिषु छत्रव्यवहारः। एवमिहापि मिश्रयोरन्यतरग्रहणं भवति। अयमर्थः सूत्रतः कथं गम्यते इति चेत्। उच्यते—एवमभिसंबन्धः क्रियते, द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्या; सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या; शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः। शेषेष शतारादिषु शुक्ललेश्या; पद्मलेश्याया अविवक्षातः। इति नास्ति दोषः।

§ ४८६. आह कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेदं न ज्ञायते के कल्पा इत्यत्रोच्यते—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

§ ४८७. इदं न ज्ञायते इत आरभ्य कल्पा भवन्तीति सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते। तेनायमर्थो लभ्यते—सौधर्मादयः प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति। पारिशेष्यादितरे कल्पातीता इति।

करण करनेपर मध्यमा और विलम्बितावृत्तिमें उसका उपसंख्यान होता है इसके अनुसार यहाँ 'मध्यमा' शब्दमें औत्तरपदिक ह्रस्व हुआ है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी औत्तरपदिक ह्रस्व जानना चाहिए। अथवा यहाँ पीता, पद्मा और शुक्ला शब्द न लेकर पीत, पद्म और शुक्ल वर्णवाले पदार्थ लेने चाहिए। जिनके इन वर्णोंके समान लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले जीव हैं। इस प्रकार यहाँ पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शब्द ह्रस्व ही समझना चाहिए। अब किसके कौन लेश्या है यह बतलाते हैं—सौधर्म और ऐशान कल्पमें पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें पीत और पद्म दोनों लेश्याएँ हैं। ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पोंमें पद्मलेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पमें पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ हैं। तथा आनतादिकमें शुक्ल लेश्या है। उसमें भी अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें परम शुक्ल लेश्या है। **शंका**—सूत्रमें तो मिश्र लेश्याएँ नहीं कही हैं फिर उनका कैसे ग्रहण होता है? **समाधान**—सम्बन्धसे मिश्र लेश्याओंका ग्रहण होता है, लोकके समान। जैसे, 'छत्री जाते हैं' ऐसा कथन करने पर अछत्रियोंमें भी छत्री व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ भी दोनों मिश्र लेश्याओंमें-से किसी एकका ग्रहण होता है। **शंका**—यह अर्थ सूत्रसे कैसे जाना जाता है? **समाधान**—यहाँ ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए कि दो कल्प युगलोंमें पीत लेश्या है। यहाँ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की। ब्रह्मलोक आदि तीन कल्पयुगलोंमें पद्म लेश्या है। शुक्र और महाशुक्रमें शुक्ल लेश्याकी विवक्षा नहीं की। शेष शतार आदिमें शुक्ललेश्या है। पद्म लेश्याकी विवक्षा नहीं की। इसलिए कोई दोष नहीं है।

§ ४८६. कल्पोपपन्न देव हैं यह कह आये पर यह नहीं ज्ञात हुआ कि कल्प कौन हैं, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ग्रैवेयकोंसे पहले तक कल्प हैं ॥२३॥

§ ४८७. यह नहीं मालूम होता कि यहाँसे लेकर कल्प है इसलिए सौधर्म आदि पदकी अनुवृत्ति होती है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्मसे लेकर और नौ ग्रैवेयकसे पूर्वतक कल्प हैं। परिशेष न्यायसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष सब कल्पातीत हैं।

§ ४८८. लौकान्तिका देवा वैमानिकाः सन्तः क्व गृह्यन्ते। कल्पोपपन्नेषु। कथमिति चेदुच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

§ ४८९. एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्याः। यद्येवं सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां देवानां लौकान्तिकत्वं प्रसक्तम्। अन्वर्थसंज्ञाग्रहणाददोषः ब्रह्मलोको लोकः, तस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम्। तेषां हि विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि। अथवा जन्मजरामरणाकीर्णो लोकः संसारः, तस्यान्तो लोकान्तः। लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः। ते सर्वे परीतसंसाराः, ततश्च्युता एकं गर्भावासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति।

§ ४९०. तेषां सामान्येनोपदिष्टानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

§ ४९१. क्व इमे सारस्वतादयः। अष्टास्वपि पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः। तद्यथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्यां दिशि अरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यां दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यां दिशि अरिष्टविमानम्। 'च'शब्दसमुच्चितास्तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ। तद्यथा—सारस्वतादित्यान्तरे

---

§ ४८८. लौकान्तिक देव वैमानिक हैं उनका किनमें समावेश होता है? वैमानिकोंमें। कैसे? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लौकान्तिक देवोंका ब्रह्मलोक निवासस्थान है ॥२४॥

§ ४८९. आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं वह आलय या आवास कहलाता है। ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमें रहनेवाले लौकान्तिक देव जानना चाहिए। **शंका**—यदि ऐसा है तो ब्रह्मलोकमें रहनेवाले सब देव लौकान्तिक हुए? **समाधान**—सार्थक संज्ञाके ग्रहण करनेसे यह दोष नहीं रहता। लौकान्तिक शब्दमें जो लोक शब्द है उससे ब्रह्मलोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाया। वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं इसलिए ब्रह्मलोकमें रहनेवाले सब देवोंका ग्रहण नहीं होता है। इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्तभागमें स्थित हैं। अथवा जन्म, जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार संसारके अन्तमें जो होते हैं वे लौकान्तिक हैं, क्योंकि ये सब संसारको प्राप्त हो गये हैं। वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमें रहकर निर्वाणको प्राप्त होंगे।

§ ४९०. सामान्यसे कहे गये उन लौकान्तिक देवोंके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं ॥२५॥

§ ४९१. **शंका**—ये सारस्वत आदिक कहाँ रहते हैं? **समाधान**—पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओंमें क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं ऐसा जानना चाहिए। यथा—पूर्वोत्तर कोणमें सारस्वतोंके विमान हैं। पूर्व दिशामें आदित्योंके विमान हैं। पूर्व-दक्षिण दिशामें वह्निदेवोंके विमान हैं। दक्षिण दिशामें अरुण विमान हैं। दक्षिण-पश्चिम कोनेमें गर्दतोयविमान हैं। पश्चिम दिशामें तुषितविमान हैं। उत्तर-पश्चिम दिशामें अव्याबाधविमान हैं। और उत्तर दिशामें अरिष्टविमान हैं।

अग्न्याभसूर्याभाः । आदित्यस्य च वह्नेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभाः । वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमंकराः । अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचाराः । गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुद्वसवः । अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वाः । सर्वे एते स्वतन्त्राः; हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद्देवर्षयः, इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः तीर्थंकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्याः ।

§ ४९२. आह, उक्ता लौकान्तिकास्ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य निर्वास्यन्तीत्युक्ताः । किमेवमन्येष्वपि निर्वाणप्राप्तिकालविभागो विद्यते । इत्यत आह—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

§ ४९३. 'आदि'शब्दः प्रकारार्थे वर्तते, तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणं सिद्धं भवति । कः पुनरत्र प्रकारः । अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्दृष्ट्युपपादः । सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत् । न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, अन्वर्थसंज्ञात एकचरमत्वसिद्धेः । चरमत्वं देहस्य मनुष्यभवापेक्षया । द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः । विजयादिभ्यश्च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य ततश्च्युताः पुनर्मनुष्यभवमवाप्य सिद्ध्यन्तीति द्विचरमदेहत्वम् ।

सूत्रमें 'च' शब्द है उससे इनके मध्यमें दो दो देवगण और हैं इसका समुच्चय होता है । यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमें अग्न्याभ और सूर्याभ हैं । आदित्य और वह्निके मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ हैं । वह्नि और अरुणके मध्यमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर हैं । अरुण और गर्दतोयके मध्यमें वृषभेष्ट और कामचार हैं । गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं । तुषित और अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं । अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत् और वसु हैं । अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अश्व और विश्व हैं । ये सब देव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती । विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देवऋषि हैं । दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं । चौदह पूर्वोंके ज्ञाता हैं और वैराग्य कल्याणकके समय तीर्थंकरको संबोधन करनेमें तत्पर हैं ।

§ ४९२. लौकान्तिक देवोंका कथन किया और वहाँसे च्युत होकर तथा एक गर्भको धारण करके निर्वाणको प्राप्त होंगे यह भी कहा । क्या इसी प्रकार अन्य देवोंमें भी निर्वाणको प्राप्त होनेके कालमें भेद है ? अब इसी बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विजयादिकमें दो चरमवाले देव होते हैं ॥२६॥

§ ४९३. यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशोंका ग्रहण सिद्ध हो जाता है । **शंका**—यहाँ कौन-सा प्रकार लिया है ? **समाधान**—अहमिन्द्र होते हुए सम्यग्दृष्टियोंका उत्पन्न होना, यह प्रकार यहाँ लिया गया है । **शंका**—इससे सर्वार्थसिद्धिका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि वे परम उत्कृष्ट हैं । उनका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं । देहका चरमपना मनुष्य भवकी अपेक्षा लिया है । जिसके दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं । जो विजयादिकसे च्युत होकर और सम्यक्त्वको न छोड़कर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और संयमकी आराधना कर पुनः मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होते हैं । इस प्रकार यहाँ मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना है ।

विशेषार्थ—कोई-कोई विजयादिकके देव मनुष्य होते हैं । अनन्तर सौधर्म और ईशान कल्पमें देव होते हैं । अनन्तर मनुष्य होते हैं । फिर विजयादिकमें देव होते हैं और अन्तमें वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होते हैं । तब कहीं मोक्ष जाते हैं । इस प्रकार इस विधिसे विचार करनेपर मनुष्यके

§ ४९४. आह, जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनिगतिरौदयिकीत्युक्तं, पुनश्च स्थितौ 'तिर्यग्योनिजानां च' इति । तत्र न ज्ञायते के तिर्यग्योनयः । इत्यत्रोच्यते—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

§ ४९५. औपपादिका उक्ता देवनारकाः । मनुष्याश्च निर्दिष्टाः 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इति । एभ्योऽन्ये संसारिणो जीवाः शेषास्ते[1] तिर्यग्योनयो वेदितव्याः । तेषां तिरश्चां देवादीनामिव क्षेत्रविभागः पुनर्निर्देष्टव्यः । सर्वलोकव्यापित्वात्तेषां क्षेत्रविभागो नोक्तः ।

§ ४९६. आह, स्थितिरुक्ता नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां च । देवानां नोक्ता । तस्यां वक्तव्यायामादावुद्दिष्टानां भवनवासिनां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥२८॥

§ ४९७. असुरादीनां सागरोपमादिभिर्यथाक्रममत्राभिसंबन्धो वेदितव्यः । इयं स्थितिरुत्कृष्टा जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा असुराणां सागरोपमा स्थितिः । नागानां त्रिपल्योपमानि[2] स्थितिः । सुपर्णानामर्द्धतृतीयानि । द्वीपानां द्वे । शेषाणां षण्णामध्यर्द्धपल्योपमम् ।

तीन भव हो जाते हैं । इसलिए मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना नहीं ठहरता ? इसका समाधान यह है कि विजयादिकसे तो दो बार ही मनुष्य जन्म लेना पड़ता है, इसलिए पूर्वोक्त कथन बन जाता है । ऐसा जीव यद्यपि मध्यमें एक बार अन्य कल्पमें हो आया है, पर सूत्रकारने यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है । उनकी दृष्टि यही बतलानेकी रही है कि विजयादिकसे अधिकसे अधिक कितनी बार मनुष्य होकर जीव मोक्ष जाता है ।

§ ४९४. जीवके औदयिक भावोंको बतलाते हुए तिर्यंचगति औदयिकी कही है । पुनः स्थितिका कथन करते समय 'तिर्यग्योनिजानां च' यह सूत्र कहा है । पर यह न जान सके कि तिर्यंच कौन हैं इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपाद जन्मवाले और मनुष्योंके सिवा शेष सब जीव तिर्यंचयोनिवाले हैं ॥२७॥

§ ४९५. औपपादिक देव और नारकी हैं यह पहले कह आये । 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इसका व्याख्यान करते समय मनुष्योंका भी कथन कर आये । इनसे अन्य जितने संसारी जीव हैं उनका यहाँ शेष पदके द्वारा ग्रहण किया है । वे सब तिर्यंच जानना चाहिए । **शंका**—जिस प्रकार देवादिकका पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है उसी प्रकार इनका क्षेत्र बतलाना चाहिए ? **समाधान**—तिर्यंच सब लोकमें रहते हैं अतः उनका अलगसे क्षेत्र नहीं कहा ।

§ ४९६. नारकी, मनुष्य और तिर्यंचोंकी स्थिति पहले कही जा चुकी है । परन्तु अभी तक देवोंकी स्थिति नहीं कही है । अतः उसका कथन करते हुए सर्वप्रथम प्रारम्भमें कहे गये भवनवासियोंकी स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, ढाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य प्रमाण है ॥२८॥

§ ४९७. यहाँ सागरोपम आदि शब्दोंके साथ असुरकुमार आदि शब्दोंका क्रमसे सम्बन्ध जान लेना चाहिए । यह उत्कृष्ट स्थिति है । जघन्य स्थिति भी आगे कहेंगे । वह उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—असुरोंकी स्थिति एक सागर है । नागोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है । सुपर्णोंकी उत्कृष्ट स्थिति ढाई पल्य है । द्वीपोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो पल्य है । और शेष छह कुमारोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्य है ।

---

१. शेषास्तिर्य–मु॰, दि॰ २ । २. –पमा स्थितिः मु॰ ।

§ ४९८. आद्यदेवनिकायस्थित्यभिधानादनन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति तदुल्लङ्घ्य वैमानिकानां स्थितिरुच्यते। कुतः। तयोरुत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात्। तेषु चादावुद्दिष्टयोः कल्पयोः स्थितिविधानार्थमाह—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

§ ४९९. 'सागरोपमे' इति द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः। 'अधिके' इत्ययमधिकारः। आ कुतः। आ सहस्रारात्। इदं तु कुतो ज्ञायते। उत्तरत्र 'तु' शब्दग्रहणात्। तेन सौधर्मैशानयोर्देवानां द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये।

§ ५००. उत्तरयोः स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

§ ५०१. अनयोः कल्पयोर्देवानां सप्तसागरोपमाणि साधिकानि उत्कृष्टा स्थितिः।

§ ५०२. ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

§ ५०३. 'सप्त'ग्रहणं प्रकृतम्। तस्येह त्र्यादिभिर्निर्दिष्टैरभिसंबन्धो वेदितव्यः। सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादिः। द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः। 'तु'शब्दो विशेष-

---

§ ४९८. देवोंके प्रथम निकायकी स्थिति कहनेके पश्चात् व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी स्थिति क्रमप्राप्त है किन्तु उसे छोड़कर वैमानिकोंकी स्थिति कहते हैं; क्योंकि व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी स्थिति आगे थोड़ेमें कही जा सकेगी। वैमानिकोंमें आदिमें कहे गये दो कल्पोंकी स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥२९॥

§ ४९९. सूत्रमें 'सागरोपमे' यह द्विवचन प्रयोग दिया है उससे दो सागरोंका ज्ञान होता है। 'अधिके' यह अधिकार वचन है। शंका—इसका कहाँतक अधिकार है? समाधान—सहस्रार कल्प तक। शंका—यह कैसे जाना जाता है? समाधान—अगले सूत्रमें जो 'तु' पद दिया है उससे जाना जाता है।

§ ५००. इससे यह निश्चित होता है कि सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो सागरसे कुछ अधिक स्थिति है। अब आगेके दो कल्पोंमें स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥३०॥

§ ५०१. इन दो कल्पोंमें देवोंकी साधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

§ ५०२. अब ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंमें स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगलसे लेकर प्रत्येक युगलमें आरण-अच्युत तक क्रमसे साधिक तीनसे अधिक सात सागरोपम, साधिक सातसे अधिक सात सागरोपम, साधिक नौसे अधिक सात सागरोपम, साधिक ग्यारहसे अधिक सात सागरोपम, तेरहसे अधिक सात सागरोपम और पन्द्रह-से अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥३१॥

§ ५०३. यहाँ पिछले सूत्रसे 'सप्त' पदका ग्रहण होता है। उसका यहाँ तीन आदि निर्दिष्ट शब्दोंके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा—तीन अधिक सात, सात अधिक सात आदि। तथा इनका क्रमसे दो दो कल्पोंके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। सूत्रमें 'तु' शब्द विशेषताके दिखलाने-

णार्थः। किं विशिनष्टि। 'अधिक'शब्दोऽनुवर्तमानश्चतुर्भि[1]रभिसंबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशिष्यते। तेनायमर्थो भवति—ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमाणि साधिकानि। लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि। शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि। शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि। आनतप्राणतयोर्विंशतिसागरोपमाणि। आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि।

§ ५०४. तत ऊर्ध्वं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

§ ५०५. 'अधिक'ग्रहणमनुवर्तते। तेनेहाभिसंबन्धो वेदितव्यः। एकैकेनाधिकानीति। 'नव' ग्रहणं किमर्थम्। प्रत्येकमेकैकमधिकमिति ज्ञापनार्थम्। इतरथा हि ग्रैवेयकेष्वेकमेवाधिकं स्यात्। विजयादिष्विति 'आदि'शब्दस्य प्रकारार्थत्वादनुदिशानामपि ग्रहणम्। सर्वार्थसिद्धेस्तु पृथग्ग्रहणं जघन्याभावप्रतिपादनार्थम्। तेनायमर्थः, अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशतिः, द्वितीये चतुर्विंशतिः, तृतीये पञ्चविंशतिः। मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिः द्वितीये सप्तविंशतिः तृतीयेऽष्टाविंशतिः। उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकोनत्रिंशद् द्वितीये त्रिंशत् तृतीये एकत्रिंशत्। अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत्। विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः। सर्वार्थसिद्धौ[2] त्रयस्त्रिंशदेवेति।

के लिए आया है। **शंका**—इससे क्या विशेषता मालूम पड़ती है? **समाधान**—इससे यहाँ यह विशेषता मालूम पड़ती है कि अधिक शब्दकी अनुवृत्ति होकर उसका सम्बन्ध त्रि आदि चार शब्दोंसे ही होता है, अन्तके दो स्थितिविकल्पोंसे नहीं। इससे यहाँ यह अर्थ प्राप्त हो जाता है, ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तरमें साधिक दस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठमें साधिक चौदह-सागर उत्कृष्ट स्थिति है। शुक्र और महाशुक्रमें साधिक सोलह सागर उत्कृष्ट स्थिति है। शतार और सहस्रारमें साधिक अठारह सागर उत्कृष्ट स्थिति है। आनत और प्राणतमें बीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। तथा आरण और अच्युतमें बाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

§ ५०४. अब इसके आगेके विमानोंमें स्थितिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आरण-अच्युतके ऊपर नौ ग्रैवयेकमें-से प्रत्येकमें नौ अनुदिशमें, चार विजयादिकमें एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट स्थिति है। तथा सर्वार्थसिद्धिमें पूरी तैंतीस सागर स्थिति है।॥३२॥

§ ५०५. पूर्व सूत्रसे अधिक पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि एक-एक सागर अधिक है। **शंका**—सूत्रमें 'नव' पदका ग्रहण किसलिए किया? **समाधान**—प्रत्येक ग्रैवेयकमें एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस बातका ज्ञान करानेके लिए 'नव' पदका अलगसे ग्रहण किया है। यदि ऐसा न करते तो सब ग्रैवेयकोंमें एक सागर अधिक स्थिति ही प्राप्त होती। 'विजयादिषु' में आदि शब्द प्रकारवाची है जिससे अनुदिशोंका ग्रहण हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं है यह बतलानेके लिए 'सर्वार्थसिद्धि' पदका अलगसे ग्रहण किया है। इससे यह अर्थ प्राप्त हुआ कि अधोग्रैवेयकमें-से प्रथममें तेईस सागर, दूसरेमें चौबीस सागर और तीसरेमें पच्चीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। मध्यम ग्रैवेयकमें-से प्रथममें छब्बीस सागर, दूसरेमें सत्ताईस सागर और तीसरेमें अट्ठाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। उपरिम ग्रैवेयकमें-से पहलेमें उनतीस सागर, दूसरेमें तीस सागर और तीसरेमें इकतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानोंमें बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धिमें तैंतीस सागर ही स्थिति है। यहाँ उत्कृष्ट और जघन्यका भेद नहीं है।

---

१. –तुर्भिरिह सम्ब–आ० १, दि० २। २. जघन्यस्थितिः मु०।

§ ५०६. निर्दिष्टोत्कृष्टस्थितिकेषु देवेषु जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

§ ५०७. पल्योपमं व्याख्यातम्। अपरा जघन्या[1] स्थितिः। पल्योपमं साधिकम्। केषाम्। सौधर्मैशानीयानाम्। कथं गम्यते। 'परतः परतः' इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात्।

§ ५०८. तत ऊर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

§ ५०९. परस्मिन्देशे परतः। वीप्सायां द्वित्वम्। 'पूर्व'शब्दस्यापि। 'अधिक'ग्रहणमनुवर्तते। तेनैवमभिसंबन्धः क्रियते—सौधर्मैशानयोर्द्वे सागरोपमे साधिके उक्ते, ते साधिके सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्जघन्या स्थितिः। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि, [2]तानि साधिकानि ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि।

§ ५१०. नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरुक्ता। जघन्यां सूत्रेऽनुपात्तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

---

§ ५०६. जिनमें उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं उनमें जघन्य स्थिति का कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य स्थिति साधिक एक पल्य है ॥३३॥

§ ५०७. पल्योपमका व्याख्यान कर आये। यहाँ 'अपरा' पदसे जघन्य स्थिति ली गयी है। जो साधिक एक पल्य है। **शंका**—यह जघन्य स्थिति किनकी है। **समाधान**—सौधर्म और ऐशान कल्पके देवोंकी। **शंका**—कैसे जाना जाता है ? **समाधान**—जो पूर्व-पूर्व देवों की उत्कृष्ट स्थिति है वह अगले-अगले देवों की जघन्य स्थिति है यह आगे कहनेवाले हैं इससे जाना जाता कि यह सौधर्म और ऐशान कल्पके देवों की जघन्य स्थिति है।

§ ५०८. अब सौधर्म और ऐशान कल्पसे आगेके देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगे-आगे पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥३४॥

§ ५०९. यहाँ 'परतः' पदका अर्थ 'पर स्थानमें' लिया गया है। तथा द्वित्व वीप्सा रूप अर्थमें आया है। इसी प्रकार 'पूर्व' शब्द को भी वीप्सा अर्थमें द्वित्व किया है। अधिक पदकी यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसलिए इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि सौधर्म और ऐशान कल्पमें जो साधिक दो सागर उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमें एक समय मिला देने पर सानत्कुमार और माहेन्द्र-कल्पमें जघन्य स्थिति होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जो साधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमें एक समय मिला देने पर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में जघन्य स्थिति होती है इत्यादि।

§ ५१०. नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं पर सूत्र-द्वारा अभी जघन्य स्थिति नहीं कही है। यद्यपि उसका प्रकरण नहीं है तो भी यहाँ उसका थोड़ेमें कथन हो सकता है इस इच्छासे आचार्यने आगेका सूत्र कहा है—

दूसरी आदि भूमियोंमें नारकोंकी पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥३५॥

---

१. जघन्यस्थितिः मु०। २. तानि ब्रह्म—मु०, ता०।

§ ५११. 'च'शब्दः किमर्थः। प्रकृतसमुच्चयार्थः। किं च प्रकृतम्। 'परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा' अपरा स्थितिरिति। तेनायमर्थो लभ्यते—रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं सागरोपमम्। सा शर्कराप्रभायां जघन्या। शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि। सा वालुकाप्रभायां जघन्येत्यादि।

§ ५१२. एवं द्वितीयादिषु जघन्या स्थितिरुक्ता। प्रथमायां का जघन्येति तत्प्रदर्शनार्थमाह—

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

§ ५१३. अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते[1]। रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वेदितव्या।

§ ५१४. अथ भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

भवनेषु च ॥३७॥

§ ५१५. 'च' शब्द किमर्थः। प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यभिसंबध्यते।

§ ५१६. व्यन्तराणां तर्हि का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

व्यन्तराणां च ॥३८॥

§ ५१७. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यवगम्यते।

---

§ ५११. शंका—सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए 'च' शब्द दिया है। शंका—क्या प्रकृत है ? समाधान—'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिः' यह प्रकृत है 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि रत्नप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागर है वह शर्कराप्रभामें जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभामें उत्कृष्ट स्थिति जो तीन सागर है वह वालुका प्रभामें जघन्य स्थिति है इत्यादि।

§ ५१२. इस प्रकार द्वितीयादि नरकोंमें जघन्य स्थिति कही। प्रथम नरकमें जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम भूमिमें दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥३६॥

§ ५१३. इस सूत्रमें 'अपरा स्थितिः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथिवीमें दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

§ ५१४. अब भवनवासियों की जघन्य स्थिति कितनी है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासियों में भी दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥३७॥

§ ५१५. शंका—सूत्रमें 'च' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए। इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

§ ५१६. तो व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यन्तरों की दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥३८॥

§ ५१७. सूत्रमें 'च' शब्द प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए दिया है। इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

---

१. –र्तते। अथ भवन-आ०, दि० १, दि० २।

§ ५१८. अथैषां परा स्थितिः का इत्यत्रोच्यते—

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

§ ५१९. परा उत्कृष्टा स्थितिर्व्यन्तराणां पल्योपममधिकम् ।

§ ५२०. इदानीं ज्योतिष्काणां परा स्थितिर्वक्तव्येत्यत आह—

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

§ ५२१. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेनैवमभिसंबन्धः । ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पल्योपममधिकमिति ।

§ ५२२. अथापरा कियतीत्यत आह—

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

§ ५२३. तस्य पल्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थः ।

§ ५२४. अथ लौकान्तिकानां विशेषोक्तानां स्थितिविशेषो नोक्तः । स कियानित्यत्रोच्यते—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

§ ५२५. अविशिष्टाः सर्वे ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः[1] ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

---

§ ५१८. अब व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य है ॥३९॥

§ ५१९. पर शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है । तात्पर्य यह है कि व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य है ।

§ ५२०. अब ज्योतिषियों की स्थिति कहनी चाहिए, अतः आगे का सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य है ॥४०॥

§ ५२१. सूत्रमें 'च' शब्द प्रकृतका समुच्चय करनेके लिए दिया है । इससे यह अर्थ घटित होता है कि ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य है ।

§ ५२२. ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थितिका आठवाँ भाग है ॥४१॥

§ ५२३. इस सूत्रका यह भाव है कि उसका अर्थात् पल्यका आठवाँ भाग ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति है ।

§ ५२४. विशेषरूपमें कहे गये लौकान्तिक देवोंकी स्थिति नहीं कही है । वह कितनी है अब यह बतलाते हैं—

सब लौकान्तिकोंकी स्थिति आठ सागर है ॥४२॥

§ ५२५. इन सब लौकान्तिकोंकी शुक्ल लेश्या होती है । और शरीरकी ऊँचाई पाँच हाथ होती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

---

१. शरीराः । चतुर्णिकायदेवानां स्थानं भेदः सुखादिकम् । परापरा स्थितिर्लेश्या तुर्याध्याये निरूपितम् । इति तत्त्वा-मु०, दि० १, मि० २, आ० ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

§ ५२६. इदानीं सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु जीवपदार्थो व्याख्यातः। अथाजीवपदार्थो विचारप्राप्तस्तस्य संज्ञाभेदसंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्‍गलाः ॥१॥

§ ५२७. 'काय'शब्दः शरीरे व्युत्पादितः। इहोपचारादध्यारोप्यते। कुत उपचारः। यथा शरीरं पुद्‍गलद्रव्यप्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति। अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः "विशेषणं विशेष्येणेति[1]" वृत्तिः। ननु च नीलोत्पलादिषु व्यभिचारे सति विशेषणविशेष्ययोगः। इहापि व्यभिचारयोगोऽस्ति। अजीवशब्दोऽकाये कालेऽपि वर्तते, कायोऽपि जीवे। किमर्थः कायशब्दः। प्रदेशबहुत्वज्ञापनार्थः। धर्मादीनां प्रदेशा बहव इति। ननु च 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इत्यनेनैव प्रदेशबहुत्वं ज्ञापितम्। [2]सत्यमिदम्। परं किन्त्वस्मिन्विधौ सति तदवधारणं विज्ञायते, असंख्येयाः। प्रदेशा न संख्येया नाप्यनन्ता इति। कालस्य[3] प्रदेशप्रचयाभावज्ञापनार्थं च इह 'काय'ग्रहणम्। कालो वक्ष्यते। तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह

§ ५२६. सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जो जीवादि पदार्थ कहे हैं उनमें-से जीव पदार्थका व्याख्यान किया। अब अजीव पदार्थका व्याख्यान विचार प्राप्त है अतः उसकी संज्ञा और भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‍गल ये अजीवकाय हैं ॥१॥

§ ५२७. व्युत्पत्तिसे काय शब्दका अर्थ शरीर है तो भी यहाँ उपचारसे उसका आरोप किया है। **शंका**—उपचारका क्या कारण है? **समाधान**—जिस प्रकार शरीर पुद्‍गल द्रव्यके प्रचयरूप होता है उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेशप्रचयकी अपेक्षा कायके समान होनेसे काय कहे गये हैं। अजीव और काय इनमें कर्मधारय समास है। जो 'विशेषणं विशेष्येण' इस सूत्रसे हुआ है। **शंका**—नीलोत्पल इत्यादिमें नील और उत्पल इन दोनों का व्यभिचार देखा जाता है अतः वहाँ विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध किया गया है, किन्तु अजीवकायमें विशेषणविशेष्य सम्बन्ध करनेका क्या कारण है? **समाधान**—अजीवकायका यहाँ भी व्यभिचार देखा जाता है क्योंकि अजीव शब्द कालमें भी रहता है जो कि काय नहीं है और काय शब्द जीवमें रहता है, अतः इस दोषके निवारण करनेके लिए यहाँ विशेषणविशेष्य सम्बन्ध किया है। **शंका**—काय शब्द किसलिए दिया है? **समाधान**—प्रदेश बहुत्वका ज्ञान करानेके लिए। धर्मादिक द्रव्योंके बहुत प्रदेश हैं यह इससे जाना जाता है। **शंका**—आगे यह सूत्र आया है कि 'धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं' इसीसे इनके बहुत प्रदेशोंका ज्ञान हो जाता है फिर यहाँ कायशब्दके देनेकी क्या आवश्यकता? **समाधान**—यह ठीक है। तो भी इस कथनके होनेपर उस सूत्रसे प्रदेशोंके विषयमें यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं और न अनन्त। दूसरे काल द्रव्यमें प्रदेशोंका प्रचय नहीं है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्रमें 'काय' पदका ग्रहण किया है। कालका आगे व्याख्यान करेंगे। उसके प्रदेशोंका निषेध करनेके लिए यहाँ 'काय' शब्दका ग्रहण किया है। जिस

---

१. जैनेन्द्र० १।३।४८। २. सत्यं अस्मिन् ता, ना०। ३. कालप्रदेश-आ०, दि० १, दि० २।

'काय'ग्रहणम् । यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वाद् द्वितीयादयोऽस्य[1] प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरप्येकप्रदेशत्वादप्रदेश इति । तेषां धर्मादीनाम् 'अजीव' इति सामान्यसंज्ञा जीवलक्षणाभावमुखेन प्रवृत्ता । 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः'[2] इति विशेषसंज्ञाः सामयिक्यः ।

§ ५२८. अत्राह, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि, कानि तानीत्युच्यते—

द्रव्याणि ॥२॥

§ ५२९. यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि । द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति चेत् । न; उभयासिद्धेः । यथा दण्डदण्डिनोर्योगो भवति पृथक्सिद्धयोः, न च तथा द्रव्यद्रव्यत्वे पृथक्सिद्धे स्तः । यद्यपृथक्सिद्धयोरपि योगः स्यादाकाशकुसुमस्य प्रकृतपुरुषस्य[3] द्वितीयशिरसश्च योगः स्यादिति । अथ पृथक्सिद्धिरभ्युपगम्यते, द्रव्यत्वकल्पना निरर्थिका । गुणसमुदायो[4] द्रव्यमिति चेत् । तत्रापि गुणानां समुदायस्य च भेदाभावे तद् व्यपदेशो नोपपद्यते । भेदाभ्युपगमे च पूर्वोक्त एव दोषः । ननु गुणान्द्रवन्ति[6] गुणैर्वा द्रूयन्ते[7] इति विग्रहेऽपि स एव दोष इति चेत् । न; कथंचिद्भेदाभेदोपपत्तेस्तद्व्यपदेशसिद्धिः[5] । व्यतिरेकेणानुपलब्धेरभेदः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदाद् भेद

प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीय आदि प्रदेश नहीं होते इसलिए अणुको अप्रदेशी कहते हैं उसी प्रकार काल परमाणु भी एकप्रदेशरूप होनेके कारण अप्रदेशी है । धर्मादिक द्रव्यमें जीवका लक्षण नहीं पाया जाता इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है । तथा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये उनकी विशेष संज्ञाएँ हैं जो कि यौगिक हैं ।

§ ५२८. 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्यादि सूत्रोंमें द्रव्य कह आये हैं । वे कौन हैं ये बतलानेके लिए आगे सूत्र कहते हैं—

ये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य हैं ॥२॥

§ ५२९. द्रव्य शब्दमें 'द्रु' धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है । इससे द्रव्य शब्दका व्युत्पत्तिरूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायोंको प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं । **शंका**—द्रव्यत्व नामकी एक जाति है उसके सम्बन्धसे द्रव्य कहना ठीक है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इस तरह दोनों की सिद्धि नहीं होती । जिस प्रकार दण्ड और दण्डी ये दोनों पृथक् सिद्ध हैं अतः उनका सम्बन्ध बन जाता है उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व ये अलग-अलग सिद्ध नहीं हैं । यदि अलग-अलग सिद्ध न होनेपर भी इनका सम्बन्ध माना जाता है तो आकाश-कुसुम का और प्रकृत पुरुषके दूसरे सिरका भी सम्बन्ध मानना पड़ेगा । यदि इनकी पृथक् सिद्धि स्वीकार करते हो तो द्रव्यत्वका अलगसे मानना निष्फल है । गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं यदि ऐसा मानते हो तो यहाँ भी गुणोंका और समुदायका भेद नहीं रहनेपर पूर्वोक्त संज्ञा नहीं बन सकती है । यदि भेद माना जाता है तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है इसमें जो दोष दे आये हैं वही दोष यहाँ भी प्राप्त होता है । **शंका**—जो गुणोंको प्राप्त हों या गुणोंके द्वारा प्राप्त हों उन्हें द्रव्य कहते हैं, द्रव्यका इस प्रकार विग्रह करनेपर भी वही दोष प्राप्त होता है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदके बन जानेसे द्रव्य इस संज्ञाकी सिद्धि हो जाती है । गुण और द्रव्य ये एक दूसरेको छोड़कर नहीं पाये जाते इसलिए तो इनमें अभेद है । तथा संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे इनमें

१. योऽस्य न. मु० । २. धर्मोऽधर्म आकाशं पुद्गलाः इति आ०, दि० १, दि० २ । ३. प्रकृतपुरुषद्वितीय– आ०, दि० १, दि० २, ता० । प्रकृतिपुरुषस्य द्वितीय–मु० । ४. गुणसंद्रावो द्रव्य–आ०, दि० १, दि० २, ता०, ना० । ५. तद्द्रव्यव्यप–मु० । ६. द्रवति आ०, दि० १, दि० २ । ७. द्रूयते आ०, दि० १, दि० २ ।

इति । प्रकृता धर्मादयो बह्वस्तत्सामानाधिकरण्याद् बहुत्वनिर्देशः । स्यादेतत्संख्यानुवृत्तिवत्पुंल्लिङ्गानुवृत्तिरपि प्राप्नोति । नैष दोषः; आविष्टलिङ्गाः शब्दा न कदाचिल्लिङ्गं व्यभिचरन्ति[1] । अतो धर्मादयो द्रव्याणि भवन्तीति ।

§ ५३०. अनन्तरत्वाच्चतुर्णामेव द्रव्यव्यपदेशप्रसङ्गेऽध्यारोपणार्थमिदमुच्यते—

जीवाश्च ॥३॥

§ ५३१. 'जीव'शब्दो व्याख्यातार्थः । बहुत्वनिर्देशो व्याख्यातभेदप्रतिपत्त्यर्थः । 'च'[2]शब्दः द्रव्यसंज्ञानुकर्षणार्थः जीवाश्च द्रव्याणीति । एवमेतानि वक्ष्यमाणेन कालेन सह षड् द्रव्याणि भवन्ति । ननु द्रव्यस्य लक्षणं वक्ष्यते 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति । तल्लक्षणयोगाद्धर्मादीनां द्रव्य[3]व्यपदेशो भवति, नार्थः परिगणनेन । परिगणनमवधारणार्थम् । तेनान्यवादिपरिकल्पितानां पृथिव्या[4]दीनां निवृत्तिः कृता भवति । कथम् । पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति; रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्[5] । वायुमनसो रूपादियोगाभाव इति चेत् । न; वायुस्तावद्रूपादिमान्; स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवत् । चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावाद्रूपाद्यभाव इति[6] चेत् । न; परमाण्वादिष्वतिप्रसङ्गः स्यात् । आपो गन्धवत्यः; स्पर्शवत्त्वात्पृथिवीवत् । तेजोऽपि रसगन्धवद्; रूपवत्त्वात् तद्वदेव ।

परस्पर भेद है । प्रकृत धर्मादिक द्रव्य बहुत हैं इसलिए उनके साथ समानाधिकरण करनेके अभिप्रायसे 'द्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनरूप निर्देश किया है । **शंका**—जिस प्रकार यहाँ संख्याकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई है उसी प्रकार पुंलिंगकी भी अनुवृत्ति प्राप्त होती है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जिस शब्दका जो लिंग है वह कभी भी अपने लिंगका त्याग करके अन्य लिंगके द्वारा व्यवहृत नहीं होता । इसलिए 'धर्मादयो द्रव्याणि भवन्ति' ऐसा सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए ।

§ ५३०. अव्यवहित होनेके कारण धर्मादिक चारको ही द्रव्य संज्ञा प्राप्त हुई, अतः अन्यका अध्यारोप करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव भी द्रव्य हैं ॥ ३ ॥

§ ५३१. जीव शब्दका व्याख्यान कर आये । सूत्रमें जो बहुवचन दिया है वह जीव द्रव्यके कहे गये भेदोंके दिखलानेके लिए दिया है । 'च' शब्द द्रव्य संज्ञाके खींचनेके लिए दिया है जिससे 'जीव भी द्रव्य हैं' यह अर्थ फलित हो जाता है । इस प्रकार ये पाँच आगे कहे जानेवाले कालके साथ छह द्रव्य होते हैं । **शंका**—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र-द्वारा द्रव्यका लक्षण कहेंगे; अतः लक्षणके सम्बन्धसे धर्मादिकको 'द्रव्य' संज्ञा प्राप्त हो जाती है फिर यहाँ उनकी अलगसे गिनती करनेका कोई कारण नहीं है ? **समाधान**—गिनती निश्चय करनेके लिए की है । इससे अन्यवादियोंके द्वारा माने गये पृथिवी आदि द्रव्योंका निराकरण हो जाता है । **शंका**—कैसे ? **समाधान**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इनका पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होते हैं । **शंका**—वायु और मनमें रूपादिक नहीं हैं ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि वायु रूपादिवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, घटके समान । इस अनुमानके द्वारा वायुमें रूपादिककी सिद्धि होती है । **शंका**—चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा वायुका ग्रहण नहीं होता, इसलिए उसमें रूपादिकका अभाव है ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि इस प्रकार माननेपर परमाणु आदिमें अतिप्रसंग दोष आता है । अर्थात् परमाणु आदिको भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण करतीं इसलिए उनमें भी रूपादिकका अभाव मानना पड़ेगा । इसी प्रकार जल गन्धवाला

---

१. –चरन्ति, अनन्तरत्वात् ता०, ना० । २. च शब्दः संज्ञा—मु० । ३. द्रव्यत्वव्यप–मु० । ४. 'पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।'–वै० सू० १ । १, ५ । ५. –त्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत् । वायु–मु०, ता०, ना० । ६. इति चेत्पर–मु०, आ० दि० १, दि० २ ।

मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र भावमनो ज्ञानम्; तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः। द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः। रूपादिवन्मनः; ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत्। ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोग[1]करणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्। न; तस्य पौद्गलिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्य[2]दर्शनाद्रूपादिमत्त्वं न तथा वायुमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते[3] इति चेत्। न; तेषामपि [4]तदुपपत्तेः। सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यत्वाभ्युपगमात्। न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति; जातिसंकरेणारम्भदर्शनात्। दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः, आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः।

है, स्पर्शवाला होनेसे, पृथिवीके समान। अग्नि भी रस और गन्धवाली है, रूपवाली होनेसे, पृथिवीके समान। मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन। उनमें-से भावमन ज्ञानस्वरूप है, और ज्ञान जीवका गुण है इसलिए इसका आत्मामें अन्तर्भाव होता है। तथा द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते हैं, अतः वह पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है। यथा—मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका करण होनेसे, चक्षु इन्द्रियके समान। **शंका**—शब्द अमूर्त होते हुए भी उसमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है, अतः मनको रूपादिवाला सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि शब्द पौद्गलिक है अतः उसमें मूर्तपना बन जाता है। **शंका**—जिस प्रकार परमाणुओंके रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते हैं अतः वे रूपादिवाले सिद्ध होते हैं उस प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं दिखाई देते ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्य सिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी है। कोई पार्थिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं, यह बात नहीं है; क्योंकि जातिका संकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है। इसी प्रकार दिशाका भी आकाशमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाश प्रदेशपंक्तियोंमें यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ—जातिकी अपेक्षा ये जीव पुद्गलादि जितने पदार्थ हैं वे सब द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इस शब्दमें दो अर्थ छिपे हुए हैं—द्रवणशीलता और ध्रुवता। जगत्का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है इसलिए उसे द्रव्य कहते हैं। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायोंका कभी भी उल्लंघन नहीं करता। उसके प्रवाहित होनेकी नियत धारा है जिसके आश्रयसे वह प्रवाहित होता रहता है। द्रव्य इस शब्दका उपयोग हमें जैन दर्शनके सिवा वैशेषिक दर्शनमें विशेष रूपसे व्यवहृत दिखाई देता है। वैशेषिकदर्शनमें गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद माना है इसलिए वह द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है, द्रव्य शब्दका ऐसा अर्थ करता है किन्तु उसका यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि द्रव्यत्व नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ अनुभवमें नहीं आता। इस दर्शनने द्रव्यके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन, दिशा आदि अनेक भेद किये हैं किन्तु विचार करनेपर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका अन्तर्भाव पुद्गलमें हो जाता है। पुद्गलका स्वरूप आगे बतलानेवाले हैं। वहाँ उसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला बतलाया है। पृथ्वी जलादि जो पदार्थ पहले कह आये हैं, उन सबमें ये स्पर्शादिक उपलब्ध होते हैं यह निर्विवाद है। मनके दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन। उनमें-से द्रव्यमनका अन्तर्भाव पुद्गलमें और भावमनका अन्तर्भाव जीवमें होता है। इसी प्रकार दिशा आकाशसे

---

१. –योगकारणत्व–मु०। २. –कार्यत्वदर्श–मु०। ३. दृश्यते न तेषा– आ०, दि० १, दि० २। ४. तदुत्पत्तेः मु०।

§ ५३२. उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

§ ५३३. नित्यं ध्रुवमित्यर्थः। "[1]नेर्ध्रुवे त्यः[2]" इति निष्पादितत्वात्। धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशादस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि। वक्ष्यते हि 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इति। इयत्ताऽव्यभिचारादवस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते। ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे[3] तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः। तेन अरूपाण्यमूर्तानीत्यर्थः।

§ ५३४. यथा सर्वेषां द्रव्याणां 'नित्यावस्थितानि' इत्येतत्साधारणं लक्षणं[4] प्राप्तं तथा पुद्गलानामपि अरूपित्वं प्राप्तम्। अतस्तदपवादार्थमाह—

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

§ ५३५. रूपं मूर्तिरित्यर्थः। का मूर्तिः। रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः। रूपमेषामस्तीति रूपिणः। मूर्तिमन्त इत्यर्थः। अथवा रूपमिति गुणविशेषवचनशब्दः[5]। तदेषामस्तीति रूपिणः।

पृथक् भूत पदार्थ नहीं है क्योंकि सूर्यके उदयादिकी अपेक्षा आकाशमें ही दिशा व्यवहार होता है। इस प्रकार विचार करनेपर जैन दर्शनमें जो जीवादि पदार्थ गिनाये हैं वे ही द्रव्य ठहरते हैं अन्य नहीं, ऐसा सिद्ध होता है।

§ ५३२. अब उक्त द्रव्योंके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं ॥४॥

§ ५३३. नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है। 'नेर्ध्रुवे त्यः' इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुव-अर्थमें 'त्य' प्रत्यय लगाकर नित्य शब्द बना है। गतिहेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणोंको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा और अस्तित्व आदि रूप सामान्य लक्षणको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ये छहों द्रव्य कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं होते इसलिए नित्य हैं। 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इस सूत्र-द्वारा इसी बातको आगे कहनेवाले भी हैं। संख्याका कभी व्यभिचार नहीं होता इसलिए अवस्थित हैं। ये धर्मादिक छहों द्रव्य कभी भी छह इस संख्याका उल्लंघन नहीं करते इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। इनमें रूप नहीं पाया जाता इसलिए अरूपी हैं। यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं अतः उनका भी निषेध हो जाता है। इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त होता है।

§ ५३४. जिस प्रकार सब द्रव्योंका नित्य और अवस्थित यह साधारण लक्षण प्राप्त होता है उसी प्रकार पुद्गलोंमें अरूपीपना भी प्राप्त होता है अतः इसका अपवाद करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गल रूपी हैं ॥५॥

§ ५३५. रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है। **शंका**—मूर्ति किसे कहते हैं? **समाधान**—रूपादिकके आकारसे परिणमन होनेको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमान् है। अथवा, रूप यह गुणविशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया

---

१. नि ध्रुवे नित्य इति आ०, दि० १, दि० २। नेर्ध्रुवेऽर्थे त्यः ता०। २. 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्'—पा० ४, २, १०४ वार्तिकम्। नेर्ध्रुवे'—जैनेन्द्र० ३, २, ८२ वार्तिकम्। ३. —षेधेन तत्सह—मु०। ४. लक्षणं तथा अरूपित्वं पुद्गलानामपि प्राप्तम् मु०। ५. शब्दः। तेषा—आ०, दि० १, दि० २।

रसाद्यग्रहणमिति चेत् । न; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः । 'पुद्गलाः' इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् । भिन्ना हि पुद्गलाः; स्कन्धपरमाणुभेदात् । तद्विकल्प उपरिष्टाद्वक्ष्यते । यदि प्रधानवदरूपित्वमेकत्वं चेष्टं स्यात्, विश्वरूपकार्यदर्शनविरोधः स्यात् ।

§ ५३६. आह, किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानीत्यत्रोच्यते—

आ[1] आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

§ ५३७. 'आङ्' अयमभिविध्यर्थः । सौत्रीमानुपूर्वी[2]मासृत्यैतदुक्तम् । तेन धर्माऽधर्माकाशानि गृह्यन्ते । 'एक' शब्दः संख्यावचनः । तेन द्रव्यं विशिष्यते, एकं द्रव्यं एकद्रव्यमिति । यद्येवं बहुवचनमयुक्तम्, धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धिर्भवति । ननु[3] एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगादेकैकमित्यस्तु, लघुत्वाद् । 'द्रव्य' ग्रहणमनर्थकम् । [सत्यम्[4];] तथापि द्रव्यापेक्षया एकत्वख्यापनार्थं द्रव्यग्रहणम् । क्षेत्रभावा[5]द्यपेक्षया असंख्येयत्वानन्तत्वविकल्पस्येष्टत्वान्न जीवपुद्गलवदेषां बहुत्वमित्येतदनेन ख्याप्यते ।

जाता है वे रूपी कहलाते हैं । **शंका**—यहाँ रसादिकका ग्रहण नहीं किया है ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि रसादिक रूपके अविनाभावी हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव हो जाता है ।

पुद्गलोंके भेदोंका कथन करनेके लिए सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह बहुवचन दिया है । स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गल अनेक प्रकारके हैं । पुद्गलके ये सब भेद आगे कहेंगे । यदि पुद्गलको प्रधानके समान एक और अरूपी माना जाय तो जो विश्वरूप कार्य दिखाई देता है उसके होनेमें विरोध आता है ।

§ ५३६. पुद्गल द्रव्यके समान क्या धर्मादिक प्रत्येक द्रव्य भी अनेक हैं । अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाश तक एक-एक द्रव्य हैं ॥६॥

§ ५३७. इस सूत्रमें 'आङ्' अभिविधि अर्थमें आया है । सूत्र सम्बन्धी आनुपूर्वीका अनुसरण करके यह कहा है । इससे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनका ग्रहण होता है । एक शब्द संख्यावाची है और वह द्रव्यका विशेषण है । तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं । **शंका**—यदि ऐसा है तो सूत्र में 'एकद्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना अयुक्त है ? **समाधान**—धर्मादिक द्रव्योंकी अपेक्षा बहुवचन बन जाता है । **शंका**—एकमें अनेकके ज्ञान करानेकी शक्ति होती है, इसलिए 'एकद्रव्याणि'के स्थानमें 'एकैकम्' इतना ही रहा आवे । इससे सूत्र छोटा हो जाता है । तथा 'द्रव्य' पदका ग्रहण करना भी निष्फल है ? **समाधान**—ये धर्मादिक द्रव्यकी अपेक्षा एक हैं इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'द्रव्य' पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि यदि सूत्रमें 'एकैकम्' इतना ही कहा जाता तो यह नहीं मालूम पड़ता कि ये धर्मादिक द्रव्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमें-से किसकी अपेक्षा एक हैं अतः सन्देहके निवारण करनेके लिए 'एकद्रव्याणि' पद रखा है । इनमें-से धर्म और अधर्म द्रव्यके क्षेत्रकी अपेक्षा असंख्यात विकल्प इष्ट होनेसे और भावकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे तथा आकाशके क्षेत्र और भाव दोनोंकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे ये जीव और पुद्गलके समान बहुत नहीं हैं इस प्रकार यह बात इस सूत्रमें दिखायी गयी है ।

---

१. –'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरयोरङित् ।' २. –पूर्वीमनुसृत्यै–मु० । ३. –वति । एक–आ० दि० १, दि० २ । ४. –र्थकं । तत्क्रियते द्रव्या–ता० ना० । –र्थकं । तज्ज्ञायते द्रव्या–आ० दि० १, दि० २ । ५. –भावापेक्षया आ०, ता०, ना०, दि० १, दि० २ ।

§ ५३८. अधिकृतानामेव एकद्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

निष्क्रियाणि च ।।७।।

§ ५३९. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। तस्या निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि। अत्र चोद्यते–धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः। उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति। अतः सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रि[1]तयकल्पनाव्याघात इति। तन्न; किं कारणम्। अन्यथोपपत्तेः। क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा–द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामा[2]ण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीवपुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते। जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति। नैष दोषः; बलाधाननिमित्तत्वाच्चक्षुर्वत्। यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्त[3]मिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति। अधिकृतानां धर्मा-

---

§ ५३८. अब अधिकार प्राप्त उन्हीं एक-एक द्रव्योंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा निष्क्रिय हैं ।।७।।

§ ५३९. अन्तरंग और बहिरंग निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्यके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें प्राप्त करानेका कारण है वह क्रिया कहलाती है और जो इस प्रकारकी क्रियासे रहित हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं। **शंका**—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता, क्योंकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है। और उत्पाद नहीं बननेसे इनका व्यय नहीं बनता। अतः सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं इस कल्पनाका व्याघात हो जाता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पाद आदिक तीन अन्य प्रकारसे बन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्योंमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा-उत्पाद दो प्रकारका है, स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। स्वनिमित्तक यथा—प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुण स्वीकार किये गये हैं जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय भी उत्पाद और व्यय होता है। यथा—ये धर्मादिक द्रव्य क्रमसे अश्व आदिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें कारण हैं। चूँकि इन गति आदिक में क्षण-क्षणमें अन्तर पड़ता है इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। **शंका**—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गलोंकी गति आदिकके कारण नहीं हो सकते; क्योंकि जलादिक क्रियावान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे जाते हैं, अन्यथा नहीं? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय रूपके ग्रहण करनेमें निमित्तमात्र है, इसलिए जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु इन्द्रियके रहते हुए भी रूपका ग्रहण नहीं होता। उसी प्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिए। इस

---

१. -दादित्रयकल्प-मु०। २. -गमप्रमाणादभ्यु-आ०, दि० १, दि० २। ३. -र्निमित्तमपि न मु०, ता०, ना०।

धर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थादापन्नम् । कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत् । न; अनधिकारात् । अत एवासावेतैः सह नाधिक्रियते ।

§ ५४०. अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणेन प्रदेशास्तित्वमात्रं निर्ज्ञातं न त्वियत्तावधारिता प्रदेशानामतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

§ ५४१. संख्यामतीता असंख्येयाः । असंख्येयस्त्रिविधः–जघन्य उत्कृष्टोऽजघन्योत्कृष्टश्चेति । तत्रेहाजघन्योत्कृष्टासंख्येयः परिगृह्यते । प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः । वक्ष्यमाणलक्षणः परमाणुः स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । धर्माधर्मैकजीवास्तुल्यासंख्येयप्रदेशाः । तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौ लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ । जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि सन् संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वाऽधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते । यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलमध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते । इतरे प्रदेशा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यश्नुवते ।

§ ५४२. अथाकाशस्य कति प्रदेशा इत्यत आह—

आकाशस्यानन्ताः[1] ॥९॥

प्रकार अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय मान लेने पर जीव और पुद्गल सक्रिय हैं यह प्रकरणसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है। **शंका**—काल द्रव्य भी सक्रिय होगा? **समाधान**—नहीं; क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है। इसलिए इन द्रव्यों के साथ उसका अधिकार नहीं किया है।

§ ५४०. 'अजीवकायाः' इत्यादि सूत्रमें 'काय' पदके ग्रहण करनेसे प्रदेशोंका अस्तित्व मात्र जाना जाता है प्रदेशोंकी संख्या नहीं मालूम होती, अतः उसका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं ॥८॥

§ ५४१. जो संख्यासे परे हैं वे असंख्यात कहलाते हैं। असंख्यात तीन प्रकारका है—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। उनमें-से यहाँ अजघन्योत्कृष्टका ग्रहण किया है। 'प्रदिश्यन्ते, इति प्रदेशाः' यह प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि जिससे विवक्षित परिमाणका संकेत मिलता है, उसे प्रदेश कहते हैं। परमाणुका लक्षण आगे कहेंगे। वह जितने क्षेत्रमें रहता है वह प्रदेश है ऐसा व्यवहार किया जाता है। धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेशोंकी संख्या समान है। इनमें-से धर्म और अधर्मद्रव्य निष्क्रिय हैं और लोकाकाशभरमें फैले हुए हैं। यद्यपि जीवके प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यके बराबर ही हैं तो भी वह संकोच और विस्तारस्वभाववाला है; इसलिए कर्मके निमित्तसे छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है उतनी अवगाहनाका होकर यह जीव रहता है। और केवलिसमुद्घातके समय जब यह लोकको व्यापता है उस समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमें स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप लेते हैं।

§ ५४२. अब आकाश द्रव्यके कितने प्रदेश हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाशके अनन्त प्रदेश हैं ॥९॥

---

१. –नन्ताः ॥९॥ लोकेऽलोके चाकाशं वर्तते । अवि–मु० ।

§ ५४३. अविद्यमानोऽन्तो येषां ते अनन्ताः। के। प्रदेशाः। कस्य। आकाशस्य। पूर्ववदस्यापि प्रदेशकल्पनाऽवसेया।

§ ५४४. उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम्। इदानीं मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं निर्ज्ञातव्यमित्यत आह—

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

§ ५४५. 'च'[1]शब्दादनन्ताश्चेत्यनुकृष्यते। कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः कस्यचिदसंख्येया अनन्ताश्च। अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत्। न; अनन्तसामान्यात्। अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तं परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति। तत्सर्वमनन्तसामान्येन गृह्यते। स्यादेतदसंख्यातप्रदेशो लोकः अनन्तप्रदेशस्यानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्त्यमिति। नैष दोषः; सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात्। परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते. अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहतास्ति। तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते।

§ ५४६. 'पुद्गलानाम्' इत्यविशेषवचनात्परमाणोरपि प्रदेशवत्त्वप्रसङ्गे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

नाणोः ॥११॥

---

§ ५४३. जिनका अन्त नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं? **शंका**—अनन्त क्या हैं? **समाधान**—प्रदेश। **शंका**—किसके? **समाधान**—आकाशके। पहलेके समान इसके भी प्रदेशकी कल्पना जान लेनी चाहिए। अर्थात् जितने क्षेत्रमें एक परमाणु रहता है उसे प्रदेश कहते हैं। प्रदेशका यह अर्थ यहाँ भी जानना चाहिए।

§ ५४४. अमूर्त द्रव्योंके प्रदेश कहे। अब मूर्त पुद्गलोंके प्रदेशोंकी संख्या ज्ञातव्य है, अतः उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ॥१०॥

§ ५४५. सूत्रमें जो 'च' शब्द दिया है उससे अनन्तकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि किसी द्व्यणुक आदि पुद्गल द्रव्यके संख्यात प्रदेश होते हैं और किसीके असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश होते हैं। **शंका**—यहाँ अनन्तानन्तका उपसंख्यान करना चाहिए? **समाधान**—नहीं; क्योंकि यहाँ अनन्त सामान्यका ग्रहण किया है। अनन्त प्रमाण तीन प्रकारका कहा है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इसलिए इन सबका अनन्त सामान्यसे ग्रहण हो जाता है। **शंका**—लोक असंख्यात प्रदेशवाला है इसलिए वह अनन्त प्रदेशवाले और अनन्तानन्त प्रदेशवाले स्कन्धका आधार है, इस बातके माननेमें विरोध आता है अतः पुद्गलके अनन्त प्रदेश नहीं बनते? **समाधान**— यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोंका आकाश आधार हो जाता है। सूक्ष्मरूपसे परिणत हुए परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमें अनन्तानन्त ठहर जाते हैं। इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है, इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त परमाणुओंका अवस्थान विरोधको प्राप्त नहीं होता।

§ ५४६. पूर्व सूत्रमें 'पुद्गलानाम्' यह सामान्य वचन कहा है। इससे परमाणुके भी प्रदेशों का प्रसंग प्राप्त होता है, अतः उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परमाणुके प्रदेश नहीं होते ॥११॥

---

१. च शब्देनानन्ता–मु०, ता०, ना०।

§ ५४७. अणोः 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्। प्रदेशमात्रत्वात्। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदाभावः। किं च ततोऽल्पपरिमाणाभावात्। न ह्यणोरल्पीयानन्योऽस्ति, यतोऽस्य प्रदेशा भिद्येरन्।

§ ५४८. एषामवधृतप्रदेशानां धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

§ ५४९. उक्तानां धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहो न बहिरित्यर्थः। यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति। आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठम्; धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत्। नैष दोषः; नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्तं हि तत्[1]। धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम्, "क्व भवानास्ते। आत्मनि" इति। धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्। ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनाम्। न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीन्युत्तरकालभावीनि; अतो व्यवहारनयापेक्षयाऽपि आधाराधेयकल्पनानुपपत्तिरिति ? नैष दोषः; युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावो दृश्यते। घटे

---

§ ५४७. परमाणुके प्रदेश नहीं हैं। यहाँ 'सन्ति' यह वाक्यका शेष है। **शंका**—परमाणुके प्रदेश क्यों नहीं होते ? **समाधान**—क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेशमें प्रदेश-भेद नहीं होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेशरूप है इसलिए उसमें प्रदेशभेद नहीं होता। दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश-भेदको प्राप्त होवें।

§ ५४८. इस प्रकार निश्चित प्रदेशवाले इन धर्मादिक द्रव्योंके आधारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन धर्मादिक द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है ॥१२॥

§ ५४९. उक्त धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है बाहर नहीं, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। **शंका**—यदि धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाश आधार है तो आकाशका क्या आधार है ? **समाधान**—आकाशका अन्य आधार नहीं है; क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है। **शंका**—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिए। यदि धर्मादिक द्रव्योंका अन्य आधार माना जाता है तो आकाशका भी अन्य आधार मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि आकाशसे अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है जहाँ आकाश स्थित है यह कहा जाय। वह सबसे अनन्त है। परन्तु धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनयकी अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूत नयकी अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है—आप कहाँ रहते हैं ? अपनेमें। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं हैं. यहाँ आधार-आधेय कल्पनासे इतना ही फलितार्थ लिया गया है। **शंका**—लोकमें जो पूर्वोत्तर कालभावी होते हैं उन्हींका आधार-आधेयभाव देखा गया है। जैसे कि बेरोंका आधार कुण्ड होता है। उस प्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हों, ऐसा तो है नहीं, अतः व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आधार-आधेयकल्पना नहीं बनती ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि एक साथ होनेवाले पदार्थों में आधार-आधेय-

---

१. तत्। ततो धर्मा–ता०, ना० मु०।

रूपादयः शरीरे हस्तादय इति। लोक इत्युच्यते। को लोकः। धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। अधिकरणसाधनो घञ्[1]। आकाशं द्विधा विभक्तं लोकाकाशमलोकाकाशं चेति। लोक उक्तः। स यत्र तल्लोकाकाशम्। ततो बहिः सर्वतोऽनन्तमलोकाकाशम्। लोकालोक-विभागश्च धर्माधर्मास्तिका[2]यसद्भावासद्भावाद्विज्ञेयः। असति हि तस्मिन्धर्मास्तिकाये जीवपुद्गलानां गतिनियमहेत्वभावाद्विभागो न स्यात्। असति चाधर्मास्तिकाये स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात् स्थिते[3]रभावो लोकालोकविभागाभावो वा स्यात्। तस्मादुभयसद्भावा[4]सद्भावाल्लोकालोक-विभागसिद्धिः।

§ ५५०. तत्रावध्रियमाणानामवस्थानभेदसंभवाद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

§ ५५१. कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थम्। अगारेऽवस्थितो घट इति यथा तथा धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहो न भवति। किं तर्हि। कृत्स्ने तिलेषु तैलवदिति। अन्योन्यप्रदेशप्रवेशव्याघाताभावः अवगाहनशक्तियोगाद्वेदितव्यः।

§ ५५२. अतो विपरीतानां मूर्तिम[5]तामप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाह-विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

भाव देखा जाता है। यथा—घटमें रूपादिकका और शरीरमें हाथ आदिका। अब लोकका स्वरूप कहते हैं—**शंका**—लोक किसे कहते हैं? **समाधान**—जहाँ धर्मादिक द्रव्य विलोके जाते हैं उसे लोक कहते हैं। 'लोक' धातुसे अधिकरण अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करके लोक शब्द बना है। आकाश दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकका स्वरूप पहले कह आये हैं। वह जितने आकाशमें होता है वह लोकाकाश है और उससे बाहर सबसे अनन्त अलोकाकाश है। यह लोकालोकका विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए। अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है। यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाय तो जीव और पुद्गलोंकी गतिके नियमका हेतु न रहनेसे लोकालोकका विभाग नहीं बनता। उसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाय तो स्थितिका निमित्त न रहनेसे जीव और पुद्गलोंकी स्थितिका अभाव होता है जिससे लोकालोकका विभाग नहीं बनता। इसलिए इन दोनोंके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा लोकालोकके विभागकी सिद्धि होती है।

§ ५५०. लोकाकाशमें जितने द्रव्य बतलाये हैं उनके अवस्थानमें भेद हो सकता है इसलिए प्रत्येक द्रव्यके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समग्र लोकाकाशमें है ॥१३॥

§ ५५१. सब लोकाकाशके साथ व्याप्तिके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत्स्न' पद रखा है। घरमें जिस प्रकार घट अवस्थित रहता है उस प्रकार लोकाकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह नहीं है। किन्तु जिस प्रकार तिलमें तैल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह है। यद्यपि ये सब द्रव्य एक जगह रहते हैं तो भी अवगाहन शक्तिके निमित्तसे इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघातको नहीं प्राप्त होते।

§ ५५२. अब जो उक्त द्रव्योंसे विपरीत हैं और जो अप्रदेशी हैं या संख्यात असंख्यात और अनन्तप्रदेशी हैं ऐसे मूर्तिमान् पुद्गलोंके अवगाह विशेषके ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

---

१. 'हलः' जैनेन्द्र, २।३।११८। 'हलश्च' पाणिनि, ३।३।१२१। २. –कायसद्भावाद्वि–मु०। ३. –रभावः। तस्या अभावे लोका–मु०, ता०, ना०। ४. –भयसद्भावाल्लोका–मु०। ५. –मतामेकप्रदे–मु०।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

§ ५५३. एकः[1] प्रदेश एकप्रदेशः। एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः। तेषु पुद्गलानामवगाहो भाज्यो विकल्प्यः। "अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः"[2] इति एकप्रदेशोऽपि गृह्यते। तद्यथा—एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे परमाणोरवगाहः। द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च। त्रयाणा[3]मप्येकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशेऽवस्थानं प्रत्येतव्यम्। ननु युक्तं तावदमूर्तयोर्धर्माधर्मयोरेकत्राविरोधेनावरोध इति। मूर्तिमतां पुद्गलानां कथम्। इत्यत्रोच्यते-अवगाहनस्वभावत्वात्सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहो न विरुध्यते एकापवरके अनेकदीपप्रकाशावस्थानवत्। आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम्। तदुक्तम्—

"ओगाढगाढणिचिओ पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं अणंताणंतेहिं विवहेहिं[4]॥"

§ ५५४. अथ जीवानां कथमवगाहनमित्यत्रोच्यते—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

§ ५५५. 'लोकाकाशे' इत्यनुवर्तते। तस्यासंख्येयभागीकृतस्यैको भागोऽसंख्येयभाग इत्युच्यते। स आदिर्येषां तेऽसंख्येयभागादयः। तेषु जीवानामवगाहो वेदितव्यः। तद्यथा—एकस्मिन्न-

---

पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एक प्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है ॥१४॥

§ ५५३. एक और प्रदेश इन दोनोंका द्वन्द्व समास है। जिनके आदिमें एक प्रदेश है वे एक प्रदेश आदि कहलाते हैं। उनमें पुद्गलोंका अवगाह विकल्पसे है। यहाँ पर विग्रह अवयवके साथ है किन्तु समासार्थ समुदायरूप लिया है इसलिए एक प्रदेशका भी ग्रहण होता है। खुलासा इस प्रकार है—आकाशके एक प्रदेशमें एक परमाणुका अवगाह है। बन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओंका आकाशके एक प्रदेशमें या दो प्रदेशोंमें अवगाह है। बन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए तीन परमाणुओंका आकाशके एक, दो या तीन प्रदेशोंमें अवगाह है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह जानना चाहिए। शंका—यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं इसलिए उनका एक जगह बिना विरोधके रहना बन जाता है किन्तु पुद्गल मूर्त हैं इसलिए उनका बिना विरोधके एक जगह रहना कैसे बन सकता है? समाधान—इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है इसलिए एक झक्कनमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्तमान् पुद्गलोंका एक जगह अवगाह विरोधको प्राप्त नहीं होता। तथा आगम प्रमाणसे यह बात जानी जाती है। कहा भी है—

§ ५५४. अब जीवोंका अवगाह किस प्रकार है इस बातको अगले सूत्रमें कहते हैं—

'लोक सूक्ष्म और स्थूल अनन्तानन्त नाना प्रकारके पुद्गलकायोंसे चारों ओरसे खचाखच भरा है।'

जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असंख्यातवें भाग आदिमें है ॥१५॥

§ ५५५. इस सूत्रमें 'लोकाकाशे' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। उसके असंख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो वह असंख्यातवाँ भाग कहलाता है। वह जिनके आदिमें है वे सब असंख्यातवें भाग आदि हैं। उनमें जीवोंका अवगाह जानना चाहिए। स्पष्ट इस प्रकार है—

---

१. एक एव प्रदेशः मु०। २. पा० म० भा० २, २, २, २४। ३. –याणामेकत्र मु०, ता०। ४. पंचत्थि० गा० ६४।

संख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते। एवं द्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाहः प्रत्येतव्यः। नानाजीवानां तु सर्वलोक एव। यद्येकस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते, कथं द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशिः सशरीरोऽवतिष्ठते लोकाकाशे। सूक्ष्मबादरभेदादवस्थानं प्रत्येतव्यम्। बादरास्तावत्सप्रतिघातशरीराः। सूक्ष्मास्तु सशरीरा[1] अपि सूक्ष्मभावादेवैकनिगोदजीवावगाह्येऽपि प्रदेशे साधारणशरीरा अनन्तानन्ता वसन्ति। न ते परस्परेण बादरैश्च व्याहन्यन्त इति नास्त्यवगाहविरोधः[2]।

§ ५५६. अत्राह लोकाकाशतुल्यप्रदेश एकजीव इत्युक्तम्, तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः। ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमित्यत्रोच्यते—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

§ ५५७. अमूर्तस्वभावस्यात्मनोऽनादिबन्धं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतः कार्मणशरीरवशान्महदणु च शरीरमधितिष्ठतस्तद्वशात्प्रदेशसंहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणतायां सत्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिरुपपद्यते, प्रदीपवत्। यथा निरावरणव्योमप्रदेशेऽनवधृत[3]प्रकाशपरिमाणस्य प्रदीपस्य शरावमणिकापवरकाद्यावरणवशात्तत्परिमाणतेति। अत्राह धर्मादीनामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्संकरे[4] सति, एकत्वं प्राप्नोतीति। तन्न; परस्परमत्यन्तसंश्लेषे सत्यपि स्वभावं न जहति। उक्तं च—

एक असंख्यातवे भागमें एक जीव रहता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यात भागों से लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीवका अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवोंका अवगाह सब लोकमें ही होता है। **शंका**—यदि लोकके एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है तो संख्याकी अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाशमें कैसे रह सकती है? **समाधान**—जीव दो प्रकारके हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाशमें अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव हैं उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है। किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होनेके कारण एक निगोद जीव आकाशके जितने प्रदेशोंको अवगाहन करता है उतनेमें साधारण शरीरवाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्परमें और बादरोंके साथ व्याघातको नहीं प्राप्त होते इसलिए लोकाकाशमें अनन्तानन्त जीवोंके अवगाहमें कोई विरोध नहीं आता।

§ ५५६. यहाँ पर शंकाकारका कहना है कि जब एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर बतलाये हैं तो लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें एक जीव कैसे रह सकता है, उसे तो सब लोक व्याप्त कर ही रहना चाहिए? अब इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्योंकि प्रदीपके समान जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार होता है ॥१६॥

§ ५५७. चूँकि आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्धके कारण एकपनेको प्राप्त होनेसे वह मूर्त हो रहा है और कार्मण शरीरके कारण वह छोटे-बड़े शरीरमें रहता है, इसलिए वह प्रदेशोंके संकोच और विस्तार स्वभाववाला है और इसलिए शरीरके अनुसार दीपकके समान उसका लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश-प्रदेशमें यद्यपि दीपकके प्रकाशके परिमाणका निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, मानिक तथा आवरण करनेवाले दूसरे पदार्थोंके आवरणके वशसे तत्परिमाण होता है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। **शंका**—धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेश होनेके कारण संकर होनेसे अभेद प्राप्त होता है? **समाधान**—नहीं; क्योंकि परस्पर अत्यन्त सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते; इसलिए उनमें अभेद नहीं प्राप्त होता। कहा भी है—

---

१. सशरीरत्वेऽपि आ०, दि० १, दि० २। २. –वगाहेऽपि मु०। ३. –देशेऽवबृ–ता० ना०। ४. पंचत्थि० गा० ७।

"अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण जहंति।"

§ ५५८. यद्येवं धर्मादीनां स्वभावभेद उच्यतामित्यत आह—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

§ ५५९. देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः। तद्विपरीता स्थितिः। उपगृह्यत इत्युपग्रहः। गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती। गतिस्थिती एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ। धर्माधर्मयोरिति कर्तृनिर्देशः। उपक्रियत इत्युपकारः। कः पुनरसौ। गत्युपग्रहः स्थित्युपग्रहश्च। यद्येवं द्वित्वनिर्देशः प्राप्नोति। नैष दोषः; सामान्येन व्युत्पादितः[1] शब्द उपात्तसंख्यः शब्दान्तरसंबन्धे सत्यपि न पूर्वोपात्तां संख्यां जहाति। यथा—"साधोः कार्यं तपःश्रुते" इति। एतदुक्तं भवति–गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने। तथा स्थितिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्तव्ये अधर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः पृथिवीधातुरिवाश्वादिस्थितावििति। ननु च 'उपग्रह' वचनमनर्थकम् 'उपकारः' इत्येवं[2] सिद्धत्वात्। 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' इति। नैष दोषः; याथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् 'उपग्रह'वचनम्। धर्माधर्मयोर्गतिस्थित्योश्च यथासंख्यं भवति, एवं जीवपुद्गलानां यथासंख्यं प्राप्नोति धर्मस्योपकारो जीवानां गतिः अधर्म-

'सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, और सदा मिलकर रह रहे हैं तो भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते।'

§ ५५८. यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्योंका स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति और स्थितिमें निमित्त होना यह क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ॥१७॥

§ ५५९. एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्राप्त करानेमें जो कारण है उसे गति कहते हैं। स्थितिका स्वरूप इससे उलटा है। उपग्रह शब्द उपकारका पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति 'उपगृह्यते' है। गति और स्थिति इन दोनोंमें द्वन्द्व समास है। गति और स्थिति ही उपग्रह हैं, इसलिए 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह सूत्रवचन कहा है। 'धर्माधर्मयोः' यह कर्ता अर्थमें षष्ठी निर्देश है। उपकारकी व्युत्पत्ति 'उपक्रियते' है। **शंका**—यह उपकार क्या है? **समाधान**—गति उपग्रह और स्थिति उपग्रह यही उपकार है। **शंका**—यदि ऐसा है तो द्विवचनका निर्देश प्राप्त होता है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्यसे ग्रहण किया गया शब्द जिस संख्याको प्राप्त कर लेता है दूसरे शब्दके सम्बन्ध होनेपर भी वह उस संख्याको नहीं छोड़ता। जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' इस वाक्य में 'कार्यम्' एकवचन और 'तपःश्रुते' द्विवचन है। यही बात प्रकृतमें जानना चाहिए। इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मछलीके गमनमें जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमें धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। तथा जिस प्रकार घोड़ा आदिके ठहरनेमें पृथिवी साधारण निमित्त है उसी प्रकार ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। **शंका**—सूत्रमें 'उपग्रह' वचन निरर्थक है क्योंकि 'उपकार' इसीसे काम चल जाता है। यथा—'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः'? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यथाक्रमके निराकरण करनेके लिए 'उपग्रह' पद रखा है। जिस प्रकार धर्म और अधर्मके साथ गति और स्थितिका क्रमसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंका क्रमसे सम्बन्ध प्राप्त होता है। यथा–धर्म द्रव्यका उपकार जीवोंकी गति

१. –दितः उपात्त–ता०, ना०, मु०। २. इत्येव सिद्ध–ता०।

२७

स्योपकारः पुद्गलानां स्थितिरिति । तन्निवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनं क्रियते । आह धर्माधर्मयोर्य उपकारः स आकाशस्य युक्तः; सर्वगतत्वादिति चेत् । तदयुक्तम्; तस्यान्योपकारसद्भावात् । सर्वेषां धर्मादीनां द्रव्याणामवगाहनं तत्प्रयोजनम् । एकस्यानेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागाभावः । भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत् । न; साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात् । अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य । तुल्यबलत्वात्तयोर्गतिस्थितिप्रतिबन्ध इति चेत् । न; अप्रेरकत्वात् । अनुपलब्धेर्न तौ स्तः खरविषाणवदिति चेत् । न; सर्वप्रवाद्य[1]विप्रतिपत्तेः । सर्वे हि [2]प्रवादिनः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानर्थानभिवाञ्छन्ति । अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धेश्च । सर्वज्ञेन निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्मादयः सर्वे उपलभ्यन्ते । तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिभिरपि ।

§ ५६०. अत्राह, यद्यतीन्द्रिययोर्धर्माधर्मयोरुपकारसंबन्धेनास्तित्वमवध्रियते, तदनन्तरमुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इत्युच्यते—

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

§ ५६१. 'उप[3]कारः' इत्यनुवर्तते । जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः । आह, जीवपुद्गलानां क्रियावतामवगाहिनामवकाशदानं युक्तम् । धर्मास्ति-

है और अधर्म द्रव्यका उपकार पुद्गलोंकी स्थिति है अतः इसका निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'उपग्रह' पद रखा है। **शंका**—धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है उसे आकाशका मान लेना युक्त है, क्योंकि आकाश सर्वगत है ? **समाधान**—यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि आकाशका अन्य उपकार है। सब धर्मादिक द्रव्योंको अवगाहन देना आकाशका प्रयोजन है। यदि एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन माने जाते हैं तो लोकालोकके विभागका अभाव होता है, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है वह आकाशका मानना युक्त नहीं। **शंका**—धर्म और अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन हैं पृथिवी और जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नहीं ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण हैं यह विशेष रूपसे कहा है। तथा एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक है। **शंका**—धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य तुल्य बलवाले हैं, अतः गतिसे स्थितिका और स्थितिसे गतिका प्रतिबन्ध होना चाहिए ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि ये अप्रेरक हैं। **शंका**—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधेके सींग ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि इसमें सब वादियोंको विवाद नहीं है। तात्पर्य यह है कि जितने वादी हैं वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इसलिए इनका अभाव नहीं किया जा सकता। दूसरे हम जैनोंके प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योंकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान हैं ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानते हैं और उनके उपदेशसे श्रुतज्ञानी भी जानते हैं।

§ ५६०. यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकारके सम्बन्धसे अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो इनके अनन्तर जो अतीन्द्रिय आकाश द्रव्य कहा है, ऐसा कौन-सा उपकार है जिससे उसका ज्ञान होता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अवकाश देना आकाशका उपकार है ॥१८॥

§ ५६१. इस सूत्रमें 'उपकार' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। अवगाहन करनेवाले जीव और पुद्गलोंको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिए। **शंका**—अवगाहन स्वभाव वाले जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं इसलिए इनको अवकाश देना युक्त है परन्तु धर्मादिक द्रव्य

१. –प्रतिवाद्य ता०, ना० । २. प्रतिवादिनः ता०, ना० । ३. उपकार इति वर्तते आ०, ता०, ना० ।

कायादयः पुनर्निष्क्रिया नित्यसंबन्धास्तेषां कथमवगाह इति चेत्। न; उपचारतस्तत्सिद्धेः। यथा गमनाभावेऽपि 'सर्वगतमाकाशम्' इत्युच्यते; सर्वत्र सद्भावात्, एवं धर्माधर्मावपि अवगाहक्रियाभावेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनादवगाहिनावित्युपचर्येते। आह यद्यवकाशदानमस्य स्वभावो वज्रादिभिर्लोष्टादीनां भित्त्यादिभिर्गवादीनां च व्याघातो न प्राप्नोति। दृश्यते च व्याघातः। तस्मादस्यावकाशदानं हीयते इति। नैष दोषः; वज्रलोष्टादीनां स्थूलानां परस्परव्याघात इति नास्यावकाशदानसामर्थ्यं हीयते; तत्रावगाहिनामेव व्याघातात्। वज्रादयः पुनः स्थूलत्वात्परस्परं प्रत्यवकाशदानं न कुर्वन्तीति नासावाकाशदोषः। ये खलु पुद्गलाः सूक्ष्मास्ते[1] परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्ति। यद्येवं नेदमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्; [2]इतरेषामपि तत्सद्भावादिति। तन्न; सर्वपदार्थानां साधारणावगाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः। अलोकाकाशे तद्भावादभाव इति चेत्; न; स्वभावापरित्यागात्।

§ ५६२. उक्त आकाशस्योपकारः। अथ तदनन्तरोद्दिष्टानां पुद्गलानां क उपकार इत्यत्रोच्यते—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

§ ५६३. इदमयुक्तं वर्तते। किमत्रायुक्तम्। पुद्गलानां क उपकार इति परिप्रश्ने पुद्गलानां

निष्क्रिय और सदा सम्बन्धवाले हैं इसलिए उनका अवगाह कैसे बन सकता है? **समाधान**—नहीं; क्योंकि उपचारसे इसकी सिद्धि होती है। जैसे गमन नहीं करने पर भी आकाश सर्वगत कहा जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है इसी प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगाहरूप क्रिया नहीं पायी जाती तो भी लोकाकाशमें वे सर्वत्र व्याप्त हैं अतः वे अवगाही हैं ऐसा उपचार कर लिया जाता है। **शंका**—यदि अवकाश देना आकाशका स्वभाव है तो वज्रादिकसे लोढ़ा आदिकका और भीत आदिकसे गाय आदिकका व्याघात नहीं प्राप्त होता है, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाशका स्वभाव नहीं ठहरता? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वज्र और लोढ़ा आदिक स्थूल पदार्थ हैं इसलिए उनका आपसमें व्याघात होता है, अतः आकाशकी अवकाश देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करनेवाले पदार्थोंका ही है। तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह कुछ आकाशका दोष नहीं है। हाँ, जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं। **शंका**—यदि ऐसा है तो यह आकाशका असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थोंमें भी इसका सद्भाव पाया जाता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि आकाश द्रव्य सब पदार्थोंको अवकाश देनेमें साधारण कारण है यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है। **शंका**—अलोकाकाशमें अवकाशदान रूप स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाशका स्वभाव नहीं है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभावका त्याग नहीं करता।

§ ५६२. आकाश द्रव्यका उपकार कहा। अब उसके अनन्तर कहे गये पुद्गलोंका क्या उपकार है, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलोंका उपकार है ॥१९॥

§ ५६३. **शंका**—यह अयुक्त है? **प्रतिशंका**—क्या अयुक्त है? **शंका**—पुद्गलोंका क्या

---

१. –स्तेऽपि परस्प–आ०, दि० १, दि० २। २. –क्षणमिति परे–आ०, दि० १, दि० २।

लक्षणमुच्यते[1]; शरीरादीनि पुद्गलमयानीति । नैतदयुक्तम्; पुद्गलानां लक्षणमुत्तरत्र[2] वक्ष्यते । इदं तु जीवान् प्रति पुद्गलानामुपकारप्रतिपादनार्थमेवेति उपकारप्रकरणे उच्यते । शरीराण्युक्तानि । औदारिकादीनि सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि । तदुदयापादित[3]वृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्प्रत्यक्षाणि कानिचिदप्रत्यक्षाणि । एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते । एतानि पौद्गलिकानीति कृत्वा जीवानामुपकारे पुद्गलाः प्रवर्तन्ते । स्यान्मतं कार्मणमपौद्गलिकम्; अनाकारत्वाद्[4] । आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति । तन्न; तदपि पौद्गलिकमेव; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । दृश्यते हि व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम् । तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्गलिकमित्यवसेयम् । वाग् द्विविधा–द्रव्यवाग् भाववागिति । तत्र भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी । तदभावे तद्वृत्त्यभावात् । तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात् । इतरेन्द्रियविषया कस्मान्न भवति । तद्ग्रहणायोग्यत्वात् । घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् । अमूर्ता वागिति चेत् । न; मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाता-

---

उपकार है यह प्रश्न था पर उसके उत्तरमें 'शरीरादिक पुद्गलमय हैं' इस प्रकार पुद्गलोंका लक्षण कहा जाता है ? **समाधान**—यह अयुक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गलोंका लक्षण आगे कहा जायगा, यह सूत्र तो जीवोंके प्रति पुद्गलोंके उपकारका कथन करनेके लिए ही आया है अतः उपकार प्रकरणमें ही यह सूत्र कहा है। औदारिक आदिक पाँचों शरीरोंका कथन पहले कर आये हैं। वे सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियगोचर नहीं हैं। किन्तु उनके उदयसे जो उपचय शरीर प्राप्त होते हैं उनमें-से कुछ शरीर इन्द्रियगोचर हैं और कुछ इन्द्रियातीत हैं। इन पाँचों शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है। ये सब शरीर पौद्गलिक हैं ऐसा मानकर जीवोंका उपकार पुद्गल करते हैं यह कहा है। **शंका**—आकाशके समान कार्मण शरीरका कोई आकार नहीं पाया जाता इसलिए उसे पौद्गलिक मानना युक्त नहीं। हाँ, जो औदारिक आदिक शरीर आकारवाले हैं उनको पौद्गलिक मानना युक्त है ? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि उसका फल मूर्तिमान् पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है। यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके सम्बन्धसे पकनेवाले धान आदि पौद्गलिक हैं। उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुण और काँटे आदि मूर्तिमान् पदार्थोंके मिलने पर फल देते हैं इससे ज्ञात होता है कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है। वचन दो प्रकारका है—द्रव्यवचन और भाववचन। इनमें-से भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे होता है इसलिए वह पौद्गलिक है; क्योंकि पुद्गलोंके अभावमें भाववचनका सद्भाव नहीं पाया जाता। चूँकि इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त क्रियावाले आत्माके द्वारा प्रेरित हो कर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं इसलिए द्रव्य वचन भी पौद्गलिक हैं। दूसरे द्रव्य वचन श्रोत्र इन्द्रियके विषय हैं इससे भी ज्ञात होता है कि वे पौद्गलिक हैं। **शंका**—वचन इतर इन्द्रियोंके विषय क्यों नहीं होते ? **समाधान**—घ्राण इन्द्रिय गन्धको ग्रहण करती है उससे जिस प्रकार रसादिककी उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार इतर इन्द्रियोंमें वचनके ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है। **शंका**—वचन अमूर्त हैं ? **समाधान**—नहीं; क्योंकि वचनोंका मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदिके द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके द्वारा उनका व्याघात देखा

---

१. –च्यते भवता शरी–मु० । २. –रत्र स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः इत्यत्र वक्ष्यते मु० । ३. –पादित-(तदुदयोपपादित)वृत्ती–मु० । ४. –कारत्वादाकाशवत् । आकार–मु० ।

भिभवादिदर्शनान्मूर्तिमत्त्वसिद्धेः। मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम्। द्रव्यमनश्च, ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्। कश्चिदाह मनो द्रव्यान्तरं रूपादिपरिणामरहितमणुमात्रं तस्य पौद्गलिकत्वमयुक्तमिति। तदयुक्तम्। कथम्। उच्यते—तदिन्द्रियेणात्मना च संबद्धं वा स्यादसंबद्धं वा। यद्यसंबद्धम्, तन्नात्मन उपकारकं भवितुमर्हति इन्द्रियस्य च साचिव्यं न करोति। अथ संबद्धम्, एकस्मिन् प्रदेशे संबद्धं सत्तदणु इतरेषु प्रदेशेषु उपकारं न कुर्यात्। अदृष्टवशादस्य अलातचक्रवत्परिभ्रमणमिति चेत्। न; तत्सामर्थ्याभावात्। अमूर्तस्यात्मनो निष्क्रियस्यादृष्टो गुणः, स निष्क्रियः सन्नन्यत्र क्रियारम्भे न समर्थः। दृष्टो हि वायुद्रव्यविशेषः क्रियावान्स्पर्शवान्प्राप्त[1]वनस्पतौ परिस्पन्दहेतुस्तद्विपरीतलक्षणश्चायमिति क्रियाहेतुत्वाभावः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षि[2]णात्मना उदस्यमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते। तेनैवात्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते। एवं तावप्यात्मानुग्राहिणौ; जीवितहेतुत्वात्। तेषां मनःप्राणापानानां मूर्तिमत्त्वमवसेयम्। कुतः[3]। मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिपातादिभिर्मनसः प्रतिघातो दृश्यते। सुरादिभिश्चाभिभवः। [4]हस्ततलपटादिभिरास्यसंवरणात्प्राणापानयोः प्रतिघात उपलभ्यते।

जाता है यथा अन्य कारणोंसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है इससे शब्द मूर्त सिद्ध होते हैं। मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन। लब्धि और उपयोग-लक्षण भावमन पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है इसलिए पौद्गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे जो पुद्गल गुण दोषका विचार और स्मरण आदि उपयोगके सम्मुख हुए आत्माके उपकारक हैं वे ही मन रूपसे परिणत होते हैं अतः द्रव्यमन भी पौद्गलिक है। **शंका**—मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह रूपादि रूप परिणमनसे रहित है और अणुमात्र है इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है? **समाधान**—शंकाकारका इस प्रकार कहना अयुक्त है। खुलासा इस प्रकार है—वह मन आत्मा और इन्द्रियसे सम्बद्ध है या असम्बद्ध। यदि असम्बद्ध है तो वह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता और इन्द्रियोंकी सहायता भी नहीं कर सकता। यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेशमें वह अणु मन सम्बद्ध है उस प्रदेशको छोड़ कर इतर प्रदेशोंका उपकार नहीं कर सकता। **शंका**—अदृष्ट नामका एक गुण है उसके वशसे यह मन अलातचक्रके समान सब प्रदेशोंमें घूमता रहता है? **समाधान**—नहीं; क्योंकि अदृष्ट नामके गुणमें इस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती। यतः अमूर्त और निष्क्रिय आत्माका अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण भी निष्क्रिय है इसलिए अन्यत्र क्रियाका आरम्भ करनेमें असमर्थ है। देखा जाता है कि वायु नामक द्रव्य विशेष स्वयं क्रियावाला और स्पर्शवाला होकर ही वनस्पतिमें परिस्पन्दका कारण होता है परन्तु यह अदृष्ट उससे विपरीत लक्षणवाला है इसलिए यह क्रियाका हेतु नहीं हो सकता। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायुको बाहर निकालता है उच्छ्वासलक्षण उस वायुको प्राण कहते हैं। तथा वही आत्मा बाहरी जिस वायुको भीतर करता है निःश्वासलक्षण उस वायुको अपान कहते हैं। इस प्रकार ये प्राण और अपान भी आत्माका उपकार करते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा जीवित रहता है। ये मन, प्राण और अपान मूर्त हैं, क्योंकि दूसरे मूर्तपदार्थोंके द्वारा इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है। जैसे-प्रतिभय पैदा करनेवाले बिजली पात आदिके द्वारा

---

१. प्राप्तः वन–आ०, दि० १, दि० २, ता०, ना०। २. –पेक्षेणा–आ०, दि० १, दि० २। ३. कुतः। प्रतिघा– –ता०। ४. हस्ततलपुटादि– ता०, ना० मु०।

श्लेष्मणा चाभिभवः। न चामूर्तस्य मूर्तिमद्भिरभिघातादयः स्युः। अत एवात्मास्तित्वसिद्धिः। यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति।

§ ५६४. किमेतावानेव पुद्गलकृत उपकार आहोस्विदन्योऽप्यस्तीत्यत आह—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

§ ५६५. [1]सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते। भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयाद् भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानक्रियाविशेषाव्युच्छेदो जीवितमित्युच्यते। तदुच्छेदो मरणम्। एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः[2]; मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। उपकाराधिकारात् 'उपग्रह'वचनमनर्थकम्। नानर्थकम्। स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थमिदम्। पुद्गलानां पुद्गलकृत उपकार इति। तद्यथा—कांस्यादीनां भस्मादिभिर्जलादीनां कतकादिभिरयःप्रभृतीनामुदकादिभिरुपकारः क्रियते। 'च'शब्दः किमर्थः। समुच्चयार्थः। अन्योऽपि पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति समुच्चीयते। यथा शरीराणि एवं चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपीति।

§ ५६६. एवमाद्यमजीवकृतमुपकारं प्रदर्श्य जीवकृतोपकारप्रदर्शनार्थमाह—

मनका प्रतिघात होता है और सुरा आदिके द्वारा अभिभव। तथा हस्ततल और वस्त्र आदिके द्वारा मुखके ढँक लेने से प्राण और अपानका प्रतिघात होता है और कफके द्वारा अभिभव। परन्तु अमूर्तका मूर्त पदार्थोंके द्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता इससे प्रतीत होता है कि ये सब मूर्त हैं। तथा इसीसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। जैसे यन्त्रप्रतिमाकी चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ताके अस्तित्वका ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार प्राण और अपान आदि रूप कार्य भी क्रियावाले आत्माके अस्तित्वके साधक हैं।

§ ५६४. क्या पुद्गलोंका इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार हैं ॥२०॥

§ ५६५. साता और असातारूप अन्तरंग हेतुके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परिपाकके निमित्तसे जो प्रीति और परितापरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सुख और दुःख कहे जाते हैं। पर्यायके धारण करनेमें कारणभूत आयुकर्मके उदयसे भवस्थितिको धारण करनेवाले जीवके पूर्वोक्त प्राण और अपानरूप क्रिया विशेषका विच्छेद नहीं होना जीवित है। तथा उसका उच्छेद मरण है। ये सुखादिक जीवके पुद्गलकृत उपकार हैं; क्योंकि मूर्त कारणोंके रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है। शंका—उपकारका प्रकरण होनेसे सूत्रमें उपग्रह शब्दका प्रयोग करना निष्फल है? समाधान—निष्फल नहीं है, क्योंकि स्वतःके उपकारके दिखलानेके लिए सूत्रमें उपग्रह शब्दका प्रयोग किया है। पुद्गलोंका भी पुद्गलकृत उपकार होता है। यथा—काँसे आदिका राख आदिके द्वारा, जल आदिका कतक आदिके द्वारा और लोहे आदिका जल आदिके द्वारा उपकार किया जाता है। शंका—सूत्रमें 'च' शब्द किस लिए दिया है? समाधान—समुच्चयके लिए। पुद्गलकृत और भी उपकार हैं इसके समुच्चयके लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

§ ५६६. इस प्रकार अजीवकृत उपकारको दिखलाकर अब जीवकृत उपकारके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. –वेद्योऽन्त–मु०। २. –कारः। कुतः। मूर्ति–मु०, आ०।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

§ ५६७. 'परस्पर'शब्दः कर्मव्यतिहारे वर्तते। कर्मव्यतिहारश्च क्रियाव्यतिहारः। परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः। जीवानामुपकारः। कः पुनरसौ। स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः, इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः। स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्त्या आचार्याणाम्[1]। उपकाराधिकारे पुनः 'उपग्रह'वचनं किमर्थम्। पूर्वोक्तसुखादिचतुष्टयप्रदर्शनार्थं पुनः 'उपग्रह'वचनं क्रियते[2]। सुखादीन्यपि जीवानां जीवकृत उपकार इति।

परस्पर निमित्त होना यह जीवोंका उपकार है ॥२१॥

§ ५६७. परस्पर यह शब्द कर्म व्यतिहार अर्थमें रहता है। और कर्मव्यतिहारका अर्थ क्रियाव्यतिहार है। परस्परका उपग्रह परस्परोपग्रह है। यह जीवोंका उपकार है। **शंका**—वह क्या है? **समाधान**—स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूपसे वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवकका उपकार करता है और सेवक हितका कथन करके तथा अहितका निषेध करके स्वामीका उपकार करता है। आचार्य दोनों लोकमें सुखदायी उपदेश-द्वारा तथा उस उपदेशके अनुसार क्रियामें लगाकर शिष्योंका उपकार करता है और शिष्य भी आचार्यके अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्यका उपकार करते हैं। **शंका**—उपकारका अधिकार है, इसलिए सूत्र में फिर से 'उपग्रह' शब्द किसलिए दिया है? **समाधान**—पिछले सूत्रमें जो सुखादिक चार कह आये हैं उनके दिखलानेके लिए फिरसे 'उपग्रह' शब्द दिया है। तात्पर्य यह है कि सुखादिक भी जीवोंके जीवकृत उपकार हैं।

विशेषार्थ—यहाँ उपकार के प्रकरणमें कौन द्रव्य अन्यका क्या उपकार करता है इस बातका निर्देश किया गया है, इसलिए विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अन्य द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका भला-बुरा कुछ कर सकता है। यदि कर सकता है यह मान लिया जाय तो जैन-दर्शनमें ईश्वरवादका निषेध क्यों किया गया है? यह तो मानी हुई बात है कि एक द्रव्यके जो गुण और पर्याय होते हैं वे उसे छोड़कर अन्य द्रव्यमें प्रविष्ट नहीं होते। इसलिए एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरेका उपकार करता है यह विचारणीय हो जाता है। जिन दर्शनोंने ईश्वरवादको स्वीकार किया है वे प्रत्येक कार्यके होनेमें प्रेरक रूपसे ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं। उनका कहना है कि यह प्राणी अज्ञ है, अपने सुख-दुःखका स्वामी नहीं है। ईश्वरकी प्रेरणावश स्वर्ग जाता है या नरक। इसमें स्वर्ग और नरक आदि गतियोंकी प्राप्ति जीवको होती है यह बात स्वीकार की गयी है, तथापि उनकी प्राप्तिमें ईश्वरका पूरा हाथ रहता है। अगर ईश्वर चाहे तो जीवको इन गतियोंमें जानेसे बचा भी सकता है। यदि इसी अभिप्रायसे एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका उपकारक माना जाता है तब तो ईश्वरवादका निषेध करना न करनेके बराबर होता है और यदि इस उपकार प्रकरणका कोई भिन्न अभिप्राय है तो उसका दार्शनिक विश्लेषण होना अत्यावश्यक है। आगे संक्षेपमें इसी बातपर प्रकाश डाला जाता है—

लोकमें जितने द्रव्य हैं वे सब अपने-अपने गुण और पर्यायोंको लिये हुए हैं। द्रव्यदृष्टिसे वे अनन्त काल पहले जैसे थे आज भी वैसे ही हैं और आगे भी वैसे ही बने रहेंगे। किन्तु पर्यायदृष्टिसे वे सदा परिवर्तनशील हैं। उनका यह परिवर्तन द्रव्यकी मर्यादाके भीतर ही होता है। प्रत्येक द्रव्यका यह स्वभाव है। इसलिए प्रत्येक द्रव्यमें जो भी परिणाम होता है वह अपनो-

---

१. –याणां कृतोप–आ०। २. क्रियते। आह यद्यवश्यं ता०, ना०।

§ ५६८. आह, यद्यवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्; संश्च कालोऽभिमतस्तस्य क उपकार इत्यत्रोच्यते—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ।।२२।।

§ ५६९. वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति । वर्त्यते[1] वर्तनमात्रं वा वर्तना इति । धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः । को णिजर्थः । वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः । यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति । यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति । नैष दोषः; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः । यथा "कारीषोऽग्निर[2]ध्यापयति[3] ।" एवं कालस्य हेतुकर्तृता । स कथं काल इत्यवसीयते । समयादीनां क्रियाविशेषाणां

अपनी योग्यतानुसार ही होता है। संसारी जीव पुद्गल द्रव्यसे बँधा हुआ है यह भी अपनी योग्यताके कारण ही और कालान्तरमें मुक्त होता है यह भी अपनी योग्यतानुसार ही। तथापि प्रत्येक द्रव्यके इस योग्यतानुसार कार्यके होनेमें बाह्य पदार्थ निमित्त माना जाता है। जैसे बालकमें पढ़नेकी योग्यता है इसलिए उसे अध्यापक व पुस्तक आदिका निमित्त मिलने पर वह पढ़कर विद्वान् बनता है, इसलिए ये अध्यापक आदि उसके निमित्त हैं। पर तत्त्वतः विचार करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ कुछ अध्यापक या पुस्तक आदिने बालककी आत्मामें बुद्धि नहीं उत्पन्न कर दी। यदि इन बाह्य पदार्थोंमें बुद्धि उत्पन्न करनेकी योग्यता होती तो जितने बालक उस अध्यापकके पास पढ़ते हैं उन सबमें वह बुद्धि उत्पन्न कर सकता था। पर देखा यह जाता है कि कोई मूर्ख रहता है, कोई अल्पज्ञानी हो पाता है और कोई महाज्ञानी हो जाता है। एक ओर तो अध्यापकके बिना बालक पढ़ नहीं पाता और दूसरी ओर यदि बालकमें बुद्धिके प्रादुर्भाव होनेकी योग्यता नहीं है तो अध्यापकके लाख चेष्टा करने पर भी वह मूर्ख बना रहता है। इससे ज्ञात होता है कि कार्यकी उत्पत्तिमें अध्यापक निमित्त तो है पर वह प्रेरक नहीं। ईश्वरको मान्यतामें प्रेरकतापर बल दिया गया है और यहाँ उपकार प्रकरणमें निमित्तको तो स्वीकार किया गया है पर उसे प्रेरक नहीं माना है। यहाँ उपकार प्रकरणके ग्रथित करनेका यही अभिप्राय है।

§ ५६८. यदि ऐसा है कि जो है उसे अवश्य उपकारी होना चाहिए तो काल भी सद्रूप माना गया है इसलिए उसका क्या उपकार है, इसी बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ।।२२।।

§ ५६९. णिजन्त 'वर्त' धातुसे कर्म या भावमें 'युट्' प्रत्ययके करनेपर स्त्रीलिंगमें वर्तना शब्द बनता है। जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या 'वर्तनमात्रम्' होती है। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्यायके उत्पन्न करनेमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह बाह्य सहकारी कारणके बिना नहीं हो सकती इसलिए उसे प्रवर्तानेवाला काल है ऐसा मान कर वर्तना कालका उपकार कहा है। **शंका**—णिजर्थ क्या है ? **समाधान**—द्रव्यकी पर्याय बदलती है और उसे बदलानेवाला काल है। **शंका**—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है ? जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है। यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे कंडेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कंडेकी अग्नि निमित्तमात्र है उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है। **शंका**—वह काल है यह कैसे जाना जाता है ?

---

१. –र्त्यते वर्तते वर्तन– मु० । २. कारीषाग्नि–आ० । ३. 'हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे भिक्षादिषु दर्शनात् । हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्यः । यावद् ब्रूयान्निमित्तं कारणमिति तावद्धेतुरिति । किं प्रयोजनम् ? भिक्षादिषु दर्शनात् । भिक्षादिष्वपि णिज्दृश्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति ।'–पा० म० भा० ३, १, २, २६ ।

समयादिभिर्निर्वर्त्यमानानां च पाकादीनां समयः पाक इत्येवमादि[1]स्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि समयः कालः ओदनपाकः[2] काल इति अध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशनिमित्तस्य कालस्यास्तित्वं गमयति। कुतः। गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः। क्रिया परिस्पन्दात्मिका[3]। सा द्विविधा; प्रायोगिकवैस्रसिकभेदात्। तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैस्रसिकी मेघादीनाम्। परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। तत्र कालोपकारप्रकरणात्कालकृते गृह्येते। त एते वर्तनादय उपकाराः कालस्यास्तित्वं गमयन्ति। ननु 'वर्तना'ग्रहणमेवास्तु, तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्ग्रहणमनर्थकम्। नानर्थकम्; कालद्वयसूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य। कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। परमार्थकालो वर्तनालक्षणः। परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः। अन्येन परिच्छिन्नः अन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते। स त्रिधा व्यवतिष्ठते भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः। भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। कालव्यपदेशो गौणः; क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालकृतत्वाच्च। अत्राह, धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालानामुपकारा उक्ताः। लक्षणं चोक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्' इत्येवमादि। पुद्गलानां तु

समाधान—समयादिक क्रियाविशेषोंकी और समयादिकके द्वारा होनेवाले पाक आदिककी समय, पाक इत्यादिक रूपसे अपनी अपनी रौढ़िक संज्ञाके रहते हुए भी उसमें जो समय काल, ओदनपाककाल इत्यादि रूपसे काल संज्ञाका अध्यारोप होता है वह उस संज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है क्योंकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है। एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। यथा जीवके क्रोधादि और पुद्गलके वर्णादि। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यमें परिणाम होता है जो अगुरुलघु गुणकी वृद्धि और हानिसे उत्पन्न होता है। द्रव्यमें जो परिस्पन्दरूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं। प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे वह दो प्रकारकी है। उनमें-से गाड़ी आदिकी प्रायोगिकी क्रिया है और मेघादिककी वैस्रसिकी। परत्व और अपरत्व दो प्रकारका है—क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रकृतमें कालकृत उपकारका प्रकरण है इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व लिये गये हैं। ये सब वर्तनादिक उपकार कालके अस्तित्वका ज्ञान कराते हैं। **शंका**—सूत्रमें केवल वर्तना पदका ग्रहण करना पर्याप्त है। परिणाम आदिक उसके भेद हैं अतः उनका अलगसे ग्रहण करना निष्फल है। **समाधान**—परिणाम आदिकका अलगसे ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि दो प्रकारके कालके सूचन करनेके लिए इतना विस्तारसे कथन किया है। काल दो प्रकारका है—परमार्थ काल और व्यवहारकाल। इनमें-से परमार्थ काल वर्तना लक्षणवाला है और परिणाम आदि लक्षणवाला व्यवहार काल है। तात्पर्य यह है कि जो क्रिया विशेष अन्यसे परिच्छिन्न होकर अन्यके परिच्छेदका हेतु है उसमें काल इस प्रकारका व्यवहार किया गया है। वह काल तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्। उनमें-से परमार्थ कालमें काल यह संज्ञा मुख्य है और भूतादिक व्यपदेश गौण है। तथा व्यवहार कालमें भूतादिक रूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है; क्योंकि इस प्रकारका व्यवहार क्रियावाले द्रव्यकी अपेक्षासे होता है तथा कालका कार्य है। यहाँ पर शंकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्यका उपकार कहा तथा 'उपयोगो

---

१. –दिष्वसंज्ञा–मु०। २. पाककालः मु०। ३. –त्मिका। परत्वापरत्वे ता०। ४. कालोपकरणा–मु०।

२८

सामान्यलक्षणमुक्तम्[1] 'अजीवकायाः' इति। विशेषलक्षणं नोक्तम्। तत्किमित्यत्रोच्यते—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

§ ५७०. स्पृश्यते स्पर्शनमात्रं वा स्पर्शः। सोऽष्टविधः; मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात्। रस्यते रसनमात्रं वा रसः। स पञ्चविधः; तिक्ताम्लकटुकमधुरकषायभेदात्। गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः। स द्वेधा; सुरभिरसुरभि[2]रिति। वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः। स पञ्चविधः; कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्। त एते मूलभेदाः प्रत्येकं संख्येयासंख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति। स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्त एतेषां सन्तीति स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त इति। नित्ययोगे [3]मतुर्निर्देशः। यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति। ननु च रूपिणः पुद्गला इत्यत्र पुद्गलानां रूपवत्त्वमुक्तं तदविनाभाविनश्च रसादयस्तत्रैव परिगृहीता इति व्याख्यातं तस्मात्तेनैव पुद्गलानां रूपादिमत्त्वसिद्धेः सूत्रमिदमनर्थकमिति। नैष दोषः; 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र धर्मादीनां नित्यत्वादिनिरूपणेन पुद्गलानामरूपित्वप्रसङ्गे तदपाकरणार्थं तदुक्तम्। इदं तु तेषां स्वरूपविशेषप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते।

लक्षणम्' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा। इसी प्रकार 'अजीवकाया' इत्यादि सूत्रद्वारा पुद्गलोंका सामान्य लक्षण भी कहा किन्तु पुद्गलोंका विशेष लक्षण नहीं कहा, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं ॥२३॥

§ ५७०. जो स्पर्श किया जाता है उसे या स्पर्शनमात्रको स्पर्श कहते हैं। कोमल, कठोर, भारी, हलका, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्षके भेदसे वह आठ प्रकारका है। जो स्वाद रूप होता हैं या स्वादमात्रको रस कहते हैं। तीता, खट्टा, कड़ुआ, मीठा और कसैलाके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। जो सूँघा जाता है या सूँघनेमात्रको गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे वह दो प्रकारका है। जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्रको वर्ण कहते हैं। काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। ये स्पर्श आदिके मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येकके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनमें पाये जाते हैं वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्यसे सदा सम्बन्ध है यह बतलाने के लिए 'मतुप्' प्रत्यय किया है। जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः'। यहाँ न्यग्रोध वृक्षमें दूधका सदा सम्बन्ध बतलानेके लिए 'णिनी' प्रत्यय किया है। उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। **शंका**—'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्रमें पुद्गलोंको रूपवाला बतला आये हैं। और रसादिक वहीं रहते हैं जहाँ रूप पाया जाता है; क्योंकि इनका परस्परमें सहचर नामका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिए रूपके ग्रहण करनेसे रसादिकका ग्रहण हो ही जाता है यह भी पहले बतला आये हैं; इसलिए उसी सूत्रके बलसे पुद्गल रूपादिवाला सिद्ध हो जाता है अतः यह सूत्र निष्फल है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रमें धर्मादिक द्रव्योंको नित्य आदि रूपसे निरूपण किया है इससे पुद्गलोंको अरूपित्व प्राप्त हुआ अतः इस दोषके दूर करनेके लिए 'रूपिणः पुद्गलाः' यह सूत्र कहा है। परन्तु यह सूत्र पुद्गलोंके स्वरूप विशेषका ज्ञान करानेके लिए कहा है।

---

१. –मुक्तं विशेष–आ०, दि० १, दि० २। २. सुरभिदुरभि–आ०, दि० १, दि० २। ३. –वन्निर्देशः मु०। मन्निर्देशः ना०।

§ ५७१. अवशिष्टपुद्गलविकारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

§ ५७२. शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति। अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः। अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। स एष सर्वः प्रायोगिकः। अभाषात्मको द्विविधः प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। वैस्रसिको वलाहकादिप्रभवः। प्रायोगिकश्चतुर्धा, ततविततघनसौषिरभेदात्। तत्र चर्मतननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्ततः। तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः। तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः। वंशशङ्खादिनिमित्तः सौषिरः। बन्धो द्विविधो वैस्रसिकः प्रायोगिकश्च। पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः। तद्यथा—स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः। पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्नः। तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः। जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः। सौक्ष्म्यं द्विविधं, अन्त्यमापेक्षिकं च। तत्रान्त्यं परमाणूनाम्। आपेक्षिकं बिल्वामलकबदरादीनाम्। स्थौल्यमपि द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं चेति। तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे। आपेक्षिकं बदरामलकबिल्वतालादिषु। संस्थानमाकृतिः। तद् द्विविधमित्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं चेति। वृत्तत्र्यस्रचतु-

---

§ ५७१. अब पुद्गलोंकी शेष रहीं पर्यायोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतवाले होते हैं ॥२४॥

§ ५७२. भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर। जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छोंका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। जिससे उनके सातिशय ज्ञानके स्वरूपका पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। ये दोनों प्रकारके शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। मेघ आदि के निमित्तसे जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैस्रसिक शब्द हैं। तथा तत, वितत, घन और सौषिरके भेदसे प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके हैं। चमड़ेसे मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दर्दुरसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत शब्द है। तांतवाले वीणा और सुघोष आदिसे जो शब्द उत्पन्न होता है यह वितत शब्द है। ताल, घण्टा और लालन आदिके ताड़नसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है। तथा बाँसुरी और शंख आदिके फूँकनेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है। बन्धके दो भेद हैं—वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुषका प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे, स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे होनेवाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदिका विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है। और जो बन्ध पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं—अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदिका अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। तथा कर्म और नोकर्मका जो जीवसे बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। सूक्ष्मताके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मत्व है। तथा बेल, आँवला और बेर आदिमें आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है। स्थौल्य भी दो प्रकारका है—अन्त्य और आपेक्षिक। जगव्यापी महास्कन्धमें अन्त्य स्थौल्य है। तथा बेर, आँवला और बेल आदिमें आपेक्षिक स्थौल्य है। संस्थानका अर्थ आकृति है। इसके दो भेद हैं—इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण। जिसके विषयमें 'यह संस्थान इस प्रकारका है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त,

रस्रायतपरिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम् । अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमिदमिति निरूपणाभावादनित्थंलक्षणम् । भेदाः षोढा; उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् । तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः । खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः । चूर्णिका माषमुद्गादीनाम् । प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम् । अणुचटनं सन्तप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः । तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि । छाया प्रकाशावरणनिमित्ता । सा द्वेधा, वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति । आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः । उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिप्रभवः प्रकाशः । त एते शब्दादयः पुद्गलद्रव्यविकाराः । त एषां सन्तीति शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः पुद्गला इत्यभिसंबध्यते । 'च'शब्देन नोदनाभिघातादयः पुद्गलपरिणामा आगमे प्रसिद्धाः समुच्चीयन्ते ।

§ ५७३. उक्तानां पुद्गलानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

§ ५७४. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणवः । सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च ॥ उक्तं च—

त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं । तथा इससे अतिरिक्त मेघ आदिके आकार जो कि अनेक प्रकारके हैं और जिनके विषयमें यह इस प्रकारका है यह नहीं कहा जा सकता वह अनित्थंलक्षण संस्थान है । भेदके छह भेद हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन । करोंत आदिसे जो लकड़ी आदिको चीरा जाता है वह उत्कर नामका भेद है । जौ और गेहूँ आदिका जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण नामका भेद है । घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह खण्ड नामका भेद है । उड़द और मूंग आदिका जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है । मेघके जो अलग अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है । तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन आदिसे पीटने पर जो फुलंगे निकलते हैं वह अणुचटन नामका भेद है । जिससे दृष्टिमें प्रतिबन्ध होता है और जो प्रकाशका विरोधी है वह तम कहलाता है । प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थोंके निमित्तसे जो पैदा होती है वह छाया कहलाती है । उसके दो भेद हैं—एक तो वर्णादिके विकार रूपसे परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्बरूप । जो सूर्यके निमित्तसे उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं । तथा चन्द्र मणि और जुगुनू आदिके निमित्तसे जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते हैं । ये सब शब्दादिक पुद्गल द्रव्यके विकार (पर्याय) हैं । इसीलिए सूत्रमें पुद्गलको इन शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवाला कहा है । सूत्रमें दिये हुए 'च' शब्द से नोदन अभिघात आदिक जो पुद्गलकी पर्यायें आगममें प्रसिद्ध हैं उनका संग्रह करना चाहिए ।

§ ५७३. अब पूर्वोक्त पुद्गलोंके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गल के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध ॥ २५ ॥

§ ५७४. एक प्रदेशमें होनेवाले स्पर्शादि पर्यायको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रूपसे जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि अणु एकप्रदेशी होनेसे सबसे छोटा होता है इसलिए वह अणु कहलाता है । यह इतना सूक्ष्म होता है जिससे वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है । कहा भी है—

"अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि।"

स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारस्कन्धनात्स्कन्धा इति संज्ञायन्ते। रूढौ क्रिया क्वचित्सती उपलक्षणत्वेनाश्रीयते इति ग्रहणादिव्यापारायोग्येष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कन्धाख्या प्रवर्तते। अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमानाः सर्वे गृह्यन्त इति तज्जात्याधारानन्तभेदसंसूचनार्थं बहुवचनं क्रियते। अणवः स्कन्धा इति भेदाभिधानं पूर्वोक्तसूत्रद्वयभेदसंबन्धनार्थम्। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तोऽणवः। स्कन्धाः पुनः शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च स्पर्शादिमन्तश्चेति।

§ ५७५. आह, किमेषां पुद्गलानामणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिरुत आदिमानित्युच्यते। स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमान्प्रतिज्ञायते। यद्येवं तस्मादभिधीयतां कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त इति। तत्र स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमुच्यते—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

§ ५७६. संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः। पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघातः। ननु च द्वित्वाद् द्विवचनेन भवितव्यम्। बहुवचननिर्देशस्त्रितय[1]संग्रहार्थः। भेदात्संघाताद् भेदसंघाताभ्यां च उत्पद्यन्त इति। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते।

'जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है, और जिसे इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो।'

जिनमें स्थूल रूपसे पकड़ना, रखना आदि व्यापारका स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। रूढ़िमें क्रिया कहीं पर होती है, सर्वत्र नहीं। फिर भी उपलक्षणरूपसे वह ली जाती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापारके अयोग्य द्व्यणुक आदिकमें भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है। पुद्गलोंके अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणुजाति और स्कन्धजातिके भेदसे दो प्रकारके हैं। इस प्रकार पुद्गलोंकी इन दोनों जातियोंके आधारभूत अनन्त भेदोंके सूचन करनेके लिए सूत्रमें बहुवचनका निर्देश किया है। यद्यपि सूत्रमें अणु और स्कन्ध इन दोनों पदोंको समसित रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूपसे जो कथन किया है वह इस सूत्रसे पहले कहे गये दो सूत्रोंके साथ अलग अलग सम्बन्ध बतलानेके लिए किया है। जिससे यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, छाया, आतप और उद्योतवाले हैं तथा स्पर्शादिवाले भी हैं।

§ ५७५. इन पुद्गलोंका अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि? वह उत्पन्न होता इसलिए सादि है। यदि ऐसा है तो उस निमित्तका कथन करो जिससे अणु और स्कन्ध ये भेद उत्पन्न होते हैं? इसलिए पहले स्कन्धोंकी उत्पत्तिके हेतुका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेदसे, संघातसे तथा भेद और संघात दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥२६॥

§ ५७६. अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकारके निमित्तोंसे संघातोंके विदारण करनेको भेद कहते हैं। तथा पृथग्भूत हुए पदार्थोंके एकरूप हो जानेको संघात कहते हैं। **शंका**—भेद और संघात दो हैं इसलिए सूत्रमें द्विवचन होना चाहिए? **समाधान**—तीनका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें बहुवचनका निर्देश किया है। जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेदसे, संघातसे तथा भेद और

---

१. तृतीय–मु०।

द्विप्रदेशस्याणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः। द्वयोर्द्विप्रदेशयोस्त्रिप्रदेशस्याणोश्च चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुःप्रदेशः। एवं संख्येयासंख्येया[1]नन्तानामनन्तानन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः। एषामेव भेदात्ता[2]वद् द्विप्रदेशपर्यन्ताः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवं भेदसंघाताभ्यामेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अन्यतो भेदेनान्यस्य संघातेनेति। एवं स्कन्धानामुत्पत्तिहेतुरुक्तः।

§ ५७७. अणोरुत्पत्तिहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

भेदादणुः ॥२७॥

§ ५७८. "सिद्धे[3] विधिरारभ्यमाणो नियमार्थो भवति।" अणोरुत्पत्तिर्भेदादेव, न संघातान्नापि भेदसंघाताभ्यामिति।

§ ५७९. आह, संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभे सिद्धे भेदसंघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहणप्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

§ ५८०. अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिदचाक्षुषः। तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेदुच्यते—भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः। न भेदादिति। कात्रोप-

---

संघात इन दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—दो परमाणुओंके संघातसे दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या तीन अणुओंके संघातसे तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले दो स्कन्धोंके संघातसे, तीन प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या चार अणुओंके संघातसे चार प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणुओंके संघातसे उतने उतने प्रदेशोंवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तथा इन्हीं संख्यात आदि परमाणुवाले स्कन्धोंके भेदसे दो प्रदेशवाले स्कन्ध तक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक समयमें होनेवाले भेद और संघात इन दोनोसे दो प्रदेशवाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कन्धसे भेद होता है और अन्यका संघात, तब एक साथ भेद और संघात इन दोनोंसे भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण कहा।

§ ५७७. अब अणुकी उत्पत्तिके हेतुको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेदसे अणु उत्पन्न होता है ॥२७॥

§ ५७८. कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है। तात्पर्य यह है कि अणु भेदसे होता है यद्यपि यह सिद्ध है फिर भी 'भेदादणुः' इस सूत्रके निर्माण करनेसे यह नियम फलित होता है कि अणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है। न संघातसे होती है और न भेद और संघात इन दोनोंसे ही होती है।

§ ५७९. जब संघातसे ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है तब सूत्रमें भेद और संघात इन दोनों पदोंका ग्रहण करना निष्फल है? अतः इन दोनों पदोंके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है इसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध बनता है ॥२८॥

§ ५८०. अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायसे निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष। उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है इसी बातके बतलाने

---

१. –ख्येयानन्तानां च संघा–ता०, ना०। २. भेदाद्द्विप्रदे–ता०, आ०, दि० १, दि० २। ३. 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' न्यायसंग्रहः।

पत्तिरिति चेत्। ब्रूमः; सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव। सौक्ष्म्यपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्यसंघातान्तरसंयोगात्सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति।

§ ५८१. आह, धर्मादीनां द्रव्याणां विशेषलक्षणान्युक्तानि, सामान्यलक्षणं नोक्तम्, तद्वक्तव्यम्। उच्यते—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

§ ५८२. यत्सत्तद् द्रव्यमित्यर्थः।

§ ५८३. यद्येवं तदेव तावद्वक्तव्यं किं सत्। इत्यत आह—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

§ ५८४. चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत[1] उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः। ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तं[2] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति। आह, भेदे सति युक्तशब्दो दृष्टः। यथा दण्डेन युक्तो देवदत्त इति। तथा सति तेषां त्रयाणां तैर्युक्तस्य द्रव्यस्य चाभावः प्राप्नोति। नैष दोषः; अभेदेऽपि कथंचिद् भेद-

---

लिए यह कहा है कि भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध होता है, केवल भेदसे नहीं, यह इस सूत्रका अभिप्राय है। **शंका**—इसका क्या कारण है? **समाधान**—आगे उसी कारणको बतलाते हैं—सूक्ष्मपरिणामवाले स्कन्धका भेद होनेपर वह अपनी सूक्ष्मताको नहीं छोड़ता इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है। एक दूसरा सूक्ष्मपरिणामवाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि उसका दूसरे संघातसे संयोग हो गया अतः सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपनेकी उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है।

§ ५८१. धर्मादिक द्रव्यके विशेष लक्षण कहे, सामान्य लक्षण नहीं कहा, जो कहना चाहिए इसलिए सूत्र द्वारा सामान्य लक्षण कहते हैं—

द्रव्यका लक्षण सत् है ॥२९॥

§ ५८२. जो सत् है वह द्रव्य है यह इस सूत्रका भाव है।

§ ५८३. यदि ऐसा है तो यही कहिए कि सत् क्या है? इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त अर्थात् इन तीनोंरूप है वह सत् है ॥३०॥

§ ५८४. द्रव्य दो हैं—चेतन और अचेतन। वे अपनी जातिको तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनमें अन्तरंग और बहिरंग निमित्तके वशसे प्रति समय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिण्डकी घट पर्याय। तथा पूर्व अवस्थाके त्यागको व्यय कहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकारका त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। तथा इस ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टीके पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टीका अन्वय बना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे जो युक्त है वह सत् है। **शंका**—भेदके रहते हुए युक्त शब्द देखा जाता है। जैसे दण्डसे युक्त देवदत्त। यहाँ दण्ड और देवदत्तमें भेद है। प्रकृतमें भी यदि ऐसा मान लिया जाय तो उन

---

१. –जहत निमित्त–आ०, दि० १, दि० २। २. –ध्रौव्यैर्युक्तं सदिति मु०।

नयापेक्षया युक्तशब्दो दृष्टः। यथा सारयुक्तः स्तम्भ इति। तथा सति तेषामविनाभावात्सद्व्यपदेशो युक्तः। समाधिवचनो वा युक्तशब्दः। युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति यावत्। एतदुक्तं भवति—उत्पादादीनि[1] द्रव्यस्य लक्षणानि। द्रव्यं लक्ष्यम्[2]। तत्र पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परतो द्रव्याच्चार्थान्तरभावः। द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनर्थान्तरभावः। इति लक्ष्यलक्षणभावसिद्धिः।

तीनोंका और उन तीनोंसे युक्त द्रव्यका अभाव प्राप्त होता है। **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अभेदमें भी कथंचित् भेदग्राही नयकी अपेक्षा युक्त शब्दका प्रयोग देखा जाता है। जैसे सार युक्त स्तम्भ। ऐसी हालतमें उन तीनोंका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे यहाँ युक्त शब्दका प्रयोग करना युक्त है। अथवा यह युक्त शब्द समाधिवाची है। भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। जिससे 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है' इसका भाव 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है' यह होता है। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि उत्पाद आदि द्रव्यके लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है। यदि इनका पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो ये आपसमें और द्रव्यसे पृथक् पृथक् हैं और यदि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो ये पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं होनेसे अभिन्न हैं। इस प्रकार इनमें और द्रव्यमें लक्ष्य-लक्षणभावकी सिद्धि होती है।

विशेषार्थ—यहाँ द्रव्यका लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव बतलाया है। अपनी जातिका त्याग किये बिना नवीन पर्यायकी प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्यायका त्याग व्यय है, और अनादि पारिणामिक स्वभावरूप अन्वयका बना रहना ध्रौव्य है। उदाहरणार्थ—कोयला जलकर राख हो जाता है, इसमें पुद्गलकी कोयला रूप पर्यायका व्यय होता है और क्षार रूप पर्यायका उत्पाद होता है किन्तु दोनों अवस्थाओंमें पुद्गल द्रव्यका अस्तित्व बना रहता है। पुद्गलपनेका कभी भी नाश नहीं होता यही उसकी ध्रौव्यता है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें यह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है जैसे दूध कुछ समय बाद दही रूपसे परिणम जाता है और फिर दहीका मट्ठा बना लिया जाता है, यहाँ यद्यपि दूधसे दही और दहीसे मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हुई हैं पर हैं ये तीनों एक गोरसकी ही। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें अवस्था भेदके होनेपर भी उसका अन्वय पाया जाता है इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त सिद्ध होता है। यह प्रत्येक द्रव्यका सामान्य स्वभाव है। अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक साथ तीनरूप कैसे हो सकता है। कदाचित् कालभेदसे उसे उत्पाद और व्ययरूप मान भी लिया जाय क्योंकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तरमें नाश अवश्य होता है। तथापि वह ऐसी अवस्थामें ध्रौव्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उत्पाद और व्यय होता है उसे ध्रौव्य स्वभाव माननेमें विरोध आता है। समाधान यह है कि अवस्थाभेदसे द्रव्यमें ये तीनों धर्म माने गये हैं। जिस समय द्रव्यकी पूर्व अवस्था नाशको प्राप्त होती है उसी समय उसकी नयी अवस्था उत्पन्न होती है फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय स्वभाव बना रहता है। इसी बातको आचार्य समन्तभद्रने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'घटका इच्छुक उसका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक उसका उत्पाद होनेपर हर्षित होता है और स्वर्णका इच्छुक न दुखी होता है न हर्षित होता है, वह मध्यस्थ रहता है। एक ही समयमें यह शोक, प्रमोद और मध्यस्थभाव बिना कारणके नहीं हो सकता इससे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुत है यह सिद्ध होता है।

---

१. –दादीनि त्रीणि द्रव्य –मु०। २. लक्ष्यम्। तत्पर्या–मु०, आ०, दि० १।

§ ५८५. आह 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्युक्तं तत्र न ज्ञायते किं नित्यमित्यत आह—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

§ ५८६. 'तद्भावः' इत्युच्यते। कस्तद्भावः। प्रत्यभिज्ञानहेतुता। तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स[1] तद्भावः। भवनं भावः। तस्य भावस्तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्त[2]निरोधोऽभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव वा स्यात्ततः स्मरणानुपपत्तिः। तदधीनो लोकसंव्यवहारो विरुध्यते। ततस्तदभावेनाव्ययं[3] तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। तत् तु कथंचिद्वेदितव्यम्। सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात्संसारतद्विनिवृत्तिकारणप्रक्रियाविरोधः स्यात्।

§ ५८७. ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति। यदि नित्यं व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति। नैतद्विरुद्धम्। कुतः।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

§ ५८८. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया[4] प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवती-

---

§ ५८५. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये हैं। वहाँ यह नहीं ज्ञात होता कि नित्य क्या है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके भावसे (अपनी जातिसे) च्युत न होना नित्य है ॥३१॥

§ ५८६. अब तद्भाव इस पदका खुलासा करते हैं। **शंका**—'तद्भाव' क्या वस्तु है? **समाधान**—जो प्रत्यभिज्ञानका कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरुक्ति 'भवनं भावः' तस्य भावः तद्भावः' इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तुको देखा है उसी रूप उसके पुनः होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तुका सर्वथा नाश हो जाय या सर्वथा नयी वस्तुका उत्पाद माना जाय तो इससे स्मरणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरणकी उत्पत्ति न हो सकनेसे स्मरणके आधीन जितना लोकसंव्यवहार चालू है वह सब विरोधको प्राप्त होता है। इसलिए जिस वस्तुका जो भाव है उस रूपसे च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है। परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाय तो परिणमनका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होनेसे संसार और इसकी निवृत्तिके कारण रूप प्रक्रियाका विरोध प्राप्त होता है।

§ ५८७. **शंका**—उसीको नित्य कहना और उसीको अनित्य कहना यह विरुद्ध है। यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद न होनेसे उसमें अनित्यता नहीं बनती। और यदि अनित्य है तो स्थितिका अभाव होनेसे नित्यताका व्याघात होता है? **समाधान**—नित्यता और अनित्यताका एक साथ रहना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि—

मुख्यता और गौणताकी अपेक्षा एक वस्तुमें विरोधी मालूम पड़नेवाले दो धर्मोंकी सिद्धि होती है ॥३२॥

§ ५८८. वस्तु अनेकान्तात्मक है। प्रयोजनके अनुसार उसके किसी एक धर्मको विवक्षासे जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह अर्पित या उपनीत कहलाता है और प्रयोजनके अभावमें

---

१. तद्भावः। तस्य मु०। २. –त्यन्तविरोधो मु०। ३. –नाव्ययं नित्य–मु०। ४. विवक्षाया– आ०, दि० १, दि० २।

त्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोधः। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता[1] भागिनेय इत्येवमादयः संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते; अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोधः। तौ च सामान्यविशेषौ कथंचिद् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः।

§ ५८९. अत्राह, सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसंघातेभ्यः सतां [2]स्कन्धात्मनोत्पत्तिः। इदं तु संदिग्धम्, किं संघातः संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणो भवति, उत कश्चिद्विशेषोऽवध्रियत इति। उच्यते, 'सति संयोगे बन्धादेकत्वपरिणामात्मकात्संघातो निष्पद्यते। यद्येवमिदमुच्यतां, कुतो[3] नु खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे[4] संयोगे च सति भवति केषांचिद् बन्धोऽन्येषां च नेति। उच्यते, यस्मात्तेषां पुद्गलात्माविशेषेऽप्यनन्तपर्यायाणां परस्परविलक्षणपरिणामादाहितसामर्थ्याद्भवन्प्रतीतः—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

§ ५९०. बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते[5] स्मेति स्निग्धः। तथा रूक्षणाद्रूक्षः। स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ। तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम्। स्निग्धत्वं चिक्कणगुण-

---

जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्मके रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होती इसलिए जो गौण हो जाता है वह अनर्पित कहलाता है। इन दोनोंका 'अर्पितं च अनर्पितं च' इस प्रकार द्वन्द्व समास है। इन दोनोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सिद्धि होती है इसलिए कोई विरोध नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—जैसे देवदत्तके पिता, पुत्र, भाई और भान्जे इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्व आदिके निमित्तसे होने वाले सम्बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होते। जब जिस धर्मकी प्रधानता होती है उस समय उसमें वह धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ—पुत्रकी अपेक्षा वह पिता है और पिताकी अपेक्षा वह पुत्र है आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है इसलिए कोई विरोध नहीं है। वे सामान्य और विशेष कथंचित् भेद और अभेदकी अपेक्षा ही व्यवहारके कारण होते हैं।

§ ५८९. **शंका**—सत् अनेक प्रकारके नयके व्यवहारके आधीन होनेसे भेद, संघात और भेद-संघातसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति भले ही बन जावे परन्तु यह संदिग्ध है कि द्व्यणुक आदि लक्षणवाला संघात संयोगसे ही होता है या उसमें और कोई विशेषता है? **समाधान**—संयोगके होनेपर एकत्व परिणमन रूप बन्धसे संघातकी उत्पत्ति होती है। **शंका**—यदि ऐसा है तो यह बतलाइए कि सब पुद्गलजातिके होकर भी उनका संयोग होनेपर किन्हींका बन्ध होता है और किन्हींका नहीं होता, इसका क्या कारण है? **समाधान**—चूँकि वे सब जातिसे पुद्गल हैं तो भी उनकी जो अनन्त पर्यायें हैं उनका परस्पर विलक्षण परिणमन होता है, इसलिए उससे जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि—

स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है ॥३३॥

§ ५९०. बाह्य और आभ्यन्तर कारणसे जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उससे पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'स्निह्यते स्मेति स्निग्धः' होगी। तथा रूखापनके कारण

---

१. भ्राता माता भाग–मु०। २. स्कन्धानामेवोत्प–दि० १, दि०, २, आ०। ३. –कुतोऽत्र खलु दि० १, दि० २। ४. –त्यागे सति मु०। ५. –ह्यतेऽस्मिन्निति मु०।

लक्षणः पर्यायः। तद्विपरीतपरिणामो रूक्षत्वम्। 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इति हेतुनिर्देशः। तत्कृतो बन्धो द्वयणुकादिपरिणामः। द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्वयणुकस्कन्धो भवति। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः स्कन्धो योज्यः। तत्र स्नेहगुण एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तविकल्पः। तथा रूक्षगुणोऽपि। तद्गुणाः परमाणवः सन्ति। यथा तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु स्नेहगुणः प्रकर्षाप्रकर्षेण प्रवर्तते। पांशुकणिकाशर्करादिषु च रूक्षगुणो दृष्टः। तथा परमाणुष्वपि स्निग्धरूक्षगुणयोर्वृत्तिः प्रकर्षाप्रकर्षेणानुमीयते।

§ ५९१. स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

§ ५९२. जघन्यो निकृष्टः। गुणो भागः। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणाः। तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बन्धः। तद्यथा—एकगुणस्निग्धस्यैकगुणस्निग्धेन द्वयादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः। तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्वयादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुणरूक्षेण वा नास्ति बन्धः। तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति।

§ ५९३. एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धानां रूक्षाणां च परस्परेण बन्धो भवतीत्यविशेषेण प्रसङ्गे तत्रापि प्रतिषेधविषयख्यापनार्थमाह—

पुद्गल रूक्ष कहा जाता है। स्निग्ध पुद्गलका धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गलका धर्म रूक्षत्व है। पुद्गलकी चिकने गुणरूप जो पर्याय है वह स्निग्धत्व है और इससे जो विपरीत परिणमन है वह रूक्षत्व है। सूत्रमें 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इस प्रकार हेतुपरक निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि द्वयणुक आदि लक्षणवाला जो बन्ध होता है वह इनका कार्य है। स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो परमाणुओंका परस्पर संश्लेषलक्षण बन्ध होनेपर द्वयणुक नामका स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध गुणके एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार रूक्ष गुणके भी एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। और इन गुणवाले परमाणु होते हैं। जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैंस, और ऊँटके दूध और घीमें उत्तरोत्तर अधिक रूपसे स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदिमें उत्तरोत्तर न्यूनरूपसे रूक्ष गुण रहता है उसी प्रकार परमाणुओंमें भी न्यूनाधिकरूपसे स्निग्ध और रूक्ष गुणका अनुमान होता है।

§ ५९१. स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणके निमित्तसे सामान्यसे बन्धके प्राप्त होनेपर बन्धमें अप्रयोजनीय गुणके निराकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जघन्य गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता ॥३४॥

§ ५९२. यहाँ जघन्य शब्दका अर्थ निकृष्ट है और गुण शब्दका अर्थ भाग है। जिनमें जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है वे जघन्य गुणवाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुणवालोंका बन्ध नहीं होता। यथा—एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेका एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेके साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त शक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेका एक रूक्ष शक्त्यंशवालेके साथ या दोसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूक्षशक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक रूक्ष शक्त्यंशवालेकी भी योजना करनी चाहिए।

§ ५९३. इन जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यंशवालोंके सिवा अन्य स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलोंका परस्पर बन्ध सामान्य रीतिसे प्राप्त हुआ इसलिए इनमें भी जो बन्धयोग्य नहीं हैं उनका खुलासा करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

§ ५९४. 'सदृश'ग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम्। 'गुणसाम्य'ग्रहणं तुल्यभागसंप्रत्ययार्थम्। एतदुक्तं भवति—द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैः द्विगुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैश्चैत्येवमादिषु नास्ति बन्ध इति। यद्येवं 'सदृश'ग्रहणं किमर्थम्। गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धप्रतिपत्त्यर्थं 'सदृश'ग्रहणं क्रियते।

§ ५९५. अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां चानियमेन बन्धप्रसक्तौ[1] इष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

§ ५९६. द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः। कः पुनरसौ। चतुर्गुणः। 'आदि'शब्दः प्रकारार्थः। कः पुनरसौ प्रकारः। द्व्यधिकता। तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो न भवति। तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति नेतरेषाम्। तद्यथा—द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः। चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्धः। तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा बन्धो नास्ति। एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति। शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति। चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः। शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति। एवं शेषेष्वपि

समान शक्त्यंश होने पर तुल्यजातिवालोंका बन्ध नहीं होता ॥३५॥

§ ५९४. तुल्य जातिवालोका ज्ञान करानेके लिए सदृश पदका ग्रहण किया है। तुल्य शक्त्यंशोंका ज्ञान करानेके लिए 'गुणसाम्य' पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका तीन रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंके साथ, दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंका दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए। **शंका**—यदि ऐसा है तो सूत्रमें 'सदृश' पद किसलिए ग्रहण किया है? **समाधान**—शक्त्यंशोंकी असमानताके रहते हुए बन्ध होता है इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें सदृश पदको ग्रहण किया है।

§ ५९५. इस उपर्युक्त कथनसे समानजातीय या असमानजातीय विषम शक्त्यंशवालोंका अनियमसे बन्ध प्राप्त हुआ अतः इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका तो बन्ध होता है ॥३६॥

§ ५९६. जिसमें दो शक्त्यंश अधिक हों उसे द्व्यधिक कहते हैं। **शंका**—वह द्व्यधिक कौन हुआ? **समाधान**—चार शक्त्यंशवाला। सूत्रमें आदि शब्द प्रकारवाची है। **शंका**—वह प्रकार रूप अर्थ क्या है? **समाधान**—द्व्यधिकपना। इससे पाँच शक्त्यंश आदिका ज्ञान नहीं होता। तथा इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका बन्ध होता है दूसरोंका नहीं। जैसे दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ अवश्य बन्ध होता है। तथा उसी दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ, इसी प्रकार छह, सात, आठ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है। किन्तु आगे-पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता।

---

१. -सक्तौ विशिष्टा मु०।

योज्यः । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः । चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि योज्यः । उक्तं च—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ।"

'तु'शब्दो विशेषणार्थः । प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ।

§ ५९७. किमर्थमधिकगुणविषयो बन्धो व्याख्यातो न समगुणविषय इत्यत आह—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

§ ५९८. अधिकाराद् 'गुण'शब्दः संबध्यते । अधिकगुणावधिकाविति । भावान्तरापादनं पारिणामिकत्वं क्लिन्नगुडवत् । यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेण्वादीनां स्वगुणा-[1]पादनात् पारिणामिकः । तथान्योऽप्यधिकगुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणादिस्नि-

---

चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका छह स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है किन्तु आगे पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिए । तथा दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुका एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । हाँ चार रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ अवश्य बन्ध होता है । उसी दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुका आगेके पाँच आदि रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुओंके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुओंका भी दो अधिक शक्त्यंशवाले परमाणुओंके साथ बन्ध जान लेना चाहिए । समान जातीय परमाणुओंमें बन्धका जो क्रम बतलाया है विजातीय परमाणुओंमें भी बन्धका वही क्रम जानना चाहिए । कहा भी है—'स्निग्धका दो अधिक शक्त्यंशवाले स्निग्धके साथ बन्ध होता है । रूक्षका दो अधिक शक्त्यंशवाले रूक्षके साथ बन्ध होता है । तथा स्निग्धका रूक्षके साथ सम या विषम गुणोंके होनेपर इसी नियमसे बन्ध होता है । किन्तु जघन्य शक्त्यंशवालेका बन्ध सर्वथा वर्जनीय है ।' सूत्रमें 'तु' पद विशेषणपरक है जिससे बन्धके प्रतिषेधका निवारण होता है और बन्धका विधान होता है ।

§ ५९७. अधिक गुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों कहा, समगुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों नहीं कहा ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्धके समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है ॥३७॥

§ ५९८. 'गुण' शब्दका अधिकार चला आ रहा है, इसलिए इस सूत्रमें उसका सम्बन्ध होता है जिससे 'अधिकौ' पदसे 'अधिकगुणौ' अर्थका ग्रहण होता है । गीले गुडके समान एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त कराना पारिणामिक कहलाता है । जैसे अधिक मीठे रसवाला गीला गुड उस पर पड़ी हुई धूलिको अपने गुणरूपसे परिणमानेके कारण पारिणामिक होता है उसी प्रकार अधिक गुणवाला अन्य भी अल्प गुणवालेका पारिणामिक होता है । इस व्यवस्थाके अनुसार दो शक्त्यंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका चार शक्त्यंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है । इससे पूर्व अवस्थाओंका त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है । अतः उनमें एकरूपता आ जाती है । अन्यथा सफेद और काले तन्तुके समान संयोगके होनेपर भी पारिणामिक न होनेसे सब अलग-अलग ही स्थित रहेगा । परन्तु उक्त विधिसे बन्धके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी तीस कोडाकोडी सागर स्थिति बन जाती है ।

---

१. –गुणोत्पाद–मु०, दि० २, ता० ।

ग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः पारिणामिको भवति। ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते। इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामिकत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत। उक्तेन विधिना बन्धे पुनः सति ज्ञानावरणादीनां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटचादिस्थितिरुपपन्ना भवति।

विशेषार्थ—यहाँ एक परमाणुका अन्य परमाणुसे बन्ध कैसे होता है इसका विचार किया गया है। रूक्ष और स्निग्ध ये विरोधी गुण हैं। जिसमें स्निग्ध गुण होता है उसमें रूक्ष गुण नहीं होता और जिसमें रूक्ष गुण होता है उसमें स्निग्ध गुण नहीं होता। ये गुण ही बन्धके कारण होते हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि रूक्ष और स्निग्ध गुणका सद्भावमात्र बन्धका कारण है क्योंकि ऐसा माननेपर एक भी पुद्गल परमाणु बन्धके बिना नहीं रह सकता, इसलिए यहाँपर विधिनिषेध-द्वारा बतलाया गया है कि किन पुद्गल परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है और किनका नहीं होता है। जो स्निग्ध और रूक्ष गुण जघन्य शक्त्यंश लिये हुए होते हैं उन पुद्गल-परमाणुओंका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार गुणकी समानताके होनेपर सदृशोंका बन्ध नहीं होता किन्तु द्व्यधिक गुणवाले पुद्गलपरमाणुका ही द्व्यहीन गुणवाले पुद्गलपरमाणुके साथ होता है। ऐसा बन्ध स्निग्ध परमाणुका स्निग्ध परमाणुके साथ, रूक्ष परमाणुका रूक्ष परमाणुके साथ और स्निग्ध परमाणुका रूक्ष परमाणुके साथ होता है यह नियम है। इसके अनुसार निम्न व्यवस्था फलित होती है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
४	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं
५	जघन्येतर + द्व्यधिकजघन्येतर	है	है
६	जघन्येतर + त्र्यादिअधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं

तत्त्वार्थसूत्रमें निर्दिष्ट यह बन्ध-व्यवस्था प्रवचनसारका अनुसरण करती है। प्रवचनसारमें भी इसी प्रकारसे बन्ध व्यवस्थाका निर्देश किया गया है किन्तु षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डमें कही गयी बन्ध व्यवस्था इससे कुछ भिन्न है जिसका ठीक तरहसे परिज्ञान होनेके लिए आगे कोष्ठक दिया जाता है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकादिअधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है
४	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
५	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
६	जघन्येतर + त्र्यादि अधिकजघन्येतर	नहीं	है

§ ५९९. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति द्रव्यलक्षणमुक्तं पुनरपरेण प्रकारेण द्रव्यलक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

§ ६००. गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययाः । तेऽस्य सन्तीति गुणपर्ययवद् द्रव्यम् । अत्र मतोरुत्पत्तावुक्त एव समाधिः । कथंचिद् भेदोपपत्तेरिति । के गुणाः के पर्यायाः । अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः । उभयैरुपेतं द्रव्यमिति । उक्तं च—

"गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ।।" इति ।।

एतदुक्तं भवति, द्रव्यं द्रव्यान्तराद् येन विशिष्यते स गुणः । तेन हि तद् द्रव्यं विधीयते । असति तस्मिन् द्रव्यसंकरप्रसङ्गः[1] स्यात् । तद्यथा—जीवः पुद्गलादिभ्यो ज्ञानादिभिर्गुणैर्विशिष्यते, पुद्गलादयश्च रूपादिभिः । ततश्चाविशेषे संकरः स्यात् । ततः सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः पुद्गलादीनां च रूपादयः । तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः । घटज्ञानं पटज्ञानं क्रोधो मानो गन्धो वर्णस्तीव्रो मन्द इत्येवमादयः । तेभ्योऽन्यत्वं कथंचिदापद्यमानः समुदायो द्रव्यव्यपदेशभाक् । यदि हि सर्वथा समुदायोऽनर्थान्तरभूत एव स्यात् सर्वाभावः स्यात् । तद्यथा—परस्परविलक्षणानां समुदाये सति एकानर्थान्तरभावात् समुदायस्य सर्वाभावः परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात् । यदिदं रूपं तस्मादर्थान्तरभूता रसादयः । ततः समुदायोऽनर्थान्तर-

---

§ ५९९. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस प्रकार द्रव्यका लक्षण कहा किन्तु अब अन्य प्रकारसे द्रव्यके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गुण और पर्यायवाला द्रव्य है ॥३८॥

§ ६००. जिसमें गुण और पर्याय दोनों हैं वह गुण पर्यायवाला कहलाता है और वही द्रव्य है । यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे बनता है इस विषयमें पहले समाधान कर आये हैं । तात्पर्य यह है कि द्रव्यका गुण और पर्यायोंसे कथंचित् भेद है इसलिए यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग बन जाता है । **शंका**—गुण किन्हें कहते हैं और पर्याय किन्हें कहते हैं ? **समाधान**—गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी । तथा इन दोनोंसे युक्त द्रव्य होता है । कहा भी है—'द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं । द्रव्य इन दोनोंसे युक्त होता है । तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है ।' तात्पर्य यह है कि जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे जुदा होता है वह गुण है । इसी गुणके द्वारा उस द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है । यदि भेदक गुण न हो तो द्रव्योंमें सांकर्य हो जाय । खुलासा इस प्रकार है—

जीव द्रव्य पुद्गलादिक द्रव्योंसे ज्ञानादि गुणोंके द्वारा भेदको प्राप्त होता है और पुद्गलादिक द्रव्य भी अपने रूपादि गुणोंके द्वारा भेदको प्राप्त होते हैं । यदि ज्ञानादि गुणोंके कारण विशेषता न मानी जाय तो सांकर्य प्राप्त होता है । इसलिए सामान्यकी अपेक्षा जो अन्वयी ज्ञानादि हैं वे जीवके गुण हैं और रूपादिक पुद्गलादिकके गुण हैं । तथा इनके विकार विशेषरूपसे भेदको प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं । जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, गन्ध, वर्ण, तीव्र और मन्द आदिक । तथा जो इनसे कथंचित् भिन्न है और समुदाय रूप है वह द्रव्य कहलाता है । यदि समुदायको सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय तो सबका अभाव प्राप्त होता है । खुलासा इस प्रकार है—परस्पर विलक्षण धर्मोंका समुदाय होनेपर यदि उसे एक और अभिन्न माना जाय तो समुदायका और सबका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वे धर्म परस्पर भिन्न हैं । जो यह रूप है उससे

---

१. –प्रसंगात् । तद्य–ता०, ना० ।

भूतः। यश्च रसादिभ्योऽर्थान्तरभूताद्रूपादनर्थान्तरभूतः समुदायः स कथं रसादिभ्योऽर्थान्तरभूतो न भवेत्। ततश्च रूपमात्रं समुदायः प्रसक्तः। न चैकं रूपं समुदायो भवितुमर्हति। ततः समुदायाभावः। समुदायाभावाच्च तदनर्थान्तरभूतानां समुदायिनामप्यभाव इति सर्वाभावः। एवं रसादिष्वपि योज्यम्। तस्मात्समुदायमिच्छता कथंचिदर्थान्तरभाव एषितव्यः।

§ ६०१. उक्तानां द्रव्याणां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्याध्यवसाये प्रसक्ते अनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमिदमाह—

कालश्च ॥३९॥

§ ६०२. किम्। 'द्रव्यम्' इति वाक्यशेषः। कुतः। तल्लक्षणोपेतत्वात्। द्विविधं लक्षणमुक्तम्—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति च। तदुभयं लक्षणं कालस्य

रसादिक भिन्न हैं। अब यदि इनका समुदाय अभिन्न माना जाता है तो रसादिकसे भिन्न जो रूप है और उससे अभिन्न जो समुदाय है वह रसादिकसे भिन्न कैसे नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा। और इस प्रकार समुदाय रूपमात्र प्राप्त होता है। परन्तु एक रूप गुण समुदाय हो नहीं सकता इसलिए समुदायका अभाव प्राप्त होता है और समुदायका अभाव हो जानेसे उससे अभिन्न समुदायियोंका भी अभाव होता है इस प्रकार समुदाय और समुदायी सबका अभाव हो जाता है। जिस प्रकार रूपकी अपेक्षा कथन किया उसी प्रकार रसादिककी अपेक्षा भी कथन करना चाहिए। इसलिए यदि समुदाय स्वीकार किया जाता है तो वह कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए।

विशेषार्थ—पहले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त द्रव्य होता है यह कह आये हैं। यहाँ प्रकारान्तरसे द्रव्यका लक्षण कहा गया है। इसमें द्रव्यको गुणपर्यायवाला बतलाया गया है। बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य अनन्तगुणोंका और क्रमसे होनेवाली उनकी पर्यायोंका पिण्डमात्र है। सर्वत्र गुणोंको अन्वयी और पर्यायोंको व्यतिरेकी बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि जिनसे धारामें एकरूपता बनी रहती है वे गुण कहलाते हैं और जिनसे उसमें भेद प्रतीत होता है वे पर्याय कहलाते हैं। जीवमें ज्ञानादिक की धाराका, पुद्गलमें रूप रसादिककी धाराका, धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्वकी धाराका, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्वकी धाराका, आकाशमें अवगाहन हेतुत्वकी धाराका और काल द्रव्यमें वर्तनाका कभी विच्छेद नहीं होता इसलिए वे ज्ञानादिक उस उस द्रव्यके गुण हैं किन्तु वे गुण सदाकाल एकरूप नहीं रहते। जो नित्य द्रव्योंके गुण हैं उन्हें यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी जीव और पुद्गलोंके गुणोंमें प्रतिसमय स्पष्टतया परिणाम लक्षित होता है। उदाहरणार्थ—जीवका ज्ञानगुण संसार अवस्थामें कभी मतिज्ञानरूप होता है और कभी श्रुतज्ञान रूप। इसीलिए ये मतिज्ञानादि ज्ञानगुणकी पर्याय हैं। इसी प्रकार अन्य गुणोंमें भी जान लेना चाहिए। द्रव्य सदा इन गुणरूप पर्यायों में रहता है इसलिए वह गुणपर्यायवाला कहा गया। फिर भी गुण और पर्यायको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न न जानना चाहिए। वे दोनों मिलकर द्रव्यकी आत्मा हैं इसका अभिप्राय यह है कि गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

§ ६०१. पूर्वोक्त द्रव्योंके लक्षणका निर्देश करनेसे यह प्राप्त हुआ कि जो उस लक्षणका विषय है वही द्रव्य है, अतः अभी तक जिस द्रव्यका कथन नहीं किया उसकी सूचना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

काल भी द्रव्य है ॥३९॥

§ ६०२. **शंका**—क्या है? **समाधान**—'द्रव्य है' इतना वाक्य शेष है। **शंका**—काल द्रव्य क्यों है? **समाधान**—क्योंकि इसमें द्रव्यका लक्षण पाया जाता है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है तथा जो गुण और पर्यायवाला है वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्यका दो प्रकारसे

विद्यते। तद्यथा—ध्रौव्यं तावत्कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात्। व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च। तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति। तत्रासाधारणो वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्चाचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः। पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः। तस्माद् द्विप्रकारलक्षणोपेतत्वादाकाशादिवत्कालस्य द्रव्यत्वं सिद्धम्। तस्यास्तित्वलिङ्गं धर्मादिवद् व्याख्यातम् 'वर्तनालक्षणः कालः' इति[1]। ननु किमर्थमयं कालः पृथगुच्यते। यत्रैव धर्मादय उक्तास्तत्रैवायमपि वक्तव्यः 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः' इति। नैवं शङ्क्यम्; तत्रोद्देशे सति कायत्वमस्य स्यात्। नेष्यते च मुख्योपचारप्रदेशप्रचयकल्पनाभावात्। धर्मादीनां तावन्मुख्यप्रदेशप्रचय उक्तः 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्येवमादिना। अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभाव[2]प्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्तः। कालस्य पुनर्द्वेधापि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्तीत्यकायत्वम्। अपि च तत्र पाठे 'निष्क्रियाणि च' इत्यत्र धर्मादीनामाकाशान्तानां निष्क्रियत्वे प्रतिपादिते इतरेषां जीवपुद्गलानां[3] सक्रियत्वप्राप्तिवत्कालस्यापि सक्रियत्वं स्यात्। अथाकाशात्प्राक्काल उद्दिश्येत[4]। तन्न; 'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इत्येकद्रव्यत्वमस्य स्यात्। तस्मात्पृथगिह कालोद्देशः क्रियते। अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम्। लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रिया एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः। उक्तं च—

लक्षण कहा है। वे दोनों ही लक्षण कालमें पाये जाते हैं। खुलासा इस प्रकार है—कालमें ध्रुवता स्वनिमित्तक है, क्योंकि वह अपने स्वभावमें सदा स्थित है। व्यय और उत्पाद परनिमित्तक हैं, और अगुरुलघु गुणकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा स्वनिमित्तक भी हैं। तथा कालके साधारण और असाधारण रूप दो प्रकारके गुण भी हैं। उनमें-से असाधारण गुण वर्तनाहेतुत्व है और साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व आदिक हैं। इसी प्रकार व्यय और उत्पादरूप पर्याय भी घटित कर लेना चाहिए। इसलिए कालमें जब द्रव्यके दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो वह आकाशके समान स्वतन्त्र द्रव्य है यह सिद्ध होता है। धर्मादिक द्रव्यके समान इसके अस्तित्वके कारण का व्याख्यान किया ही है कि कालका लक्षण वर्तना है। **शंका**—काल द्रव्यको अलगसे क्यों कहा? जहाँ धर्मादिक द्रव्योंका कथन किया है वहीं पर इसका कथन करना था जिससे प्रथम सूत्रका रूप निम्न होता—'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः'। **समाधान**—इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ पर यदि इसका कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त होता। परन्तु काल द्रव्य कायवान् नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है। धर्मादिक द्रव्योंका तो 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादिक सूत्र-द्वारा मुख्यरूपसे प्रदेशप्रचय कहा है। उसी प्रकार एक प्रदेशवाले अणुका भी पूर्वोत्तरभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपचारकल्पनासे प्रदेशप्रचय कहा है परन्तु कालके दोनों प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पना नहीं बनती इसलिए वह अकाय है। दूसरे यदि प्रथम सूत्र में कालका पाठ रखते हैं तो 'निष्क्रियाणि च' यहाँपर धर्मसे लेकर आकाश तक के द्रव्योंको निष्क्रिय कहनेपर जैसे जीव और पुद्गलोंको सक्रियत्व प्राप्त होता है वैसे ही काल द्रव्यको भी सक्रियत्व प्राप्त होता है। **शंका**—इस दोषको दूर करनेके लिए आकाशसे पहले कालको रख दिया जाय? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'आकाश तक एक द्रव्य है' इस सूत्र वचनके अनुसार यदि कालको आकाशके पहले रखते हैं तो उसे एक द्रव्यत्व प्राप्त होता है। ये सब दोष न रहें इसलिए कालका अलगसे कथन किया है। **शंका**—काल अनेक द्रव्य हैं इसमें क्या प्रमाण है? **समाधान**—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं

१. इति। किमर्थ–मु०। २. –त्तरप्रज्ञा–मु०। ३. –पुद्गलादीनां मु०। ४. –श्यते। आ आका–आ०, दि० १, दि० २, ता०।

"लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्कक्का ।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा ।।"

रूपादिगुणविरहादमूर्ताः ।

उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं। तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कहा भी है—'लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर जो रत्नोंकी राशिके समान अवस्थित हैं उन्हें कालाणु जानो ।।' ये कालाणु रूपादि गुणोंसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं।

विशेषार्थ—पहले पाँच द्रव्योंके अस्तित्वकी चर्चा कर आये हैं। यहाँ छठा द्रव्य काल है इसका विचार किया जा रहा है। काल द्रव्य है या नहीं इस विषयमें श्वेताम्बर परम्परामें दो मत मिलते हैं। एक मत तो कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करता है और दूसरा मत कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। इस दूसरे मतके अनुसार सूर्यादिके निमित्तसे जो दिन-रात, घड़ी-घण्टा, पल-विपल आदि रूप काल अनुभवमें आता है वह सब पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन जीव पुद्गल आदि द्रव्योंका परिणमन किसके निमित्तसे होता है ? यदि कहा जाय कि उत्पन्न होना, व्यय होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है। इसके लिए अन्य निमित्तके माननेकी क्या आवश्यकता ? तो इस प्रश्नपर यह तर्क होता है कि यदि इस तरह सर्वथा स्वभावसे ही प्रत्येक द्रव्यका परिणमन माना जाता है तो गति, स्थिति और अवगाहको भी सर्वथा स्वभावसे मान लेनेमें क्या आपत्ति है। और ऐसी हालतमें केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही अवशिष्ट रहते हैं, शेष द्रव्योंका अभाव प्राप्त होता है, इतना ही क्यों, जीव और पुद्गलका तथा पुद्गल और पुद्गलका बन्ध भी सर्वथा स्वाभाविक मानना पड़ता है। निमित्त-नैमित्तिक भावके माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती और ऐसी अवस्थामें मुक्त जीव भी स्वभावसे बँधने लगेगा तथा संसारी जीव भी बिना प्रयत्नके कभी भी मुक्त हो जायगा। यदि कहा जाय कि गति, स्थिति आदि कार्य हैं और जितने भी कार्य होते हैं वे निमित्त और उपादान इन दो के मिलने पर ही होते हैं, इसलिए गति, स्थिति और अवगाहन रूप कार्योंके निमित्तरूपसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो प्रत्येक द्रव्यके परिणमनरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वके स्वीकार करनेमें क्या हानि है अर्थात् कुछ भी नहीं। इस प्रकार विचार करनेपर काल द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है।

फिर भी यह काल द्रव्य जीव आदि अन्य द्रव्योंके समान न तो असंख्यातप्रदेशी है और न अनन्तप्रदेशी है किन्तु लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने काल द्रव्य हैं और प्रत्येक कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर अवस्थित है। खुलासा इस प्रकार है—

प्रचय दो प्रकारका है—तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय। प्रदेशोंके प्रचयको तिर्यक्प्रचय कहते हैं और कालनिमित्तक पर्यायप्रचयको ऊर्ध्वप्रचय कहते हैं। आकाश अवस्थित अनन्तप्रदेशवाला होनेसे, धर्म और अधर्म अवस्थित असंख्यात प्रदेशवाला होनेसे, जीव असंख्यात प्रदेशवाला होनेसे और पुद्गल बन्धकी अपेक्षा अनेक प्रदेशरूप शक्तिसे युक्त होनेके कारण इनका प्रदेशप्रचय बन जाता है, किन्तु कालद्रव्य शक्ति और व्यक्ति दोनों रूपसे एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसमें प्रदेशप्रचय नहीं बनता। ऊर्ध्वप्रचय सब द्रव्योंका होता है किन्तु इतनी विशेषता है कि अन्य पाँच द्रव्योंमें समयनिमित्तक पर्यायप्रचयरूप ऊर्ध्वप्रचय होता है और कालद्रव्यमें मात्र समयप्रचयरूप ऊर्ध्वप्रचय होता है, क्योंकि अन्य द्रव्योंके परिणमनमें काल द्रव्य निमित्त है और काल द्रव्यके अपने परिणमनमें अन्य कोई निमित्त नहीं है। वही निमित्त है और वही उपादान है। जिस प्रकार वह अन्य द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त होता है उसी प्रकार अपने परिणमनमें भी निमित्त होता

§ ६०३. वर्तनालक्षणस्य मुख्यस्य कालस्य प्रमाणमुक्तम्। परिणामादिगम्यस्य व्यवहार-कालस्य किं प्रमाणमित्यत इदमुच्यते—

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

§ ६०४. साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽपि अतीता अनागताश्च समया अनन्ता इति कृत्वा 'अनन्तसमयः' इत्युच्यते। अथवा मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमिदमुच्यते। अनन्तपर्याय-वर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते। समयः पुनः परमनिरुद्धः[१] कालांशस्तत्प्रचयविशेष आवलिकादिरवगन्तव्यः।

है। किन्तु जिस प्रकार अन्य द्रव्य अपने-अपने उपादानके अनुसार परिणमन करते हैं उसी प्रकार काल द्रव्य भी अपने उपादान के अनुसार परिणमन करता है।

इस प्रकार यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे तथा गुण और पर्यायरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है पर वह अखण्ड एकप्रदेशी है यह सिद्ध नहीं होता, इसलिए आगे इसी बातका विचार करते हैं—

एक पुद्गल परमाणु मन्दगतिसे एक आकाश प्रदेशसे दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमें कुछ समय भी लगता है। यदि विचार कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह समय ही काल द्रव्यकी पर्याय है जो कि अतिसूक्ष्म होनेसे निरंश है। यदि कालद्रव्यको लोकाकाशके बराबर अखण्ड और एक माना जाता है तो इस अखण्ड समय पर्यायकी निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरे कालाणुके प्रति गमन करता है तब वहाँ दोनों कालाणु पृथक्-पृथक् होनेसे समयका भेद बन जाता है। और यदि एक अखण्ड लोकके बराबर कालद्रव्य होवे तो समय पर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है? यदि कहा जाय कि कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति जानेपर समय पर्यायकी सिद्धि हो जायगी तो इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने पर एक अखण्डद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जाने पर समय पर्यायका भेद नहीं बनता। इसलिए समय पर्यायमें भेद सिद्ध करने-के लिए काल द्रव्यको अणुरूपमें स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार काल द्रव्य क्या है और वह एक प्रदेशी कैसे है इस बातका विचार किया।

§ ६०३. वर्तना लक्षणवाले मुख्य कालका प्रमाण कहा। परन्तु परिणाम आदिके द्वारा जानने योग्य व्यवहार कालका क्या प्रमाण है? इस बातका ज्ञान करानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

वह अनन्त समयवाला है॥४०॥

§ ६०४. यद्यपि वर्तमान काल एक समय वाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय हैं ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है। अथवा मुख्य कालका निश्चय करनेके लिए यह सूत्र कहा है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायें वर्तना गुणके निमित्तसे होती हैं इसलिए एक कालाणुको भी उपचारसे अनन्त कहा है। परन्तु समय अत्यन्त सूक्ष्म कालांश है और उसके समुदायको आवलि आदि जानना चाहिए।

विशेषार्थ—समय शब्द द्रव्य और पर्याय दोनों अर्थोंमें व्यवहृत होता है। यहाँ पर्यायरूप अर्थ लिया गया है। इससे व्यवहार काल और निश्चय काल दोनोंकी सिद्धि होती है। एक-एक समयका समुच्चय होकर जो आवलि, पल आदि कालका व्यवहार होता है वह व्यवहारकाल है और यह समय-पर्याय बिना पर्यायीके नहीं हो सकती, इससे निश्चय कालका ज्ञान होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

---

१. –निकृष्टः कालां–दि० १।

§ ६०५. आह गुणपर्ययवद् द्रव्यमित्युक्तं तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

§ ६०६. द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः । निष्क्रान्ता गुणेभ्यो निर्गुणाः । एवमुभयलक्षणोपेता गुणा इति । 'निर्गुणाः' इति विशेषणं द्वयणुकादिनिवृत्त्यर्थम् । तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निर्वर्त्तितानि भवन्ति । ननु पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति । 'द्रव्याश्रयाः' इति वचनात् 'नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते[1] ये' ते गुणा इति [2]विशेषात्पर्याया निर्वर्तिता भवन्ति । ते हि कादाचित्का इति ।

§ ६०५. 'गुण और पर्यायवाला द्रव्य है' यह पहले कह आये हैं। अब गुण क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जो निरन्तर द्रव्यमें रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं ॥४१॥

§ ६०६. जिनके रहनेका आश्रय द्रव्य है वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं और जो गुणोंसे रहित हैं वे निर्गुण कहे जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों लक्षणोंसे युक्त गुण होते हैं। सूत्रमें 'निर्गुणाः' यह विशेषण द्वयणुक आदिके निराकरण करनेके लिए दिया है। वे भी अपने कारणभूत परमाणु द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं और गुणवाले हैं, इसलिए 'निर्गुणाः' इस विशेषणसे उनका निषेध किया गया है। **शंका**—घटसंस्थान आदि जितनी पर्याय हैं वे सब द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और निर्गुण होती हैं अतः गुणके उक्त लक्षणके अनुसार उन्हें भी गुणत्व प्राप्त होता है? **समाधान**—सूत्रमें जो 'द्रव्याश्रयाः' विशेषण है उसका यह अभिप्राय है कि जो सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं वे गुण हैं। इस प्रकार 'सदा' विशेषण लगानेसे पर्यायोंका निषेध हो जाता है अर्थात् गुणका लक्षण पर्यायोंमें नहीं जाता है; क्योंकि पर्याय कादाचित्क होती हैं।

विशेषार्थ—पहले गुण और पर्यायवाला द्रव्य है यह कह आये हैं। यहाँ गुणके स्वरूपका विचार किया गया है। जब कि द्रव्यको गुण और पर्यायवाला बतलाया है तब इसीसे स्पष्ट है कि गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय है। पर इससे आधार और आधेयमें दही और कुण्डके समान सर्वथा भेदपक्षका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हुए भी वे उससे कथंचित् अभिन्न हैं जैसे—तैल तिलके सब अवयवोंमें व्याप्त होकर रहता है वैसे ही प्रत्येक गुण द्रव्यके सभी अवयवोंमें समान रूपसे व्याप्त होकर रहता है, पर इससे द्वयणुक आदिमें भी यह लक्षण घटित हो जाता है क्योंकि द्वयणुक आदि भी अपने आधारभूत परमाणु द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं। अतएव जो स्वयं विशेष रहित हों वे गुण हैं यह कहा है। ऐसा नियम है कि जैसे द्रव्यमें गुण पाये जाते हैं वैसे गुणमें अन्य गुण नहीं रहते। अतएव गुण स्वयं विशेष रहित रहते हैं, इस प्रकार यद्यपि जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं और स्वयं विशेष रहित हैं वे गुण हैं, गुणका इतना लक्षण फलित हो जाता है पर यह पर्यायोंमें भी पाया जाता है। क्योंकि वे भी द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और स्वयं विशेषरहित होती हैं। इसलिए इस अतिव्याप्ति दोषका निराकरण करनेके लिए जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं इसका अर्थ—जो द्रव्यके आश्रयसे सदा रहते हैं, इतना समझना चाहिए। इस प्रकार गुणोंके स्वरूपका विचार किया। गुणका एक नाम विशेष भी है। जिनके निमित्तसे एक द्रव्य अन्य द्रव्यसे भेद को प्राप्त हों वे विशेष अर्थात् गुण हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ऐसे गुण प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त होते हैं। उनमें कुछ सामान्य होते हैं और कुछ विशेष। जो एकाधिक द्रव्योंमें उपलब्ध होते हैं वे सामान्यगुण कहलाते हैं और जो प्रत्येक द्रव्यकी विशेषताको व्यक्त करते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं।

१. -र्न्ते गुणा मु० । २. विशेषणत्वात्पर्यायश्च निव-मु० ।

§ ६०७. असकृत् 'परिणाम' शब्द उक्तः। तस्य कोऽर्थं इति प्रश्ने उत्तरमाह—

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

§ ६०८. अथवा गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति केषांचिद्दर्शनं तत्किं भवतोऽभिमतम्। न; इत्याह—यद्यपि कथंचिद् व्यपदेशादिभेदहेत्व[1]पेक्षया द्रव्यादन्ये, तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्च नान्ये। यद्येवं स उच्यतां कः परिणाम इति। तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते—धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते। स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च। तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः सामान्यापेक्षया। स एवादिमांश्च भवति विशेषापेक्षया इति।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां पञ्चमोऽध्यायः।

---

§ ६०७. परिणाम शब्दका अनेक बार उल्लेख किया; परन्तु उसका क्या तात्पर्य है ऐसा प्रश्न होनेपर अगले सूत्र द्वारा इसीका उत्तर देते हैं—

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है ॥४२॥

§ ६०८. अथवा गुण द्रव्यसे अलग हैं यह किन्हींका मत है। वह क्या आपके (जैन) मतमें स्वीकार है ? नहीं, इसलिए कहते हैं कि संज्ञा आदिके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भेदके कारण गुण द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्यसे भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्यके परिणाम हैं इसलिए भिन्न नहीं भी हैं। यदि ऐसा है तो वह बात कहिए जिससे परिणामका स्वरूप ज्ञात हो। बस इसी बातका निश्चय करनेके लिए कहते हैं—धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते हैं। वह दो प्रकारका है—अनादि और सादि। उनमें-से धर्मादिक द्रव्यके जो गत्युपग्रहादिक होते हैं वे सामान्यकी अपेक्षा अनादि हैं और विशेषकी अपेक्षा सादि हैं।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. हेतुत्वापेक्ष–मु०।

अथ षष्ठोऽध्यायः

§ ६०९. आह[1], अजीवपदार्थो व्याख्यातः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभागास्रवपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्धयर्थमिदमुच्यते—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

§ ६१०. कायादयः शब्दा व्याख्यातार्थाः। कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनःकर्म योग इत्याख्यायते। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। स निमित्तभेदात्त्रिधा भिद्यते। काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति। तद्यथा—वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसंनिधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्म[2]प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्षः सयोगकेवलिन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्यः।

§ ६०९. जीव और अजीवका व्याख्यान किया। अब उसके बाद आस्रव पदार्थका व्याख्यान क्रम प्राप्त है। अतः उसे स्पष्ट करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

काय, वचन और मनकी क्रिया योग है ॥१॥

§ ६१०. काय आदि शब्दोंका व्याख्यान पहले कर आये हैं। कर्म और क्रिया ये एकार्थवाची नाम हैं। काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं यह इसका तात्पर्य है। आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द–हलन चलन योग है। वह निमित्तोंके भेदसे तीन प्रकारका है–काययोग, वचनयोग और मनोयोग। खुलासा इस प्रकार है–वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी कायवर्गणाओंमें-से किसी एक प्रकारकी वर्गणाओंके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है। शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओंका आलम्बन होनेपर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धिके होनेपर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओंका आलम्बन मिलनेपर मनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षय हो जानेपर भी सयोगकेवलीके जो तीन प्रकारकी वर्गणाओंकी अपेक्षा आत्मप्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिए।

---

१. अथाजीवप- मु०। आह जीवाजीवप–ता०, ना०। इत्यजीवप–दि० २। २. आत्मनः प्रदे–आ०, दि० १, दि० २।

§ ६११. आह, [1]अभ्युपेमः आहितत्रैविध्यक्रियो योग इति। प्रकृत इदानीं निर्दिश्यतां किंलक्षण आस्रव इत्युच्यते। योऽयं योगशब्दाभिधेयः संसारिणः पुरुषस्य—

स आस्रवः ॥ २ ॥

§ ६१२. यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योग-प्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति।

§ ६१३. आह कर्म द्विविधं पुण्यं पापं चेति। तस्य किमविशेषेण योग आस्रवहेतुराहोस्विदस्ति[2] कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

§ ६१४. कः शुभो योगः को वा अशुभः। प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभः काययोगः। अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः। ततो विपरीतः शुभः। कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्। शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात् शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्। पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद्वेद्यादि। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्[3]। तदसद्वेद्यादि।

---

§ ६११. यह तो जाना कि तीन प्रकारको क्रिया योग है। अब यह बतलाइए कि आस्रवका क्या लक्षण है? संसारी जीवके जो यह योग शब्दका वाच्य कहा है—

वही आस्रव है ॥ २ ॥

§ ६१२. जिस प्रकार तालाबमें जल लानेका दरवाजा जलके आनेका कारण होनेसे आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आत्माके साथ बँधनेके लिए कर्म योगरूपी नालीके द्वारा आते हैं इसलिए योग आस्रव संज्ञाको प्राप्त होता है।

§ ६१३. कर्म दो प्रकारका है—पुण्य और पाप, इसलिए क्या योग सामान्यरूपसे उनके आस्रवका कारण है या कोई विशेषता है? इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शुभयोग पुण्यका और अशुभयोग पापका आस्रव है ॥ ३ ॥

§ ६१४. **शंका**—शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है? **समाधान**—हिंसा, चोरी और मैथुन आदिक अशुभ काययोग है। असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है। मारनेका विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनोयोग है। तथा इनसे विपरीत शुभकाय योग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है। **शंका**—योगके शुभ और अशुभ ये भेद किस कारणसे हैं? **समाधान**—जो योग शुभ परिणामोंके निमित्तसे होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामोंके निमित्तसे होता है वह अशुभ योग है। शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ कर्मका कारण होनेसे शुभ और अशुभ योग होता है सो बात नहीं है; क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शुभयोगको भी ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका कारण माना है। इसलिए शुभ और अशुभ योगका जो लक्षण यहाँ पर किया है वही सही है। जो आत्माको पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है। जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्माको शुभसे बचाता है वह पाप है; जैसे असाता वेदनीय आदि।

---

१. अभ्युपगत आहि–मु०। २. आस्रवणहेतु–मु०, ता०, ना०। ३. पापम्। असद्वे–मु०।

§ ६१५. आह किमयमास्रवः सर्वसंसारिणां[1] समानफलारम्भहेतुराहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

§ ६१६. स्वामिभेदादास्रवभेदः। स्वामिनौ द्वौ सकषायोऽकषायश्चेति। कषायः क्रोधादिः। कषाय इव कषायः। कः उपमार्थः। यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते। सह कषायेण वर्तत इति सकषायः। न विद्यते कषायो यस्येत्यकषायः। सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः। संपरायः संसारः तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। सांपरायिकं च ईर्यापथं च सांपरायिकेर्यापथे। तयोः सांपरायिकेर्यापथयोः। यथासंख्यमभिसंबन्धः सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्ट्यादेः[2] सांपरायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति। अकषायस्य उपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति।

§ ६१७. आदावुद्दिष्टस्यास्रवस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

§ ६१८. अत्र इन्द्रियादीनां पञ्चादिभिर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः। इन्द्रियाणि पञ्च।

---

§ ६१५. क्या यह आस्रव सब संसारी जीवोंके समान फलको पैदा करता है या कोई विशेषता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषायसहित और कषायरहित आत्माका योग क्रमसे साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मके आस्रव रूप है ॥ ४ ॥

§ ६१६. स्वामीके भेदसे आस्रवमें भेद है। स्वामी दो प्रकारके हैं—कषायसहित और कषायरहित। कषाय अर्थात् क्रोधादि कषायके समान होनेसे कषाय कहलाता है। उपमारूप अर्थ क्या है ? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेषका कारण है उसी प्रकार आत्माका क्रोधादि रूप कषाय भी कर्मोंके श्लेषका कारण है इसलिए कषायके समान यह कषाय है ऐसा कहते हैं। जिसके कषाय है वह सकषाय जीव है और जिसके कषाय नहीं है वह अकषाय जीव है। यहाँ इन दोनों पदोंका पहले 'सकषायश्च अकषायश्चेति सकषायाकषायौ' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके अनन्तर स्वामित्व दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन दिया है। सम्पराय संसारका पर्यायवाची है। जो कर्म संसारका प्रयोजक है वह साम्परायिक कर्म है। ईर्याकी व्युत्पत्ति 'ईरणं' होगी। इसका अर्थ गति है। जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथ कर्म है। यहाँ इन दोनों पदोंका पहले 'साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके तदनन्तर सम्बन्ध दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन दिया है। सकषायके साथ साम्परायिक शब्दका और अकषायके साथ ईर्यापथ शब्दका यथाक्रम सम्बन्ध है। जिससे यह अर्थ हुआ कि मिथ्यादृष्टि आदि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्मका आस्रव होता है। तथा उपशान्त कषाय आदि कषाय रहित जीवके ईर्यापथ कर्मका आस्रव होता है।

§ ६१७. आदिमें कहे गये आस्रवके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वके अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रवके इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं। जो क्रमसे पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं ॥ ५ ॥

§ ६१८. यहाँ इन्द्रिय आदिका पाँच आदिके साथ क्रमसे सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा

---

१. संसारिसमा–आ०, ता०, ना०। संसारसमा–दि० २। २. –दृष्टेः साम्प–मु०।

चत्वारः कषायाः। पञ्चाव्रतानि। पञ्चविंशतिः क्रिया इति। तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्युक्तानि। चत्वारः कषायाः क्रोधादयः। पञ्चाव्रतानि प्राणव्यपरोपणादीनि वक्ष्यन्ते। पञ्चविंशतिः[1] क्रिया उच्यन्ते—चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी[2] प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया। संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया। ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। क्रोधावेशात्प्रादोषिकी क्रिया। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। हिंसोपकरणादानाधिकरणिकी[3] क्रिया। दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकी क्रिया। आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासप्राणानां[4] वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनो रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसंचेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु[5] चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया। शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। छेदनभेदनविशसनादिक्रियापरत्वमन्येन[7] वारम्भे क्रियमाणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया।

इन्द्रियाँ पाँच हैं, कषाय चार हैं, अव्रत पाँच हैं और क्रिया पच्चीस हैं। इनमें-से स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका कथन पहले कर आये हैं। क्रोधादिक चार कषाय हैं और हिंसा आदि पाँच अव्रत आगे कहेंगे। पच्चीस क्रियाओंका वर्णन यहाँ करते हैं—चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदिरूप सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है। मिथ्यात्वके उदयसे जो अन्यदेवताके स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व क्रिया है। शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति प्रयोगक्रिया है। संयतका अविरतिके सम्मुख होना समादान क्रिया है। ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। क्रोधके आवेशसे प्रादोषिकी क्रिया होती है। दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसाके साधनोंको ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। जो दुःखकी उत्पत्तिका कारण है वह पारितापिकी क्रिया है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणोंका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। रागवश प्रमादीका रमणीय रूपके देखनेका अभिप्राय दर्शनक्रिया है। प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थका अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है। नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष और पशुओंके जाने, आने, उठने और बैठनेके स्थानमें भीतरी मलका त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है। प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोग क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। जो क्रिया दूसरों द्वारा करनेकी हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्तक्रिया है। पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेषके लिए सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरेने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारणक्रिया है। चारित्रमोहनीयके उदयसे आवश्यक आदिके विषयमें शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकनेके कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। धूर्तता और आलस्यके कारण शास्त्रमें उपदेशी गयी विधि करनेका अनादर अनाकांक्षक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। छेदना, भेदना और रचना आदि क्रियामें स्वयं तत्पर

१.–शतिक्रिया मु.। २. हेतुका कर्मप्रवृ–दि० १, दि० २, आ०। ३. क्रिया। सत्त्वदुःखो–ता०, ना०, मु०। ४. बलप्राणानां–मु०। ५.–श्यकादिचारि—मु०। ६. विसर्जनादि–आ०, दि० १, दि० २। ७. वा क्रिय–मु०।

ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। अन्यं [1]मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः। एतानीन्द्रियादीनि कार्यकारणभेदाद्भेदमापद्यमानानि सांपरायिकस्य कर्मण आस्रवद्वाराणि भवन्ति।

§ ६१९. अत्राह, योगत्रयस्य सर्वात्मकार्यत्वात्सर्वेषां संसारिणां साधारण[2]:, ततो बन्धफलानुभवनं प्रत्यविशेष इत्यत्रोच्यते—नैतदेवम्। यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसंभवे तेषां जीवपरिणामेभ्योऽनन्तविकल्पेभ्यो विशेषोऽभ्यनुज्ञायते कथमिति चेदुच्यते—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

§ ६२०. बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रः। तद्विपरीतो मन्दः। अयं [3]प्राणी मया हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्ज्ञातमित्युच्यते। मदात्प्रमादाद्वानवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम्। अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः। द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। भावशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—तीव्रभावो मन्दभाव इत्यादिः। एतेभ्यस्तस्यास्रवस्य विशेषो भवति। कारणभेदाद्धि कार्यभेद इति।

§ ६२१. अत्राह, अधिकरण[4]मुक्तम्, तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातमतस्तदुच्यतामिति। तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेणाधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

रहना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है। परिग्रह का नाश हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन आदिके विषयमें छल करना मायाक्रिया है। मिथ्यादर्शनके साधनोंसे युक्त पुरुषकी प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयमका घात करनेवाले कर्मके उदयसे त्यागरूप परिणामोंका न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है। ये पांच क्रिया हैं। ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती हैं कार्य-कारणके भेदसे अलग-अलग भेदको प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्परायिक कर्मके आस्रवके द्वार हैं।

§ ६१९ **शंका**—तीनो योग सब आत्माओंके कार्य हैं इसलिए वे सब संसारी जीवोंके समान रूपसे प्राप्त होते हैं, इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवके प्रति समानता प्राप्त होनी चाहिए? **समाधान**—यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यद्यपि योग प्रत्येक आत्माके होता है परन्तु जीवोंके परिणामोंके अनन्त भेद हैं इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवकी विशेषता माननी पड़ती है। **शंका**—किस प्रकार? **समाधान**—अब अगले सूत्रद्वारा इसी बातका समाधान करते हैं—

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्यविशेषके भेदसे उसकी (आस्रवकी) विशेषता होती है ॥६॥

§ ६२०. बाह्य और आभ्यन्तर हेतुको उदीरणावश प्राप्त होनेके कारण जो उत्कट परिणाम होता है वह तीव्र भाव है। मन्द भाव इससे उलटा है। इस प्राणीका मुझे हनन करना चाहिए इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मद या प्रमादके कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं वह अधिकरण है। यहाँ अधिकरणसे द्रव्यका ग्रहण किया है। द्रव्यकी अपनी शक्तिविशेष वीर्य है। सूत्रमें जो भाव शब्द आया है वह सब शब्दोंके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—तीव्रभाव, मन्दभाव इत्यादि। इन सब कारणोंसे आस्रवमें विशेषता आ जाती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यमें भेद होता है।

§ ६२१. पूर्व सूत्रमें 'अधिकरण' पद आया है पर उसका स्वरूप अज्ञात है, इसलिए वह कहना चाहिए? अब उसके भेदोंके कथन द्वारा उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. दर्शनकरण–ता०, ना०, मु०। २. –रणस्य ततो मु०। ३. प्राणी हन्त–मु०, ता०, ना०। ४. –करणमित्युक्तम् मु० ता०।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

§ ६२२. उक्तलक्षणा जीवाजीवाः। यद्युक्तलक्षणाः पुनर्वचनं किमर्थम्। अधिकरणविशेषज्ञापनार्थं पुनर्वचनम्। जीवाजीवा अधिकरणमित्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य[1] इति। कः पुनरसौ। हिंसाद्युपकरणभाव इति। स्यादेतन्मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवाजीवाविति[2] द्विवचनं न्यायप्राप्तमिति। तन्न, पर्यायाणामधिकरणत्वात्। येन केनचित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणम्, न सामान्यमिति बहुवचनं कृतम्। जीवाजीवा अधिकरणं कस्य। आस्रवस्येति। अर्थवशादभिसंबन्धो भवति।

§ ६२३. तत्र जीवाधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

§ ६२४. प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भः। साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः। प्रक्रम आरम्भः। 'योग'शब्दो व्याख्यातार्थः। कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम्। कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः। अभिहितलक्षणाः कषायाः क्रोधादयः। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। स प्रत्येकमभिसंबध्यते—संरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि। आद्यं जीवाधिकरणमेतैर्विशेषैः 'भिद्यते' इति वाक्यशेषः। एते चत्वारः

अधिकरण जीव और अजीवरूप हैं ॥७॥

§ ६२२. जीव और अजीवके लक्षण पहले कह आये हैं। **शंका**—यदि इनके लक्षण पहले कह आये हैं तो फिरसे इनका उल्लेख किस लिए किया? **समाधान**—अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए फिरसे इनका उल्लेख किया है जिससे जीव और अजीव अधिकरण हैं यह विशेष जताया जा सके। **शंका**—वह कौन है? **समाधान**—हिंसादि उपकरणभाव। **शंका**—मूल पदार्थ दो हैं इसलिए 'जीवाजीवौ' इस प्रकार सूत्रमें द्विवचन रखना न्यायप्राप्त है? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनकी पर्यायोंको अधिकरण माना है। तात्पर्य यह है कि किसी एक पर्यायसे युक्त द्रव्य अधिकरण होता है, केवल द्रव्य नहीं, इसलिए सूत्रमें बहुवचन रखा है। जीव और अजीव किसके अधिकरण है? आस्रवके। इस प्रकार प्रयोजनके अनुसार यहाँ आस्रव पदका सम्बन्ध होता है।

§ ६२३. अब जीवाधिकरणके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भके भेदसे तीन प्रकारका, योगोंके भेदसे तीन प्रकारका, कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकारका तथा कषायोंके भेदसे चार प्रकारका होता हुआ परस्पर मिलानेसे १०८ प्रकारका है ॥८॥

§ ६२४. प्रमादी जीवका प्राणोंकी हिंसा आदिकार्यमें प्रयत्नशील होना संरम्भ है। साधनोंका जुटाना समारम्भ है। कार्य करने लगना आरम्भ है। योग शब्दका व्याख्यान पहले कर आये हैं। कर्ताकी कार्यविषयक स्वतन्त्रता दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत' वचन रखा है। कार्यमें दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षा दिखलानेके लिए 'कारित' वचन रखा है। तथा प्रयोजकके मानस परिणामको दिखलानेके लिए अनुमत शब्द रखा है। क्रोधादि कषायोंके लक्षण कहे जा चुके हैं। जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थसे विशेषताको प्राप्त हो वह विशेष है। इसे प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए यथा संरम्भविशेष, समारम्भविशेष आदि। यहाँ 'भिद्यते' यह वाक्यशेष है जिससे यह अर्थ होता है कि पहला जीवाधिकरण इन विशेषताओंसे भेदको प्राप्त होता है। सुच् प्रत्ययान्त ये चारों

---

१. –तव्य इत्यर्थः। क: मु०। २. –जीवा इति मु०, दि० २।

सुजन्तास्त्र्यादिशब्दा यथाक्रममभिसंबध्यन्ते—संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः, योगास्त्रयः, कृतकारितानुमतास्त्रयः, कषायाश्चत्वार इति। एतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते। एकश इति वीप्सानिर्देशः। एकैकं [1]त्र्यादीन् भेदान् नयेदित्यर्थः। यद्यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भः मानकृतकायसंरम्भः मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः क्रोधकारितकायसंरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः क्रोधानुमतकायसंरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा कायसंरम्भः। एवं वाग्योगे मनोयोगे च द्वादशधा संरम्भः। त एते[2] संपिण्डिताः षट्त्रिंशत्, तथा समारम्भा अपि षट्त्रिंशत्, आरम्भा अपि षट्त्रिंशत्। एते संपिण्डिता जीवाधिकरणास्त्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्याः संभवन्ति। 'च'शब्दोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनकषायभेदकृतान्तर्भेदसमुच्चयार्थः।

§ ६२५. परस्या[3]जीवाधिकरणस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

§ ६२६. निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना निष्पादना। निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना। संयुज्यते इति संयोगो मिश्रीकृतम्। निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम्। एते द्व्यादिभिर्यथाक्रममभिसंबध्यन्ते—निर्वर्तना द्विभेदा निक्षेपश्चतुर्भेदः संयोगो द्विभेदः निसर्गस्त्रिभेद इति। त एते भेदा अजीवाधिकरणस्य वेदितव्याः। परवचनमनर्थकम्, पूर्वसूत्रे आद्यमिति वचनादिदमवशिष्टार्थं भवतीति। नानर्थकम्। अन्यार्थः परशब्दः। संरम्भादिभ्योऽन्यानि निर्वर्त्तनादीनि। इतरथा हि निर्वर्तनादीना-

---

'तीन' आदि शब्द क्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं। यथा—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीन; योग तीन; कृत, कारित और अनुमत ये तीन और कषाय चार। इनके गणनाकी पुनरावृत्ति 'सुच्' प्रत्यय-द्वारा प्रकट की गयी है। 'एकशः' यह वीप्सामें निर्देश है। तात्पर्य यह है कि तीन आदि भेदोंको प्रत्येकके प्रति लगा लेना चाहिए। जैसे क्रोधकृतकायसंरम्भ, मानकृतकायसंरम्भ, मायाकृतकायसंरम्भ, लोभकृतकायसंरम्भ, क्रोधकारितकायसंरम्भ, मानकारितकायसंरम्भ, मायाकारितकायसंरम्भ, लोभकारितकायसंरम्भ, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसंरम्भ, मायानुमतकायसंरम्भ, लोभानुमतकायसंरम्भ। इस प्रकार कायसंरम्भ बारह प्रकारका है। इसी प्रकार वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षा संरम्भ बारह-बारह प्रकारका है। ये सब मिला कर छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भके भी छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। ये सब मिल कर जीवाधिकरणके १०८ भेद होते हैं। सूत्रमें 'च' शब्द अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप कषायोंके अवान्तर भेदोंका समुच्चय करनेके लिए दिया है।

§ ६२५. अब अजीवाधिकरणके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥९॥

§ ६२६. निर्वर्तनाका अर्थ निष्पादना अर्थात् रचना है। निक्षेपका अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है। संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है और निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है। ये क्रमसे दो आदि शब्दोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं। यथा—निर्वर्तना दो प्रकारकी है। निक्षेप चार प्रकारका है। संयोग दो प्रकारका है। निसर्ग तीन प्रकारका है। ये सब अजीवाधिकरणके भेद हैं। **शंका**—सूत्रमें 'पर' वचन निरर्थक है; क्योंकि पिछले सूत्रमें 'आद्य' वचन दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह शेषके लिए है। **समाधान**—अनर्थक नहीं हैं, क्योंकि यहाँ पर शब्दका अन्य अर्थ है। जिससे यह ज्ञात होता है कि निर्वर्तना आदिक संरम्भ आदिकसे अन्य हैं। यदि

---

१. त्र्यादिभेदान् आ०, दि० १, दि० २। २. एते पिण्डि–मु०। ३. –जीवस्याधि–मु०।

मात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्पा एवेति विज्ञायेत। निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति। तत्र [1]मूलगुणनिर्वर्तनं पञ्चविधम्, शरीरवाङ्मनःप्राणापानाश्च। [2]उत्तरगुणनिर्वर्तनं काष्ठपुस्तचित्रकर्मादि। निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति। निसर्गस्त्रिविधः—कायनिसर्गाधिकरणं वाग्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति।

§ ६२७. उक्तः सामान्येन कर्मास्रवभेदः। इदानीं कर्मविशेषास्रवभेदो वक्तव्यः। तस्मिन् वक्तव्ये आद्ययोर्ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

§ ६२८. तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरतः अन्तःपैशुन्यपरिणामः प्रदोषः। कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं निह्नवः। कुतश्चित्कारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तरायः। कायेन वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनम्। प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। आसादनमेवेति चेत्। सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम्। उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्रायः। इत्यनयोरयं भेदः। 'तत्'शब्देन ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशः क्रियते। कथं पुनरप्रकृतयोरनिर्दिष्टयोस्तच्छब्देन परामर्शः कर्तुं शक्यः। प्रश्नापेक्षया। ज्ञानदर्शनावरणयोः क आस्रव

पर शब्द न दिया जाय तो निर्वर्तना आदि आत्माके परिणाम हैं ऐसा हो जानेसे ये भी जीवाधिकरणके भेद समझे जाँयगे। निर्वर्तनाधिकरण दो प्रकारका है—मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण। उनमें-से मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण पाँच प्रकारका है—शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान। तथा काष्ठकर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण हैं। निक्षेप चार प्रकारका है—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण। संयोग दो प्रकारका है—भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण। निसर्ग तीन प्रकारका है—कायनिसर्गाधिकरण, वचननिसर्गाधिकरण और मननिसर्गाधिकरण।

§ ६२७. सामान्यसे कर्मास्रवके भेद कहे। इस समय अलग-अलग कर्मोंके आस्रवके भेदोंका कथन करना चाहिए। उसमें सर्वप्रथम प्रारम्भके ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव हैं ॥१०॥

§ ६२८. तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है उसका गुणगान करते समय उस समय नहीं बोलनेवालेके जो भीतर पैशुन्यरूप परिणाम होता है वह प्रदोष है। किसी कारणसे 'ऐसा नहीं है, मैं नहीं जानता' ऐसा कहकर ज्ञानका अपलाप करना निह्नव है। विज्ञानका अभ्यास किया है वह देने योग्य भी है तो भी जिस कारणसे वह नहीं दिया जाता है मात्सर्य है। ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय है। दूसरा कोई ज्ञानका प्रकाश कर रहा हो तब शरीर या वचनसे उसका निषेध करना आसादन है। प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। **शंका**—उपघातका जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है? **समाधान**—प्रशस्त ज्ञानकी विनय न करना, उसकी अच्छाईकी प्रशंसा न करना आदि आसादन है। परन्तु ज्ञानको अज्ञान समझकर ज्ञानके नाशका इरादा रखना उपघात है इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है। सूत्रमें 'तत्' पद ज्ञान और दर्शनका

---

१. मूलं पञ्च–आ०, दि० १, दि० २। २. उत्तरं काष्ठ–आ०, दि० १, दि० २।

इति प्रश्ने कृते तदपेक्षया तच्छब्दो ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिशति। एतेन ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च प्रदोषादयो योज्याः; तन्निमित्तत्वात्। त एते ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवहेतवः। एककारणसाध्यस्य कार्यस्यानेकस्य दर्शनात् तुल्येऽपि प्रदोषादौ ज्ञानदर्शनावरणास्रवसिद्धिः। अथवा विषयभेदादास्रवभेदः। ज्ञानविषयाः प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्य। दर्शनविषयाः प्रदोषादयो दर्शनावरणस्येति।

§ ६२९. **यथानयोः कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदास्तथा—**

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

§ ६३०. **पीडालक्षणः परिणामो दुःखम्। अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः। परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः। परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम्। आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः। संक्लेशपरिणामावलम्बनं[1] गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम्। ननु च शोकादीनां दुःखविशेषत्वाद् दुःखग्रहणमेवास्तु। सत्यमेवम्; तथापि कतिपयविशेषप्रतिपादनेन दुःखजात्य[2]नुविधानं क्रियते। यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञाते विशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डकृष्णशुक्लाद्युपादानं क्रियते तथा दुःखविषयास्रवासंख्येयलोकभेदसंभवाद् दुःखमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञानात्कतिपयविशेषनिर्देशेन तद्विशेषप्रतिपत्तिः क्रियते। तान्येतानि दुःखादीनि [3]क्रोधाद्यावेशादात्म-**

निर्देश करनेके लिए दिया है। **शंका**—ज्ञान और दर्शन अप्रकृत हैं, तथा उनका निर्देश भी नहीं किया है, फिर यहाँ 'तत्' शब्दके द्वारा उनका ज्ञान कैसे हो सकता है? **समाधान**—प्रश्नकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणका क्या आस्रव है ऐसा प्रश्न करनेपर उसकी अपेक्षा 'तत्' शब्द ज्ञान और दर्शनका निर्देश करता है। इससे यह अभिप्राय निकला कि ज्ञान और दर्शनवालोंके विषयमें तथा उनके साधनोंके विषयमें प्रदोषादिककी योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये उनके निमित्तसे होते हैं। ये प्रदोषादिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं। एक कारणसे भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रदोषादिकके एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोंका आस्रव सिद्ध होता है। अथवा विषयके भेदसे आस्रवमें भेद होता है। ज्ञानसम्बन्धी प्रदोषादिक ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शनसम्बन्धी प्रदोषादिक दर्शनावरणके आस्रव है।

§ ६२९. जिस प्रकार इन दोनों कर्मोंका आस्रव अनेक प्रकारका है उसी प्रकार—

अपनेमें, दूसरेमें या दोनोंमें विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असाता वेदनीय कर्मके आस्रव हैं ॥११॥

§ ६३०. पीड़ारूप आत्माका परिणाम दुःख है। उपकार करनेवालेसे सम्बन्धके टूट जानेपर जो विकलता होती है वह शोक है। अपवाद आदिके निमित्तसे मनके खिन्न होनेपर जो तीव्र अनुशय-संताप होता है वह ताप है। परितापके कारण जो आँसू गिरनेके साथ विलाप आदि होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना वध है। संक्लेशरूप परिणामोंके होनेपर गुणोंका स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरेके उपकारकी अभिलाषासे करुणाजनक रोना परिदेवन है। **शंका**—शोकादिक दुःखके भेद हैं इसलिए दुःखका ग्रहण करना पर्याप्त है? **समाधान**—यह कहना सही है तो भी यहाँ कुछ भेदोंका कथन करके दुःखकी जातियाँ दिखलायी हैं। जैसे गौ ऐसा कहनेपर अवान्तर भेदोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिए खांडी, मुँडी, काली, सफेद आदि विशेषण दिये जाते हैं उसी प्रकार दुःखविषयक आस्रव असंख्यात लोकप्रमाण संभव हैं। परन्तु दुःख इतना कहनेपर उन सब भेदोंका ज्ञान नहीं होता

---

१. –लम्बनं स्वपरा–आ०, दि० १, दि० २। २. –जात्यन्तरविधा–मु०। ३. क्रोधावेशा–मु०।

स्थानि भवन्ति परस्थान्युभयस्थानि च। एतानि सर्वाण्यसद्वेद्यास्रवकारणानि वेदितव्यानि। अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानि, किमर्थमार्हतैः केशलुञ्चनानशनातपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च प्रतिपाद्यन्ते इति। नैष दोषः—अन्तरङ्गक्रोधाद्यावेशपूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानीति विशेष्योक्तत्वात्। यथा कस्यचिद् भिषजः परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। एवं संसारविषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहितमनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्तमानस्य संक्लेशपरिणामाभावाद् दुःखनिमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः। उक्तं च—

"न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥"

§ ६३१. उक्ता असद्वेद्यास्रवहेतवः। सद्वेद्यस्य पुनः के इत्यत्रोच्यते—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य॥ १२॥

§ ६३२. तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद्भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थः। व्रतान्यहिंसादीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिनः। ते द्विविधाः। अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्याः संयताः गृहिणश्च संयतासंयताः।

अतएव कुछ भेदोंका उल्लेख करके उनको पृथक्-पृथक् जान लिया जाता है। क्रोधादिकके आवेशवश ये दुःखादिक कभी अपनेमें होते हैं, कभी दूसरोंमें होते हैं और कभी दोनोंमें होते हैं। ये सब असाता वेदनीयके आस्रवके कारण जानने चाहिए। **शंका**—यदि अपनेमें, परमें या दोनोंमें स्थित दुःखादिक असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं तो अरिहंतके मतको माननेवाले मनुष्य दुःखको पैदा करनेवाले केशलोंच, अनशन और आतपस्थान (आतापनयोग) आदिमें क्यों विश्वास करते हैं और दूसरोंको इनका उपदेश क्यों देते हैं? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अन्तरंगमें क्रोधादिकके आवेशसे जो दुःखादिक पैदा होते हैं वे असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं इतना यहाँ विशेष कहा है। जैसे अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोड़ेकी चीर-फाड़ और मरहमपट्टी करते समय निःशल्य संयतको दुःख देनेमें निमित्त होनेपर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पापबन्ध नहीं होता उसी प्रकार जो भिक्षु संसार-सम्बन्धी दुःखसे उद्विग्न है और जिसका मन उसके दूर करनेके उपायोंमें लगा हुआ है उसके शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति करते समय संक्लेशरूप परिणामोंके नहीं होनेसे पापबन्ध नहीं होता। कहा भी है—"जिस प्रकार चिकित्साके साधन न स्वयं दुःखरूप हैं और न सुखरूप हैं किन्तु जो चिकित्सामें लग रहा है उसे दुःख भी होता है और सुख भी। उसी प्रकार मोक्ष-साधनके जो हेतु हैं वे स्वयं न दुःखरूप हैं और न सुखरूप किन्तु जो मोक्षमार्गपर आरूढ़ है उसे दुःख भी होता है और सुख भी।"

§ ६३१. असातावेदनीयके आस्रवके कारण कहे परन्तु सातावेदनीयके आस्रवके कारण कौन हैं? इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं॥१२॥

§ ६३२. जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोंमें होते हैं वे भूत कहलाते हैं। भूत यह प्राणीका पर्यायवाची शब्द है। अहिंसादिक व्रतोंका वर्णन आगे करेंगे। जो उनसे युक्त हैं वे व्रती कहलाते हैं। वे दो प्रकारके हैं—पहले वे जो घरसे निवृत्त होकर संयत हो गये हैं और दूसरे

अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । भूतेषु व्रतिषु चानुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम् । संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते । प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः । सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः । 'आदि'-शब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः । योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः । भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादीनां योगो भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः । क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः । लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् । 'इति'शब्दः प्रकारार्थः । के पुनस्ते प्रकाराः । अर्हत्पूजाकरणतत्परताबालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्यादयः । 'भूत'-ग्रहणात् सिद्धे 'व्रति'ग्रहणं तद्विषयानुकम्पाप्राधान्यख्यापनार्थम् । त एते सद्वेद्यस्यास्रवा ज्ञेयाः ।

§ ६३३. अथ तदनन्तरोद्देशभाजो मोहस्यास्रवहेतौ वक्तव्ये तद्भेदस्य दर्शनमोहस्यास्रवहेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

§ ६३४. निरावरणज्ञानाः केवलिनः । तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थरचनं श्रुतं भवति । रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः । अहिंसालक्षणस्तदागमदेशितो धर्मः । देवाश्चतुर्णिकाया उक्ताः । गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः । एतेष्ववर्णवादो

गृहस्थ संयतासंयत । अनुग्रहसे दयार्द्र चित्तवालेके दूसरेकी पीड़ाको अपनी ही माननेका जो भाव होता है उसे अनुकम्पा कहते हैं । सब प्राणियोंपर अनुकम्पा रखना भूतानुकम्पा है और व्रतियोंपर अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है । दूसरेका उपकार हो इस बुद्धिसे अपनी वस्तुका अर्पण करना दान है । जो संसारके कारणोंके त्यागके प्रति उत्सुक है परन्तु जिसके मनसे रागके संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं वह सराग कहलाता है । प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको संयम कहते हैं । रागी जीवका संयम या रागसहित संयम सरागसंयम कहलाता है । सूत्रमें सरागसंयमके आगे दिये गये आदि पदसे संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतपका ग्रहण होता है । योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं । पहले जो भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसंयम 'आदि' कहे हैं इनका योग अर्थात् इनमें भले प्रकार मन लगाना भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग है । क्रोधादि दोषोंका निराकरण करना क्षान्ति है । तथा लोभके प्रकारोंका त्याग करना शौच है । सूत्रमें आया हुआ 'इति' शब्द प्रकारवाची है । वे प्रकार ये हैं—अरहंतकी पूजा करनेमें तत्परता तथा बाल और वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्त्य आदि करना । यद्यपि भूत पदके ग्रहण करनेसे व्रतियोंका ग्रहण हो जाता है तो भी व्रतीविषयक अनुकम्पाकी प्रधानता दिखलानेके लिए सूत्रमें 'व्रती' पदको अलगसे ग्रहण किया है । ये सब सातावेदनीयके आस्रव हैं ।

§ ६३३. अब इसके बाद मोहनीयके आस्रवके कारणोंका कथन करना क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले उसके प्रथम भेद दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारणोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव है ॥१३॥

§ ६३४. जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं । अतिशय बुद्धिवाले गणधरदेव उनके उपदेशोंका स्मरण करके जो ग्रन्थोंकी रचना करते हैं वह श्रुत कहलाता है । रत्नत्रयसे युक्त श्रमणोंका समुदाय संघ कहलाता है । सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगममें उपदिष्ट अहिंसा ही धर्म है । चार निकायवाले देवोंका कथन पहले कर आये हैं । गुणवाले बड़े पुरुषोंमें जो दोष नहीं है उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है । इन केवली आदिके विषयमें किया गया अवर्णवाद

---

१. -करणपरता-मु० ।

दर्शनमोहस्यास्रवहेतुः । कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिन इत्येवमादि वचनं केवलिनामवर्णवादः । मांसभक्षणाद्य[1]नवद्याभिधानं श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवादः । जिनोपदिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाद्य[2]भिधानं धर्मावर्णवादः । सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ।

§ ६३५. द्वितीयस्य मोहस्यास्रवभेदप्रतिपादनार्थमाह—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

§ ६३६. कषाया उक्ताः । उदयो विपाकः । कषायाणामुदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्यास्रवो वेदितव्यः । तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः । सद्धर्मोपहसनदीनातिहास[3]कन्दर्पोपहासबहुविप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्यवेदनीयस्य । विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादिः रतिवेदनीयस्य । परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलसंसर्गादिः अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकोत्पादन[4]परशोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य । स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य । कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । अलीकाभिधायितातिसंधानपरत्व[5]पररन्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादिः स्त्रीवेदनीयस्य ।

दर्शनमोहनीयके आस्रवका कारण है। यथा केवली कवलाहारसे जीते हैं इत्यादि रूपसे कथन करना केवलियोंका अवर्णवाद है। शास्त्रमें मांसभक्षण आदिको निर्दोष कहा है इत्यादि रूपसे कथन करना श्रुतका अवर्णवाद है। ये शूद्र हैं, अशुचि हैं, इत्यादि रूपसे अपवाद करना संघका अवर्णवाद है। जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्ममें कोई सार नहीं, जो इसका सेवन करते हैं वे असुर होंगे इस प्रकार कथन करना धर्मका अवर्णवाद है। देव सुरा और मांस आदिका सेवन करते हैं इस प्रकारका कथन करना देवोंका अवर्णवाद है।

§ ६३५. अब मोहनीयका दूसरा भेद जो चारित्र मोहनीय है उसके आस्रवके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषायके उदयसे होनेवाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीयका आस्रव है ॥१४॥

§ ६३६. कषायोंका व्याख्यान पहले कर आये हैं। विपाकको उदय कहते हैं। कषायोंके उदयसे जो आत्माका तीव्र परिणाम होता है वह चारित्रमोहनीयका आस्रव जानना चाहिए। स्वयं कषाय करना, दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोंके चारित्रमें दूषण लगाना, संक्लेशको पैदा करनेवाले लिंग (वेष) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्रव हैं। सत्य धर्मका उपहास करना, दीन मनुष्यकी दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित रागको बढ़ानेवाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसनेकी आदत रखना आदि हास्यवेदनीयके आस्रव हैं। नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंमें लगे रहना, व्रत और शीलके पालन करनेमें रुचि न रखना आदि रतिवेदनीयके आस्रव हैं। दूसरोंमें अरति उत्पन्न हो और रतिका विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगोंकी संगति करना आदि अरतिवेदनीयके आस्रव हैं। स्वयं शोकातुर होना, दूसरोंके शोकको बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्योंका अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीयके आस्रव हैं। भयरूप अपना परिणाम और दूसरेको भय पैदा करना आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। सुखकर क्रिया और सुखकर आचारसे घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्रव हैं। असत्य बोलनेकी आदत, अतिसन्धानपरता, दूसरेके छिद्र ढूँढ़ना और बढ़ा हुआ राग आदि

---

१. –णाद्यभिधानं मु०, ना० । २. –त्येवमभि–मु० । ३. –नातिहासबहु–मु० । ४. –त्पादनं परशोकाविष्करणं शोक–ता० । ५. –रत्वं पररन्ध्रापे–मु० ।–रत्वं रन्ध्रापे–आ० ।

३२

स्तोकक्रोधानुत्सुकत्वस्वदारसंतोषादिः पुंवेदनीयस्य। प्रचुरकषायगुह्येन्द्रियव्यपरोपणपराङ्गनावस्क[1]-न्दादिर्नपुंसकवेदनीयस्य।

§ ६३७. निर्दिष्टो मोहनीयस्यास्रवभेदः। इदानीं तदनन्तरनिर्दिष्टस्यायुष[2] आस्रवहेतौ वक्तव्ये आद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

§ ६३८. आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः। ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः। आरम्भाश्च परिग्रहाश्च आरम्भपरिग्रहाः। बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः। तस्य भावो बह्वारम्भपरिग्रहत्वम्। हिंसादिक्रूरकर्माजस्रप्रवर्तनपरस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति।

§ ६३९. आह, उक्तो नारकस्यायुष आस्रवः। तैर्यग्योनस्येदानीं वक्तव्य इत्यत्रोच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

§ ६४०. चारित्रमोहकर्मविशेषस्योदयादाविर्भूत आत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवो वेदितव्यः। तत्प्रपञ्चो मिथ्यात्वोपेतधर्मदेशना निःशीलतातिसंधानप्रियता नीलकापोतलेश्यार्तध्यानमरणकालतादिः।

स्त्रीवेदके आस्रव हैं। क्रोधका अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्रीमें सन्तोष करना आदि पुरुषवेदके आस्रव हैं। प्रचुर मात्रामें कषाय करना, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश करना और परस्त्रीसे बलात्कार करना आदि नपुंसक वेदनीयके आस्रव हैं।

§ ६३७. मोहनीयके आस्रवके भेदोंका कथन किया। इसके बाद आयुकर्मके आस्रवके कारणोंका कथन क्रमप्राप्त है। उसमें भी पहले जिसका नियत काल तक फल मिलता है उस आयुके आस्रवके कारण दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहवालेका भाव नरकायुका आस्रव है ॥१५॥

§ ६३८. प्राणियोंको दुख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकारका संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भपरिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्योंमें निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरेके धनका अपहरण, इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति तथा मरनेके समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदिका होना नरकायुके आस्रव हैं।

§ ६३९. नरकायुका आस्रव कहा। अब तिर्यंचायुका आस्रव कहना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

माया तिर्यंचायुका आस्रव है ॥१६॥

§ ६४०. माया नामक चारित्रमोहनीयके उदयसे जो आत्मामें कुटिल भाव पैदा होता है वह माया है। इसका दूसरा नाम निकृति है। इसे तिर्यंचायुका आस्रव जानना चाहिए। इसका विस्तारसे खुलासा—धर्मोपदेशमें मिथ्या बातोंको मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता, तथा मरणके समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यानका होना आदि तिर्यंचायुके आस्रव हैं।

---

१. –नास्कन्दा–मु०। २. निर्दिष्टस्यायुषः कारण–मु०।

§ ६४१. आह, व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः। इदानीं मानुषस्यायुषः को हेतुरित्यत्रोच्यते—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

§ ६४२. नारकायुरास्रवो व्याख्यातः। तद्विपरीतो मानुषस्यायुष इति संक्षेपः। तद्व्यासः—विनीतस्वभावः प्रकृतिभद्रता प्रगुणव्यवहारता तनुकषायत्वं मरणकालासंक्लेशतादिः।

§ ६४३. किमेतावानेव मानुषस्यायुष आस्रव इत्यत्रोच्यते—

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

§ ६४४. मृदोर्भावो मार्दवम्। स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम्। उपदेशानपेक्षमित्यर्थः। एतदपि मानुषस्यायुष आस्रवः। पृथग्योगकरणं किमर्थम्। उत्तरार्थम्, देवायुष आस्रवोऽयमपि[1] यथा स्यात्।

§ ६४५. किमेतदेव द्वितीयं[2] मानुषस्यास्रवः। न; इत्युच्यते—

निश्शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

§ ६४६. 'च'शब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं च निःशीलव्रतत्वं च। शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि[3] तानि वक्ष्यन्ते। निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यो निःशीलव्रतः। तस्य

---

§ ६४१. तिर्यंचायुके आस्रव कहे। अब मनुष्यायुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहवालेका भाव मनुष्यायुका आस्रव हैं ॥१७॥

§ ६४२. नरकायुका आस्रव पहले कह आये हैं। उससे विपरीत भाव मनुष्यायुका आस्रव है। संक्षेपमें यह इस सूत्रका अभिप्राय है। उसका विस्तारसे खुलासा—स्वभावका विनम्र होना, भद्र प्रकृतिका होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषायका होना तथा मरणके समय संक्लेशरूप परिणतिका नहीं होना आदि मनुष्यायुके आस्रव हैं।

§ ६४३. क्या मनुष्यायुका आस्रव इतना ही है या और भी है। इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्रव है ॥१८॥

§ ६४४. मृदुका भाव मार्दव है। स्वभावसे मार्दव स्वभाव मार्दव है। आशय यह है कि बिना किसीके समझाये-बुझाये मृदुता अपने जीवनमें उतरी हुई हो इसमें किसीके उपदेशकी आवश्यकता न पड़े। यह भी मनुष्यायुका आस्रव है। **शंका**—इस सूत्रको अलगसे क्यों बनाया? **समाधान**—स्वभावकी मृदुता देवायुका भी आस्रव है इस बातके बतलानेके लिए इस सूत्रको अलगसे बनाया है।

§ ६४५. क्या ये दो ही मनुष्यायुके आस्रव हैं? नहीं, किन्तु और भी हैं। इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

शीलरहित और व्रतरहित होना सब आयुओंका आस्रव है ॥१९॥

§ ६४६. सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवोंके समुच्चय करनेके लिए है। जिससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहरूप भाव तथा शील और व्रतरहित होना सब आयुओंके आस्रव हैं। शील और व्रतोंका स्वरूप आगे कहनेवाले हैं। इनसे रहित

---

१. आस्रवोऽपि मु०। २. द्वितीयं मु०। ३. व्रतानि वक्ष्य–मु०।

भावो निःशीलव्रतत्वम्। 'सर्वेषां'ग्रहणं सकलायुरास्रवप्रतिपत्त्यर्थम्। किं देवायुषोऽपि भवति। सत्यम्, भवति भोगभूमिजापेक्षया।

§ ६४७. अथ चतुर्थस्यायुषः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

§ ६४८. सरागसंयमः संयमासंयमश्च व्याख्यातौ। अकामनिर्जरा अकामश्चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादिः। अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा। बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपायकायक्लेशप्रचुरं[1] निकृतिबहुलव्रतधारणम्। तान्येतानि दैवस्यायुष आस्रवहेतवो वेदितव्याः।

§ ६४९. किमेतावानेव दैवस्यायुष आस्रवः। नेत्याह—

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

§ ६५०. किम्। दैवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते। अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः। कुतः। पृथक्करणात्। यद्येवम्, पूर्वसूत्रे, उक्त आस्रवविधिरविशेषेण प्रसक्तः तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्राप्नुतः। नैष दोषः; सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति।

जीवका जो भाव होता है उससे सब आयुओंका आस्रव होता है यह इस सूत्रका भाव है। यहाँ सब आयुओंका आस्रव इष्ट है यह दिखलानेके लिए सूत्रमें 'सर्वेषाम्' पदको ग्रहण किया है। **शंका**—क्या शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है? **समाधान**—हाँ, भोगभूमियाँ प्राणियोंकी अपेक्षा शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है।

§ ६४७. अब चौथी आयुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आस्रव हैं ॥२०॥

§ ६४८. सरागसंयम और संयमासंयमका व्याख्यान पहले कर आये हैं। चारकमें रोक रखनेपर या रस्सी आदिसे बाँध रखनेपर जो भूख प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमिपर सोना पड़ता है, मल मूत्रको रोकना पड़ता है और संताप आदि होता है ये सब अकाम है और इससे जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है। मिथ्यात्वके कारण मोक्षमार्गमें उपयोगी न पड़नेवाले कायक्लेशबहुल मायासे व्रतोंका धारण करना बालतप है। ये सब देवायुके आस्रवके कारण जानने चाहिए।

§ ६४९. क्या देवायुका आस्रव इतना ही है या और भी है? अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव है ॥२१॥

§ ६५०. **शंका**—किस कारणसे। **समाधान**—अलग सूत्र बनानेसे। **शंका**—यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्रमें जो विधान किया है वह सामान्यरूपसे प्राप्त होता है और इससे सरागसंयम और संयमासंयम ये भवनवासी आदिकी आयुके भी आस्रव हैं यह प्राप्त होता है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्वके अभावमें सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए उन दोनोंका यहीं अन्तर्भाव होता है। अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्रव हैं; क्योंकि ये सम्यक्त्वके होनेपर ही होते हैं।

---

१. –पेतमनुकम्पाकाय–ता०, ना०।

§ ६५१. आयुषोऽनन्तरमुद्दिष्टस्य नाम्न आस्रवविधौ वक्तव्ये, तत्राशुभनाम्न आस्रवप्रतिपत्त्यर्थमाह—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

§ ६५२. योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः। तस्य वक्रता कौटिल्यम्। विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्। ननु च नार्थभेदः। योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम्। सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते। परगतं विसंवादनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति। एतदुभयमशुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम्। 'च'शब्देन मिथ्यादर्शनपैशुन्यास्थिरचित्तताकूटमानतुलाकरणपरनिन्दात्मप्रशंसादिः समुच्चीयते।

§ ६५३. अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

§ ६५४. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतम्। 'च'शब्देन समुच्चितस्य च विपरीतं ग्राह्यम्। धार्मिकदर्शनसंभ्रमसद्भावोपनयनसंसरणभीरुताप्रमादवर्जनादिः। तदेतच्छुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम्।

§ ६५५. आह किमेतावानेव शुभनाम्न आस्रवविधिरुत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—यदिदं तीर्थंकरनामकर्मानन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति। यद्येवमुच्यतां के तस्यास्रवाः। इत्यत इदमारभ्यते—

---

§ ६५१. आयुके बाद नामके आस्रवका कथन क्रमप्राप्त है। उसमें भी पहले अशुभ नामके आस्रवका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं।

योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्मके आस्रव हैं ॥२२॥

§ ६५२. तीन प्रकारके योगका व्याख्यान पहले कर आये हैं। इसकी कुटिलता योगवक्रता है। अन्यथा प्रवृत्ति करना विसंवाद है। **शंका**—इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता; क्योंकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है? **समाधान**—यह कहना सही है तब भी योगवक्रता स्वगत है और विसंवादन परगत। जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो ऐसा करो विसंवादन है। इस प्रकार ये दोनों एक नहीं हैं किन्तु अलग-अलग हैं। ये दोनों अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए। सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्तका स्थिर न रहना, मापने और तौलनेके बाँट घट बढ़ रखना, दूसरोंकी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवोंका समुच्चय होता है।

§ ६५३. अब शुभ नामकर्मका आस्रव क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं।

उससे विपरीत अर्थात् योगकी सरलता और अविसंवाद ये शुभनामकर्मके आस्रव हैं ॥२३॥

§ ६५४. काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उससे विपरीत हैं। उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्यवस्था करते हुए 'च' शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए। जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोंका दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसारसे डरना और प्रमादका त्याग करना आदि। ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं।

§ ६५५. **शंका**—क्या इतने ही शुभ नामकर्मके आस्रव हैं या और भी कोई विशेषता है? **समाधान**—जो यह अनन्त और अनुपम प्रभाववाला, अचिन्त्य विभूति विशेषका कारण और तीन लोककी विजय करनेवाला तीर्थंकर नामकर्म है उसके आस्रवमें विशेषता है, अतः अगले सूत्र द्वारा उसीका कथन करते हैं—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

§ ६५६. जिनेन भगवतार्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः प्रागुक्तलक्षणा। तस्या अष्टावङ्गानि निश्शङ्कितत्वं निःकाङ्क्षिता विचिकित्साविरहता अमूढदृष्टिता उपबृंहणं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावनं चेति। सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु[1] तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसंपन्नता। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते। अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्। अर्हदाचार्येषु[2] बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः। [3]ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना। वत्से

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्त्य करना, अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओंको न छोड़ना, मोक्षमार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव हैं ॥२४॥

§ ६५६. (१) जिन भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्गपर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है। इसका विशेष लक्षण पहले कह आये हैं। उसके आठ अंग हैं? निःशंकित्व, निःकांक्षिता. निर्विचिकित्सितत्व, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। (२) सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदिके प्रति अपने योग्य आचरण-द्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है। (३) अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है। इन दोनोंके पालन करनेमें निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतानतिचार है। (४) जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। (५) संसारके दुःखोंसे निरन्तर डरते रहना संवेग है। (६) त्याग दान है। वह तीन प्रकारका है—आहारदान, अभयदान और ज्ञान-दान। उसे शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है। (७) शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (८) जैसे भांडारमें आग लग जानेपर बहुत उपकारी होनेसे आगको शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकारके व्रत और शीलोंसे समृद्ध मुनिके तप करते हुए किसी कारणसे विघ्नके उत्पन्न होनेपर उसका संधारण करना—शान्त करना साधुसमाधि है। (९) गुणी पुरुषके दुःखमें आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्त्य है। (१०–१३) अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है। (१४) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना आवश्यकापरिहाणि है। (१५) ज्ञान, तप, दान और

---

१. –मोक्षसाधनेषु तत्–मु०। २. –चार्यबहु–मु०। ३. –तपोजिन–मु०।

धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम् । तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थंकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि ।

§ ६५७. इदानीं नामास्रवाभिधानानन्तरं गोत्रास्रवे वक्तव्ये सति नीचैर्गोत्रस्यास्रवविधानार्थमिदमाह—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

§ ६५८. तथ्यस्य[1] वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा । गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा । यथासंख्य[2]मभिसंबन्धः—परनिन्दा आत्मप्रशंसेति । प्रतिबन्धकहेतुसंनिधाने सति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम् । प्रतिबन्धकाभावे[3] प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम् । अत्रापि च यथाक्रममभिसंबन्धः—सद्गुणोच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति । तान्येतानि नीचैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि वेदितव्यानि ।

§ ६५९. अथोच्चैर्गोत्रस्य क आस्रवविधिरत्रोच्यते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

§ ६६०. 'तत्'इत्यनेन प्रत्यासत्तेर्नीचैर्गोत्रस्यास्रवः[4] प्रतिनिर्दिश्यते । अन्येन[5] प्रकारेण वृत्तिर्विपर्ययः । तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययः । कः पुनरसौ विपर्ययः । आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणो-

---

जिनपूजा इनके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है । (१६) जैसे गाय बछड़ेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोंपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है । ये सब सोलह कारण हैं । यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं और समुदायरूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं ।

§ ६५७. नामकर्मके आस्रवोंका कथन करनेके बाद अब गोत्रकर्मके आस्रवोंका कथन क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले नीच गोत्रके आस्रवोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन और असद्गुणों का उद्भावन ये नीचगोत्रके आस्रव हैं ।।२५।।

§ ६५८. सच्चे या झूठे दोषको प्रकट करनेकी इच्छा निन्दा है । गुणोंके प्रकट करनेका भाव प्रशंसा है । पर और आत्मा शब्दके साथ इनका क्रमसे सम्बन्ध होता है । यथा परनिन्दा और आत्मप्रशंसा । रोकनेवाले कारणोंके रहनेपर प्रकट नहीं करनेकी वृत्ति होना उच्छादन है और रोकनेवाले कारणोंका अभाव होनेपर प्रकट करनेकी वृत्ति होना उद्भावन है । यहाँ भी क्रमसे सम्बन्ध होता है । यथा—सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन । इन सब का नीच गोत्रके आस्रवके कारण जानना चाहिए ।

§ ६५९. अब उच्च गोत्रके आस्रवके कारण क्या हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्रके आस्रव हैं ।।२६।।

§ ६६०. इसके पहले नीच गोत्रके आस्रवोंका उल्लेख कर आये हैं, अतः 'तत्' इस पदसे उनका ग्रहण होता है । अन्य प्रकारसे वृत्ति होना विपर्यय है । नीच गोत्रका जो आस्रव कहा है उससे विपर्यय तद्विपर्यय है । **शंका**—वे विपरीत कारण कौन हैं ? **समाधान**—आत्मनिन्दा,

---

१. तथ्यस्य वा दो–मु० । २. –संख्यमिति सम्ब–आ०, दि० १, दि, २ । ३. –भावेन प्रकाश–मु० । ४. –गोत्रास्रवः आ०, दि० १, दि० २ । ५. –अनेन मु० ।

द्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारतानुत्सेकः। तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति।

§ ६६१. अथ गोत्रानन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य क आस्रव इत्युच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

§ ६६२. दानादीन्युक्तानि 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इत्यत्र। तेषां विहननं विघ्नः। विघ्नस्य करणं विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवविधिर्वेदितव्यः। अत्र चोद्यते—तत्प्रदोषनिह्नवादयो ज्ञानदर्शनावरणादीनां प्रतिनियता आस्रवहेतवो वर्णिताः, किं ते प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव उताविशेषेणेति। यदि प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव, आगमविरोधः प्रसज्यते। आगमे हि सप्त कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि प्रतिक्षणं युगपदास्रवन्तीत्युक्तम्। तद्विरोधः स्यात्। अथाविशेषेण आस्रवहेतवो[1] विशेषनिर्देशो न युक्त इति। अत्रोच्यते—यद्यपि तत्प्रदोषादिभिर्ज्ञानावरणादीनां सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रदेशबन्धनियमो नास्ति, तथाप्यनुभागनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयो विभाज्यन्ते।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

परप्रशंसा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन। जो गुणोंमें उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनयसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है। ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्रके आस्रवके कारण हैं।

§ ६६१. अब गोत्रके बाद क्रम प्राप्त अन्तराय कर्मका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दानादिकमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका आस्रव है ॥२७॥

§ ६६२. 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इस सूत्रकी व्याख्या करते समय दानादिकका व्याख्यान कर आये हैं। उनका नाश करना विघ्न है। और इस विघ्नका करना अन्तराय कर्मका आस्रव जानना चाहिए। **शंका**—तत्प्रदोष और निह्नव आदिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि कर्मोंके प्रतिनियत आस्रवके कारण कहे तो क्या वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि प्रतिनियत कर्मोंके आस्रवके कारण हैं या सामान्यसे सभी कर्मोंके आस्रवके कारण हैं? यदि ज्ञानावरणादिक प्रतिनियत कर्मोंके ही आस्रवके कारण हैं तो आगमसे विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि आयुके सिवा शेष सात कर्मोंका प्रति समय आस्रव होता है ऐसा आगममें कहा है, अतः इससे विरोध होता है। और यदि सामान्यसे सब कर्मोंके आस्रवके कारण हैं ऐसा माना जाता है तो इस प्रकार विशेष रूपसे कथन करना युक्त नहीं ठहरता? **समाधान**—यद्यपि तत्प्रदोष आदिसे ज्ञानावरणादि सब कर्म प्रकृतियोंका प्रदेश बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है तो भी वे प्रतिनियत अनुभागबन्धके हेतु हैं इसलिए तत्प्रदोष, निह्नव आदिका अलग-अलग कथन किया है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

---

१. –हेतुविशेष–आ०, ता०, ना०, दि० १, दि० २।

अथ सप्तमोऽध्यायः

§ ६६३. आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत्सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभ इत्युक्ते इदमुच्यते—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्[1] ॥ १ ॥

§ ६६४. 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्येवमादिभिः सूत्रैर्हिंसादयो निर्देक्ष्यन्ते। तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते। [2]व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। ननु च हिंसादयः परिणामविशेषा अध्रुवाः, कथं तेषाम[3]पादानत्वमुच्यते। बुद्धयपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः। यथा [4]धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिः स पश्यति—दुष्करो धर्मः, फलं चास्य श्रद्धामात्रगम्यमिति स[5] बुद्धया संप्राप्य निवर्तते। एवमिहापि य[6] एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति—य एते हिंसादयः परिणामास्ते पापहेतवः। पापकर्मणि प्रवर्तमानान् जनानिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च दुःखमाप्नुवन्तीति स[7] बुद्धया संप्राप्य निवर्तते। ततो बुद्धया ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेरपादानत्वं युक्तम्। 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते हिंसाया विरतिः

---

§ ६६३. आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ में 'शुभः पुण्यस्य' यह कहा है पर वह सामान्य रूपसे ही कहा है, अतः विशेष रूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछने पर आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विवृत्त होना व्रत है ॥१॥

§ ६६४. 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसादिका जो स्वरूप आगे कहेंगे उनसे विरत होना व्रत कहलाता है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। **शंका**—हिंसा आदिक परिणाम विशेष ध्रुव अर्थात् सदा काल स्थिर नहीं रहते इसलिए उनका अपादान कारकमें प्रयोग कैसे बन सकता है? **समाधान**—बुद्धिपूर्वक त्यागमें ध्रुवपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग बन जाता है। जैसे 'धर्मसे विरत होता है' यहाँ जो यह धर्मसे विमुख बुद्धिवाला मनुष्य है वह विचार करता है कि 'धर्म दुष्कर है और उसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर धर्मसे विरत हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी जो यह मनुष्य विचारपूर्वक काम करनेवाला है वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पापके कारण हैं और जो पाप कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उन्हें इसी भवमें राजा लोग दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोकमें दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर हिंसादिकसे विरत हो जाता है। इसलिए बुद्धिसे ध्रुवत्वपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग करना उचित है। विरति शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा हिंसासे विरति,

---

१. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'–पा० यो० सू० २, ३०। २. 'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'–रत्न० ३, ४०। ३. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्।'–पा० १, ४, २४। ४. 'धर्माद्विरमति ×× य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति।'–पा० म० भा० १, ४, ३, २४। ५. स्वबुद्धया मु०। 'स बुद्धया निवर्तते'–पा० म० भा० १, ४, ३, २४। ६. 'य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति।'–पा० म० भा० १, ४, ३, २४। ७. –वन्तीति स्वबुद्धया मु०, ता० ना०।

अनृताद्विरतिरित्येवमादि । तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात् । सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत् । सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते । ननु च अस्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुष्वन्तर्भावात् । संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः । तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति । नैष दोषः; तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते । प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते[1]; हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च । व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः क्रियते । ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् । न; भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते[2] । तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति ।

§ ६६५. तस्य पञ्चतयस्य व्रतस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

देशसर्वतोऽणुमहती[3] ॥ २ ॥

§ ६६६. देश एकदेशः । सर्वः सकलः । देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ ताभ्यां देशसर्वतः । 'विरतिः' इत्यनुवर्तते । अणु च महच्चाणुमहती । व्रताभिसंबन्धान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । यथासंख्यमभि-

---

असत्यसे विरति आदि । इन पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको प्रारम्भमें रखा है क्योंकि वह सबमें मुख्य है । धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर काँटोंका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं । सब पापोंसे निवृत्त होनेरूप सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है । वही व्रत छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है और उन्हींका यहाँ कथन किया है । **शंका**—यह व्रत आस्रवका कारण है यह बात नहीं बनती, क्योंकि संवरके कारणोंमें इनका अन्तर्भाव होता है । आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवरके कारण कहनेवाले हैं । वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक संयम नामका धर्म बतलाया है उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि रूप क्रिया देखी जाती है । दूसरे ये व्रत गुप्ति आदि रूप संवरके अंग हैं । जिस साधुने व्रतोंकी मर्यादा कर ली है वह सुखपूर्वक संवर करता है इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है । **शंका**—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमें एक आलोकितपानभोजन नामकी भावना है उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रतका अन्तर्भाव हो जाता है ।

§ ६६५. उस पाँच प्रकारके व्रतके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसादिकसे एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ॥२॥

§ ६६६. देश शब्दका अर्थ एकदेश है और सर्व शब्दका अर्थ सकल है । सूत्रमें देश और सर्व शब्दका द्वन्द्व समास करके तसि प्रत्यय करके 'देशसर्वतः' पद बनाया है । इस सूत्रमें विरति शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे होती है । यहाँ अणु और महत् शब्दका द्वन्द्व समास होकर अणुमहती पद बना है । व्रत शब्द नपुंसक लिंग है इसलिए 'अणुमहती' यह नपुंसक लिंगपरक निर्देश किया है । इनका सम्बन्ध क्रमसे होता है । यथा—एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकारसे

---

१. दृश्यते हिंसानृतादत्तादानादिक्रिया—मु० । २. –क्ष्यन्ते । आलो– आ०, दि० १, दि०, २ । ३. 'एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।'—पा० यो० सू० २, ३१ ।

संबध्यते । देशतो विरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति द्विधा भिद्यते प्रत्येकं व्रतम् । एतानि व्रतानि भावितानि वरौषधवद्यत्नवते[1] दुःखनिवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ।

§ ६६७. किमर्थं कथं वा भावनं तेषामित्यत्रोच्यते—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।। ३ ।।

§ ६६८. तेषां व्रतानां स्थिरीकरणायैकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः । यद्येवमाद्यस्यार्हिसाव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ।। ४ ।।

§ ६६९. वाग्गुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः आदाननिक्षेपणसमितिः आलोकितपानभोजनमित्येताः पञ्चाहिंसाव्रतस्य भावनाः ।

§ ६७०. अथ द्वितीयस्य व्रतस्य का इत्यत्रोच्यते—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ।। ५ ।।

§ ६७१. क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचीभाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेयाः । अनुवीचीभाषणं निरवद्यानुभाषणमित्यर्थः ।

§ ६७२. इदानीं तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्यत्राह—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ।।६ ।।

निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकारके हैं। प्रयत्नशील जो पुरुष उत्तम ओषधिके समान इन व्रतोंका सेवन करता है उसके दुःखोंका नाश होता है।

§ ६६७. इन व्रतोंकी किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं ।।३।।

§ ६६८. उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक एक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए। यदि ऐसा है तो प्रथम अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कौन-सी हैं ? अब इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।।४।।

§ ६६९. वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

§ ६७०. अब दूसरे व्रतकी भावनाएँ कौनसी हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।।५।।

§ ६७१. क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं। अनुवीचीभाषणका अर्थ निर्दोष भाषण है।

§ ६७२. अब तीसरे व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।।६।।

---

१. वरौषधवत् दुःख–आ० ।

§ ६७३. शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावासः। परकीयेषु च विमोचितेष्वावासः। परेषामुपरोधाकरणम्। आचारशास्त्रमार्गेण भैक्षशुद्धिः। ममेदं तवेदमिति सधर्मभिरविसंवादः। इत्येताः पञ्चादत्तादानविरमणव्रतस्य भावनाः।

§ ६७४. अथेदानीं ब्रह्मचर्यव्रतस्य भावना वक्तव्या इत्यत्राह—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

§ ६७५. त्यागशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्यागः पूर्वरतानुस्मरणत्यागः वृष्येष्टरसत्यागः स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति चतुर्थव्रतस्य भावनाः पञ्च विज्ञेयाः।

§ ६७६. अथ पञ्चमव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

§ ६७७. पञ्चानामिन्द्रियाणां स्पर्शनादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु[1] स्पर्शादिषु रागवर्जनानि पञ्च आकिंचन्यस्य व्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः।

§ ६७८. किंचान्यद्यथामीषां व्रतानां द्रढिमार्थं भावनाः प्रतीयन्ते तद्विपश्चिद्भिरिति भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपीत्याह—

---

§ ६७३. पर्वतकी गुफा और वृक्षका कोटर आदि शून्यागार हैं इनमें रहना शून्यागारावास है। दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदिमें रहना विमोचितावास है। दूसरोंको ठहरनेसे नहीं रोकना परोपरोधाकरण है। आचार शास्त्रमें बतलायी हुई विधिके अनुसार भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है। यह मेरा है यह तेरा है इस प्रकार सधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना सधर्माविसंवाद है। ये अदत्तादान-विरमण व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

§ ६७४. अब इस समय ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाओंका कथन करना चाहिए; इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेका त्याग, पूर्व भोगोंके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥७॥

§ ६७५. त्याग शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा-स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं।

§ ६७६. अब पाँचवें व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोंमें क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥८॥

§ ६७७. स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पाँच विषयोंके प्राप्त होने पर राग और द्वेषका त्याग करना ये आकिंचन्य व्रतकी पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए।

§ ६७८. जिस प्रकार इन व्रतोंकी दृढ़ताके लिए भावनाएँ हैं इसलिए भावनाओंका उपदेश दिया है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषोंको व्रतोंकी दृढ़ताके लिए विरोधी भावोंके विषयमें क्या करना चाहिए? यह बतलानेके लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं—

---

१. –येषूपरिपतितेषु आ०, दि० १, दि० २ ।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

§ ६७९. अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकः[1] प्रयोगोऽपायः। अवद्यं गर्ह्यम्। अपायश्चावद्यं चापायावद्ये तयोर्दर्शनमपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम्। क्व। इहामुत्र च। केषु। हिंसादिषु। कथमिति चेदुच्यते—हिंसायां तावत्, हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च इह च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते मिथ्याभ्याख्यान-दुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति अनृतवचनादुपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति। इहैव चाभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद् व्युपरतिः श्रेयसी। तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरति पराङ्गनालिङ्गनसङ्गकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धिनो लिङ्गच्छेदन-वधबन्धसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गर्हितश्च भवति अतो विरति-रात्महिता। तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्त्रिणामिहैव

हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है ॥९॥

§ ६७९. स्वर्ग और मोक्षकी प्रयोजक क्रियाओंका विनाश करनेवाली प्रवृत्ति अपाय है। अवद्यका अर्थ गर्ह्य है। अपाय और अवद्य इन दोनोंके दर्शनकी भावना करनी चाहिए। **शंका**—कहाँ? **समाधान**—इस लोक और परलोकमें। **शंका**—किनमें? **समाधान**—हिंसादि पाँच दोषोंमें। **शंका**—कैसे? **समाधान**—हिंसामें यथा—हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है, वह सदा वैरको बाँधे रहता है। इस लोकमें वध, बन्ध और क्लेश आदिको प्राप्त होता है तथा परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इस लिए हिंसाका त्याग श्रेयस्कर है। असत्यवादीका कोई श्रद्धान नहीं करता। वह इस लोकमें जिह्वाछेद आदि दुःखों को प्राप्त होता है तथा असत्य बोलनेसे दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है उनसे बहुत प्रकारकी आपत्तियोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए असत्य वचनका त्याग श्रेयस्कर है। तथा परद्रव्यका अपहरण करनेवाले चोरका सब तिरस्कार करते हैं। इस लोकमें वह ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपरके ओठका छेदना, भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए चोरीका त्याग श्रेयस्कर है। तथा जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है। जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे वध, बन्धन और क्लेश आदि दुःखोंको भोगना पड़ता है ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है। मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता। परस्त्रीके आलिंगन और संसर्गमें ही इसको रति रहती है इसलिए यह वैरको बढ़ानेवाले लिंगका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है तथा गर्हित भी होता है इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है। जिस प्रकार पक्षी मांसके टुकड़ेको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी लोकमें उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है। तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले

१. –शकप्रयो—मु.।

तस्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति तद्विरमणं श्रेयः । एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम् ।

§ ६८०. हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमाह—

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

§ ६८१. हिंसादयो दुःखमेवेति भावयितव्याः । कथं हिंसादयो दुःखम् । दुःखकारणत्वात् । यथा "अन्नं वै प्राणाः" इति । कारणस्य कारणत्वाद्वा । यथा "धनं प्राणाः" इति । धनकारणमन्नपानमन्नपानकारणाः प्राणा इति । तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम् । असद्वेद्यकर्म च दुःखकारणमिति दुःखकारणे दुःखकारणकारणे वा दुःखोपचारः । तदेते[1] दुःखमेवेति भावनं परात्मसाक्षिकमवगन्तव्यम् । ननु[2] च तत्सर्वं न दुःखमेव; विषयरतिसुखसद्भावात् । न तत्सुखम्; वेदनाप्रतीकारत्वात्कच्छूकण्डूयनवत् ।

§ ६८२. पुनरपि[3] भावनान्तरमाह—

[4]मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

अनेक दोषोंको प्राप्त होता है। जैसे ईंधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही इसकी कितने ही परिग्रहसे कभी भी तृप्ति नहीं होती। यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नहीं करता, परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है। तथा यह लोभी है इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है। इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

§ ६८०. अब हिंसा आदि दोषोंमें दूसरी भावनाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए ॥१०॥

§ ६८१. हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसा चिन्तन करना चाहिए। **शंका**—हिंसादिक दुःख कैसे हैं? **समाधान**—दुःखके कारण होनेसे। यथा—'अन्न ही प्राण है।' अन्न प्राणधारणका कारण है पर कारणमें कार्यका उपचार करके जिस प्रकार अन्नको ही प्राण कहते हैं। या कारणका कारण होनेसे हिंसादिक दुःख हैं। यथा—'धन ही प्राण हैं।' यहाँ अन्नपानका कारण धन है और प्राणका कारण अन्नपान है इसलिए जिस प्रकार धनको प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीय कर्मके कारण हैं और असाता वेदनीय दुःखका कारण है, इसलिए दुःखके कारण या दुःखके कारणके कारण हिंसादिकमें दुःखका उपचार है। ये हिंसादिक दुःख ही हैं इस प्रकार अपनी और दूसरोंकी साक्षीपूर्वक भावना करनी चाहिए। **शंका**—ये हिंसादिक सबके सब केवल दुःख ही हैं यह बात नहीं है, क्योंकि विषयोंके सेवनमें सुख उपलब्ध होता है? **समाधान**—विषयोंके सेवनसे जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दादको खुजलानेके समान केवल वेदनाका प्रतिकारमात्र है।

§ ६८२. और भी अन्य भावना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्राणीमात्रमें मैत्री, गुणाधिकोंमें प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें करुणा वृत्ति और अविनेयोंमें माध्यस्थ्य भावना करनी चाहिए ॥११॥

---

१. तदेते दुःखमेवेति भावनं परमात्मसा–आ० । तदेतत् दुःखमेवेति भावनं परात्मसा-मु० । तदेते दुःखमेवेति भावनं परत्रात्मसा–ता० । २. ननु च सर्वं दुःखमेव ता० । ३. भावनार्थमाह आ०, दि० १, दि० २ । ४. 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनतश्चित्तप्रसादनम् ।' पा० यो० सू० १, ३३ ।

§ ६८३. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवाः। सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः। असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः। तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेयाः। एतेषु सत्त्वादिषु यथासंख्यं मैत्र्यादीनि भावयितव्यानि। सर्वसत्त्वेषु मैत्री, गुणाधिकेषु प्रमोदः, क्लिश्यमानेषु कारुण्यम्, अविनेयेषु माध्यस्थ्यमिति। एवं भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति।

§ ६८४. पुनरपि भावनान्तरमाह—

[1]जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

§ ६८५. जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिधनो वेत्रासनझल्लरीमृदङ्गनिभः। अत्र जीवा अनादिसंसारेऽनन्तकालं नानायोनिषु दुःखं भोजं भोजं पर्यटन्ति। न चात्र किंचिन्नियतमस्ति। जलबुद्बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपद इति। एवमादिजगत्स्वभावचिन्तनात्संसारात्संवेगो भवति। कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमिति। एवमादिकायस्वभावचिन्तनाद्विषयरागनिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते। इति जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ।

§ ६८६. अत्राह; उक्तं भवता[2] हिंसादिनिवृत्तिर्व्रतमिति, तत्र न जानीमः के हिंसादयः

---

§ ६८३. दूसरोंको दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। मुखकी प्रसन्नता आदिके द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है। दीनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। रागद्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ्य है। बुरे कर्मोंके फलसे जो नाना योनियोंमें जन्मते और मरते हैं वे सत्त्व हैं। सत्त्व यह जीवका पर्यायवाची नाम है। जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें बढ़े चढ़े हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं। असातावेदनीयके उदयसे जो दुःखी हैं वे क्लिश्यमान कहलाते हैं। जिनमें जीवादि पदार्थोंको सुनने और ग्रहण करनेका गुण नहीं है वे अविनेय कहलाते हैं। इन सत्त्व आदिकमें क्रमसे मैत्री आदिकी भावना करनी चाहिए। जो सब जीवोंमें मैत्री, गुणाधिकोंमें प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें कारुण्य और अविनेयोंमें माध्यस्थ्य भावकी भावना करता है उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णताको प्राप्त होते हैं।

६८४. अब फिर भी और भावनाके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संवेग और वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए ॥१२॥

§ ६८५. जगत्का स्वभाव तथा—यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान है। इस अनादि संसारमें जीव अनन्त काल तक नाना योनियोंमें दुःखको पुनः पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीवन जलके बुलबुलेके समान है। और भोग-सम्पदाएँ बिजुली और इन्द्रधनुषके समान चंचल हैं। इत्यादि रूपसे जगत्के स्वभावका चिन्तन करनेसे संसारसे संवेग—भय होता है। कायका स्वभाव यथा—यह शरीर अनित्य है, दुःखका कारण है, निःसार है और अशुचि है इत्यादि। इस प्रकार कायके स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोंसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः जगत् और कायके स्वभावकी भावना करनी चाहिए।

§ ६८६. यहाँ पर शंकाकार कहता है कि आपने यह तो बतलाया कि हिंसादिकसे निवृत्त

---

१. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'–पा० यो० सू० २,४०। २. भगवता मु०, ता०, ना०।

क्रियाविशेषा इत्यत्रोच्यते । युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्तल्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसङ्गे यासावादौ चोदिता सैव तावदुच्यते—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

§ ६८७. प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः । प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः । तस्मात्प्रमत्तयोगात् इन्द्रियादयो दशप्राणास्तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं वियोगकरणं हिंसेत्यभिधीयते । सा प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्महेतुः । 'प्रमत्तयोगात्' इति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च—

वियोजयति[1] चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते ।।" इति ।।

उक्तं च—

"उच्चालिदम्हि[2] पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादे [धे] ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ।।
ण हि तस्स[3] तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ।।"

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च—

"मरदु[4] व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ।।"

होना व्रत है । परन्तु वहाँ यह न जान सके कि हिंसादिक क्रियाविशेष क्या हैं ? इसलिए यहाँ कहते हैं । तथापि उन सबका एक साथ कथन करना अशक्य है किन्तु उनका लक्षण क्रमसे ही कहा जा सकता है अतः प्रारम्भमें जिसका उल्लेख किया है उसीका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है ॥१३॥

§ ६८७. प्रमाद कषाय सहित अवस्थाको कहते हैं और इस प्रमादसे युक्त जो आत्माका परिणाम होता है वह प्रमत्त कहलाता है । तथा प्रमत्तका योग प्रमत्तयोग है । इसके सम्बन्धसे इन्द्रियादि दस प्राणोंका यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् वियोग करना हिंसा कही जाती है । इससे प्राणियोंको दुःख होता है इसलिए वह अधर्मका कारण है । केवल प्राणोंका वियोग करनेसे अधर्म नहीं होता है यह बतलानेके लिए सूत्रमें 'प्रमत्तयोगसे' यह पद दिया है । कहा भी है—

'यह प्राणी दूसरेको प्राणोंसे वियुक्त करता है तो भी उसे हिंसा नहीं लगती ।।' और भी कहा है—

'ईर्यासमितिसे युक्त साधुके अपने पैरके उठाने पर चलनेके स्थानमें यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरसे दब जाय और उसके सम्बन्धसे मर जाय तो भी उस निमित्तसे थोड़ा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टिसे मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणामको हिंसा कहा है ।।'

शंका—प्राणोंका विनाश न होने पर भी केवल प्रमत्तयोगसे ही हिंसा कही जाती है । कहा भी है—

'जीव मर जाय या जीता रहे तो भी यत्नाचारसे रहित पुरुषके नियमसे हिंसा होती है और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है । हिंसाके हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता ।।'

---

१. सिद्ध० द्वा० ३,१६ । २. प्रवचन० क्षे० ३,१६ । ३. प्रवचन० क्षे० ३,१७ । ४. वचन० ३,१७ ।

नैष दोषः। अत्रापि[1] प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम्। तथा चोक्तम्—

"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥"

§ ६८८. आह अभिहितलक्षणा हिंसा। तदनन्तरोद्दिष्टमनृतं किंलक्षणमित्यत्रोच्यते—

असदभिधानमनृतम्॥ १४॥

§ ६८९. सच्छब्दः प्रशंसावाची। न सदसदप्रशस्तमिति यावत्। असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम्। ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतम्। किं पुनरप्रशस्तम्। प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा। उक्तं च प्रागेवाहिंसाव्रतपरिपालनार्थमितरद्व्रतम्[2] इति। तस्माद्धिंसाकरं[3] वचोऽनृतमिति निश्चेयम्।

§ ६९० अथानृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमित्यत आह—

अदत्तादानं स्तेयम्॥ १५॥

§ ६९१. अदानं ग्रहणमदत्तस्यादानमदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते। यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति; अन्येनादत्तत्वात्। नैष दोषः दानादाने यत्र संभवतस्तत्रैव स्तेयव्यवहारः। कुतः। 'अदत्त'ग्रहणसामर्थ्यात्। एवमपि भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाददत्तादानं

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ भी भावरूप प्राणोंका नाश है ही। कहा भी है—

'प्रमादसे युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है इसके बाद दूसरे प्राणियोंका वध होवे या मत होवे॥'

§ ६८८. हिंसाका लक्षण कहा अब उसके बाद असत्यका लक्षण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

असत् बोलना अनृत है॥१५॥

§ ६८९. सत् शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् नहीं वह असत् है। असत्का अर्थ अप्रशस्त है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत-असत्य कहलाता है। ऋतका अर्थ सत्य है और जो ऋत-सत्य नहीं है वह अनृत है। **शंका**—अप्रशस्त किसे कहते हैं? **समाधान**—जिससे प्राणियोंको पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं। भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थको विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थको विषय करता हो। यह पहले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए हैं। इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

§ ६९०. असत्यके बाद जो स्तेय कहा है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बिना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय है॥१५॥

§ ६९१. आदान शब्दका अर्थ ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तुका लेना अदत्तादान है और यही स्तेय-चोरी कहलाता है। **शंका**—यदि स्तेयका पूर्वोक्त अर्थ किया जाता है तो कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योंकि ये किसीके द्वारा दिये नहीं जाते? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ देना और लेना सम्भव है वहीं स्तेयका व्यवहार होता है। **शंका**—यह अर्थ किस शब्दसे फलित होता है? **समाधान**—सूत्रमें जो 'अदत्त' पदका ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना सम्भव है वहीं स्तेयका व्यवहार होता है। **शंका**—स्तेयका उक्त

---

१. तत्रापि आ०, दि० १, दि० २। २. –हिंसाप्रतिपाल–मु०। ३. कर्मवचो मु०।

प्राप्नोति । नैष दोषः; सामान्येन मुक्तत्वात् । तथाहि—अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात् । अथवा 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते । प्रमत्तयोगाददत्तादानं यत् तत्स्तेयमित्युच्यते । न च रथ्यादि प्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति । तेनैतदुक्तं भवति, यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति बाह्यवस्तुनो[1] ग्रहणे चाग्रहणे च ।

§ ६९२. अथ चतुर्थमब्रह्म किंलक्षणमित्यत्रोच्यते—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

§ ६९३. स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम् । मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते । न सर्वं कर्म । कुतः । लोके शास्त्रे च तथा प्रसिद्धेः । लोके तावदागोपालादिप्रसिद्धं स्त्रीपुंसयोः[2] रागपरिणामनिमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति । शास्त्रेऽपि "अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम्"[3] इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते । अपि च 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषयं रतिसुखार्थं चेष्टितं मैथुनमिति गृह्यते, न सर्वम् । अहिंसादयो[4] गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म । न ब्रह्म अब्रह्म[5] इति । किं तत् । मैथुनम् । तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति । यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूँश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितरं[6] च परिग्रहं गृह्णाति ।

अर्थ करने पर भी भिक्षुके ग्राम नगरादिकमें भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदिमें प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि वे गली, कूचा और दरवाजा आदि सबके लिए खुले हैं । यह भिक्षु जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजा आदिमें प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले नहीं हैं । अथवा, 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है जिससे यह अर्थ होता है कि प्रमत्तके योगसे बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है । गली कूचा आदिमें प्रवेश करनेवाले भिक्षुके प्रमत्तयोग तो है नहीं इसलिए वैसा करते हुए स्तेयका दोष नहीं लगता । इस सब कथनका यह अभिप्राय है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणामके साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है ।

§ ६९२. अब चौथा जो अब्रह्म है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मैथुन अब्रह्म है ॥१६॥

§ ६९३. चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक दूसरेको स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन कहलाता है और इसका कार्य मैथुन कहा जाता है । सब कार्य मैथुन नहीं कहलाता क्योंकि लोकमें और शास्त्रमें इसी अर्थमें मैथुन शब्दकी प्रसिद्धि है । लोकमें बाल गोपाल आदि तक यह प्रसिद्ध है कि स्त्री-पुरुषकी रागपरिणामके निमित्तसे होनेवाली चेष्टा मैथुन है । शास्त्रमें भी 'घोड़ा और बैलकी मैथुनेच्छा होनेपर' इत्यादि वाक्योंमें यही अर्थ लिया जाता है । दूसरे 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है इसलिए रतिजन्य सुखके लिए स्त्री-पुरुषकी मिथुनविषयक जो चेष्टा होती है वही मैथुन रूपसे ग्रहण किया जाता है सब नहीं । अहिंसादिक गुण जिसके पालन करनेपर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है । **शंका**—अब्रह्म क्या है ? **समाधान**—मैथुन । मैथुनमें हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि जो मैथुनके सेवनमें दक्ष है वह चर और अचर सब प्रकार के प्राणियोंकी हिंसा

---

१. –वस्तुनो ग्रहणे च आ० । २. –पुंसराग–मु० । ३. पा० सू० ७।१।५१ इत्यत्र वार्तिकम् । ४. –दयो धर्मा य–मु० । ५. अब्रह्म । किं मु० । ६. सचेतनमितरच्च मु० ।

§ ६९४. अथ पञ्चमस्य परिग्रहस्य किं लक्षणमित्यत आह—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

§ ६९५. मूर्च्छेत्युच्यते ।[1] का मूर्च्छा । बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां[2] चेतनाचेत-[3]नानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा । ननु च लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति । सत्यमेवमेतत् । मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते । "सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते;[4] परिग्रहप्रकरणात् । एवमपि बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोति; आध्यात्मिकस्य संग्रहात् । सत्यमेवमेतत्; प्रधानत्वादभ्यन्तर एव संगृहीतः ।[5] असत्यपि बाह्ये ममेदमिति संकल्पवान् सपरिग्रह[6] एव भवति । अथ बाह्यः परिग्रहो न भवत्येव, भवति च मूर्च्छाकारणत्वात् यदि ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः; संज्ञानाद्यपि परिग्रहः प्राप्नोति तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणामवत् । नैष दोषः; 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते[7] । ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावान्न मूर्च्छास्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम् । किंच तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम् । रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः । ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति

करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रहको स्वीकार करता है ।

§ ६९४. अब पाँचवाँ जो परिग्रह है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मूर्च्छा परिग्रह है ॥१७॥

§ ६९५. अब मूर्च्छाका स्वरूप कहते हैं । **शंका**—मूर्च्छा क्या है ? **समाधान**—गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है । **शंका**—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ? **समाधान**—यह कहना सत्य है तथापि मूर्च्छ धातुका सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं ऐसा मान लेने पर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है । **शंका**—मूर्च्छाका यह अर्थ लेने पर भी बाह्य वस्तुको परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मूर्च्छा इस शब्दसे आभ्यन्तर परिग्रहका संग्रह होता है । **समाधान**—यह कहना सही है; क्योंकि प्रधान होनेसे आभ्यन्तरका ही संग्रह किया है । यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला पुरुष परिग्रहसहित ही होता है । **शंका**—यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं है और मूर्च्छाका कारण होनेसे 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामोंके समान ज्ञानादिक में भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमादरहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रहरहितपना सिद्ध होता है । दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता । परन्तु रागादिक तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय हैं

---

१. –च्यते । केयं मूर्च्छा मु० आ०, दि० १, दि० २ । २. –मुक्तादी –मु०, ता० । ३. –तनानां च रागा–मु० । ४. –गृह्यते । एवमपि ता०, ना० । ५. संगृह्यते । असत्यपि मु. । ६. –ग्रहो भवति मु० । ७. –र्तते । ज्ञान –आ०, दि० १, दि० २ ।

युज्यते । तन्मूलाः सर्वे दोषाः । ममेदमिति हि सति संकल्पे संरक्षणादयः संजायन्ते । तत्र च हिंसावश्यंभाविनी । तदर्थमनृतं जल्पति । चौर्यं वा[1] आचरति । मैथुने च कर्मणि प्रयतते । तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः ।

§ ६९६. एवमुक्तेन[2] प्रकारेण हिंसादिदोषदर्शिनोऽहिंसादिगुणाहितचेतसः परमप्रयत्नस्याहिंसादीनि वृतानि यस्य सन्ति सः—

निश्शल्यो व्रती ॥१८॥

§ ६९७. शृणाति हिनस्तीति शल्यम् । शरीरानुप्रवेशि काण्डादिप्रहरणं[3] शल्यमिव शल्यं यथा तत् प्राणिनो बाधाकरं तथा[4] शारीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते । तत् त्रिविधम्—मायाशल्यं निदानशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । माया निकृतिर्वञ्चना । निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा । मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निश्शल्यो वृती इत्युच्यते । अत्र चोद्यते—शल्याभावान्निःशल्यो वृताभिसंबन्धाद् वृती, न निश्शल्यत्वाद् वृती भवितुमर्हति । न हि देवदत्तो दण्डसंबन्धाच्छत्री भवतीति । अत्रोच्यते—उभयविशेषणविशिष्ट[5]स्येष्टत्वात् । न हिंसाद्युपरतिमात्र[6]वृताभिसंबन्धाद् वृती भवत्यन्तरेण शल्याभावम् । सति शल्यापगमे वृतसंबन्धाद् वृती विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते । बहुक्षीरघृताभा-

---

इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है यह बात बन जाती है । सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं । 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्पके होनेपर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं । और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है । इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होता है । नरकादिकमें जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं ।

§ ६९६. इस प्रकार उक्त विधिसे जो हिंसादिमें दोषोंका दर्शन करता है, जिसका चित्त अहिंसादि गुणोंमें लगा रहता है और जो प्रयत्नशील है वह यदि अहिंसादि व्रतोंको पाले तो किस संज्ञाको प्राप्त होता है इसी बातका खुलासा करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

जो शल्यरहित है वह व्रती है ॥१८॥

६९७. 'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्दकी व्युत्पत्ति है । शल्यका अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु । जब शरीरमें काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है । यहाँ उसके समान जो पीडाकर भाव है वह शल्य शब्दसे लिया गया है । जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोंको बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदयजनित विकारमें भी शल्यका उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं । वह शल्य तीन प्रकारकी है—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य । माया, निकृति और वंचना अर्थात् ठगनेकी वृत्ति यह माया शल्य है । भोगोंकी लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वोंका श्रद्धान मिथ्यादर्शन शल्य है । इन तीन शल्योंसे जो रहित है वही निःशल्य व्रती कहा जाता है । **शंका**—शल्यके न होनेसे निःशल्य होता है और व्रतोंके धारण करनेसे व्रती होता है । शल्यरहित होनेसे व्रती नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ देवदत्तके हाथमें लाठी होनेपर वह छत्री नहीं हो सकता ? **समाधान**—व्रती होनेके लिए दोनों विशेषणोंसे युक्त होना आवश्यक है, यदि किसीने शल्योंका त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषोंको छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता । यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्योंका त्याग करके व्रतोंको स्वीकार किया है । जैसे जिसके यहाँ

---

१. चौर्यं चाचरति ता. । २. एवमुक्तक्रमेण हिंसा–ता० । ३. –प्रहरणं । तच्छल्य मु. । ४. तथा शरीर–मु० । ५. –विशिष्टत्वात् मु० । ६. –मात्रसम्ब–मु० ।

वात्सतीष्वपि गोषु न गोमांस्तथा सशल्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती। यस्तु निःशल्यः स व्रती।

§ ६९८. तस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

§ ६९९. प्रतिश्रयार्थिभिः अङ्गच्यते इति अगारं वेश्म, तद्वानगारी। न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः। द्विविधो व्रती अगारी अनगारश्च। ननु चात्र विपर्ययोऽपि प्राप्नोति शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्वम् अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणाद् गृहं विमुच्य वने वसतोऽनगारत्वं च प्राप्नोतीति[1]। नैष दोषः; भावागारस्य विवक्षितत्वात्। चारित्रमोहोदये सत्यगारसंबन्धं प्रत्यनिवृत्तः[2] परिणामो भावागारमित्युच्यते। स यस्यास्त्यसावगारी वने वसन्नपि। गृहे वसन्नपि तदभावादनगार इति च भवति। ननु चागारिणो व्रतित्वं न प्राप्नोति; असकलव्रतत्वात्। नैष दोषः; नैगमादिनयापेक्षया अगारिणोऽपि व्रतित्वमुपपद्यते नगरावासवत्। यथा गृहे अपवरके वा वसन्नपि नगरावास इत्युच्येत तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते।

§ ७००. अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्माद्यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती। नैवम्। किं तर्हि। पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इत्युच्यते—

बहुत घी दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है। यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता, उसी प्रकार जो सशल्य है व्रतोंके होनेपर भी वह व्रती नहीं हो सकता। किन्तु जो निःशल्य है वह व्रती है।

§ ६९८. अब उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके अगारी और अनागार ये दो भेद हैं ॥१९॥

§ ६९९. आश्रय चाहनेवाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है। अगारका अर्थ वेश्म अर्थात् घर है। जिसके घर है वह अगारी है। और जिसके घर नहीं है वह अनगार है। इस तरह व्रती दो प्रकारका है—अगारी और अनगार। **शंका**—अभी अगारी और अनगारका जो लक्षण कहा है उससे विपरीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि उपर्युक्त लक्षणके अनुसार जो मुनि शून्य घर और देवकुलमें निवास करते हैं वे अगारी हो जायेंगे और विषयतृष्णाका त्याग किये बिना जो किसी कारणसे घरको छोड़कर वनमें रहने लगे हैं वे अनगार हो जायेंगे? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँपर भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीयका उदय होने पर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें रहते हुए भी अनगार है। **शंका**—अगारी व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्ण व्रत नहीं है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नैगम आदि नयकी अपेक्षा नगरावासके समान अगारीके भी व्रतीपना बन जाता है। जैसे कोई घरमें या झोपड़ीमें रहता है तो भी 'मैं नगरमें रहता हूँ' यह कहा जाता है उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नहीं है वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा व्रती कहा जाता है।

§ ७००. **शंका**—जो हिंसादिकमें-से किसी एकसे निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है? **समाधान**—ऐसा नहीं है। **शंका**—तो क्या है? **समाधान**—जिसके एक देशसे पाँचों प्रकारकी विरति है वह अगारी है यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. –प्नोति नैष आ०, दि० १, दि० २। २. –वृत्तिपरि–आ०, दि०, १, दि० २।

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

§ ७०१. 'अणु'शब्दोऽल्पवचनः। अणूनि व्रतान्यस्य अणुव्रतोऽगारीत्युच्यते। कथमस्य व्रतानामणुत्वम्। सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्तः। त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुव्रतम्। स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। अन्यपीडाकरं पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्।

§ ७०२. आह अपरित्यक्तागारस्य किमेतावानेव विशेष आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीत्यत आह—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

§ ७०३. 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिरिति एतानि त्रीणि गुणव्रतानि; 'व्रत'शब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात्। तथा सामायिकव्रतं प्रोषधोपवासव्रतं उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं अतिथिसंविभागव्रतं[2] एतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि। एतैर्व्रतैः संपन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते। तद्यथा—दिक्प्राच्यादिः तत्र प्रसिद्धै-

---

अणुव्रतोंका धारी अगारी है ॥२०॥

§ ७०१. अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है। **शंका**—अगारीके व्रत अल्प कैसे होते हैं? **समाधान**—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोंका त्याग सम्भव नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं। **शंका**—तो यह किसका त्यागी है? **समाधान**—यह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है; इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिकके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तुके लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है।

§ ७०२. गृहस्थकी क्या इतनी ही विशेषता है कि और भी विशेषता है, अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन व्रतोंसे भी सम्पन्न होता है ॥२१॥

§ ७०३. विरति शब्द प्रत्येक शब्दपर लागू होता है। यथा—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति। ये तीन गुणव्रत हैं. क्योंकि व्रत शब्दका हर एकके साथ सम्बन्ध है। तथा सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत ये चार हैं। इस प्रकार इन व्रतोंसे जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है। खुलासा इस प्रकार है—

---

१. –करपार्थिव–मु०। २. व्रतम्। इत्येतै–मु०।

रभिज्ञानैरवधिं कृत्वा नियमनं दिग्विरतिव्रतम् । ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महा[1]-व्रतत्वमवसेयम् । तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिरासश्च कृतो भवति । ग्रामादीनामवधृतपरिमाणः[2] प्रदेशो देशः । ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम् । पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम् । असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः ।[3] ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः । अनर्थदण्डः पञ्चविधः—अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति । तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्ग[4]च्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा[5] चिन्तनमपध्यानम्[6] । तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।[7] प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम् ।[8] विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिर्हिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः । समेकीभावे[9] वर्तते । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् । इयति

जो पूर्वादि दिशाएँ हैं उनमें प्रसिद्ध चिह्नोंके द्वारा मर्यादा करके नियम करना दिग्विरतिव्रत है। उस मर्यादाके बाहर त्रस और स्थावर हिंसाका त्याग हो जानेसे उतने अंशमें महाव्रत होता है। मर्यादाके बाहर लाभ होते हुए भी उसमें परिणाम न रहनेके कारण लोभका त्याग हो जाता है। ग्रामादिककी निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जानेका त्याग कर देना देशविरतिव्रत है। यहाँ भी पहलेके समान मर्यादाके बाहर महाव्रत होता है। उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पापका कारण है वह अनर्थदण्ड है। इससे विरत होना अनर्थदण्डविरति है। अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। दूसरोंका जय, पराजय, मारना, बाँधना, अंगोंका छेदना और धनका अपहरण आदि कैसे किया जाय इस प्रकार मनसे विचार करना अपध्यान नामका अनर्थदण्ड है। तिर्यंचोंको क्लेश पहुँचानेवाले, वणिजका प्रसार करनेवाले और प्राणियोंकी हिंसाके कारणभूत आरम्भ आदिके विषयमें पापबहुल वचन बोलना पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। बिना प्रयोजनके वृक्षादिका छेदना, भूमिका कूटना, पानीका सींचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है। विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसाके उपकरणोंका प्रदान करना हिंसाप्रदान नामका अनर्थदण्ड है। हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। 'सम्' उपसर्गका अर्थ एक रूप है। जैसे 'घी संगत है, तेल संगत है' जब यह कहा जाता है तब संगतका अर्थ एकीभूत होता है। सामायिकमें मूल शब्द समय है। इसके दो अवयव हैं सम् और अय। सम्का अर्थ कहा ही है और अयका अर्थ गमन है। समुदायार्थ एकरूप हो जाना समय है और समय ही सामायिक है। अथवा समय

---

१. सीमन्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् । देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥'–रत्न० ३, ५ । २. –माणप्रदेशो मु. । ३. 'पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च । प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥'–रत्न० ३, ५ । ४. –च्छेदस्वहर–आ० । च्छेदसर्वस्वहर–दि० १, दि० २ । ५. 'वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥' –रत्न० ३,३२ । ६. –ध्यानम् । प्राणिवधक–आ०, दि० १, दि० २ । ७. 'तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् । कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥' –रत्न० ३, ३० । ८. 'क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् । सरणं सारणमपि च प्रसादचर्यां प्रभाषन्ते ॥' –रत्न० ३,३४ । ९. "तद्यदा तावदेकार्थीभावः सामर्थ्यन्तदैवं विग्रहः करिष्यते–सङ्गतार्थः समर्थः सृष्टार्थः समर्थ इति । तद्यथा सङ्गतं घृतं सङ्गतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते ।' –पा० म० भा० २,१,१,१ ।

देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम्। कुतः। अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः। संयमप्रसंग इति चेत्। न; तद्घातिकर्मोदयसद्भावात्। महाव्रतत्वाभाव इति चेत्। तन्न; उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानवत्। प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चाणीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः। [1]चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। [2]स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनविहितान्तःकरणः सन्नुपवसेन्निरारम्भः श्रावकः। उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः। परिभोग आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। मधु[3] मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा। [4]केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। [5]यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं

अर्थात् एक रूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। इतने देशमें और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिकमें स्थित पुरुषके पहलेके समान महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके हिंसा आदि पापोंका त्याग हो जाता है। **शंका**—यदि ऐसा है तो सामायिकमें स्थित हुए पुरुषके सकलसंयमका प्रसंग प्राप्त होता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इसके संयमका घात करनेवाले कर्मोंका उदय पाया जाता है। **शंका**—तो फिर इसके महाव्रतका अभाव प्राप्त होता है? **समाधान**—नहीं, क्योंकि जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारसे कहा जाता है उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचारसे जानना चाहिए। प्रोषधका अर्थ पर्व है और पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंके त्यागपूर्वक उसमें निवास करना उपवास है। अर्थात् चार प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। तथा प्रोषधके दिनोंमें जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। प्रोषधोपवासी श्रावकको अपने शरीरके संस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदिका त्याग करके किसी पवित्र स्थानमें, साधुओंके रहनेके स्थानमें, चैत्यालयमें या अपने प्रोषधोपवासके लिए नियत किये गये घरमें धर्मकथाके सुनने, सुनाने और चिन्तन करनेमें मनको लगाकर उपवास करना चाहिए और सब प्रकारका आरम्भ छोड़ देना चाहिए। भोजन, पान, गन्ध और माला आदि उपभोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं। इनका परिमाण करना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है। जिसका चित्त त्रसहिंसासे निवृत्त है उसे सदाके लिए मधु, मांस और मदिराका त्याग कर देना चाहिए। जो बहुत जन्तुओंकी उत्पत्तिके आधार हैं और जिन्हें अनन्तकाय कहते हैं ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरख और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवनमें फल कम है और घात बहुत जीवोंका है। तथा यान, वाहन और आभरण आदिकमें हमारे लिए इतना ही इष्ट है शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्त्यनुसार जो अपने लिए अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए।

---

१. चतुराहारविसर्जनमुपवासः।' –रत्न० ४,१९। २. 'पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥'–रत्न० ४-१७, १८। ३. 'त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥' –रत्न० ३,३८। ४. अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥' –रत्न० ३,३९। ५. 'यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।' –रत्न० ३,४०।

वा यथाशक्ति। संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः। अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः; भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति। 'च'शब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः।

§ ७०४. कः पुनरसौ—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

§ ७०५. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्। 'अन्त'-ग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः। स प्रयोजनमस्येति मारणान्तिकी। सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण[1] सम्यग्लेखना सल्लेखना। तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभिसंबध्यते। ननु च विस्पष्टार्थं सेवितेत्येवं वक्तव्यम्। न; अर्थविशेषोपपत्तेः। न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते। किं तर्हि। प्रीत्यर्थोऽपि। यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते। सत्यां हि

संयमका विनाश न हो इस विधिसे जो आता है वह अतिथि है या जिसके आनेकी कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आनेका कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं। इस अतिथिके लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग है। वह चार प्रकारका है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहनेका स्थान। जो मोक्षके लिए बद्धकक्ष है, संयमके पालन करनेमें तत्पर है और शुद्ध है उस अतिथिके लिए शुद्ध मनसे निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदिके बढ़ानेवाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषधकी योजना करनी चाहिए तथा परम धर्ममें श्रद्धापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए। सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह आगे कहे जानेवाले गृहस्थधर्मके संग्रह करनेके लिए दिया है।

§ ७०४. वह और कौन-सा गृहस्थ धर्म है—

तथा वह मारणान्तिक संलेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है ॥२२॥

§ ७०५. अपने परिणामोंसे प्राप्त हुई आयुका, इन्द्रियोंका और मन, वचन, काय इन तीन बलोंका कारण विशेषके मिलने पर नाश होना मरण है। उसी भवके मरणका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें मरण शब्दके साथ अन्त पदको ग्रहण किया है। मरण यही अन्त मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है वह मारणान्तिकी कहलाती है। अच्छे प्रकारसे काय और कषायका लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है। अर्थात् बाहरी शरीरका और भीतरी कषायोंका, उत्तरोत्तर काय और कषायको पुष्ट करनेवाले कारणोंको घटाते हुए, भले प्रकारसे लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है। मरणके अन्तमें होने वाली इस सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला गृहस्थ होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। शंका—सहज तरीकेसे अर्थका स्पष्टीकरण हो इसके लिए सूत्रमें 'जोषिता' इसके स्थानमें 'सेविता' कहना ठीक है? **समाधान**—नहीं क्योंकि 'जोषिता' क्रियाके रखनेसे उससे अर्थ-विशेष ध्वनित हो जाता है। यहाँ केवल 'सेवन करना' अर्थ नहीं लिया गया है किन्तु प्रीति रूप अर्थ भी लिया गया है, क्योंकि प्रीतिके न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं करायी जाती। किन्तु प्रीतिके रहने पर जीव स्वयं ही सल्लेखना करता है। तात्पर्य यह है कि 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह अर्थ 'जोषिता' क्रियासे निकल आता है 'सेविता' से नहीं, अतः सूत्रमें 'जोषिता' क्रिया रखी है। शंका—चूंकि सल्लेखनामें अपने अभिप्रायसे आयु आदिका

---

१. -हापनया क्रमे-आ०, दि० १, ता०।

प्रीतौ स्वयमेव करोति। स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोति; स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेः। नैष दोषः; अप्रमत्तत्वात्। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'इत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः। रागाद्यभावात्। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः। उक्तं च—

"रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं ति[1] देसिदं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥"

किं च मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति[2] परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्।

§ ७०६. अत्राह, 'निःशल्यो वृती' इत्युक्तं तत्र च तृतीयं शल्यं मिथ्यादर्शनम्। ततः सम्यग्दृष्टिना वृतिना[3] निःशल्येन भवितव्यमित्युक्तम्। तत्सम्यग्दर्शनं किं सापवादं निरपवादमिति। उच्यते—कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात्कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—

त्याग किया जाता है इसलिए यह आत्मघात हुआ? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सल्लेखनामें प्रमादका अभाव है। 'प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है' यह पहले कहा जा चुका है। परन्तु इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि इसके रागादिक नहीं पाये जाते। राग, द्वेष और मोहसे युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणोंका प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघातका दोष प्राप्त होता है। परन्तु सल्लेखनाको प्राप्त हुए जीवके रागादिक तो हैं नहीं इसलिए इसे आत्मघातका दोष नहीं प्राप्त होता। कहा भी है—

"शास्त्रमें यह उपदेश है कि रागादिका नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है। तथा जिनदेवने उनकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है॥"

दूसरे मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकारकी विक्रेय वस्तुओंके देन, लेन और संचयमें लगे हुए किसी व्यापारीको अपने घरका नाश होना इष्ट नहीं है। फिर भी परिस्थिति-वश उसके विनाशके कारण आ उपस्थित हों तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रेय वस्तुओंका नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पण्यस्थानीय व्रत और शीलके संचयमें जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदि-का पतन नहीं चाहता। यदा कदाचित् उनके विनाशके कारण उत्पन्न हो जाँय तो जिससे अपने गुणोंमें बाधा नहीं पड़े इस प्रकार उनको दूर करनेका प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणोंका नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है इसलिए इसके आत्मघात नामका दोष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।

§ ७०६. यहाँ पर शंकाकार कहता है कि व्रती निःशल्य होता है ऐसा कहा है और वहाँ तीसरी शल्य मिथ्यादर्शन है। इसलिए सम्यग्दृष्टि व्रतीको निःशल्य होना चाहिए यह उसका अभिप्राय है, तो अब यह बतलाइए कि वह सम्यग्दर्शन सापवाद होता है या निरपवाद होता है? अब इसका समाधान करते हैं—किसी जीवके मोहनीयकी अवस्था विशेषके कारण ये अपवाद होते हैं—

---

१. त्ति भासिदं स–मु०। २. –शक्ति च परि –मु०। ३. व्रतिना भवि–आ०, दि०, १, दि० २।

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ २३ ॥

§ ७०७. निःशङ्कितत्वादयो व्याख्याताः 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यत्र। तत्प्रतिपक्षभूताः शङ्कादयो वेदितव्याः। अथ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेषः। मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः। ननु च सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमुक्तं तस्यातिचारैरप्यष्टभिर्भवितव्यम्। नैष दोषः; व्रतशीलेषु पञ्च पञ्चातिचारा इत्युत्तरत्र विवक्षुणाचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितरानतिचारानन्तर्भाव्य पञ्चैवातिचारा उक्ताः।

§ ७०८. आह, सम्यग्दृष्टेरतिचारा उक्ताः। किमेवं व्रतशीलेष्वपि भवन्तीति। ओमित्युक्त्वा तदतिचारसंख्यानिर्देशार्थमाह—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

§ ७०९. व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि तेषु व्रतशीलेषु। शीलग्रहणमनर्थकम्; व्रतग्रहणेनैव सिद्धेः। नानर्थकम्; विशेषज्ञापनार्थं व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह 'शील'ग्रहणेन गृह्यन्ते।

§ ७१०. अगार्यधिकारादगारिणो व्रतशीलेषु पञ्च पञ्चातिचारा वक्ष्यमाणा यथाक्रमं वेदितव्याः। तद्यथा—आद्यस्य तावदहिंसाव्रतस्य—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार हैं ॥२३॥

§ ७०७. 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय निःशंकितत्व आदिका व्याख्यान किया। ये शंकादिक उनके प्रतिपक्षभूत जानना चाहिए। **शंका**—प्रशंसा और संस्तवमें क्या अन्तर है? **समाधान**—मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और चारित्र गुणोंका मनसे उद्भावन करना प्रशंसा है और मिथ्यादृष्टिमें जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं इन दोनोंका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है, इस प्रकार यह दोनोंमें अन्तर है। **शंका**—सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे हैं, इसलिए उसके अतिचार भी आठ ही होने चाहिए। **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आगे आचार्य व्रतों और शीलोंके पाँच-पाँच अतिचार कहनेवाले हैं इसलिए अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन दो अतिचारोंमें शेष अतिचारोंका अन्तर्भाव करके सम्यग्दृष्टिके पांच ही अतिचार कहे हैं।

§ ७०८. सम्यग्दृष्टिके अतिचार कहे, क्या इसी प्रकार व्रत और शीलोंके भी अतिचार होते हैं? हां, यह कह कर अब उन अतिचारोंकी संख्याका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्रतों और शीलोंमें पांच पांच अतिचार हैं जो क्रमसे इस प्रकार हैं ॥२४॥

§ ७०९. शील और व्रत इन शब्दोंका कर्मधारय समास होकर व्रतशील पद बना है। उनमें अर्थात् व्रत-शीलोंमें। **शंका**—सूत्रमें शील पदका ग्रहण करना निष्फल है, क्योंकि व्रत पदके ग्रहण करनेसे ही उसकी सिद्धि हो जाती है? **समाधान**—सूत्रमें शील पदका ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि विशेषका ज्ञान करानेके लिए और व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए शील है इसलिए यहाँ शील पदके ग्रहण करनेसे दिग्विरति आदि लिये जाते हैं।

§ ७१०. यहाँ गृहस्थका प्रकरण है, इसलिए गृहस्थके व्रतों और शीलोंके आगे कहे जानेवाले क्रमसे पाँच पाँच अतिचार जानने चाहिए जो निम्न प्रकार हैं। उसमें भी पहले प्रथम अहिंसा व्रतके अतिचार बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध, वध, छेद, अतिभारका आरोपण और अन्नपानका निरोध ये अहिंसा अणुव्रतके पांच अतिचार हैं ॥२५॥

§ ७११. अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः । दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः, न प्राणव्यपरोपणम्; ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात् । कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः । न्याय्यभारादतिरिक्तवाहनमतिभारारोपणम् । गवादीनां क्षुत्पिपासाबाधाकरणमन्नपाननिरोधः । एते पञ्चाहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः ।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

§ ७१२. अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः। यत्स्त्रीपुंसाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यानं वेदितव्यम्। अन्येनानुक्त[1]मननुष्ठितं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहारः । अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूवि[2]क्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते । त एते सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा बोद्धव्याः ।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

§ ७१३. मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगः । अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम् । उचितन्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः ।

---

§ ७११. किसीको अपने इष्ट स्थानमें जानेसे रोकनेके कारणको बन्ध कहते हैं । डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है । यहाँ वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया है क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है । कान और नाक आदि अवयवों का भेदना छेद है । उचित भारसे अतिरिक्त भारका लादना अतिभारारोपण है । गौ आदिको भूख-प्यासके लगने पर अन्नपानका रोकना अन्नपाननिरोध है । ये पाँच अहिंसाणु व्रतके अतिचार हैं ।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥२६॥

§ ७१२. अभ्युदय और मोक्षकी कारणभूत क्रियाओंमें किसी दूसरेको विपरीत मार्गसे लगा देना या मिथ्या वचनों द्वारा दूसरोंको ठगना मिथ्योपदेश है । स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमें किये गये आचरण विशेषका प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है । दूसरेने न तो कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसीकी प्रेरणासे उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार छलसे लिखना कूटलेखक्रिया है । धरोहरमें चाँदी आदिको रखनेवाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है । अर्थवश, प्रकरणवश, शरीरके विकारवश या भ्रूक्षेप आदिके कारण दूसरेके अभिप्रायको जान कर डाहसे उसका प्रकट कर देना साकारमंत्रभेद है । इस प्रकार ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार जानने चाहिए ।

स्तेनप्रयोग, स्तेन आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्य अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥२७॥

§ ७१३. किसीको चोरीके लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरेके द्वारा प्रेरणा दिलाना या प्रयुक्त हुए की अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है । अपने द्वारा अप्रयुक्त और असम्मत चोरके द्वारा लायी हुई वस्तुका ले लेना तदाहृतादान है । यहाँ न्यायमार्गको छोड़ कर अन्य प्रकारसे वस्तु ली

---

१. -नुक्तं यत्किं मु० । २. -भ्रूनिक्षेपणादि -मु० ।

तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः। प्रस्थादि मानम्, तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः। त एते पञ्चादत्तादानाणुव्रतस्यातिचाराः।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

§ ७१४. कन्यादानं विवाहः। परस्य विवाहः परविवाहः। परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम्। परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला[1] इत्वरी। कुत्सिता इत्वरी कुत्सायां क इत्वरिका। या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। परिगृहीता चापरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते। इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीते, तयोर्गमने इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमने। अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः। त एते पञ्च स्वदारसंतोषव्रतस्यातिचाराः।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

गयी है इसलिए अतिचार है। विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है। राज्यमें किसी प्रकारका विरोध होने पर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। यदि वहाँ अल्प मूल्यमें वस्तुएँ मिल गयीं तो उन्हें महँगा बेचनेका प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। मानपदसे प्रस्थ आदि मापनेके बाट लिये जाते हैं और उन्मानपदसे तराजू आदि तौलनेके बाट लिये जाते हैं। कमती माप-तौलसे दूसरेको देना और बढ़ती माप-तौलसे स्वयं लेना इत्यादि कुटिलतासे लेन-देन करना हीनाधिकमानोन्मान है। बनावटी चाँदी आदिसे कपटपूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। इस प्रकार ये अदत्तादान अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वारिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥२८॥

§ ७१४. कन्याका ग्रहण करना विवाह है। किसी अन्यका विवाह परविवाह है और इसका करना परविवाह-करण है। जिसका स्वभाव अन्य पुरुषोंके पास जाना-आना है वह इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यन्त आचरट होती है वह इत्वरिका कहलाती है। यहाँ कुत्सित अर्थमें 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। तथा जो वेश्या या व्यभिचारिणी होनेसे दूसरे पुरुषोंके पास जाती-आती रहती है और जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है वह अपरिगृहोता कहलाती है। परिगृहीता इत्वरिकाका गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है और अपरिगृहीता इत्वरिकाका गमन करना इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन है। यहाँ अंग शब्दका अर्थ प्रजनन और योनि है। तथा इनके सिवा अन्यत्र क्रीडा करना अनंगक्रीडा है। कामविषयक बढ़ा हुआ परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

क्षेत्र और वास्तुके प्रमाणका अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्णके प्रमाणका अतिक्रम, धन और धान्यके प्रमाणका अतिक्रम, दासी और दासके प्रमाणका अतिक्रम तथा कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥२९॥

---

१. शीला इत्वरी कुत्सा–मु०, ता०।

§ ७१५. क्षेत्रं सस्याधिकरणम् । वास्तु अगारम् । हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम् । सुवर्णं प्रतीतम् । धनं गवादि । धान्यं व्रीह्यादि । दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्गः । कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि । क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम्, धनं च धान्यं च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम् । क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि । एतावानेव परिग्रहो मम नान्य इति [1]परिच्छिन्नाणुप्रमाणात्क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेका अतिलोभवशात्प्रमाणातिक्रमा इति प्रत्याख्यायन्ते । त एते परिग्रहपरिमाणव्रतस्यातिचाराः ।

§ ७१६. उक्ता व्रतानामतिचाराः शीलानामतिचारा वक्ष्यन्ते । तद्यथा—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

§ ७१७. परिमितस्य दिगवधेरतिलङ्घनमतिक्रमः । स समासतस्त्रिविधः—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽति[2]क्रमस्तिर्यगतिक्रमश्चेति । तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । कूपावतरणादेरधोऽतिक्रमः । बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतिक्रमः । परिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः । स एषोऽतिक्रमः प्रमादान्मोहाद् [3]व्यासंगाद्वा भवतीत्यवसेयः । अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम् । त एते दिग्विरमणस्यातिचाराः ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

§ ७१८. आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किंचिदानयेत्या[4]ज्ञापनमानयनम् ।

---

§ ७१५. धान्य पैदा करनेका आधारभूत स्थान क्षेत्र है । मकान वस्तु है । जिसमें रूप्य आदि व्यवहार होता है वह हिरण्य है । सुवर्णका अर्थ स्पष्ट है । धनसे गाय आदि लिये जाते हैं । धान्यसे व्रीहि आदि लिये जाते हैं । नौकर स्त्री पुरुष मिलकर दासी-दास कहलाते हैं । रेशम, कपास, और कोसाके वस्त्र तथा चन्दन आदि कुप्य कहलाता है । क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य इनके विषयमें मेरा इतना ही परिग्रह है इससे अधिक नहीं ऐसा प्रमाण निश्चित करके लोभवश क्षेत्रवास्तु आदिके प्रमाणको बढ़ा लेना प्रमाणातिक्रम है । इस प्रकार ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

§ ७१६. व्रतोंके अतिचार कहे । अब शीलोंके अतिचार कहते हैं जो इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥३०॥

§ ७१७. दिशाकी जो मर्यादा निश्चित की हो उसका उल्लंघन करना अतिक्रम है । वह संक्षेपसे तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यगतिक्रम । इनमेंसे मर्यादाके बाहर पर्वतादिक पर चढ़नेसे ऊर्ध्वातिक्रम होता है, कुआँ आदिमें उतरने आदिसे अधोऽतिक्रम होता है और बिल आदिमें घुसनेसे तिर्यगतिक्रम होता है । लोभके कारण मर्यादा की हुई दिशाके बढ़ानेका अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है । यह व्यतिक्रम प्रमादसे, मोहसे या व्यासंगसे होता है । मर्यादाका स्मरण न रखना स्मृत्यन्तराधान है । ये दिग्विरमण व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥३१॥

§ ७१८. अपने द्वारा संकल्पित देशमें ठहरे हुए पुरुषको प्रयोजनवश किसी वस्तुको लाने-

---

१. -च्छिन्नात्प्रमा-मु० । २. अधोऽतिक्रमः बिलप्र-मु० । ३. मोहाद्व्यासङ्गा-मु० । ४. -नयेदित्या-आ०, दि० १, दि० २ ।

एवं कुर्विति नियोगः प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान्पुरुषान्प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः। लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः। त एते देशविरमणस्य पञ्चातिचाराः।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

§ ७१९. रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः। तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मप्रयुक्तं कौत्कुच्यम्। धाष्टर्यप्रायं[1] यत्किंचनानर्थकं बहुप्रलापित्वं[2] मौखर्यम्। असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमसमीक्ष्याधिकरणम्। यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम्। त एते पञ्चानर्थदण्डविरतेरतिचाराः।

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

§ ७२०. योगो व्याख्यातस्त्रिविधः। तस्य दुष्टं[3] प्रणिधानं योगदुष्प्रणिधानम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमिति। अनादरोऽनुत्साहः। अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम्। त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

§ ७२१. जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुर्व्यापारः। मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जितम्। तदुभयं प्रतिषेधविशिष्टमुत्सर्गादिभि[4]स्त्रिभिरभिसंबध्यते—अप्रत्यवेक्षिता-

---

की आज्ञा करना आनयन है। ऐसा करो इस प्रकार काममें लगाना प्रेष्यप्रयोग है। जो पुरुष किसी उद्योगमें जुटे हैं उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है। उन्हीं पुरुषोंको अपने शरीरको दिखलाना रूपानुरूपात है। ढेला आदिका फेंकना पुद्गलक्षेप है। इस प्रकार देशविरमण व्रतके पाँच अतिचार हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं॥३२॥

§ ७१९. रागभावकी तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। परिहास और असभ्यवचन इन दोनोंके साथ दूसरेके लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। धीठताको लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। प्रयोजनका विचार किये बिना मर्यादाके बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण है। उपभोग परिभोगके लिए जितनी वस्तुकी आवश्यकता है वह अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है। इस प्रकार ये अनर्थदण्डविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं।

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं॥३३॥

§ ७२०. तीन प्रकारके योगका व्याख्यान किया जा चुका है। उसका बुरी तरहसे चलते रहना योगदुष्प्रणिधान है जो तीन प्रकारका है – कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और मनोदुष्प्रणिधान। उत्साहका न होना अनुत्साह है और वही अनादर है। तथा एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है। इस प्रकार ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिमें उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं॥३४॥

§ ७२१. जीव हैं या नहीं हैं इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है और कोमल उपकरणसे जो प्रयोजन साधा जाता है वह प्रमार्जित कहलाता है। निषेधयुक्त इन दोनों पदोंका

१. –प्रायं बहु–आ., दि. १, दि. २। २. –प्रलपितं मौ–मु.। ३. दुःप्रणि–मु.। ४. –दिभिरभि–मु.।

प्रमार्जितोत्सर्ग इत्येवमादि। तत्र अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां[1] भूमौ मूत्रपुरीषोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य च वस्त्रादेरादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम्। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणम्। क्षुदभ्यर्दितत्वादावश्यकेष्वनादरोऽनुत्साहः। स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम्। त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचाराः।

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥३५॥

§ ७२२. सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम्। तदुपश्लिष्टः संबन्धः। तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः। कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्तिः[2]। प्रमादसंमोहाभ्याम्। द्रवो वृष्यो वाभिषवः। असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः। एतैराहारो विशेष्यते—सचित्ताहारः संबन्धाहारः संमिश्राहारोऽभिषवाहारो दुष्पक्वाहार इति। त एते पञ्च भोगोपभोगपरिसंख्यानस्यातिचाराः।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

§ ७२३. सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। अपिधानमावरणम्। सचित्तेनैव संबध्यते सचित्तापिधानमिति। अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः। प्रयच्छतोऽप्यादराभावोऽन्यदातृ-

---

उत्सर्ग आदि अगले तीन पदोंसे सम्बन्ध होता है। यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग आदि। बिना देखी और बिना प्रमार्जित भूमिमें मल मूत्रका त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है। अरहंत और आचार्यकी पूजाके उपकरण, गन्ध, माला और धूप आदिको तथा अपने ओढ़ने आदिके वस्त्रादि पदार्थोंको बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए ले लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए प्रावरण आदि संस्तरका बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है। भूखसे पीड़ित होनेके कारण आवश्यक कार्योंमें अनुत्साहित होना अनादर है। स्मृत्यनुपस्थानका व्याख्यान पहले किया ही है। इस प्रकार ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं।

सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोगपरिपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥३५॥

§ ७२२. जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है। सचित्तसे चेतना सहित द्रव्य लिया जाता है। इससे सम्बन्धको प्राप्त हुआ द्रव्य सम्बन्धाहार है। और इससे मिश्रित द्रव्य सम्मिश्र है। **शंका**—यह गृहस्थ सचित्तादिकमें प्रवृत्ति किस कारणसे करता है? **समाधान**—प्रमाद और सम्मोहके कारण। द्रव, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है। जो ठीक तरहसे नहीं पका है वह दुःपक्व है। ये पाँचों शब्द आहारके विशेषण हैं या इनसे आहार पाँच प्रकारका हो जाता है। यथा–सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये सब भोगोपभोग परिसंख्यान व्रतके पाँच अतिचार हैं।

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥३६॥

§ ७२३. सचित्त कमलपत्र आदिमें रखना सचित्तनिक्षेप है। अपिधानका अर्थ ढाँकना है। इस शब्दको भी सचित्त शब्दसे जोड़ लेना चाहिए जिससे सचित्त कमलपत्र आदिसे ढाँकना यह अर्थ फलित होता है। इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है। दान

---

१. –र्माजितभूमौ आ०, दि०, १, दि० २। २. –त्तिः स्यात्। प्रमा–मु०।

गुणासहनं वा मात्सर्यम्। अकाले भोजनं कालातिक्रमः। त एते पञ्चातिथिसंविभागशीलातिचाराः।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

§ ७२४. आशंसनमाशंसा आकाङ्क्षणमित्यर्थः। जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्, जीवितमरणस्याशंसे जीवितमरणाशंसे। पूर्वसुहृत्सहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः। अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। त एते पञ्च सल्लेखनाया अतिचाराः।

§ ७२५. अत्राह, उक्तं भवता[1] तीर्थकरत्वकारणकर्मास्रवनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपसी' इति, पुनश्चोक्तं शीलविधाने 'अतिथिसंविभाग' इति। तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामित्यत आह—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

§ ७२६. स्वपरोपकारोऽनुग्रहः। स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः। 'स्व'शब्दो धनपर्यायवचनः। अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गस्त्यागो दानं वेदितव्यम्।

§ ७२७. अत्राह—उक्तं दानं तत्किमविशिष्टफलमाहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत आह—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोंको न सह सकना मात्सर्य है। भिक्षाकालके सिवा दूसरा काल अकाल है और उसमें भोजन कराना कालातिक्रम है। ये सब अतिथिसंविभागके शीलव्रतके पाँच अतिचार हैं।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखनाके पाँच अतिचार हैं ॥३७॥

§ ७२४. आशंसाका अर्थ चाहना है। जीनेकी चाह करना जीविताशंसा है और मरनेकी चाह करना मरणाशंसा है। पहले मित्रोंके साथ पांसुक्रीड़न आदि नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ की रहीं उनका स्मरण करना मित्रानुराग है। अनुभवमें आये हुए विविध सुखोंका पुनः-पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध है। भोगाकांक्षासे जिसमें या जिसके कारण चित्त नियमसे दिया जाता है वह निदान है। ये सब सल्लेखनाके पांच अतिचार हैं।

§ ७२५. तीर्थंकर पदके कारणभूत आस्रवके कारणोंका कथन करते समय शक्तिपूर्वक त्याग और तप कहा; पुनः शीलोंका कथन करते समय अतिथिसंविभागव्रत कहा परन्तु दानका लक्षण अभीतक ज्ञात नहीं हुआ इसलिए दानका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनुग्रहके लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान है ॥३८॥

§ ७२६. स्वयं अपना और दूसरेका उपकार करना अनुग्रह है। दान देनेसे पुण्यका संचय होता है यह अपना उपकार है तथा जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि होती है यह परका उपकार है। सूत्रमें आये हुए स्वशब्दका अर्थ धन है। तात्पर्य यह है कि अनुग्रहके लिए जो धनका अतिसर्ग अर्थात् त्याग किया जाता है वह दान है।

§ ७२७. दानका स्वरूप कहा तब भी उसका फल एक-सा होता है या उसमें कुछ विशेषता है, यह बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

विधि, देय, वस्तु, दाता और पात्रकी विशेषतासे उसकी विशेषता है ॥३९॥

---

१. भगवता मु०, ता०।

§ ७२८. प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः। विशेषो गुणकृतः। तस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः क्रियते—विधिविशेषो द्रव्यविशेषो दातृविशेषः पात्रविशेष इति। तत्र विधिविशेषः प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेदः तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः। अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः। मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। ततश्च पुण्यफलविशेषः क्षित्यादि[१]विशेषाद् बीजफलविशेषवत्।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।।७।।

---

§ ७२८. प्रतिग्रह आदि करनेका जो क्रम है वह विधि है। विशेषता गुणसे आती है। इस विशेष शब्दको विधि आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा–विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष। प्रतिग्रह आदिकमें आदर और अनादर होनेसे जो भेद होता है वह विधिविशेष है। जिससे तप और स्वाध्याय आदिकी वृद्धि होती है वह द्रव्यविशेष है। अनसूया और विषाद आदिका न होना दाताकी विशेषता है। तथा मोक्षके कारणभूत गुणोंसे युक्त रहना पात्रकी विशेषता है। जैसे पृथिवी आदिमें विशेषता होनेसे उससे उत्पन्न हुए बीजमें विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिककी विशेषतासे दानसे प्राप्त होनेवाले पुण्य फलमें विशेषता आ जाती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।७।।

---

१. क्षेत्रादि–मु.।

अथाष्टमोऽध्यायः

§ ७२९. व्याख्यात आस्रवपदार्थः। तदनन्तरोद्देशभाग्बन्धपदार्थ इदानीं व्याख्येयः। तस्मिन्व्याख्येये सति पूर्वं बन्धहेतूपन्यासः क्रियते; तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्येति—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

§ ७३०. मिथ्यादर्शनादय उक्ताः। क्व। मिथ्यादर्शनं तावदुक्तम्, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं[1] सम्यग्दर्शनम्' इत्यत्र तत्प्रतिपक्षभूतम्, आस्रवविधाने च क्रियासु व्याख्यातं मिथ्यादर्शनक्रियेति। विरतिरुक्ता। तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या। आज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकाङ्क्षाक्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः। स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः। कषायाः क्रोधादयः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः प्रोक्ताः। क्व। 'इन्द्रियकषाया' इत्यत्रैव। योगाः कायादिविकल्पाः प्रोक्ताः। क्व। 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र।

§ ७३१. मिथ्यादर्शनं द्विविधम्; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकं[2]वैनयिकविकल्पात्। अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनम् [3]अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं

---

§ ७२९. आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया अब उसके बाद कहे गये बन्ध पदार्थका व्याख्यान करना चाहिए। उसका व्याख्यान करते हुए पहले बन्धके कारणोंका निर्देश करते हैं, क्योंकि बन्ध तत्पूर्वक होता है—

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं ॥१॥

§ ७३०. मिथ्यादर्शन आदिका व्याख्यान पहले किया जा चुका है। **शंका**—इनका व्याख्यान पहले कहाँ किया है? 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया है। मिथ्यादर्शन उसका उलटा है, अतः इससे उसका भी व्याख्यान हो जाता है। या आस्रवका कथन करते समय पच्चीस क्रियाओंमें मिथ्यादर्शनका व्याख्यान किया है। विरतिका व्याख्यान पहले कर आये हैं। उसकी उलटी अविरति लेनी चाहिए। प्रमादका अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादनक्रिया और अनाकांक्षाक्रिया इन दोनोंमें हो जाता है। अच्छे कार्योंके करनेमें आदरभावका न होना यह प्रमाद है। कषाय क्रोधादिक हैं जो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। इनका भी पहले कथन कर आये हैं। **शंका**—कहाँ पर? **समाधान**—'इन्द्रियकषाया' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय। तथा कायादिके भेदसे तीन प्रकारके योगका व्याख्यान भी पहले कर आये हैं। **शंका**—कहाँ पर? **समाधान**—'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें।

§ ७३१. मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। इनमेंसे जो परोपदेशके बिना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोंका अश्रद्धानरूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्या दर्शन है। तथा परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका है—एकान्त मिथ्यादर्शन,

---

१. श्रद्धानं इत्यत्र आ०, दि० १, दि० २। २. –ज्ञानिवै–मु०। ३. अज्ञानमिथ्या–मु०।

चेति। तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। "पुरुष एवेदं सर्वम्[1]" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्। उक्तं च—

"असिदिसदं[2] किरियाणं अक्किरियाणं[3] तह य होइ चुलसीदी।
[4]सत्तट्ठमण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं॥"

§ ७३२. अविरतिर्द्वादशविधा; षट्कायषट्करणविषयभेदात्। षोडश कषाया नव नोकषायाः[5] स्तेषामीषद्भेदो न भेद इति पञ्चविंशतिः कषायाः। चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाः पञ्च काययोगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयते संभवात्पञ्चदशापि[6] भवन्ति। प्रमादोऽनेकविधः[7]; शुद्धयष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्[8]। त एते पञ्च बन्धहेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च। प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः। अप्रमत्तादीनां

विपरीतमिथ्यादर्शन, संशयमिथ्यादर्शन, वैनयिकमिथ्यादर्शन और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन। यही है, इसी प्रकारका है इस प्रकार धर्म और धर्मीमें एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे यह सब जग परब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं। सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग है या नहीं इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार नहीं करना संशय मिथ्यादर्शन है। सब देवता और सब मतोंको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। हिताहितकी परीक्षासे रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। कहा भी है—"क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सरसठ और वैनयिकोंके बत्तीस भेद हैं।

§ ७३२. छहकायके जीवोंकी दया न करनेसे और छह इन्द्रियोंके विषयभेदसे अविरति बारह प्रकारकी होती है। सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय हैं। यद्यपि कषायोंसे नोकषायोंमें थोड़ा भेद है पर वह यहाँ विवक्षित नहीं है, इसलिए सबको कषाय कहा है। चार मनोयोग, चार वचनयोग और पाँच काययोग ये योगके तेरह भेद हैं। प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें आहारक ऋद्धिधारी मुनिके आहारककाययोग और आहारक मिश्रकाययोग भी सम्भव हैं इस प्रकार योग पन्द्रह भी होते हैं। शुद्धयष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है। इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचों मिलकर या पृथक्-पृथक् बन्धके हेतु हैं। स्पष्ट इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि जीवके पाँचों ही मिलकर बन्धके हेतु हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टिके अविरति आदि चार बन्धके हेतु हैं। संयतासंयतके विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं। प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्धके हेतु हैं। अप्रमत्तसंयत आदि चारके योग और

१. इति वा नित्यमेवेति मु०, दि० १, दि० २, आ०। २. गो० कर्म०, गा० ८७६। ३. -याणं च होइ मु०। ४. सत्तच्छण्णा-मु०। ५. -षायाः ईषद्भे-दि० १, दि० २, आ०। ६. -दश भवन्ति आ०, दि० १, दि० २। ७. -नेकविधः पञ्चसमितित्रिगुप्तिशुद्धय-मु०, आ०, दि० १, दि० २। ८. -भेदात्। शुद्धयष्टकस्यार्थः भावकायविनयेर्यापथभिक्षाप्रतिष्ठापनशयनासनवाक्यशुद्धयोऽष्टौ दशलक्षणो धर्मश्च। त एते मु०, आ०, दि० १, दि० २।

चतुर्णां योगकषायौ। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योगः। अयोगकेवलिनो न बन्धहेतुः।

§ ७३३. उक्ता बन्धहेतवः। इदानीं बन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

§ ७३४. सह कषायेण वर्तत इति सकषायः। सकषायस्य भावः सकषायत्वम्। तस्मात्सकषायत्वादिति। पुनर्हेतुनिर्देशः[1] जठराग्न्याशयानुरूपाहारग्रहणवत्तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपस्थित्यनुभवविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्[2]। अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्त इति चोदितः सन् 'जीवः' इत्याह। जीवनाज्जीवः प्राणधारणादायुःसंबन्धान्नायुर्विरहादिति। 'कर्मयोग्यान्' इति लघुनिर्देशात्सिद्धे 'कर्मणो योग्यान्' इति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम्। किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम्। कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम्। एतदुक्तं भवति—'कर्मणः' इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति। ततो जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इत्युक्तं भवति। तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति। इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत। द्वितीयं वाक्यं 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति[3] पूर्वहेतुसंबन्धं

कषाय ये दो बन्धके हेतु हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके एक योग ही बन्धका हेतु है। अयोगकेवलीके बन्धका हेतु नहीं है।

§ ७३३. बन्धके हेतु कहे। अब बन्धका कथन करना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह बन्ध है ॥२॥

§ ७३४. कषायके साथ रहता है इसलिए सकषाय कहलाता है और सकषायका भाव सकषायत्व है। इससे अर्थात् सकषाय होनेसे। यह हेतुनिर्देश है। जिस प्रकार जठराग्निके अनुरूप आहारका ग्रहण होता है उसी प्रकार तीव्र, मन्द और मध्यम कषायाशयके अनुरूप ही स्थिति और अनुभाग होता है। इस प्रकार इस विशेषताका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सकषायत्वात्' इस पदद्वारा पुनः हेतुका निर्देश किया है। अमूर्ति और बिना हाथवाला आत्मा कर्मोंको कैसे ग्रहण करता है इस प्रश्नका उत्तर देनेके अभिप्रायसे सूत्रमें 'जीव' पद कहा है। जीव शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जीवनाज्जीवः—जो जीता है अर्थात् जो प्राणोंको धारण करता है, जिसके आयुका सद्भाव है, आयुका अभाव नहीं है वह जीव है। सूत्रमें 'कर्मयोग्यान्' इस प्रकार लघु निर्देश करनेसे काम चल जाता फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्तिका उच्चारण वाक्यान्तरका ज्ञान करानेके लिए किया है। वह वाक्यान्तर क्या है? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' यह एक वाक्य है। इसका यह अभिप्राय है कि 'कर्मणः' यह हेतुपरक निर्देश है। जिसका अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषायसहित होता है। कर्मरहित जीवके कषायका लेप नहीं होता। इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। और इससे अमूर्त जीव मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्धको सादि माननेपर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान संसारी जीवके बन्धका अभाव प्राप्त होता है। 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' यह दूसरा वाक्य है, क्योंकि, अर्थके अनुसार विभक्ति बदल जाती है इसलिए पहले जो हेत्वर्थमें विभक्ति थी वह अब 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार षष्ठी अर्थको प्राप्त होती है। सूत्रमें 'पुद्गल' पद कर्मके साथ तादात्म्य दिखलानेके लिए

---

१. –निर्देशः किमर्थम्? जठ–मु०, दि० १। २. –त्यर्थः। अहस्त आत्मा ता०, ना०। ३. पूर्वं हेतु–मु०।

त्यक्त्वा षष्ठीसंबन्धमुपैति 'कर्मणो योग्यान्' इति। 'पुद्गल'वचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम्[1]। तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति; तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः। 'आदत्ते' इति हेतुहेतुमद्भावख्यापनार्थम्। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। यथा भाजनविशेषे[2] प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः। 'सः'वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्। स एष बन्धो नान्योऽस्तीति। तेन गुणगुणिबन्धो निर्वर्तितो भवति। कर्मादिसाधनो 'बन्ध'-शब्दो व्याख्येयः।

§ ७३५. आह किमयं बन्ध एकरूप एव, आहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्यत इदमुच्यते—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

§ ७३६. प्रकृतिः स्वभावः। निम्बस्य का प्रकृतिः। तिक्तता। गुडस्य का प्रकृतिः। मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानवगमः। दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानालोकनम्। वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम्। दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। चारित्रमोह-

---

दिया है। इससे अदृष्ट आत्माका गुण है इस बातका निराकरण हो जाता है, क्योंकि उसे आत्माका गुण मानने पर वह संसारका कारण नहीं बन सकता। सूत्रमें 'आदत्ते' पद हेतुहेतुमद्भावका ख्यापन करनेके लिए दिया है। इससे मिथ्यादर्शन आदिके अभिनिवेशवश गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओंमें योग विशेषसे उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होना बन्ध है यह कहा गया है। जिस प्रकार पात्रविशेषमें प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फल और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोंका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणमन जानना चाहिए। सूत्रमें 'सः' पद अन्यका निराकरण करनेके लिए दिया है कि यह ही बन्ध है अन्य नहीं। इससे गुणगुणीबन्धका निराकरण हो जाता है। यहां 'बन्ध' शब्दका कर्मादि साधनमें व्याख्यान कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मुख्यरूपसे बन्धकी व्याख्या की गयी है। जीव द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी अनादि कालसे वह कर्मोंके अधीन हो रहा है जिससे उसे नर नारक आदि नाना गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। प्रश्न यह है कि जीव कर्मोंके अधीन क्यों होता है और उन कर्मोंका स्वरूप क्या है? प्रकृत सूत्रमें इन दोनों प्रश्नोंका समर्पक उत्तर दिया गया है। सूत्रमें बतलाया गया है कि कर्मोंके कारण जीव कषायाविष्ट होता है और इससे उसके कर्मके योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होता है। यही बन्ध है। इससे दो बातें फलित होती हैं। प्रथम तो यह कि कर्मके निमित्तसे जीवमें अशुद्धता आती है और इस अशुद्धताके कारण कर्मका बन्ध होता है और दूसरी यह कि जीव और कर्मका यह बन्ध परम्परासे अनादि है। इस प्रकार बन्ध क्या है और वह किस कारणसे होता है यह बात इस सूत्रसे जानी जाती है।

§ ७३५. यह बन्ध क्या एक है या इसके भेद हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं ॥३॥

§ ७३६. प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है? कड़ुआपन। गुड़की क्या प्रकृति है? मीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका ज्ञान न होना। दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका आलोकन नहीं होना। सुख-दुखका

---

१. -नार्थम्। अत आत्म-आ०। २. -शेषे क्षिप्ता-मु०।

स्यासंयमः। आयुषो भवधारणम्। नाम्नो नारकादिनामकरणम्। गोत्रस्योच्चैर्नीचैःस्थानसंशब्दनम्। अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तथा ज्ञानावरणादीनामर्थावगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः। तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः। 'विधि'-शब्दः प्रकारवचनः। त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारस्तस्य बन्धस्य प्रकाराः। तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ। कषायनिमित्तौ स्थित्यनुभवौ। तत्प्रकर्षाप्रकर्षभेदात्तद्बन्धविचित्रभावः। तथा चोक्तम्—

"जोगा[1] पयडि-पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि॥"

संवेदन कराना साता और असाता वेदनीयकी प्रकृति है। तत्त्वार्थका श्रद्धान न होने देना दर्शनमोहकी प्रकृति है। असंयमभाव चारित्रमोहकी प्रकृति है। भवधारण आयु कर्मकी प्रकृति है। नारक आदि नामकरण नामकर्मकी प्रकृति है। उच्च और नीच स्थानका संशब्दन गोत्र कर्मकी प्रकृति है तथा दानादिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मकी प्रकृति है। इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है। जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका माधुर्यस्वभावसे च्युत न होना स्थिति है उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका अर्थका ज्ञान न होने देना आदि स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है। इन कर्मोंके रसविशेषका नाम अनुभव है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका अलग-अलग तीव्र मन्द आदि रसविशेष होता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलोंका अलग अलग स्वगत सामर्थ्यविशेष अनुभव है। तथा इयत्ताका अवधारण करना प्रदेश है। अर्थात् कर्मरूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंका परमाणुओंकी जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। 'विधि' शब्द प्रकारवाची है। ये प्रकृति आदिक चार उस बन्धके प्रकार हैं। इनमें से योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे स्थितिबन्ध और अनुभवबन्ध होता है। योग और कषायमें जैसा प्रकर्षाप्रकर्षभेद होता है उसके अनुसार बन्ध भी नाना प्रकारका होता है। कहा भी है—'यह जीव योगसे प्रकृति और प्रदेश बन्धको तथा कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्धको करता है। किन्तु जो जीव योग और कषायरूपसे परिणत नहीं है और जिनके योग और कषायका उच्छेद हो गया है उनके कर्मबन्धकी स्थितिका कारण नहीं पाया जाता॥'

विशेषार्थ—इस सूत्रमें बन्धके चार भेदोंका निर्देश किया है। साम्परायिक आस्रवसे जो भी कर्म बँधता है उसे हम इन चार रूपोंमें देखते हैं। बँधे हुए कर्मका स्वभाव क्या है, स्थिति कितनी है, अपने स्वभावानुसार वह न्यूनाधिक कितना काम करेगा और आत्मासे कितने प्रमाणमें व किस रूपमें वह बन्धको प्राप्त होता है। यही वे चार प्रकार हैं। कर्मके इन चार प्रकारोंके मुख्य कारण दो हैं—योग और कषाय। योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है। इसका अर्थ है कि जहाँ योग और कषाय नहीं है वहाँ कर्मबन्ध भी नहीं है। कषाय दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें जीव कषायरूपसे परिणत नहीं होता और बारहवें गुणस्थानमें उसका उच्छेद अर्थात् अभाव है,

---

१. मूला० २४४। पंचसं० ४, ५०७। गो० क०, गा० २५७।

§ ७३७. तत्राद्यस्य प्रकृतिबन्धस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

§ ७३८. आद्यः प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणाद्यष्टविकल्पो वेदितव्यः। आवृणोत्यात्रियतेऽनेनेति वा आवरणम्। तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते—ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति। वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम्। मोहयति [1]मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। इत्यनेन नारकादिभवमित्यायुः। नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्। दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तरायः। एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृ[2]दुपभुक्तान्नपरिणामरसरुधिरादिवत्।

§ ७३९. आह, उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः। इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

इसलिए इस जीवके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है। आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें यद्यपि सातावेदनीयका बन्ध होता है पर वहाँ कषाय न होनेसे उसका प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयका बिना स्थितिके बन्ध होता है तो उसका आत्माके साथ अवस्थान कैसे होगा और यदि बिना अनुभागसे बन्ध होता है तो उसका विपाक सातारूप कैसे होगा? समाधान यह है कि इन गुणस्थानोंमें ईर्यापथ आस्रव होनेसे कर्म आते हैं और चले जाते हैं। उनका दो, तीन आदि समय तक अवस्थान नहीं होता। इसलिए तो यहाँ स्थितिबन्धका निषेध किया है और अनुभाग भी कषायके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले अनुभागसे यहाँ प्राप्त होनेवाला अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, इसलिए यहाँ अनुभागबन्धका भी निषेध किया है। योग तेरहवें और कषाय दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए स्थिति और अनुभागबन्ध दसवें तक और प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तेरहवें तक होते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव है इसलिए वहाँ किसी प्रकारका भी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ बन्धके भेद और उनके कारणोंका विचार किया।

§ ७३७. अब प्रकृतिबन्धके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है ॥४॥

§ ७३८. आदिका प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका जानना चाहिए। जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। वह प्रत्येकके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है यथा—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है वह वेदनीय कर्म है। जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जिसके द्वारा नारक आदि भवको जाता है वह आयुकर्म है। जो आत्माको नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है। जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह गोत्र कर्म है। जो दाता और देय आदिका अन्तर कराता है अर्थात् बीचमें आता है वह गोत्र कर्म है। एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं।

§ ७३९. मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कहा। अब उत्तर प्रकृतिबन्धका कथन करते हैं—

---

१. मुह्यते इति मु०। २. –दुपयुक्ता–आ०, दि० १, दि० २, ता०, ना०।

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

§ ७४०. द्वितीयग्रहणमिह कर्तव्यं द्वितीय उत्तरप्रकृतिबन्ध एवंविकल्प इति । न कर्तव्यम्; पारिशेष्यात्सिद्धेः । आद्यो [1]मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविकल्प उक्तः । ततः पारिशेष्यादयमुत्तरप्रकृतिविकल्पविधिर्भवति । 'भेद'शब्दः पञ्चादिभिर्यथाक्रममभिसंबध्यते—पञ्चभेदं ज्ञानावरणीयं नवभेदं दर्शनावरणीयं द्विभेदं वेदनीयं अष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं चतुर्भेदमायुः द्विचत्वारिंशद्भेदं नाम द्विभेदं गोत्रं पञ्चभेदोऽन्तराय इति ।

§ ७४१. यदि ज्ञानावरणं पञ्चभेदं तत्प्रतिपत्तिरुच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

§ ७४२. मत्यादीनि ज्ञानानि व्याख्यातानि । तेषामावृतेरावरणभेदो भवतीति पञ्चोत्तरप्रकृतयो वेदितव्याः । अत्र चोद्यते—अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा । यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः । अथ नास्ति तत्रावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति । उच्यते—आदेशवचनान्न दोषः । द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसंभवः । पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः । यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते; उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात् । न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते । कुतस्तर्हि । व्यक्तिसद्भावासद्भावापेक्षया । सम्यग्दर्शनादिभि[2]-

---

आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद हैं ॥५॥

§ ७४०. शंका—यहाँ द्वितीय पदका ग्रहण करना चाहिए, जिससे मालूम पड़े कि द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्ध इतने प्रकारका है ? **समाधान**—नहीं करना चाहिए, क्योंकि पारिशेष्य न्यायसे उसकी सिद्धि हो जाती है । आदिका मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कह आये हैं । इसलिए पारिशेष्य न्यायसे ये उत्तर प्रकृतिबन्धके भेद समझने चाहिए। भेद शब्द पाँच आदि शब्दोंके साथ यथाक्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होता है । यथा—पांच भेदवाला ज्ञानावरण, नौ भेदवाला दर्शनावरण, दो भेदवाला वेदनीय, अट्ठाईस भेदवाला मोहनीय, चार भेदवाला आयु, ब्यालीस भेदवाला नाम, दो भेदवाला गोत्र और पाँच भेदवाला अन्तराय ।

§ ७४१. यदि ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकारका है, तो उसका ज्ञान कराना है अतः आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनको आवरण करनेवाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं ॥६॥

§ ७४२. मति आदि ज्ञानोंका व्याख्यान कर आये हैं । उनका आवरण करनेसे आवरणोंमें भेद होता है इसलिए ज्ञानावरण कर्मकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ जानना चाहिए । **शंका**—अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती । यदि होती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता । यदि नहीं होती हैं तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है ? **समाधान**—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नहीं है । अभव्यके द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उसके उसका अभाव है । **शंका**—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है ? **समाधान**—शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है । **शंका**—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा गया है ? **समाधान**—व्यक्तिकी सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है । जिसके

---

१. मूलः प्रकृ–मु० । २. –नादिर्व्यक्ति–आ०, दि० १, दि० २, ता० ।

र्व्यक्तिर्यस्य भविष्यति स भव्यः। यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्य इति। कनकेतरपाषाणवत्।

§ ७४३. आह, उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः। इदानीं दर्शनावरणस्य वक्तव्य इत्यत आह—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

§ ७४४. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देशः—चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति। मदखेदक्लमविनोदनार्थः स्वापो निद्रा। तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका। सैव पुनःपुनरावर्तमाना[1] प्रचलाप्रचला। स्वप्ने[2] यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते, गृद्धेरपि दीप्तिः।

कनक पाषाण और इतर पाषाणकी तरह सम्यग्दर्शनादि रूपसे व्यक्ति होगी वह भव्य है और जिसके नहीं होगी वह अभव्य है।

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानावरण कर्मके पाँच उत्तर-भेदोंका निर्देश किया गया है। मूलमें ज्ञान एक है। उसके ये पांच भेद आवरणकी विशेषतासे प्राप्त होते हैं। धवला टीकामें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए सूर्य और मेघपटलका उदाहरण दिया गया है। वहाँ बतलाया है कि जिस प्रकार अति सघन मेघपटल सूर्यको आच्छादित करते हैं तो भी अतिमन्द सूर्य किरणें मेघपटलमेंसे प्रस्फुटित होती रहती हैं उसी प्रकार केवलज्ञानावरण कर्मके आवृत होनेपर भी कुछ न कुछ ज्ञानांश प्रस्फुटित होता रहता है और उसीको आवृत करनेसे चार उत्तर आवरण कर्म प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कुल ज्ञानावरण कर्म पाँच हैं जो भव्य और अभव्य दोनोंके पाये जाते हैं। शास्त्रमें भव्य और अभव्य संज्ञा बन्ध विशेषकी अपेक्षा से दी गयी है। जीवके ये भेद इसी अपेक्षासे जानने चाहिए। इन भेदोंका अन्य कोई निमित्त नहीं है। बन्ध दो प्रकारका होता है-एक बन्ध वह जो सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त होता है और दूसरा वह जो अनादि सान्त होता है। जिन जीवोंके कर्मका अनादि-अनन्त बन्ध होता है वे अभव्य कहलाते हैं और जिनके अनादिसान्त बन्ध होता है वे भव्य माने गये हैं। इसलिए शक्ति सब जीवोंके एक-सी होकर भी उसके व्यक्त होनेमें अन्तर हो जाता है। शास्त्रमें इस भेदको समझानेके लिए कनकपाषाण और अन्धापाषाण उदाहरण रूपसे उपस्थित किये गये हैं सो इस दृष्टान्तसे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। इस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेद क्यों हैं इस बातका खुलासा किया।

§ ७४३. ज्ञानावरण कर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे। अब दर्शनावरण कर्मके कहने चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारोंके चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं ॥७॥

§ ७४४. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलका दर्शनावरणकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है; यथा-चक्षुदर्शनावरण. अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण। मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावटको दूर करनेके लिए नींद लेना निद्रा है। इसकी उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है। जो शोक, श्रम और मद आदिके कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणीके भी नेत्र, गात्रकी विक्रियाकी सूचक है ऐसी जो क्रिया आत्माको चलायमान करती है वह प्रचला है। तथा उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति होना प्रचलाप्रचला है। जिसके निमित्तसे स्वप्नमें वीर्यविशेषका आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि है। 'स्त्यायति' धातुके अनेक अर्थ हैं। उनमेंसे यहाँ स्वप्न अर्थ

---

१. -वर्त्यमाना आ०, दि०, १, दि० २। २. स्वप्नेऽपि यया मु०, आ०, दि० १, दि० २।

स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः। इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसंबध्यते—निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।

§ ७४५. तृतीयस्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह—

सदसद्वेद्ये ॥८॥

§ ७४६. यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति।

§ ७४७. चतुर्थ्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिविकल्पनिदर्शनार्थमाह—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्न-पुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

लिया गया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्नमें प्रदीप्त होती है 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति धातुका दीप्ति अर्थ लिया गया है। अर्थात् जिसके उदयसे रौद्र बहु कर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है। यहाँ निद्रादि पदोंके साथ दर्शनावरण पदका समानाधिकरण रूपसे सम्बन्ध होता है यथा—निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण आदि।

विशेषार्थ—यहाँ दर्शनावरण कर्मके नौ भेद गिनाये हैं। दर्शनके कुल भेद चार हैं उनकी अपेक्षा प्रारम्भके चार भेद गिनाये हैं। निद्रादिक सामान्य आवरण कर्म हैं पर संसारी जीवके पहले दर्शनोपयोग होता है और ये निद्रादिक उस उपयोगमें बाधक हैं इसलिए इन निद्रा आदि पाँच कर्मोंकी दर्शनावरणके भेदोंमें परिगणना की जाती है। इससे दर्शनावरण कर्मके नौ भेद सिद्ध होते हैं।

§ ७४५. तृतीय प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतिको बतलाने के लिए कहते हैं—

सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय हैं ॥८॥

§ ७४६. जिसके उदयसे देवादि गतियोंमें शरीर और मन सम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है वह सद्वेद्य है। प्रशस्त वेद्यका नाम सद्वेद्य है। जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दुख मिलते हैं वह असद्वेद्य है। अप्रशस्त वेद्यका नाम असद्वेद्य है।

विशेषार्थ—यहाँ वेदनीय कर्मके दो भेद गिनाये हैं। यह जीवविपाकी कर्म है। जीवका साता और असातारूप परिणाम इसके उदयके निमित्तसे होता है। अन्य बाह्य सामग्रीको इसका फल कहा है पर वह उपचार कथन है। वस्तुतः बाह्य सामग्री साता और असाताके उदयमें निमित्त है, इसलिए बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति वेदनीय कर्मका फल नहीं माना जा सकता। देवगति, नरकगति और भोगभूमिमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका कारण तत्तत्पर्यायकी लेश्या है और कर्मभूमिमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके अनेक कारण हैं। इस प्रकार वेदनीय कर्मके दो भेद और उनका कार्य जानना चाहिए।

§ ७४७. अब चौथी मूल प्रकृतिके उत्तर प्रकृति विकल्प दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रमसे तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं, अकषाय-वेदनीय और कषायवेदनीय ये दो चारित्र मोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे सोलह कषायवेद-नीय हैं ॥९॥

§ ७४८. दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि[1] । तत्र यथासंख्येन संबन्धो भवति—दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीयं द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति ।

§ ७४९. तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति । तद् बन्धं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते । तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् । तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते । तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत् । यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगा[2]पादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः ।

§ ७५०. चारित्रमोहनीयं द्विधा; अकषायकषायभेदात् । ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति । अकषायवेदनीयं नवविधम् । कुतः । हास्यादिभेदात् । यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम् । यदुदया[3]द्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विपाकाच्छोचनं स शोकः । यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम् । यदुदयादात्मदोषसंवरणं[4] परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा । यदुदयात्स्त्रैणा[5]-

---

§ ७४८. दर्शन आदिक चार हैं और तीन आदिक भी चार हैं। इनका यथाक्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—दर्शनमोहनीय तीन प्रकारका है, चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है, अकषायवेदनीय नौ प्रकारका है और कषायवेदनीय सोलह प्रकारका है।

§ ७४९. उनमें-से दर्शनमोहनीयके तीन भेद ये हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय। वह बन्धकी अपेक्षा एक होकर सत्कर्मकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। इन तीनोंमें-से जिसके उदयसे यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करनेमें निरुत्सुक, हिताहितका विचार करनेमें असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामोंके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीन रूपसे अवस्थित रहकर आत्माके श्रद्धानको नहीं रोकता है तब सम्यक्त्व है। इसका वेदन करनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय कहा जाता है। इसीका दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है। इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदों और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए मिश्र परिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है।

§ ७५०. चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय। यहाँ ईषद् अर्थात् किंचित् अर्थमें 'नञ्' का प्रयोग होनेसे किंचित् कषायको अकषाय कहा है। हास्य आदिके भेदसे अकषायवेदनीयके नौ भेद हैं। जिसके उदयसे हँसी आती है वह हास्य है। जिसके उदयसे देश आदिमें उत्सुकता होती है वह रति है। अरति इससे विपरीत है। जिसके उदयसे शोक होता है वह शोक है। जिसके उदयसे उद्वेग होता है वह भय है। जिसके उदयसे आत्मदोषोंका संवरण और परदोषोंका आविष्करण होता है वह जुगुप्सा है। जिसके उदयसे स्त्रीसम्बन्धी

---

१. -त्र्यादयोऽपि चत्वारः । तत्र मु०, ता०, ना० । २. -कोद्रवोपयो-मु० । ३. -दयाद्विषयादि-मु०, ता०, ना० । ४. -अन्यदोषस्याधारणं दि० १, दि० २ । अन्यदोषाविष्करणं सा- । ५. -दयात्स्त्रीणां भावा- आ०, दि० १, दि० २ ।

न्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । यस्योदयात्पौंस्नान्भावानास्कन्दति स पुंवेदः । यदुदयान्नापुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः ।

§ ७५१. कषायवेदनीयं षोडशविधम् । कुतः । अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् । तद्यथा—कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषां चतस्रोऽवस्थाः—अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् । तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । समेकीभावे वर्तते । संयमेन सहावस्थानादेकीभूय[1] ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । त एते समुदिताः सन्तः षोडश कषाया भवन्ति ।

भावोंको प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है । जिसके उदयसे पुरुषसम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह पुंवेद है और जिसके उदयसे नपुंसकसम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह नपुंसकवेद है ।

§ ७५१. अनन्तानुबन्धी आदिके विकल्पसे कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं । यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय हैं । इनकी चार अवस्थाएँ हैं—अनन्तानुबन्धी. अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है तथा जो कषाय उसके अनुबन्धी हैं वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । जिनके उदयसे जिसका दूसरा नाम संयमासंयम है ऐसी देशविरतिको यह जीव स्वल्प भी करनेमें समर्थ नहीं होता है वे देशप्रत्याख्यानको आवृत करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । जिनके उदयसे संयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको यह जीव करनेमें समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत करनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । 'स' एकीभाव अर्थमें रहता है । संयमके साथ अवस्थान होनेसे एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भावमें संयम चमकता रहता है वे संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । ये सब मिलकर सोलह कषाय होते हैं ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । जो समीचीन दर्शनके होनेमें बाधक कर्म है वह दर्शनमोहनीय है और जो समीचीन दर्शनके अनुकूल चारित्रके होनेमें बाधक कर्म है वह चारित्रमोहनीय है । दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व आदिक तीन भेद हैं । मिथ्यात्व समीचीन दर्शनका प्रतिपक्ष कर्म है । यह जीव अनादि कालसे मिथ्यादृष्टि हो रहा है । इसे योग्य द्रव्यादिकका निमित्त मिलनेपर ही समीचीन दर्शनका श्रद्धान होता है । सर्वप्रथम यह श्रद्धान इसके प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व कर्मके उपशमसे ही होता है । साधारणतः संसारमें रहनेका काल जब अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण शेष रहता है तब यह होता है इसके पहले नहीं होता । इतने कालके शेष रहने पर होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है । इससे भी कम कालके शेष रहने पर यह हो सकता है । इसका नाम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शनका अर्थ है समीचीन दर्शन । जैनदर्शनके अनुसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला और आत्मदर्शन करानेवाला दर्शन समीचीन दर्शन माना गया है । जब इस प्रकारका सम्यग्दर्शन होता है तब इस दर्शनका प्रतिपक्षभूत कर्म तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है । जिनके नाम मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व होते हैं । प्रथमका वही काम है । दूसरा और तीसरा अपने नामानुसार काम करते हैं । अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र परिणामके होनेमें

---

१. –देकीभूता ज्व–आ०, दि० १, दि० २, मु० ।

§ ७५२. मोहनीयानन्तरोद्देशभाज आयुष उत्तरप्रकृतिनिर्ज्ञापनार्थमाह—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

§ ७५३. नारकादिषु भवसंबन्धेनायुषो व्यपदेशः क्रियते । नरकेषु भवं नारकमायुः, तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनम्, मानुषेषु भवं मानुषम्, देवेषु भवं दैवमिति । नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकम् । एवं शेषेष्वपि ।

निमित्त होता है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व समीचीन दर्शनरूप परिणामको सदोष बनानेमें निमित्त होता है। इस प्रकार एक मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्वका निमित्त पाकर तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है इसलिए बन्धकी अपेक्षा दर्शनमोहनीय एक होकर भी सत्ताकी अपेक्षा वह तीन प्रकारका माना गया है। मोहनीयका दूसरा भेद चारित्रमोहनीय है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला दर्शन ही सम्यग्दर्शन है यह हम पहले बतला आये हैं। अतः हमारा इस दर्शनके अनुरूप जो आचार होता है वही सदाचार माना जा सकता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि जैनदर्शनके अनुसार स्वावलम्बनके अनुरूप आचारको ही सदाचार कहा गया है। इसी सदाचारका दूसरा नाम सच्चारित्र है। जो कर्म इस सच्चारित्रके होनेमें बाधक होता है उसे ही आगममें चारित्रमोहनीय कहा है। इसके मूल भेद दो हैं—कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय। अकषायवेदनीय देशघाति कर्म होनेसे यह सम्यक् चारित्रकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है। कषायवेदनीयके चार भेद हैं। उनमें-से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ व्यक्तिस्वातन्त्र्यके अनुरूप स्वावलम्बनकी धाराका जीवनमें महत्त्व प्रस्थापित नहीं होने देता। इसीसे इसे अनन्त अर्थात् संसारका कारण कहा है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य और स्वावलम्बनका अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा होनेपर स्वावलम्बनका महत्त्व अपने आप समझमें आने लगता है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति अपने जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा तो करे पर उसकी प्राप्तिके लिए जीवनको परावलम्बी बनाये रखनेकी ओर उसका झुकाव हो। यही कारण है कि अनन्तानुबन्धीचतुष्कको मिथ्यात्वका अनुबन्धी माना गया है। इस प्रकार जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य और तदनुरूप स्वावलम्बनके प्रति अभिरुचि हो जानेपर व्यक्ति पूर्ण स्वावलम्बी बननेके लिए उद्यत होता है। किन्तु अनादिकालीन परतन्त्रताओंका वह युगपत् त्याग नहीं कर सकता, इसलिए जैसी-जैसी अन्तःशुद्धि होती जाती है तदनुरूप वह स्वावलम्बी बनता जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्तिके जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य और उसके मार्ग स्वावलम्बनके प्रति पूर्ण श्रद्धाके होनेपर भी वह उसे जीवनमें उतारनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। इसका कारण जहाँ जीवनकी भीतरी कमजोरी माना गया है वहाँ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इस दशाके बनाये रखनेमें निमित्त हैं। यही कारण है कि इन कषायोंको आंशिक स्वावलम्बनका बाधक कहा है। और पूर्ण स्वावलम्बनमें बाधक कारण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ माने गये हैं। संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ स्वावलम्बनके आचरणको सदोष तो करते हैं पर बाधक नहीं हो पाते। इस प्रकार मोहनीय और उसके अवान्तर भेदोंका क्या कार्य है इसका यहाँ संक्षेपमें विचार किया।

§ ७५२. मोहनीयके अनन्तर उद्देशभाक् आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं ॥१०॥

§ ७५३. नारक आदि गतियोंमें भवके सम्बन्धसे आयुकर्मका नामकरण किया जाता है। यथा—नरकोंमें होनेवाली नारक आयु है, तिर्यग्योनिवालोंमें होनेवाली तैर्यग्योन आयु है, मनुष्योंमें होनेवाली मानुष आयु है और देवोंमें होनेवाली देवायु है। तीव्र शीत और उष्ण वेदनावाले

§ ७५४. आयुश्चतुर्विधं व्याख्यातम्। तदनन्तरमुद्दिष्टं यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिनिर्णयार्थमाह—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

§ ७५५. यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः। सा चतुर्विधा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति[1]। यन्निमित्त आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्[2]। तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। तन्निमित्तं जातिनाम। तत्पञ्चविधम्—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति। यदुदयात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम। तत्पञ्चविधम्—औदारिकशरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम चेति। तेषां

नरकोंमें जिसके निमित्तसे दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है। इसी प्रकार शेष आयुओंमें भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ—दस प्राणोंमें आयु प्राण मुख्य है। यह जीवित रहनेका सर्वोत्कृष्ट निमित्त माना गया है। इसके सद्भावमें प्राणीका जीवन है और इसके अभावमें वह मरा हुआ माना जाता है। अन्नादिक तो आयुको कायम रखनेमें सहकारीमात्र हैं। भवधारण करनेका मुख्य कारण आयुकर्म ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

§ ७५४. चार प्रकारके आयुका व्याख्यान किया। इसके अनन्तर जो नामकर्म कहा गया है उसकी उत्तर प्रकृतियोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोंके साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशःकीर्ति और यशःकीर्ति एवं तीर्थंकरत्व ये ब्यालीस नामकर्मके भेद हैं ॥११॥

§ ७५५. जिसके उदयसे आत्मा भवान्तरको जाता है वह गति है। वह चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति। जिसका निमित्त पाकर आत्माका नारक भाव होता है वह नरकगति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष गतियोंमें भी योजना करनी चाहिए। उन नरकादि गतियोंमें जिस अव्यभिचारी सादृश्यसे एकपनेका बोध होता है वह जाति है। और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष जातियोंमें भी योजना करनी चाहिए। जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म। इनका विशेष

---

१. –गतिर्देवगतिर्मनुष्यगतिश्चेति मु०। २. योज्यन्ते। तासु आ०।

विशेषो व्याख्यातः। यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम। तत् त्रिविधम्—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम चेति। यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम्। तद् द्विविधं—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति। निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम्। शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम। तत् षोढा विभज्यते—समचतुरस्रसंस्थाननाम न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम स्वातिसंस्थाननाम कुब्जसंस्थाननाम वामनसंस्थाननाम हुण्डसंस्थाननाम चेति। यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम। तत् षड्विधम्—वज्रर्षभनाराचसंहनननाम वज्रनाराचसंहनननाम नाराचसंहनननाम अर्धनाराचसंहनननाम कीलिका[1]संहनननाम असंप्राप्तासृ[2]पाटिकासंहनननाम चेति। यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्शनाम। तदष्टविधम्—कर्कशनाम मृदुनाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम चेति। यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम। तत्पञ्चविधम्—तिक्तनाम कटुकनाम कषायनाम आम्लनाम मधुरनाम चेति। यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम। तद्द्विविधम्—सुरभिगन्धनाम असुर[3]भिगन्धनाम चेति। यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम। तत्पञ्चविधम्—कृष्णवर्णनाम नीलवर्णनाम रक्तवर्णनाम हारिद्र[4]-

---

व्याख्यान पहले कर आये हैं। जिसके उदयसे अंगोपांगका भेद होता है वह अंगोपांग नामकर्म है। वह तीन प्रकारका है—औदारिक शरीर अंगोपांग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म और आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म। जिसके निमित्तसे परिनिष्पत्ति अर्थात् रचना होती है वह निर्माण नामकर्म है। वह दो प्रकारका है—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। वह जाति नामकर्मके उदयका अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवोंके स्थान और प्रमाणकी रचना करता है। निर्माण शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—'निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम्' जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण कहलाता है। शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोंका अन्योन्य प्रदेश संश्लेष जिसके निमित्तसे होता है वह बन्धन नामकर्म है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेश द्वारा एकरूपता आती है वह संघात नामकर्म है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी आकृति बनती होती है वह संस्थान नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म, स्वातिसंस्थान नामकर्म, कुब्जकसंस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डसंस्थान नामकर्म। जिसके उदयसे अस्थियोंका बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—वज्रर्षभनाराच संहनन नामकर्म, वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, नाराचसंहनन नामकर्म, अर्धनाराचसंहनन नामकर्म, कीलिकासंहनन नामकर्म और असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म। जिसके उदयसे स्पर्शकी उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नामकर्म है। वह आठ प्रकारका है—कर्कश नामकर्म, मृदु नामकर्म, गुरु नामकर्म, लघु नामकर्म, स्निग्ध नामकर्म, रूक्ष नामकर्म, शीत नामकर्म और उष्ण नामकर्म। जिसके उदयसे रसमें भेद होता है वह रस नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—तिक्त नामकर्म, कटु नामकर्म, कषाय नामकर्म, आम्ल नामकर्म और मधुर नामकर्म। जिसके उदयसे गन्धकी उत्पत्ति होती है वह गन्ध नामकर्म है। वह दो प्रकारका है—सुरभिगन्ध नामकर्म और असुरभिगन्ध नामकर्म। जिसके निमित्तसे वर्णमें विभाग होता है वह वर्ण नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रक्तवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और

---

१. कीलितसं–मु०। कीलसं–दि० २। २. –प्राप्तासृक्पा–आ०, दि० १, दि० २। ३. –नाम दुरभिगन्ध– आ०, दि० १, दि० २। ४. हरिद्रवर्ण–मु०।

वर्णनाम शुक्लवर्णनाम चेति । पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यनाम। तच्चतुर्विधम्—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम चेति। यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धन[1]मरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम। यन्निमित्तः परशस्त्रादेर्व्याघातस्तत्परघातनाम। यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम। तदादित्ये वर्तते। यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम। तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते। यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम। विहाय आकाशम्। तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम। तद्द्विविधम्—प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम। यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावरनाम । यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद् दुर्भगनाम। यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम। तद्विपरीतं दुःस्वरनाम। यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम। तद्विपरीतमशुभनाम। सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम। यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः तत्पर्याप्तिनाम । तत् षड्विधम्—आहारपर्याप्तिनाम शरीरपर्याप्तिनाम इन्द्रियपर्याप्तिनाम प्राणापानपर्याप्तिनाम भाषापर्याप्तिनाम मनःपर्याप्ति-

---

शुक्लवर्ण नामकर्म । जिसके उदयसे पूर्व शरीरके आकारका विनाश नहीं होता है वह आनुपूर्व्य नामकर्म है। वह चार प्रकारका है—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म। जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेसे न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूलके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। जिसके उदयसे स्वयंकृत उद्बन्धन और पहाड़से गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है। जिसके उदयसे परशस्त्रादिकका निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है। जिसके उदयसे शरीरमें आतपकी प्राप्ति होती है वह आतप नामकर्म है। वह सूर्यबिम्बमें होता है। जिसके निमित्तसे शरीरमें उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। वह चन्द्रबिम्ब और जुगनू आदिमें होता है। जिसके निमित्तसे उच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नामकर्म है। विहायस्‌का अर्थ आकाश है। उसमें गतिका निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है। प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है। शरीर नामकर्मके उदयसे रचा गया जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। बहुत आत्माओंके उपभोगका हेतुरूपसे साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है वह साधारणशरीर नामकर्म है। जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिकमें जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है। जिसके निमित्तसे एकेन्द्रियोंमें उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है। जिसके उदयसे अन्यजनप्रीतिकर अवस्था होती है वह सुभग नामकर्म है। जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था होती है वह दुर्भग नामकर्म है। जिसके निमित्तसे मनोज्ञ स्वरकी रचना होती है वह सुस्वर नामकर्म है। इससे विपरीत दुःस्वर नामकर्म है। जिसके उदयसे रमणीय होता है वह शुभ नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ नामकर्म है। सूक्ष्म शरीरका निर्वर्तक कर्म सूक्ष्म नामकर्म है। अन्य बाधाकर शरीरका निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है।

जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—आहारपर्याप्ति नामकर्म, शरीरपर्याप्ति नामकर्म, इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म, प्राणा-

---

१. मरुत्प्र–मु. ।

नाम चेति। षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम। स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम। तद्विपरीतमस्थिरनाम। प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम। पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकफलमयशःकीर्तिनाम। आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वनाम।

पानपर्याप्ति नामकर्म, भाषापर्याप्ति नामकर्म और मनःपर्याप्ति नामकर्म। जो छह प्रकारकी पर्याप्तियोंके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। स्थिरभावका निर्वर्तक कर्म स्थिर नामकर्म है। इससे विपरीत अस्थिर नामकर्म है। प्रभायुक्त शरीरका कारण आदेय नामकर्म है। निष्प्रभ शरीरका कारण अनादेय नामकर्म है। पुण्य गुणोंकी प्रसिद्धिका कारण यशःकीर्ति नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला अयशःकीर्ति नामकर्म है। आर्हन्त्यका तीर्थंकर नामकर्म है।

विशेषार्थ—यहाँ नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कार्योंकी चर्चा की गयी है। मूल कर्म आठ हैं। उनमें से सात कर्म जीवविपाकी माने गये हैं। नामकर्म जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी दोनों प्रकारका है। जिन कर्मोंका विपाक जीवमें होता है वे जीवविपाकी हैं और जिनका विपाक पुद्गलमें होता है वे पुद्गलविपाकी हैं। यह इनका शब्दार्थ है। इसे ध्यानमें रखते हुए इनके अर्थकी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है। साधारणतः सभी कर्म जीवनके राग, द्वेष आदि परिणामोंका निमित्त पाकर बँधते हैं अतएव उनका विपाक जीवमें ही होता है। अर्थात् उनके उदयका निमित्त पाकर जीवमें तत्तत्प्रकारक योग्यताएँ आती हैं। फिर भी कर्मोंके जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी ऐसे भेद करनेका क्या कारण है यही बात यहाँ देखनी है। जीवका संसार जीव और पुद्गल इन दोके मेलसे होता है। वहाँ रहते हुए वह विविध गतियोंमें जन्म लेता है, मरता है और उनके अनुरूप नाना शरीरोंको धारण करता है। यह सब अकारण नहीं हो सकता, इसलिए इनकी प्राप्तिके निमित्तभूत नाना प्रकारके कर्म माने जाते हैं। जिनको शास्त्रमें भवविपाकी कहा है वे उस उस पर्यायमें अवस्थानके कारण होनेसे उस संज्ञाको प्राप्त होते हैं। जिनको क्षेत्रविपाकी कहा है वे एक गतिसे दूसरी गतिके लिए जाते समय अन्तरालमें जीवका आकार बनाये रखते हैं। जिन्हें पुद्गलविपाकी कहा है वे नाना प्रकारके शरीर और भोगक्षम इन्द्रियोंकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं और जीवविपाकी कहे जाते हैं। वे जीवके विविध प्रकारके परिणाम और उसकी विविध अवस्थाओंके होनेमें सहायता करते हैं। इस प्रकार कार्यभेदसे कर्मोंको इन चार भागोंमें विभक्त किया गया है। वस्तुतः सभी कर्म जीवको उस उस कर्मके नामानुरूप योग्यताके होनेमें सहायता करते हैं और उस उस योग्यतासे युक्त जीव तदनुरूप कार्य करता है। उदाहरणार्थ—औदारिक शरीर नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह योगद्वारा शरीर निर्माणके लिए औदारिक वर्गणाओंको ही ग्रहण करता है अन्य वर्गणाओंको नहीं। वज्रर्षभनाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह ग्रहण की गयी औदारिक वर्गणाओंको उस रूपसे परिणमाता है। प्रश्न यह है कि पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयको निमित्त पाकर यदि जीवमें कर्मोंके नामानुरूप योग्यता उत्पन्न होती है तो फिर इन्हें पुद्गलविपाकी कर्म क्यों कहते हैं? क्या ये कर्म जीवको माध्यम बनाकर ही अपना काम करते हैं। इनका जो काम है वह यदि सीधा माना जाय तो क्या आपत्ति है? उत्तर यह है कि जब तक जीवको औदारिक आदि नोकर्मवर्गणा का निमित्त नहीं मिलता है तब तक पुद्गलविपाकी कर्म अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते हैं। इनका विपाक पुद्गलों का निमित्त पाकर होता है इसलिए इन्हें पुद्गलविपाकी कहते हैं। उदाहरणार्थ—कोई एक जीव दो मोड़ा लेकर यदि जन्म लेता है तो उसके प्रथम और द्वितीय विग्रहके समय शरीर आदि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है। तीसरे समयमें जब वह नवीन शरीरको ग्रहण करता है तभी उसके इन प्रकृतियोंका उदय होता है। इस

§ ७५६. उक्तो नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभेदः । तदनन्तरोद्देशभाजो गोत्रस्य प्रकृतिभेदो व्याख्यायते—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

§ ७५७. गोत्रं द्विविधम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म[1] तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म[2] तन्नीचैर्गोत्रम् ।

§ ७५८. अष्टम्याः कर्मप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिनिर्देशार्थमाह—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि शरीर आदि नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलविपाकी संज्ञा क्यों है ? इसी प्रकार भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी स्पष्ट जानना चाहिए। भवकी कारणभूत जो आयुकर्मकी प्रकृतियां हैं और जिनका उदय तत्तत् भव तक ही सीमित है इसीसे इनकी भवविपाकी संज्ञा है । क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ दो भवके अन्तरालवर्ती क्षेत्रमें अपना काम करती हैं इसलिए इनकी क्षेत्रविपाकी संज्ञा है । यद्यपि बाह्य सुपुत्रादिके निमित्तसे सातादि जीवविपाकी प्रकृतियोंका भी उदय देखा जाता है पर ये बाह्यनिमित्त उनके उदयके अविनाभावी कारण नहीं हैं । कदाचित् इन बाह्य निमित्तोंके रहते हुए भी उनसे प्रतिकूल प्रकृतियोंका उदय देखा जाता है और कदाचित् इन निमित्तोंके अभावमें भी उनका उदय देखा जाता है इसलिए निमित्तोंकी प्रधानता न होनेसे सातादि प्रकृतियोंकी जीवविपाकी संज्ञा है । इस प्रकार सब कर्म-प्रकृतियाँ कितने भागोंमें बटी हुई हैं और उनकी जीवविपाकी आदि संज्ञा होनेका क्या कारण है इसका विचार किया ।

§ ७५६. नामकर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे । इसके बाद कहने योग्य गोत्रकर्मके प्रकृति-विकल्पोंका व्याख्यान करते हैं—

उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं ॥१२॥

§ ७५७. गोत्रकर्म दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र । जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है । जिसके उदयसे गर्हित कुलोंमें जन्म होता है वह नीच-गोत्र है ।

विशेषार्थ—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिसके उच्चगोत्रका उदय होता है वह ऐसे माता पिता के यहाँ जन्म लेता है जहाँ सदाचारकी प्रवृत्ति हो या उस ओर झुकाव हो या ऐसी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियोंके साथ सम्पर्क हो । और जिसके नीचगोत्र कर्मका उदय होता है वह विरुद्ध प्रवृत्तिवाले माता पिताके यहाँ जन्म लेता है । कुल, गोत्र, सन्तान और परम्परा इनका एक अर्थ है । परम्परा दो प्रकारसे चलती है एक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रमूलक परम्परा और दूसरी आचार-विचार मूलक परम्परा । यहाँ दूसरी प्रकारकी परम्परा ली गयी है । गोत्रका सम्बन्ध शरीर या रक्तसे न होकर जीवके आचार-विचारसे है । गोत्रकर्मको जीवविपाकी कहनेका कारण भी यही है । इस प्रकार गोत्रकर्म, उसके भेद और उनके स्वरूपका संक्षेपमें विचार किया ।

§ ७५८. आठवीं कर्म प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतियोंका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं ।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं ॥१३॥

---

१. जन्मकारणं तदु–आ०, दि० १, दि० २ । २. जन्मकारणं तन्नी–आ० दि०, १, दि० २ ।

§ ७५९. अन्तरायापेक्षया भेदनिर्देशः क्रियते—दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि। दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेशः। यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते त एते पञ्चान्तरायस्य भेदाः।

§ ७६०. व्याख्याताः प्रकृतिबन्धविकल्पाः। इदानीं स्थितिबन्धविकल्पो वक्तव्यः। सा स्थितिर्द्विविधा—उत्कृष्टा जघन्या च। तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना तन्निर्देशार्थमुच्यते—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

§ ७६१. मध्येऽन्ते वा तिसृणां ग्रहणं माभूदिति 'आदितः' [1]इत्युच्यते। 'अन्तरायस्य' इति वचनं व्यवहितग्रहणार्थम्। सागरोपममुक्तपरिमाणम्। कोटीनां कोट्यः कोटीकोट्यः। परा उत्कृष्टेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य इति। सा कस्य भवति। मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य। अन्येषामागमात्संप्रत्ययः कर्तव्यः।

---

§ ७५९. यहाँ अन्तरायकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है। यथा—दान का अन्तराय, लाभका अन्तराय इत्यादि। इन्हें दानादि परिणामके व्याघातका कारण होनेसे यह संज्ञा मिली है। जिनके उदयसे देनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करनेकी इच्छा रखता हुआ भी नहीं प्राप्त करता है, भोगनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग सकता है, उपभोग करनेकी इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं ले सकता है और उत्साहित होनेकी इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है इस प्रकार ये पांच अन्तरायके भेद हैं।

विशेषार्थ—जीवकी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ हैं। अन्तरायकर्म इन पाँच जीवभावोंकी अभिव्यक्तिमें बाधक कारण है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। कहीं कहीं अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति कहा गया है पर वह उपचार कथन है। तत्त्वतः बाह्य सामग्री पर है। उसकी प्राप्ति जीवविपाकी अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल नहीं हो सकता। परमें स्वका भाव मिथ्यात्वका फल है और उसका स्वीकार कषायका फल है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

§ ७६०. प्रकृतिबन्धके भेद कहे। इस समय स्थितिबन्धके भेद कहने चाहिए। वह स्थिति दो प्रकारकी है—उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति। उनमें जिन कर्मप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिकी तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चारकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥१४॥

§ ७६१. बीचमें या अन्तमें तीन का ग्रहण न होवे इसलिए सूत्रमें 'आदितः' पद कहा है। अन्तरायकर्मका पाठ प्रारम्भके तीन कर्मोंके पाठसे व्यवहित है उसका ग्रहण करनेके लिए, 'अन्तरायस्य' वचन दिया है। सागरोपमका परिमाण पहले कह आये हैं। कोटियोंकी कोटि कोटाकोटि कहलाती है। पर शब्द उत्कृष्ट वाची है। उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम होती है। **शंका**—यह उत्कृष्ट स्थिति किसे प्राप्त होती है? **समाधान**—मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक जीवको प्राप्त होती है। अन्य जीवोंके आगमसे देखकर ज्ञान कर लेना चाहिए।

---

१. आदित उच्य-आ०, दि० १, दि० २।

§ ७६२. मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

§ ७६३. 'सागरोपमकोटीकोटयः पराः स्थितिः' इत्यनुवर्तते। इयमपि परा स्थितिर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यावसेया। इतरेषां[1] यथागममवगमः कर्तव्यः।

§ ७६४. नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

§ ७६५. 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते। इयमप्युत्कृष्टा स्थितिर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य। इतरेषां यथागममवबोद्धव्या।

§ ७६६. अथायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्युच्यते—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

§ ७६७. पुनः 'सागरोपम'ग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम्। 'परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते। इयमपि पूर्वोक्तस्यैव। शेषाणामागमतोऽवसेया।

विशेषार्थ—कर्मोंकी स्थिति तीन प्रकारसे प्राप्त होती है—बन्धसे, संक्रमसे और सत्त्वसे। यहाँपर बन्धकी अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलायी गयी है। अतितीव्र संक्लेश परिणामोंसे मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी तीस कोटाकोटि सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बाँधता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

§ ७६२. मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है ॥१५॥

§ ७६३. इस सूत्रमें 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है। यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए। इतर जीवोंके आगमके अनुसार ज्ञान कर लेना चाहिए।

§ ७६४. नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥१६॥

§ ७६५. 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है। यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए। इतर जीवोंके आगमके अनुसार जान लेना चाहिए।

§ ७६६. अब आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ॥१७॥

§ ७६७. इस सूत्र में पुनः 'सागरोपम' पदका ग्रहण कोटाकोटी पदकी निवृत्तिके लिए दिया है। यहाँ 'परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है। यह भी पूर्वोक्त जीवके होती है। शेष जीवोंके आगमसे जान लेना चाहिए।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामें आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि कहा है। सो यह इस अभिप्रायसे कहा है कि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्धके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंके होने पर नरकायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य गुणस्थानवालेके आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता। देवायुका तैंतीस साग-

---

१. –सेया। अन्येषां यथागममवगमः कर्तव्यः आ०, दि० १। –सेया। इतरेषां यथागममवगन्तव्यम्?

§ ७६८. उक्तोत्कृष्टा स्थितिः। इदानीं जघन्या स्थितिर्वक्तव्या। तत्र समानजघन्यस्थितीः पञ्च प्रकृतीरवस्थाप्य तिसृणां जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रद्वयमुपन्यस्यते लघ्वर्थम्—

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

§ ७६९. अपरा जघन्या इत्यर्थः। वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

§ ७७०. 'मुहूर्ता' इत्यनुवर्तते। 'अपरा स्थितिः' इति च।

§ ७७१. अवस्थापितप्रकृतिजघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

§ ७७२. शेषाणां पञ्चानां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तापरा स्थितिः। ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थितिः सूक्ष्मसांपराये, मोहनीयस्य अनिवृत्तिबादरसांपराये। आयुषः संख्येयवर्षायुष्षु[1] तिर्यक्षु मनुष्येषु च।

§ ७७३. आह, उभयी स्थितिरभिहिता। ज्ञानावरणादीनाम् अथानुभवः किंलक्षण इत्यत आह—

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

§ ७७४. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः

रोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल संयमके धारी सम्यग्दृष्टिके ही होता है। पर टीकाकारने यहाँ उसके कहनेकी विवक्षा नहीं की।

§ ७६८. उत्कृष्ट स्थिति कही। अब जघन्य स्थिति कहनी चाहिए। उसमें समान जघन्य स्थितिवाली पाँच प्रकृतियोंको स्थगित करके थोड़ेमें कहनेके अभिप्रायसे तीन प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका ज्ञान करानेके लिए दो सूत्र कहते हैं—

वेदनीयकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ॥१८॥

§ ७६९. अपरा अर्थात् जघन्य। यह वेदनीयकी बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ॥१९॥

§ ७७०. यहाँ 'मुहूर्ता' पदकी अनुवृत्ति होती है और 'अपरा स्थितिः' पदकी भी।

§ ७७१. अब स्थगित की गयीं प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाकीके पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥२०॥

§ ७७२. शेष पाँच प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें, मोहनीयकी जघन्य स्थिति अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थानमें और आयुकी जघन्य स्थिति संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचों और मनुष्योंमें प्राप्त होती है।

§ ७७३. दोनों प्रकारकी स्थिति कही। अब ज्ञानावरणादिकके अनुभवका क्या स्वरूप है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥२१॥

§ ७७४. विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्रवके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और

---

१. –युष्कति–मु०।

पाको विपाकः। असावनुभव इत्याख्यायते। शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः। अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः। स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।

§ ७७५. आह अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभवः। इदं तु न विजानीमः किमयं प्रसंख्यातोऽप्रसंख्यातः। इत्यत्रोच्यते प्रसंख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे। कुतः। यतः—

स यथानाम ॥२२॥

§ ७७६. ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो दर्शनावरणस्यापि[1] फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थसंज्ञानिर्देशात्सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानामनुभवसंप्रत्ययो जायते।

§ ७७७. आह, यदि विपाकोऽनुभवः प्रतिज्ञायते, तत्कर्मानुभूतं सत्[2] किमाभरणवदवतिष्ठते आहोस्विन्निष्पीतसारं प्रच्यवते। इत्यत्रोच्यते—

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

भावलक्षण निमित्तभेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है। इसीको अनुभव कहते हैं। शुभ परिमाणोंके प्रकर्षभावके कारण शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है। तथा अशुभ परिणामोंके प्रकर्षभावके कारण अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है। इस प्रकार कारणवशसे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—स्वमुखसे और परमुखसे। सब मूल प्रकृतियोंका अनुभव स्वमुखसे ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके सिवा तुल्यजातीय उत्तरप्रकृतियोंका अनुभव परमुखसे भी प्रवृत्त होता है। नरकायुके मुखसे तिर्यंचायु या मनुष्यायुका विपाक नहीं होता। और दर्शनमोह चारित्रमोहरूपसे और चारित्रमोह दर्शनमोहरूपसे विपाकको नहीं प्राप्त होता।

§ ७७५. **शंका**—पहले संचित हुए नाना प्रकारके कर्मोंका विपाक अनुभव है यह हम स्वीकार करते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि क्या यह प्रसंख्यात होता है या अप्रसंख्यात होता है? **समाधान**—हम कहते हैं कि यह प्रसंख्यात अनुभवमें आता है। **शंका**—किस कारणसे। **समाधान**—यतः—

वह जिस कर्मका जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ॥२२॥

§ ७७६. ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव करना है। दर्शनावरणका भी फल दर्शनशक्तिका उपरोध करना है इत्यादि रूपसे सब कर्मोंकी सार्थक संज्ञाका निर्देश किया है अतएव अपने अवान्तर भेदसहित उनमें किसका क्या अनुभव है इसका ज्ञान हो जाता है।

§ ७७७. यदि विपाकका नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर वह कर्म आभरणके समान अवस्थित रहता है या फल भोग लेनेके बाद वह झर जाता है? इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इसके बाद निर्जरा होती है ॥२३॥

---

१. –णस्य फलं मु०। २. भूतं किमा –मु०।

७७८. पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात्कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा। सा द्विप्रकारा—विपाकजा इतरा च। तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते[1] संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। 'च'शब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः। 'तपसा निर्जरा च' इति वक्ष्यते ततश्च भवति अन्यतश्चेति सूत्रार्थो योजितः। किमर्थमिह निर्जरानिर्देशः क्रियते, संवरात्परा निर्देष्टव्या उद्देशवत्। लघ्वर्थमिह वचनम्। तत्र हि पाठे 'विपाकोऽनुभवः' इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात्।

---

§ ७७८. जिस प्रकार भात आदिका मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्माका भला-बुरा करके पूर्व प्राप्त स्थितिका नाश हो जानेसे स्थिति न रहनेके कारण कर्मकी निवृत्तिका होना निर्जरा है। वह दो प्रकारकी है—विपाकजा और अविपाकजा। उसमें अनेक जाति विशेष रूपी भँवर युक्त चार गतिरूपी संसार महासमुद्रमें चिरकाल तक परिभ्रमण करनेवाले इस जीवके क्रमसे परिपाक कालको प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलि रूपी सोतेमें प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मका फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। तथा आम और पनस को औपक्रमिक क्रियाविशेषके द्वारा जिस प्रकार अकालमें पका लेते हैं उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेषकी सामर्थ्यसे उदयावलिके बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदयावलिमें प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। सूत्रमें 'च' शब्द अन्य निमित्तका समुच्चय करनेके लिए दिया है। तपसा निर्जरा च' यह आगे कहेंगे, इसलिए 'च' शब्दके देनेका यह प्रयोजन है कि पूर्वोक्त प्रकारसे निर्जरा होती है और अन्य प्रकारसे भी। **शंका**—यहाँ निर्जराका उल्लेख किसलिए किया है, क्योंकि उद्देश्यके अनुसार उसका संवरके बाद उल्लेख करना ठीक होता? **समाधान**—थोड़ेमें बोध करानेके लिए यहाँ निर्जराका उल्लेख किया है। संवरके बाद पाठ देने पर 'विपाकोऽनुभवः' इसका फिरसे अनुवाद करना पड़ता।

विशेषार्थ—अनुभव, अनुभाग या फलदानशक्ति इनका एक अर्थ है। कर्मका बन्ध होते समय जिस कर्मकी जो प्रकृति होती है उसके अनुरूप उसे फलदानशक्ति प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणकी ज्ञानको आवृत करनेकी प्रकृति है इसलिए इसे इसीके अनुरूप फलदानशक्ति प्राप्त होती है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है और अनुभवका अर्थ है उस स्वभावके अनुरूप उसे भोगना। साधारणतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति और अनुभवका यही अर्थ है तो इन्हें अलग अलग मानना उचित नहीं है, क्योंकि जिस कर्मकी जैसी प्रकृति होगी उसके अनुरूप उसका भोग सुतरां सिद्ध है। इसलिए प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्ध ये दो स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होते, किन्तु अनुभवबन्धका अन्तर्भाव प्रकृतिबन्धमें ही हो जाता है। यदि कहा जाय कि ज्ञानावरण आदि रूपसे कर्मकी प्रकृति फलदानशक्तिके निमित्तसे होती है इसलिए प्रकृतिबन्धमें अनुभवबन्धका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता सो इसका यह समाधान है कि जब कि प्रकृतिबन्धका कारण योग है और अनुभवबन्धका कारण कषाय है तब फिर फलदान शक्तिके निमित्तसे कर्मकी प्रकृति बनती है यह कैसे माना जा सकता है। थोड़ी देरको यह मान भी लिया जाय तब भी यह प्रश्न खड़ा रहता है कि प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्धको अलग अलग क्यों माना गया है और उनके अलग अलग माननेके योग और कषाय दो स्वतन्त्र कारण क्यों बतलाये गये हैं। सूत्रकारने बन्धके चार भेद करके भी विपाक अर्थात् कर्मभोगको अनुभव कहा है और उसे प्रकृतिके अनुरूप बतलाया है।

---

१. -गूर्णिते आ०, दि० १, दि० २।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः ये दो नहीं हैं, किन्तु बन्ध समयकी अपेक्षा जिसका नाम प्रकृति है उदयकालकी अपेक्षा उसे ही अनुभव कहते हैं ? समाधान यह है कि कर्मबन्धके समय कर्मका विविधरूपसे विभाग योगके निमित्तसे ही होता है और विभागको प्राप्त हुए कर्मोंमें हीनाधिक फलदानशक्तिका प्राप्त होना कषायके निमित्तसे होता है, इसलिए ये दोनों स्वतन्त्र माने गये हैं। यद्यपि यह ठीक है कि बिना शक्तिके किसी कर्मकी प्रकृति नहीं बन सकती। स्वतन्त्र प्रकृति कहनेसे उसकी शक्तिका बोध हो ही जाता है फिर भी ऐसी शक्तिको एक सीमा होती है। उसका उल्लंघन कर जो न्यूनाधिक शक्ति पायी जाती है उसीका बोध कराना अनुभागबन्धका काम है। उदाहरणार्थ ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें सातावेदनीयका प्रकृति बन्ध होता है और यह प्रकृतिबन्ध एक नियत मर्यादामें अनुभागको लिये हुए ही होता है फिर भी यहाँ अनुभागबन्धका निषेध किया गया है सो इसका कारण यह है कि जो अनुभाग सकषाय अवस्थामें सातावेदनीयका प्राप्त होता था वह यहाँ प्राप्त नहीं होता है। सकषाय अवस्थामें प्राप्त होनेवाले जघन्य अनुभागसे भी यह अनन्तवें भागमात्र होता है। इतना कम अनुभाग सकषाय अवस्थामें नहीं प्राप्त हो सकता। इससे प्रकृतिबन्धसे अनुभागबन्धके अलग कहनेकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबन्धमें कर्मभेदको स्वीकार करके भी न्यूनाधिक फलदान शक्ति नहीं स्वीकार की गयी है किन्तु अनुभागबन्धमें इसका और इसके कारणका स्वतन्त्र रूपसे विचार किया जाता है इसलिए प्रकृतिबन्ध और उसका कारण स्वतन्त्र है तथा अनुभागबन्ध और उसका कारण स्वतन्त्र है यह निश्चित होता है। अब रही सूत्रकारके विपाकको अनुभव कहनेकी बात सो इस कथनमें भी यही अभिप्राय छिपा हुआ है। सब जीवोंका विपाक एक प्रकारका नहीं होता, वह न्यूनाधिक देखा जाता है और विपाककी यह न्यूनाधिकता अकारण नहीं हो सकती। यही कारण है कि सूत्रकार अनुभवबन्धकी स्वतन्त्र परिगणना करते हैं और उसकी पुष्टि विपाकके द्वारा दिखलाते हैं। इस प्रकार अनुभवबन्ध क्या है और उसे स्वतन्त्र क्यों कहा इसका विचार किया।

फिर भी यह अनुभाग बन्धकालमें जैसा प्राप्त होता है एकान्ततः वैसा ही नहीं बना रहता है। अपने अवस्थान कालके भीतर वह बदल भी जाता है और नहीं भी बदलता है। बदलनेसे इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण। संक्रमण अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है, मूल प्रकृतियोंमें नहीं होता। उसमें भी आयुकर्मकी अवान्तर प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता और दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीय रूपसे तथा चारित्रमोहनीयका दर्शनमोहनीयरूपसे संक्रमण नहीं होता। संक्रमणके चार भेद हैं—प्रकृतिसंक्रमण, स्थितिसंक्रमण, अनुभागसंक्रमण और प्रदेशसंक्रमण। जहाँ प्रकृतिसंक्रमण और प्रदेशसंक्रमणकी मुख्यता होती है वहाँ वह संक्रमण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है और जहाँ मात्र स्थितिसंक्रमण अनुभागसंक्रमण होता है वहाँ वह उत्कर्षण और अपकर्षण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है। बन्धकालमें जो स्थिति और अनुभाग प्राप्त होता है उसमें कमी होना अपकर्षण है और घटी हुई स्थिति व अनुभागमें वृद्धि होना उत्कर्षण है। इस प्रकार विविध अवस्थाओंमें-से गुजरते हुए उदयकालमें जो अनुभाग रहता है उसका परिपाक होता है। अनुदय अवस्थाको प्राप्त प्रकृतियोंका परिपाक उदय अवस्थाको प्राप्त सजातीय प्रकृति रूपसे होता है। इसके विषयमें यह नियम है कि उदयवाली प्रकृतियोंका फल स्वमुखसे मिलता है और अनुदयवाली प्रकृतियोंका फल परमुखसे मिलता है। उदाहरणार्थ—साताका उदय रहने पर उसका भोग सातारूपसे ही होता है किन्तु तब असाता स्तिबुक संक्रमण द्वारा सातारूपसे परिणमन करती जाती है इसलिए इसका उदय परमुखसे होता है। उदय कालके एक समय पहले अनुदयरूप प्रकृतिके निषेकका उदयको प्राप्त हुई प्रकृतिरूपसे परिणम

§ ७७९. आह अभिहितोऽनुभवबन्धः। इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः। तस्मिंश्च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः—किंहेतवः कदा कुतः किंस्वभावाः कस्मिन् किंपरिमाणाश्चेति। तदर्थमिदं क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥

§ ७८०. नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः 'नाम' इति सर्वाः कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते; 'स यथानाम' इति वचनात्। अनेन हेतुभाव उक्तः। सर्वेषु भावेषु सर्वतः 'दृश्यन्ते अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः। अनेन कालोपादानं इति कृतम्। एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता[1] अनन्ता भवा आगामिनः संख्येया असंख्येया[2] अनन्तानन्ता वा भवन्तीति। योगविशेषान्निमित्तात्कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति निमित्तविशेषनिर्देशः कृतो भवति। 'सूक्ष्म' आदिग्रहणं कर्मग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थम्, ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति। 'एकक्षेत्रावगाह'वचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम्। 'स्थिताः' इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्, स्थिता न गच्छन्त इति। 'सर्वात्मप्रदेशेषु'

जाना स्तिबुक संक्रमण है। जो प्रकृतियाँ जिस कालमें उदयमें नहीं होती हैं किन्तु सत्तारूपसे विद्यमान रहती हैं उन सबका प्रति समय इसी प्रकार परिणमन होता रहता है।

घाति और अघातिके भेदसे अनुभाग दो प्रकारका होता है। लता, दारु, अस्थि और शैल यह चार प्रकारका घाति प्रकृतियोंका अनुभाग है। अघाति प्रकृतियोंके पुण्य और पाप ऐसे दो भेद हैं। पुण्य प्रकृतियोंका अनुभाग गुण, खाँड़, शर्करा और अमृत इन चार भागोंमें बँटा हुआ है तथा निम्ब, कांजीर, विष और हलाहल यह चार प्रकारका पाप प्रकृतियोंका अनुभाग है। इस प्रकार सामान्यरूपसे अनुभागबन्धका विचार किया।

§ ७७९. अनुभवबन्धका कथन किया। अब प्रदेशबन्धका कथन करना है। उसका कथन करते समय इतनी बातें निर्देश करने योग्य हैं—प्रदेशबन्धका हेतु क्या है, वह कब होता है. उसका निमित्त क्या है, उसका स्वभाव क्या है, वह किसमें होता है और उसका परिमाण क्या है। इस प्रकार क्रमसे इन प्रश्नोंको लक्ष्यमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रति समय योगविशेषसे सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं ॥२४॥

§ ७८०. नामप्रत्ययाः—नामके कारणभूत कर्मपरमाणु नामप्रत्यय कहलाते हैं। 'नाम' इस पद द्वारा सब कर्मप्रकृतियाँ कही जाती हैं। जिसकी पुष्टि 'स यथानाम' इस सूत्रवचनसे होती है। इस पदद्वारा हेतुका कथन किया गया है। सर्वतः—प्रदेशबन्ध सब भवोंमें होता है। 'सर्वेषु भवेषु इति सर्वतः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। सर्व शब्दसे 'दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि' इस सूत्र द्वारा तसि प्रत्यय करनेपर सर्वतः पद बनता है। इस पदद्वारा कालका ग्रहण किया गया है। एक-एक जीवके व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी संख्यात, असंख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं। योगविशेषात्—योगविशेषरूप निमित्तसे कर्मरूप पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। इस पद द्वारा निमित्तविशेषका निर्देश किया गया है। कर्मरूपसे ग्रहण योग्य पुद्गलोंका स्वभाव दिखलानेके लिए सूक्ष्म आदि पदका ग्रहण किया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते। क्षेत्रान्तरका निराकरण करनेके लिए 'एकक्षेत्रावगाह' वचन दिया है। क्रियान्तरकी निवृत्तिके लिए 'स्थिताः' वचन दिया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल स्थित होते हैं गमन करते हुए नहीं। आधारका निर्देश करनेके

---

१. –क्रान्ता अनन्तानन्ता भवाः ता०, ना०। २. –असंख्येया अनन्ता वा ता०, ना०।

इति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते। क्व तर्हि। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति। 'अनन्तानन्तप्रदेश'वचनं परिमाणान्तरव्यपोहार्थम्, न संख्येया न चासंख्येया नाप्यनन्ता इति। ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिन एकद्वित्रिचतुःसंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णपञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या योगवशादा[1]त्मनात्मसात्क्रियन्ते। इति प्रदेश-बन्धः समासतो वेदितव्यः।

§ ७८१. आह; बन्धपदार्थानन्तरं पुण्यपापोपसंख्यानं चोदितं तद्बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातम्। तत्रेदं वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्धः कः पापबन्ध इति। तत्र [2]पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमारभ्यते—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

§ ७८२. शुभं प्रशस्तमिति यावत्। तदुत्तरैः प्रत्येकमभिसंबध्यते शुभमायुः शुभं नाम शुभं गोत्रमिति। शुभायुस्त्रितयं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति। शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम्। तद्यथा—मनुष्यगतिर्देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्च शरीराणि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यद्वयमगुरुलघुपरघातोच्छ्वासातपो-

---

लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' वचन दिया है। एकप्रदेश आदिमें कर्मप्रदेश नहीं रहते। फिर कहाँ रहते हैं? ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्मप्रदेशोंमें व्याप्त होकर स्थित होते हैं। दूसरे परिमाणका वारण करनेके लिए अनन्तानन्तप्रदेश वचन दिया है। ये न संख्यात होते हैं, न असंख्यात होते हैं और न अनन्त होते हैं। अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण संख्यावाले, घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रकी अवगाहनावाले, एक, दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात समयकी स्थितिवाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाले वे कर्मस्कन्ध योगविशेषसे आत्माद्वारा आत्मसात् किये जाते हैं। इस प्रकार संक्षेपमें प्रदेशबन्ध जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें प्रदेशबन्धका विचार किया गया है। जो पुद्गल परमाणु कर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं वे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारसे परिणमन करते हैं। उनका ग्रहण संसार अवस्थामें सदा होता रहता है। ग्रहणका मुख्य कारण योग है। वे सूक्ष्म होते हैं। जिस क्षेत्रमें आत्मा स्थित होता है उसी क्षेत्रके कर्मपरमाणुओंका ग्रहण होता है अन्यका नहीं। उसमें भी स्थित कर्मपरमाणुओंका ही ग्रहण होता है, अन्यका नहीं। ग्रहण किये कर्मपरमाणु आत्माके सब प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं और वे अनन्तानन्त होते हैं यह इस सूत्रका भाव है। इससे प्रदेशबन्धकी सामान्य रूपरेखा और उसके कारणका ज्ञान हो जाता है।

§ ७८१. बन्ध पदार्थके अनन्तर पुण्य और पापकी गणना की है और उसका बन्धमें अन्तर्भाव किया है, इसलिए यहाँ यह बतलाना चाहिए कि पुण्यबन्ध क्या है और पापबन्ध क्या है। उसमें सर्वप्रथम पुण्य प्रकृतियोंको परिगणना करनेके लिए यह सूत्र आरम्भ करते हैं—

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ॥२५॥

§ ७८२. शुभका अर्थ प्रशस्त है। यह आगेके प्रत्येक पदके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है। यथा—शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र। शुभ आयु तीन हैं—तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। शुभ नामके सैंतीस भेद हैं। यथा—मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध और प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये दो, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप,

---

१. वशादात्मसा–आ०। २. पुण्यबन्धप्रकृ–मु०।

द्योतप्रशस्तविहायोगतयस्त्रसबादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तयो निर्माणं तीर्थकरनाम चेति। शुभमेकमुच्चैर्गोत्रं, सद्वेद्यमिति। एता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः 'पुण्य'संज्ञाः।

अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

§ ७८३. अस्मात्पुण्यसंज्ञिकर्मप्रकृतिसमूहादन्यत्कर्म 'पापम्'इत्युच्यते। तद् द्व्यशीतिविधम्। तद्यथा—ज्ञानावरणस्य प्रकृतयः पञ्च दर्शनावरणस्य नव मोहनीयस्य षड्विंशतिः पञ्चान्तरायस्य नरकगतितिर्यग्गती चतस्रो जातयः पञ्च संस्थानानि पञ्च संहननान्यप्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयमुपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तिसाधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत्। असद्वेद्यं नरकायुर्नीचैर्गोत्रमिति। एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः। अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेयः।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायामष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥८॥

उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। एक उच्च गोत्र शुभ है और सातावेदनीय ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यसंज्ञक हैं।

विशेषार्थ—यहाँ बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ गिनायी हैं। प्रशस्त परिणामोंसे जिनमें अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं। यह लक्षण इन प्रकृतियोंमें घटित होता है इसलिए ये पुण्य प्रकृतियाँ मानी गयी हैं। बन्धकी अपेक्षा कुल प्रकृतियाँ १२० परिगणित की जाती हैं। इसी अपेक्षासे यहाँ बयालीस संख्या निर्दिष्ट की गयी है। यहाँ वर्णादिकके अवान्तर भेद बीस न गिना कर कुल चार भेद गिनाये हैं। तत्त्वार्थभाष्यकार आचार्य उमास्वातिने सम्यक्त्वप्रकृति, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चारकी भी पुण्यप्रकृतियोंमें परिगणना की है। तथा वीरसेन स्वामीने जयधवला टीकामें भी इन्हें पुण्यप्रकृतियाँ सिद्ध किया है। इस प्रकार कुल पुण्यप्रकृतियाँ कितनी हैं इसका निर्देश किया।

इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं ॥२६॥

§ ७८३. इस पुण्यसंज्ञावाले कर्मप्रकृतिसमूहसे जो भिन्न कर्मसमूह है वह पापरूप कहा जाता है। वह बयासी प्रकारका है। यथा—ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ, मोहनीयकी छब्बीस प्रकृतियाँ, अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ, नरकगति, तिर्यंचगति, चार जाति, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध और अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी ये दो, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये नामकर्मकी चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस प्रकार विस्तार के साथ बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

विशेषार्थ—यहाँ पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन हैं इनका नाम निर्देश किया गया है। अप्रशस्त परिणामोंके निमित्तसे जिनमें अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पाप प्रकृतियाँ हैं। यहाँ पाप प्रकृतियाँ कुल बयासी गिनायी हैं। पाँच बन्धन और संघात इनका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है तथा मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय ये दो बन्ध प्रकृतियाँ नहीं हैं। और वर्णादि बीस प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी। यही कारण है कि इन्हें पुण्य प्रकृतियोंमें भी गिनाया है और पाप प्रकृतियोंमें भी। इस प्रकार कुल ८२ पाप प्रकृतियाँ होती हैं जिनका नामनिर्देश टीकामें किया ही है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिसंज्ञक तत्त्वार्थवृत्तिमें आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः

§ ७८४. बन्धपदार्थो निर्दिष्टः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इत्यत इदमाह—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

§ ७८५. अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो व्याख्यातः। तस्य निरोधः संवर इत्युच्यते। स द्विविधो भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति। तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे[1] तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः।

§ ७८६. इदं विचार्यते—कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इति[2]। अत्र उच्यते—मिथ्यादर्शनकर्मोदयवशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टिः। तत्र मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति। किं पुनस्तत्। मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानासंप्राप्तासृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम्।

§ ७८७. असंयमस्त्रिविधः; अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात्। तत्प्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरोऽवसेयः। तद्यथा-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिचतुःसंस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताप्रशस्त -

---

§ ७८४. बन्ध पदार्थका निर्देश किया। इस समय उसके बाद कहने योग्य संवर पदार्थके निर्देशका समय आ गया है इसलिए यह सूत्र कहते हैं—

आस्रवका निरोध करना संवर है ॥१॥

§ ७८५. नूतन कर्मके ग्रहणमें हेतु रूप आस्रवका व्याख्यान किया। उसका निरोध करना संवर है। वह दो प्रकारका है—भाव संवर और द्रव्य संवर। संसारकी निमित्तभूत क्रियाकी निवृत्ति होना भावसंवर है और इसका (संसारकी निमित्तभूत क्रियाका) निरोध होनेपर तत्पूर्वक होनेवाले कर्म-पुद्गलोंके ग्रहणका विच्छेद होना द्रव्यसंवर है।

§ ७८६. अब इस बातका विचार करना है कि किस गुणस्थानमें किस कर्मप्रकृतिका संवर होता है इसलिए इसी बातको आगे कहते हैं—जो आत्मा मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके आधीन है वह मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यादर्शनकी प्रधानतासे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शनके अभावमें शेष रहे सासादनसम्यग्दृष्टि आदिमें संवर होता है। वह कर्म कौन है? मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर यह सोलह प्रकृतिरूप कर्म हैं।

§ ७८७ असंयमके तीन भेद हैं—अनन्तानुबन्धीका उदय, अप्रत्याख्यानावरणका उदय और प्रत्याख्यानावरणका उदय। इसलिए इसके निमित्तसे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका इसके अभावमें संवर जानना चाहिए। यथा—अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होनेवाले असंयमकी मुख्यतासे आस्रवको प्राप्त होनेवाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति,

---

१. तन्निरोधेन तत्पू–ता०, ना०। २. इति। उच्य-मु०।

विहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचैर्गोत्रसंज्ञिकानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयमप्रधानास्रवाणामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः। तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः। अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नां दशानां प्रकृतीनामप्रत्याख्यानकषायोदयकृतासंयमहेतुकानामेकेन्द्रियादयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः। तदभावादूर्ध्वं तासां संवरः। सम्यङ्मिथ्यात्वगुणे नायुर्न बध्यते। प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासंयमास्रवाणामेकेन्द्रियप्रभृतयः संयतासंयतावसाना बन्धकाः। तदभावादुपरिष्टात्तासां संवरः। प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः। प्रमादेनोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयतादूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः। किं पुनस्तत्। असद्वेद्यारतिशोकास्थिराशुभायशःकीर्तिविकल्पम्। देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः। तदूर्ध्वं तस्य संवरः। कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणो न प्रमादादिः तस्य तन्निरोधे निरासोऽवसेयः। स च कषायः प्रमादादिविरहितस्तीव्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः। तत्रापूर्वकरणस्यादौ संख्येयभागे द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते। तत ऊर्ध्वं संख्येयभागे त्रिंशत् प्रकृतयो देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभग-

---

मध्यके चार संस्थान, मध्यके चार संहनन, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पचीस प्रकृतियोंका एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव बन्ध करते हैं, अतः अनन्तानुबन्धीके उदयसे होनेवाले असंयमके अभावमें आगे इनका सवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमकी मुख्यतासे आस्रवको प्राप्त होनेवाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियोंका एकेन्द्रियोंसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव बन्ध करते हैं, अतः अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमका अभाव होनेपर आगे इनका संवर होता है। सम्यग्मिथ्यात्व गुणके होनेपर आयुकर्मका बन्ध नहीं होता यहाँ इतनी विशेष बात है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका एकेन्द्रियोंसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तकके जीव बन्ध करते हैं, अतः प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमके अभावमें आगे इनका संवर होता है। प्रमादके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाले कर्मका उसके अभावमें संवर होता है। जो कर्म प्रमादके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होता है उसका प्रमत्तसंयत गुणस्थानके आगे प्रमाद न रहनेके कारण संवर जानना चाहिए। वह कर्म कौन है ? असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिरूप प्रकृतियोंके भेदसे वह कर्म छह प्रकारका है। देवायुके बन्धका आरम्भ प्रमादहेतुक भी होता है और उसके नजदीकका अप्रमादहेतुक भी, अतः इसका अभाव होनेपर आगे उसका संवर जानना चाहिए। जिस कर्मका मात्र कषायके निमित्तसे आस्रव होता है प्रमादादिकके निमित्तसे नहीं उसका कषायका अभाव होनेपर संवर जानना चाहिए। प्रमादादिकके अभावमें होनेवाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्यरूपसे तीन गुणस्थानोंमें अवस्थित है। उनमेंसे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रारम्भिक संख्येय भागमें निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं। इससे आगे संख्येय भागमें देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण,

सुस्वरादेयनिर्माणतीर्थंकराख्या बध्यन्ते। तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयो हास्यरतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति। ता एतास्तीव्रकषायास्रवास्तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते। अनिवृत्तिबादरसांपरायस्यादिसमयादारभ्य संख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते। तत ऊर्ध्वं शेषेषु संख्येयेषु भागेषु मान[1]संज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः। तस्यैव चरमसमये लोभसंज्वलनो बन्धमेति। ता एताः प्रकृतयो मध्यमकषायास्रवास्तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात्संवरमाप्नुवन्ति। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशःकीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसांपरायो बन्धकः। तदभावादुत्तरत्र[2] तेषां संवरः। केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगानां बन्धो भवति। तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति।

§ ७८८. उक्तः संवरस्तद्धेतु[3]प्रतिपादनार्थमाह—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥

§ ७८९. यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। प्राणिपीडापरिहारार्थं

गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं। तथा इसी गुणस्थानके अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं। ये तीव्र कषायसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियाँ हैं, इसलिए तीव्र कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेसे विवक्षित भागके आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति बादर साम्परायके प्रथम समयसे लेकर उसके संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलनका बन्ध होता है। इससे आगे शेष रहे संख्यात भागोंमें मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं और उसीके अन्तिम समयमें लोभ संज्वलन बन्धको प्राप्त होता है। इन प्रकृतियोंका मध्यम कषायके निमित्तसे आस्रव होता है, अतएव मध्यम कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेपर विवक्षित भागके आगे उनका संवर होता है। मन्द कषायके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय जीव बन्ध करता है, अतः मन्द कषायका अभाव होनेसे आगे इनका संवर होता है। केवल योगके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली असाता वेदनीयका उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली जीवोंके बन्ध होता है। योगका अभाव हो जानेसे अयोगकेवलीके उसका संवर होता है।

विशेषार्थ—संवर जीवनमें नये दोष और दोषोंके कारण एकत्रित न होने देनेका मार्ग है। संवरके बाद ही संचित हुए दोषों व उनके कारणोंका परिमार्जन किया जा सकता है और तभी मुक्ति-लाभ होता है। साधारणतः वे दोष और उनके कारण क्या हैं यहाँ इनकी गुणस्थानक्रमसे विस्तृत चर्चा की गयी है। प्राणीमात्रको इन्हें समझकर संवरके मार्गमें लगना चाहिए यह उक्त कथनका भाव है।

§ ७८८. संवरका कथन किया। अब उसके हेतुओंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे होता है ॥२॥

§ ७८९. जिसके बलसे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति

---

१. मानमाया–मु०। २. –भावात्तदु–मु०। ३. तद्भेदप्रति–मु०।

सम्यगयनं समितिः। इष्टे[1] स्थाने धत्ते इति धर्मः। शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः। परिषहस्य जयः परिषहजयः। चारित्रशब्द आदिसूत्रे व्याख्यातार्थः। एतेषां गुप्त्यादीनां संवरणक्रियायाः साधकतमत्वात् करणनिर्देशः। संवरोऽधिकृतोऽपि 'स' इति तच्छब्देन परामृश्यते गुप्त्यादिभिः साक्षात्संबन्धनार्थः[2]। किं प्रयोजनम्। अवधारणार्थम्[3]। स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति। तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोप[4]-हारदेवताराधनादयो निर्वर्तिता भवन्ति; रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्यभावात्।

§ ७९०. संवरनिर्जराहेतुविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तपसा निर्जरा च ॥३॥

§ ७९१. तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रति-पादनार्थं च। ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्[5], तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति। नैष दोषः; एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाग्निरेकोऽपि[6] विक्लेदन-भस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।

है। प्राणिपीड़ाका परिहार करनेके लिए भले प्रकार आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना समिति है। जो इष्ट स्थानमें धारण करता है वह धर्म है। शरीरादिकके स्वभावका बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदनाके होनेपर कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए उसे सह लेना परिषह है और परिषहका जीतना परिषहजय है। चारित्र शब्दका प्रथम सूत्रमें व्याख्यान कर आये हैं। ये गुप्ति आदिक संवररूप क्रियाके अत्यन्त सहकारी हैं अतएव सूत्रमें इनका करण रूपसे निर्देश किया है। संवरका अधिकार है तथापि गुप्ति आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध दिखलानेके लिए इस सूत्रमें उसका 'सः' इस पदके द्वारा निर्देश किया है। **शंका**—इसका क्या प्रयोजन है? **समाधान**—अवधारण करना इसका प्रयोजन है। यथा—वह संवर गुप्ति आदिके द्वारा ही हो सकता है अन्य उपायसे नहीं हो सकता। इस कथनसे तीर्थ यात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिरको अर्पण करना और देवताकी आराधना करना आदिका निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे ग्रहण किये गये कर्मका अन्यथा अभाव नहीं किया जा सकता।

§ ७९०. अब संवर और निर्जराके हेतु विशेषका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तपसे संवर और निर्जरा होती है ॥३॥

§ ७९१. तपका धर्ममें अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनोंका कारण है और संवरका प्रमुख कारण है यह बतलानेके लिए उसका अलगसे कथन किया है? **शंका**—तपको अभ्युदयका कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेषकी प्राप्तिके हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है, इसलिए वह निर्जराका कारण कैसे हो सकता है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्निके समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनोंका हेतु है ऐसा माननेमें क्या विरोध है।

---

१. संसारदुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे।' रत्न० पृ० २५०। २. –संबन्धार्थः। प्रयो–मु०। ३. –णार्थः। स मु०। ४. 'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिवृद्धाः। सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥' युक्त्यनु० श्लो० ३९। ५. –मात्, कथं मु०। ६. –कोऽपि क्लेदभस्मसाङ्गा-वादिप्र–आ०। –कोऽपि विक्लेदभस्मसाङ्गावादिप्र–दि० २। –कोऽपि पचनविक्लेदभस्मसाङ्गावादिप्र–दि० १।

§ ७९२. संवरहेतु[1]ष्वादावुद्दिष्टाया गुप्तेः स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

§ ७९३. योगो व्याख्यातः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र। तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रहः। विषयसुखाभिलाषार्थं[2] प्रवृत्तिनिषेधार्थं सम्यग्विशेषणम्। तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात्कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या। सा त्रितयी कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति।

§ ७९४. तत्राशक्तस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्तिख्यापनार्थमाह—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

§ ७९५. 'सम्यग्'इत्य[3]नुवर्तते। तेनेर्यादयो विशेष्यन्ते। सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति। ता एताः पञ्च समितयो विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः प्राणिपीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः। तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति।

§ ७९६. तृतीयस्य संवरहेतोर्धर्मस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

---

§ ७९२. गुप्तिका संवरके हेतुओंके प्रारम्भमें निर्देश किया है, अतः उसके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है ॥४॥

§ ७९३. 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें योगका व्याख्यान कर आये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना निग्रह है। विषय-सुखकी अभिलाषाके लिए की जानेवाली प्रवृत्तिका निषेध करनेके लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त संक्लेशको नहीं उत्पन्न होने देने रूप योगनिग्रहसे कायादि योगोंका निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म आस्रव नहीं होता है इसलिए संवरकी सिद्धि जान लेना चाहिए। वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।

§ ७९४. अब गुप्तिके पालन करनेमें अशक्त मुनिके निर्दोष प्रवृत्तिकी प्रसिद्धिके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं ॥५॥

§ ७९५. यहाँ 'सम्यक्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। उससे ईर्यादिक विशेष्यपनेको प्राप्त होते हैं—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग। इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीवस्थानादि विधिको जाननेवाले मुनिके प्राणियोंकी पीडाको दूर करनेके उपाय जानने चाहिए। इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवालेके असंयमरूप परिणामोंके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है उसका संवर होता है।

§ ७९६. तीसरा संवरका हेतु धर्म है। उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकारका धर्म है ॥६॥

---

१. –हेतुत्वादा–। २. –षार्थवृत्तिनियमनार्थं सम्य–ता०, ना०। ३. इति वर्तते ता०।

§ ७९७. किमर्थमिदमुच्यते। आद्यं प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्, तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयम्। इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं[1] समितिषु प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम्। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्यु[2]पगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीनां संनिधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा। जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम्। योगस्यावक्रता आर्जवम्। प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति। नैष दोषः; समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः। इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्र[3]शिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्। समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारस्संयमः। कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम्। संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यम्। नास्य[4] किंचनास्तीत्यकिंचनः तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम्। अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गु[5]रुकुल-

---

§ ७९७. **शंका**—यह किसलिए कहा है? **समाधान**—संवरका प्रथम कारण प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा है। जो वैसा करनेमें असमर्थ हैं उन्हें प्रवृत्तिका उपाय दिखलानेके लिए दूसरा कारण कहा है किन्तु यह दश प्रकारके धर्मका कथन समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवालेके प्रमादका परिहार करनेके लिए कहा है। शरीरकी स्थितिके कारणकी खोज करनेके लिए पर कुलोंमें जाते हुए भिक्षुको दुष्ट जन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीरको तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है। जाति आदि मदोंके आवेशवश होनेवाले अभिमानका अभाव करना मार्दव है। मार्दवका अर्थ है मानका नाश करना। योगोंका वक्र न होना आर्जव है। प्रकर्षप्राप्त लोभका त्याग करना शौच है। अच्छे पुरुषोंके साथ साधु वचन बोलना सत्य है। **शंका**—इसका भाषासमितिमें अन्तर्भाव होता है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समितिके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकारके मनुष्योंमें भाषाव्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होनेसे अनर्थदण्डका दोष लगता है यह वचनसमितिका अभिप्राय है। किन्तु सत्य धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तोंमें साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्रके शिक्षण आदिके निमित्तसे बहुविध कर्तव्योंकी सूचना देता है और यह सब धर्मकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे करता है, इसलिए सत्य धर्मका भाषासमितिमें अन्तर्भाव नहीं होता। समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके उनका परिपालन करनेके लिए जो प्राणियोंका और इन्द्रियोंका परिहार होता है वह संयम है। कर्मक्षयके लिए जो तपा जाता है वह तप है। वह आगे कहा जानेवाला बारह प्रकारका जानना चाहिए। संयतके योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग है। जो शरीरादिक उपात्त हैं उनमें भी संस्कारका त्याग करनेके लिए 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग करना आकिंचन्य है। जिसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और उसका भाव या कर्म आकिंचन्य है। अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्रीविषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रोसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य

---

१. –ख्यानं प्रवर्त–ता०। २. –न्युपयतो भिक्षो ता०। ३. –रित्रलक्षणा–मु०। ४. –नास्ति किंचनास्याकिं– मु०, दि० १, दि० २। ५. –कुलावासो मु०, ता०।

वासो ब्रह्मचर्यम्। दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्। तान्येवं भाव्यमानानि धर्मव्यपदेशभाञ्जि स्वगुणप्रतिपक्षदोषसद्भावनाप्रणिहितानि संवरकारणानि भवन्ति।

§ ७९८. आह, क्रोधाद्यनुत्पत्तिः क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम्, तत्र कस्मात्क्षमादीनयमवलम्बते नान्यथा प्रवर्तत इत्युच्यते। यस्मात्तप्तायःपिण्डवत्क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा कर्तव्याः—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

§ ७९९. इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुदवदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा। एवं [1]ह्यस्य भव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वङ्गाभावाद् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते।

§ ८००. यथा—मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किंचिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिता[2] अर्था अपि न

होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमें निवास करना ब्रह्मचर्य है। दिखाई देनेवाले प्रयोजनका निषेध करनेके लिए क्षमादिके पहले उत्तम विशेषण दिया है। इस प्रकार जीवनमें उतारे गये और स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोंके सद्भावमें यह लाभ और यह हानि है इस तरहकी भावनासे प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञावाले उत्तम क्षमादिक संवरके कारण होते हैं।

§ ७९८. क्षमादि विशेष और उनके उलटे कारणोंका अवलम्बन आदि करनेसे क्रोधादिकी उत्पत्ति नहीं होती है यह पहले कह आये हैं। उसमें किस कारणसे यह जीव क्षमादिकका अवलम्बन लेता है, अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करता है इसका कथन करते हैं। यतः तपाये हुए लोहेके गोलेके समान क्षमादि रूपसे परिणत हुए आत्महितैषीको करने योग्य—

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ॥७॥

§ ७९९. ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जलके बुलबुलके समान अनवस्थित स्वभाववाले होते हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषोंमें सदा प्राप्त होनेवाले संयोगोंसे विपरीत स्वभाववाले होते हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यताका अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके सिवा इस संसारमें कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस भव्यके उन शरीरादिमें आसक्तिका अभाव होनेसे भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदिके समान वियोग कालमें भी सन्ताप नहीं होता है।

§ ८००. जिस प्रकार एकान्तमें क्षुधित और मांसके लोभी बलवान् व्याघ्रके द्वारा दबोचे गये मृगशावकके लिए कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखोंके मध्यमें परिभ्रमण करनेवाले जीवका कुछ भी शरण नहीं है। परिपुष्ट शरीर ही भोजनके प्रति सहायक है, दुःखोंके प्राप्त होनेपर नहीं। यत्नसे संचित किया हुआ धन भी भवान्तरमें साथ

---

१. ह्यस्य चिन्त-मु०, ता०। २. संचितोऽर्थोऽपि न भवान्तरमनुगच्छति मु०।

भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति। अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यत्किंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो[1] भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीत एव मार्गे प्रयत्नो[2] भवति।

§ ८०१. कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तनरूपेण व्याख्यातः। तस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्र[3]प्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति। नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय[4] प्रयतते।

§ ८०२. जन्मजरामरणावृत्ति[5]महादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जाये[6]ऽहम्। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति। बन्धुमित्राणि स्मशानं[7] नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति

नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःखको समान रूपसे बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरणके समय रक्षा नहीं कर सकते। मिलकर बन्धुजन भी रोगसे व्याप्त इस जीवकी रक्षा करनेमें असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्रमें तरनेका उपाय हो सकता है। मृत्युसे ले जानेवाले इस जीवके सहस्रनयन आदि भी शरण नहीं है, इसलिए संसार विपत्तिरूप स्थानमें धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है इस प्रकारकी भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होनेके कारण संसारके कारणभूत पदार्थोंमें ममता नहीं रहती और वह भगवान् अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्गमें ही प्रयत्नशील होता है।

§ ८०१. कर्मके विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। उसका पहले पाँच प्रकारके परिवर्तन रूपसे व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटिलाखसे व्याप्त उस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्रसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थलमें नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूपसे संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसारके दुःखके भयसे उद्विग्न हुए इसके संसारसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसारका नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है।

§ ८०२. 'जन्म, जरा और मरणकी आवृत्ति रूप महादुःखका अनुभवन करनेके लिए अकेला ही मैं हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखोंको दूर नहीं करता। बन्धु और मित्र स्मशानसे आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला सदा काल सहायक है।

१. ममत्वनिरासो भव—आ०, दि० १, दि० २, मु०, ना०। २. मार्गे प्रतिपन्नो भव—आ०, दि० १, दि० २, मु०। ३. —यन्त्रानुप्रेरितः। ४. प्रतियतते मु०। ५. —मरणानुवृत्ति—मु०। ६. जायेऽहम्। एक ता०। ७. स्मशानात् नाति—ता०।

चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति। परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

§ ८०३. शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। तद्यथा—बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्योऽहमैन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहम[1]ज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहम्। बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवाहमन्यस्तेभ्य इत्येवं मे किमङ्ग, पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः। इत्येवं ह्यस्य मनः समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते। ततस्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्यावा[2]प्तिर्भवति।

§ ८०४. शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि[3] शुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति। स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवाससमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते।

§ ८०५. आस्रवसंवरनिर्जराः पूर्वोक्ता अपि इहोपन्यस्यन्ते त[4]द्गतगुणदोषभावनार्थम्। तद्यथा—आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रतादयः। तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह

इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके स्वजनोंमें प्रीतिका अनुबन्ध नहीं होता और परजनोंमें द्वेषका अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए निःसंगताको प्राप्त होकर मोक्षके लिए ही प्रयत्न करता है।

§ ८०३. शरीरसे अन्यत्वका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा—बन्धकी अपेक्षा अभेद होनेपर भी लक्षणके भेदसे 'मैं' अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियिक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ, इस प्रकार शरीरसे भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थोंसे भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करनेवाले इसके शरीरादिकमें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यका प्रकर्ष होनेपर आत्यन्तिक मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।

§ ८०४. यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थोंका योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है, शौचगृहके समान अशुचि पदार्थोंका भाजन है। त्वचामात्रसे आच्छादित है। अति दुर्गन्ध रसको बहानेवाला झरना है। अंगारके समान अपने आश्रयमें आये हुए पदार्थको भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूपका मालिश और सुगन्धिमाला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिताको दूर कर सकना शक्य नहीं है किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविकरूपसे चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इसके शरीरसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधिको तरनेके लिए चित्तको लगाता है।

§ ८०५. आस्रव, संवर और निर्जराका कथन पहले कर आये हैं तथापि उनके गुण और दोषोंका विचार करनेके लिए यहाँ उनका फिरसे उपन्यास किया गया है। यथा—आस्रव इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं। महानदीके प्रवाहके वेगके समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदिको दुःख-

---

१. –मनिन्द्रियो मु०, दि० १, दि० २, ता०। २. –स्याप्तिर्भ–मु०। ३. –न्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचिसं–मु०। –न्ताशुचिपूतिशुक्रशोणितसं –दि० १। –न्ताशुचिशुक्रशोणितसं—दि० २। ४. तद्गुण–मु०।

बन्धबन्धापयशः[1]परिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परि[2]-भ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते। सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतात्मनो न भवन्ति।

§ ८०६. यथा महार्णवे नावो विवर[3]पिधानेऽसति क्रमात् स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं, तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति। ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्तिरिति।

§ ८०७. निर्जरा वेदनाविपाके[4] इत्युक्तम्। सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति।

§ ८०८. लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति।

§ ८०९. एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः

रूप समुद्रमें अवगाहन कराती हैं। कषाय आदिक भी इस लोकमें वध, अपयश और क्लेशादिक दुःखोंको उत्पन्न करते हैं, तथा परलोकमें नाना प्रकारके दुःखोंसे प्रज्वलित नाना गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रवके दोषोंका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके क्षमादिकमें कल्याणरूप बुद्धिका त्याग नहीं होता है, तथा कछुएके समान जिसने अपनी आत्माको संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रवके दोष नहीं होते हैं।

§ ८०६. जिस प्रकार महार्णवमें नावके छिद्रके नहीं ढके रहनेपर क्रमसे झिरे हुए जलसे व्याप्त होनेपर उसके आश्रयसे बैठे हुए मनुष्योंका विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्रके ढँके रहनेपर निरुपद्रवरूपसे अभिलषित देशान्तरका प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागमके द्वारके ढँके होनेपर कल्याणका प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवरके गुणोंका चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके संवरमें निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

§ ८०७ वेदना विपाकका नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं। वह दो प्रकारकी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परीषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जराके गुणदोषका चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्मनिर्जराके लिए प्रवृत्ति होती है।

§ ८०८. लोकसंस्थान आदिकी विधि पहले कह आये हैं। अर्थात् चारों ओरसे अनन्त अलोकाकाशके बहुमध्यदेशमें स्थित लोकके संस्थान आदिकी विधि पहले कह आये हैं। उसके स्वभावका अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इसके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि होती है।

§ ८०९. एक निगोदशरीरमें सिद्धोंसे अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवोंसे सब

१. -बन्धपरि-मु०, ता०। २. -तासु भ्रम-मु०। ३. विवरापिधाने सति मु०। ४. -पाकजा इत्यु-मु०।

स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुत्पत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा। तल्लाभे च देशकुलेन्द्रियसंपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तरतोऽतिदुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं[1] कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थचन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः। तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति।

§ ८१०. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा[2] प्रतियत्नो भवति।

लोक निरन्तर भरा हुआ है। अतः इस लोकमें त्रस पर्यायका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुकाके समुद्रमें पड़ी हुई वज्रसिकताकी कणिकाका प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवोंकी बहुलता होनेके कारण गुणोंमें जिस प्रकार कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्यायका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचोंकी बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपथपर रत्नराशिका प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अति कठिन है। और मनुष्य पर्यायके मिलनेके बाद उसके च्युत हो जानेपर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्षके पुद्गलोंका पुनः उस वृक्ष पर्यायरूपसे उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जानेपर भी यदि समीचीन धर्मकी प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टिके बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्यजन्मका प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अतिकठिनतासे प्राप्त होने योग्य उस धर्मको प्राप्त कर विषयसुखमें रममाण होना भस्मके लिए चन्दनको जलानेके समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुखसे विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधिका प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होनेपर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके बोधिको प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता।

§ ८१०. जिनेन्द्रदेवने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमकी उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होनेसे दुष्कर्म विपाकसे जायमान दुःखको अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हैं। परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकारके अभ्युदयोंकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके धर्मानुरागवश उसकी प्राप्तिके लिए सदा यत्न होता है।

---

१. तमेव कृ–आ०, दि० १, दि० २। २. सदा कृतप्रति–ता०।

§ ८११. एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति। मध्ये 'अनुप्रेक्षा' वचनमुभयार्थम्। अनुप्रेक्षा हि भावयन्नुत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते।

§ ८१२. के पुनस्ते परिषहाः किमर्थं वा[1] ते सह्यन्त इतीदमाह—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

§ ८१३. संवरस्य प्रकृतत्वात्तेन मार्गो विशिष्यते। संवरमार्ग इति। तदच्यवनार्थं निर्जरार्थं च परिषोढव्याः परीषहाः। क्षुत्पिपासादिसहनं कुर्वन्तः जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिकं कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जीर्णकर्माणो मोक्षमाप्नुवन्ति।

§ ८१४. तत्स्वरूपसंख्यासंप्रतिपत्त्यर्थमाह—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

§ ८१५. क्षुदादयो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः। एतेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्तव्यम्। तद्यथा—भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरस्य बहुकृत्वः

---

§ ८११. इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओंका सान्निध्य मिलने पर उत्तमक्षमादिके धारण करनेसे महान् संवर होता है। अनुप्रेक्षा दोनोंका निमित्त है इसलिए 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्यमें दिया है। अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादिका ठीक तरहसे पालन करता है और परीषहोंको जीतनेके लिए उत्साहित होता है।

§ ८१२. वे परीषह कौन-कौन हैं और वे किसलिए सहन किये जाते हैं, यह बतलानेके लिए यह सूत्र कहते हैं—

मार्गसे च्युत न होनेके लिए और कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं ॥८॥

§ ८१३. संवरका प्रकरण होनेसे वह मार्गका विशेषण है, इसलिए सूत्रमें आये हुए 'मार्ग' पदसे संवरमार्गका ग्रहण करना चाहिए। उससे च्युत न होनेके लिए और निर्जराके लिए सहन करने योग्य परीषह होते हैं। क्षुधा, पिपासा आदिको सहन करनेवाले, जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नहीं च्युत होनेवाले, उस मार्गके सतत अभ्यासरूप परिचयके द्वारा कर्मागमद्वारको संवृत करनेवाले यथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते हैं।

§ ८१४. अब उन परीषहोंके स्वरूप और संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नामवाले परीषह हैं ॥९॥

§ ८१५. क्षुधादिक वेदनाविशेष बाईस हैं। मोक्षार्थी पुरुषको इनको सहन करना चाहिए। यथा—जो भिक्षु निर्दोष आहारका शोध करता है, जो भिक्षाके नहीं मिलने पर या अल्पमात्रामें मिलने पर क्षुधावेदनाको नहीं प्राप्त होता, अकालमें या अदेशमें जिसे भिक्षा लेनेकी इच्छा नहीं

---

१. वा सह्य- मु०।

स्वकृतपरकृतानशनावमौदर्यस्य नीरसाहारस्य[1] संतप्तभ्राष्ट्रपतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो भिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः।

§ ८१६. जलस्नानावगाहनपरिषेकपरित्यागिनः पतत्त्रिवदनियतासनावसथस्यातिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासासहनं प्रशस्यते।

§ ८१७. परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूलपथिशिलातलादिषु हिमानीपतनशीतलानिल[2]संपाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसतः शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते।

§ ८१८. निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुषवातातपजनितगलतालुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्तयतः प्राणिपीडापरिहारावहितचेतसश्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते।

होती, आवश्यकोंकी हानिको जो थोड़ा भी सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यानभावनामें तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहारको लेता है, अत्यन्त गरम भांडमें गिरी हुई जलकी कतिपय बूँदोंके समान जिसका जलपान सूख गया है और क्षुधावेदनाकी उदीरणा होनेपर भी जो भिक्षालाभकी अपेक्षा उसके अलाभको अधिक गुणकारी मानता है उसका क्षुधाजन्य बाधाका चिन्तन नहीं करना क्षुधापरीषहजय है।

§ ८१६. जिसने जलसे स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करनेका त्याग कर दिया है, जिसका पक्षीके समान आसन और आवास नियत नहीं है, जो अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों का मन्थन करनेवाली पिपासाका प्रतीकार करनेमें आदरभाव नहीं रखता और जो पिपासारूपी अग्निशिखाको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घड़ेमें भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधिरूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशंसाके योग्य है।

§ ८१७. जिसने आवरणका त्याग कर दिया है, पक्षीके समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदिपर निवास करते हुए बर्फके गिरने पर और शीतल हवाका झोंका आनेपर उसका प्रतीकार करनेकी इच्छासे जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किये गये शीतके प्रतीकारके हेतुभूत वस्तुओंका जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागारमें निवास करता है उसके शीतवेदनाजय प्रशंसाके योग्य है।

§ ८१८. निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सूख कर पत्तोंके गिर जानेसे छायारहित वृक्षोंसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतपके कारण जिसे गले और तालुमें शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनुभूत हेतुओंको जानता हुआ भी उनका चिन्तन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियोंकी पीडाके परिहारमें चित्त लगा हुआ है उस साधुके चारित्रके रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है।

---

१. -रस्य तप्त-मु०। २. -शीतानिल-आ०, दि० १, दि० २।

§ ८१९. 'दंशमशक'[1] ग्रहणमुपलक्षणम् । यथा "काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः" इति उपघातकोप[2]-लक्षणं काकग्रहणं, तेन दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादयो गृह्यन्ते । तत्कृतां बाधामप्रतीकारां सहमानस्य तेषां बाधां त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्रसंकल्पप्रावरणस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषहक्षमेत्युच्यते ।

§ ८२०. जातरूपवन्निष्कलङ्कजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं[3] याचनरक्षणहिंसनादिदोषविनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतो मनोविक्रियाविप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यमवगन्तव्यम् ।

§ ८२१. संयतस्येन्द्रियेष्टविषयसंबन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीतनृत्यवादित्रादिविरहितेषु शून्यागारदेवकुलतरुकोटरशिलागुहादिषु स्वाध्यायध्यानभावनारतिमास्कन्दतो दृष्टश्रुतानु[4]भूतरतिस्मरणतत्कथाश्रवणकामशरप्रवेशनिर्विवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सदयस्यारतिपरिषहजयोऽवसेयः ।

§ ८२२. एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रममदिरापानप्रमत्तासु प्रमदासु बाधमानासु कूर्मवत्संवृ[5]तेन्द्रियविकारस्य ललितस्मितमृदुकथितसविलासवीक्षणप्रहसनमद[6]मन्थरगमनमन्मथशरव्यापारविफलीकरणस्य[7] स्त्रीबाधापरिषहसहनमवगन्तव्यम् ।

---

§ ८१९. सूत्रमें 'दंशमशक' पदका ग्रहण उपलक्षण है। जैसे 'कौओंसे घीकी रक्षा करनी चाहिए' यहाँ 'काक' पदका ग्रहण उपघातक जितने जीव हैं उनका उपलक्षण है, इसलिए 'दंशमशक' पदसे दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छू आदिका ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधाको बिना प्रतीकार किये सहन करता है, मन वचन और कायसे उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाणकी प्राप्तिमात्र संकल्प ही जिसका ओढ़ना है उसके उनकी वेदनाको सह लेना दशमशक परीषहजय कहा जाता है।

§ ८२०. बालकके स्वरूपके समान जो निष्कलंक जातरूपको धारण करने रूप हैं, जिसका याचना करनेसे प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषोंसे रहित है, जो निष्परिग्रहरूप होनेसे निर्वाण प्राप्तिका अनन्य साधन है और जो अन्य बाधाकर नहीं है ऐसे नाग्न्यको जो धारण करता है, जो मनके विक्रियारूप उपद्रवसे रहित होनेके कारण स्त्रियोंके रूपको अत्यन्त अपवित्र बदबूदार अनुभव करता है और जो दिन रात अखण्ड ब्रह्मचर्यको धारण करता है उसके निर्दोष अचेलव्रत धारण जानना चाहिए।

§ ८२१. जो संयत इन्द्रियोंके इष्ट विषय सम्बन्धके प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और वादित्र आदिसे रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदिमें स्वाध्याय, ध्यान और भावनामें लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषय भोगके स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथाके श्रवण और कामशर प्रवेशके लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियोंके ऊपर सदाकाल सदय है उसके अरतिपरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८२२. एकान्त ऐसे बगीचा और भवन आदि स्थानों पर नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापानसे प्रमत्त हुई स्त्रियोंके द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुएके समान जिसने इन्द्रिय और हृदयके विकारको रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरोंसे देखना, हँसना, मदभरो धीमी चालसे चलना, और कामवाण मारना आदिको विफल कर दिया है उसके स्त्रीबाधापरीषहजय जानना चाहिए।

---

१. –ग्रहणं दंशमशकोपलक्षणं। यथा आ०, दि० १, दि० २, ता० । २. उपघातोप–मु० । ३. –शक्यमप्रार्थ्य– ता०, ना०, दि० २, आ० । ४. 'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्य वि कामभोगबंधकहा ।' –समयप्रा० गा० ४ । ५. संहृते–मु० । ६. पदमन्थर–मु० । ७. –करणचरणस्य आ०, दि० १, दि० २ ।

§ ८२३. दीर्घकालमुषितगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य संयमायतनभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेर्गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य पवनवन्निःसङ्गतामङ्गीकुर्वतो बहुशोऽनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागादिबाधापरिक्लान्त[1]कायस्य देशकालप्रमाणापेतमध्वगमनं संयमविरोधि परिहरतोनिराकृतपादावरणस्य परुषशर्कराकण्टकादिव्य[2]धनजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्।

§ ८२४. स्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदित्यप्रकाश[3]स्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे[4] कृतनियमक्रियस्य निषद्यां नियमितकालामास्थितवतः सिंहव्याघ्रादिविविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युतमोक्षमार्गस्य वीरासनोत्कुटिकाद्यासनादविचलितविग्रहस्य तत्कृतबाधासहनं निषद्यापरिषहविजय इति निश्चीयते।

§ ८२५. स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसङ्कटा[5]तिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपार्श्वदण्डायितादिशायिनः प्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद्[6] व्यपगतासुवद[7] परिवर्तमानस्य ज्ञान[8]भावनावहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविधोपसर्गादप्यचलितविग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्या परिषहक्षमा कथ्यते।

---

§ ८२३. जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यको धारण किया है, जिसने बन्धमोक्ष पदार्थोंके स्वरूपको जान लिया है, संयमके आयतन शरीरको भोजन देनेके लिए जो देशान्तरका अतिथि बना है, गुरुके द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है, जो वायुके समान निःसंगताको स्वीकार करता है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग आदि जन्य बाधाके कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और कालके प्रमाणसे रहित तथा संयमविरोधी मार्गगमनका जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खड़ाऊँ आदिका त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कंकड़ और काँटे आदिके बिंधनेसे चरणमें खेदके उत्पन्न होनेपर भी पहले योग्य यान और वाहन आदिसे गमन करनेका जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकोंका परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्यापरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८२४. जिनमें पहले रहनेका अभ्यास नहीं किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर, गिरिगुफा और गह्वर आदिमें जो निवास करता है, आदित्यके प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञानसे परीक्षित प्रदेशमें जिसने नियमक्रिया की है, जो नियतकाल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदिकी नाना प्रकारकी भीषण ध्वनिके सुननेसे जिसे किसी प्रकारका भय नहीं होता, चार प्रकारके उपसर्गके सहन करनेसे जो मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हुआ है तथा वीरासन और उत्कुटिका आदि आसनके लगानेसे जिसका शरीर चलायमान नहीं हुआ है उसके निषद्याकृत बाधाका सहन करना निषद्यापरीषहजय निश्चित होता है।

§ ८२५. स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रमके कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुरमात्रामें कंकड़ और खपरोंके टुकड़ोंसे व्याप्त ऐसे अति शीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशोंमें एक मुहूर्तप्रमाण निद्राका अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भागसे या दण्डायित आदि रूपसे शयन करता है, करवट लेनेसे प्राणियोंको होनेवाली बाधाका निवारण करनेके लिए जो गिरे हुए लकड़ीके कुन्दके समान या मुर्दाके समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञानभावनामें लगा हुआ है, व्यन्तरादिके द्वारा किये गये नाना प्रकारके उपसर्गोंसे भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियतकालिक तत्कृत बाधाको सहन करता है उसके शय्यापरीषहजय कहा जाता है।

---

१. –परिक्रान्त–मु०। २.–व्यथन–मु०, दि० १, दि० २। ३. प्रतिषु आदित्यस्येन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षितप्रदेशो इति पाठः। ४. –देशे प्रकृत–मु०। ५. –संकटादिशी–मु०। ६. –पतिततरुदण्डव–ता०। ७. –तासुवदुपरि–मु०। ८. ज्ञानपरिभावना–मु०।

§ ८२६. मिथ्यादर्शनोद्दृक्तामर्षपरुषावज्ञानिन्दासभ्यवचनानि क्रोधाग्निशिखाप्रवर्धनानि [1]निशृण्वतोऽपि तदर्थेष्वसमाहितचेतसः सहसा तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमभिचिन्तयतस्तान्याकर्ण्य तपश्चरणभावनापरस्य कषायविषलवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वत आक्रोशपरिषहसहनमवधार्यते।

§ ८२७. निशितविशसनमुशलमुद्गराद्विप्रहरणताडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराकाः किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतैर्बाबाध्यते[2], संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यन्ते इति चिन्तयतो वासितक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते।

§ ८२८. बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये[3] सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवद् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते।

§ ८२९. वायुवदसङ्गादनेकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसंभोजनस्य वाचंयमस्य तत्समितस्य[4] वा सकृत्स्वतनुदर्शनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु[5] बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्या-

---

§ ८२६. मिथ्यादर्शनके उद्रेकसे कहे गये जो क्रोधाग्निकी शिखाको बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप और असभ्य वचनोंको सुनते हुए भी जिसका उनके विषयमें चित्त नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतीकार करनेमें समर्थ है फिर भी यह सब पापकर्मका विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दोंको सुनकर तपश्चरणकी भावनामें तत्पर रहता है और जो कषायविषके लेशमात्रको भी अपने हृदयमें अवकाश नहीं देता उसके आक्रोशपरीषहसहन निश्चित होता है।

§ ८२७. तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताड़न और पीड़न आदिसे जिसका शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है तथापि मारनेवालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण-स्वभाव है, दु:खके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह बसूलासे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है इसलिए उसके वधपरीषहजय माना जाता है।

§ ८२८. जो बाह्य और आभ्यन्तर तपके अनुष्ठान करनेमें तत्पर है, जिसने तपकी भावनाके कारण अपने शरीरको सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित वृक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजालमात्रसे युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणोंका वियोग होनेपर भी आहार, वसति और दवाई आदिकी दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखाकर व संज्ञा आदिके द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षाके समय भी जिसकी मूर्ति बिजलीकी चमकके समान दुरुपलक्ष्य रहती है ऐसे साधुके याचना परीषहजय जानना चाहिए।

§ ८२९. वायुके समान निःसंग होनेसे जो अनेक देशोंमें विचरण करता है। जिसने दिनमें एक कालके भोजनको स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषासमितिका पालन करता है, एक बार अपने शरीरको दिखलानामात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत

---

१. –नानि शृण्व–मु०, दि० १। २. –मेतैर्व्याबा–मु०। ३. प्राणवियोगे सत्य–मु०। ४. तत्समस्य वा आ०, दि० १, दि० २। ५. –सेषु च मु०।

प्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति संतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः।

§ ८३०. सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसंकल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्डसंचयप्रवर्धनसंरक्षणसंधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थितिविधानस्याक्षम्रक्षणवद्[1] व्रणानुलेपनवद्वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्यव्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तितां विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिस्स्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षिणो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम्।

§ ८३१. तृणग्रहणमुपलक्षणं कस्यचिद्व्यधनदुःखकारणस्य। तेन शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टकनिशितमृत्तिकाशूलादिव्य[2]धनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रणिहितचेतसश्चर्याशय्यानिषद्यासु प्राणिपीडापरिहारे नित्यमप्रमत्तचेतसस्तृणादिस्पर्शबाधापरिषहविजयो वेदितव्यः।

§ ८३२. अप्कायिकजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रतधारिणः पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वे[3]दाक्तपवनानीतपांसुनिचयस्य सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयनविमर्दनसंघट्टनविवर्जितमूर्तेः स्वगतमलोपचय[4]परगतमलापचययोरसंकल्पितमनसः स[5]ज्ज्ञानचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपङ्क[6]निराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाख्यायते[7]।

दिन तक या बहुत घरोंमें भिक्षाके नहीं प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त संक्लेशसे रहित है, दाताविशेषकी परीक्षा करनेमें जो निरुत्सुक है तथा लाभसे भी अलाभ मेरे लिए परम तप है इस प्रकार जो सन्तुष्ट है उसके अलाभ परीहषहजय जानना चाहिए।

§ ८३०. यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोंका आश्रय है, यह अनित्य है और परित्राणसे रहित है इस प्रकार इस शरीरमें संकल्परहित होनेसे जो विगतसंस्कार है, गुणरूपी रत्नोंके पात्रके संचय, वर्धन, संरक्षण और सन्धारणका कारण होनेसे जिसने शरीरकी स्थितिविधानको भले प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओंगन लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत उपकारवाले आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप विषमतासे जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियोंका प्रकोप होनेपर भी जो उनके आधीन नहीं हुआ है तथा तपोविशेषसे जल्लौषधि और प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोंका सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके प्रतीकारकी अपेक्षा नहीं करता उसके रोगपरीषहसहन जानना चाहिए।

§ ८३१. जो कोई विंधनेरूप दुःखका कारण है उसका 'तृण' पदका ग्रहण उपलक्षण है। इसलिए सूखा तिनका, कठोर कंकड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदिके विंधनेसे पैरोंमें वेदनाके होनेपर उसमें जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्यामें प्राणिपीडाका परिहार करनेके लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है उसके तृणस्पर्शादि बाधापरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८३२. अप्कायिक जीवोंकी पीडाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंके तापसे उत्पन्न हुए पसीनामें जिसके पवनके द्वारा लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है, सिध्म, खाज और दादके होनेसे खुजलीके होनेपर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है, स्वगत मलका उपचय और परगत मलका अपचय होनेपर जिसके मनमें किसी प्रकार विकल्प नहीं होता तथा सम्यग्ज्ञान और

---

१. रक्षणकार– आ०, दि० २, ता०। २. –व्यथन–मु०। ३. –स्वेदात्तपव–मु०। ४. –लोपचयगत–मु०। ५. संज्ञान–मु०। ६. पंकजालनिरा– मु०। ७. –ख्यायते। केशलुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्। सत्कारः–मु०।

§ ८३३. सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा, तत्रानादरो[1] मयि क्रियते। चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिर्णयज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोति। मिथ्यादृष्टय एवातीव भक्तिमन्तः किंचिदजानन्तमपि सर्वज्ञसंभावनया संमान्य स्वसमय[2]प्रभावनं कुर्वन्ति। व्यन्तरादयः पुरा अत्युग्रतपसां प्रत्यग्रपूजां निर्वर्तयन्तीति मिथ्या श्रुतिर्यदि न स्यादिदानीं कस्मान्मादृशां न कुर्वन्तीति दुष्प्रणिधानविरहितचित्तस्य सत्कारपुरस्कारपरिषहविजय इति[3] विज्ञायते।

§ ८३४. अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्यः।

§ ८३५. अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्य[4]धिक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि[5] ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इति अनभिसंदधतोऽज्ञानपरिषहजयोऽवगन्तव्यः।

§ ८३६. परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते। महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः

सम्यक्चारित्ररूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर उद्यतमति है उसके मलपीडासहन कहा गया है।

§ ८३३. सत्कारका अर्थ पूजा-प्रशंसा है। तथा क्रिया-आरम्भ आदिकमें आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार है। इस विषयमें यह मेरा अनादर करता है। चिरकालसे मैंने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमयका निर्णयज्ञ हूँ, मैंने बहुत बार परवादियोंको जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम और भक्ति नहीं करता और उत्साहसे आसन नहीं देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्तिवाले होते हैं, कुछ नहीं जाननेवालेको भी सर्वज्ञ समझ कर आदर सत्कार करके अपने समयकी प्रभावना करते हैं, व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करनेवालोंकी प्रत्यग्र पूजा रचते थे यह यदि मिथ्या श्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियोंकी क्यों नहीं करते हैं इस प्रकार खोटे अभिप्रायसे जिसका चित्त रहित है उसके सत्कारपुरस्कारपरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८३४. मैं अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंमें विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमें निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्यकी प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८३५. यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है, पशुके समान है इत्यादि तिरस्कारके वचनोंको मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तपका अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञानका अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ है इस प्रकार विचार नहीं करनेवालेके अज्ञानपरीषहजय जानना चाहिए।

§ ८३६. परम वैराग्यकी भावनासे मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थोंके रहस्यको जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु और धर्मका उपासक हूँ, चिरकालसे मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी ज्ञानातिशय नहीं उत्पन्न हुआ है। महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवालोंके प्रातिहार्य-

---

१. –दरोऽपि क्रि–मु०। २. स्वशासनप्रभा–ता०। ३. –जयः प्रतिज्ञा–मु०। ४. –द्यवक्षेप–मु०। –द्यविक्षेप– दि० १, दि० २। ५. मेऽद्यत्वेऽपि विज्ञा–मु०।

प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या। विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरिषहसहनमवसातव्यम्।

§ ८३७. एवं परिषहान्[1] असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवनिरोधान्महान् संवरो भवति।

§ ८३८. आह, किमिमे परिषहाः सर्वे संसारमहाटवीमतिक्रमितुमभ्युद्यतमभिद्रवन्ति उत कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुदादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः। नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः—

सूक्ष्म[2]सांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

§ ८३९. क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधालाभरोगतृणस्पर्शमलप्रज्ञाज्ञानानि। 'चतुर्दश' इति वचनादन्येषां परिषहाणामभावो वेदितव्यः। आह युक्तं तावद्वीतरागच्छद्मस्थे मोहनीयाभावात्[3] तत्कृतवक्ष्यमाणाष्टपरिषहाभावाच्चतुर्दशनियमवचनम्। सूक्ष्मसांपराये तु मोहोदयसद्भावात् 'चतुर्दश' इति नियमो नोपपद्यत इति। तदयुक्तम्; सन्मात्रत्वात्। तत्र हि केवलो[4] लोभसंज्वलनकषायोदयः सोऽप्यतिसूक्ष्मः। ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते। ननु मोहोदयसहायाभावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुदादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो

विशेष उत्पन्न हुए यह प्रलापमात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतोंका पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातोंका दर्शनविशुद्धिके योगसे मनमें नहीं विचार करनेवालेके अदर्शनपरिषहसहन जानना चाहिए।

§ ८३७. इस प्रकार जो संकल्पके बिना उपस्थित हुए परीषहोंको सहन करता है और जिसका चित्त संक्लेश रहित है उसके रागादि परिणामोंके आस्रवका निरोध होनेसे महान् संवर होता है।

§ ८३८. संसाररूपी महा अटवीको उल्लंघन करनेके लिए उद्यत हुए पुरुषको क्या ये सब परीषह प्राप्त होती हैं या कोई विशेषता है इसलिए यहाँ कहते हैं—जिनके लक्षण कह आये हैं ऐसे ये क्षुधादिक परीषह अलग-अलग चारित्रके प्रति विकल्पसे होते हैं। उसमें भी इन दोनोंमें नियमसे जानने योग्य—

सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतरागके चौदह परीषह सम्भव हैं ॥१०॥

§ ८३९. क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह हैं। सूत्रमें आये हुए 'चतुर्दश' इस वचनसे अन्य परीषहोंका अभाव जानना चाहिए। **शंका**—वीतरागछद्मस्थके मोहनीयके अभावसे तत्कृत आगे कहे जानेवाले आठ परीषहोंका अभाव होनेसे चौदह परीषहोंके नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयका उदय होनेसे चौदह परीषह होते हैं यह नियम नहीं बनता। **समाधान**—यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनीयकी सत्तामात्र है। वहाँपर केवल लोभसंज्वलन कषायका उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म होता है इसलिए वीतराग छद्मस्थके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्परायमें भी चौदह परीषह होते हैं यह नियम बन जाता है। **शंका**—इन स्थानोंमें मोहके उदयकी सहायता नहीं होनेसे और मन्द उदय होनेसे क्षुधादि वेदनाका अभाव है

---

१. –षहान् सह–मु०। २. वेयणीयभवाए ए पन्नानाणा उ आइमे। अट्ठमंमि अलाभोत्थो छउमत्थे चोद्दस ॥' –पञ्चसं० द्वा०४, गा० २२। ३. मुद्रितप्रतौ मोहनीयाभावाद्वक्ष्यमाणनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारादर्शनानि तत्कृताष्ट-इति पाठः। लिखितप्रतिषु च तथैव। परं नासौ सम्यक् प्रतिभाति संशोधितपाठस्तु तत्त्वार्थवार्तिकपाठानुसारी इति सोऽत्र योजितः। ४. केवललोभ–मु०।

न युक्तिमवतरति । तन्न । किं कारणम् । शक्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात् । सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत् ।

§ ८४०. आह, यदि शरीरवत्यात्मनि परिषहसंनिधानं प्रतिज्ञायते अथ भवति उत्पन्नकेवलज्ञाने कर्मचतुष्टयफलानुभवनवशवर्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीत्यत्रोच्यते । तस्मिन्पुनः—

एकादश[1] जिने ॥११॥

§ ८४१. निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरिषहाः सन्ति । ननु च[2] मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः । सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचारः क्रियते, निरवशेषनिरस्तज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत् । अथवा—एकादश जिने 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः; सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् । "कल्प्यो हि[3] वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तर्यधीनम्" **इत्युपगमात् मोहोदयसहायीकृतक्षुदादि[4] वेदनाभावात् 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः ।**

इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परीषह' संज्ञा युक्तिको नहीं प्राप्त होती । **समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है । जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवीं पृथ्वीके गमनके सामर्थ्यका निर्देश करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए ।

§ ८४०. यदि शरीरवाले आत्मामें परीषहोंके सन्निधानकी प्रतिज्ञा की जाती है तो केवलज्ञानको प्राप्त और चार कर्मोंके फलके अनुभवके वशवर्ती भगवान्‌के कितने परीषह प्राप्त होते हैं इसलिए यहाँ कहते हैं । उनमें तो—

जिनमें ग्यारह परीषह सम्भव हैं ॥११॥

§ ८४१. जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है ऐसे जिन भगवान्‌में वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेसे तन्निमित्तक ग्यारह परीषह होते हैं । **शंका**—मोहनीयके उदयकी सहायता न होनेसे क्षुधादि वेदनाके न होनेपर परीषह संज्ञा युक्त नहीं हैं । **समाधान**—यह कथन सत्य ही है तथापि वेदनाका अभाव होनेपर भी द्रव्यकर्मके सद्भावकी अपेक्षासे यहाँ परीषहोंका उपचार किया जाता है । जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरणके नाश हो जानेपर एक साथ समस्त पदार्थोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानातिशयके होनेपर चिन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी कर्मोंके नाशरूप उसके फलकी अपेक्षा ध्यानका उपचार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ परीषहोंका उपचारसे कथन जानना चाहिए, अथवा जिन भगवान्‌में ग्यारह परीषह 'नहीं हैं' इतना वाक्यशेष कल्पित कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कारसहित होते हैं । 'वाक्य शेषकी कल्पना करनी चाहिए और वाक्य वक्ताके अधीन होता है' ऐसा स्वीकार भी किया गया है । मोहके उदयकी सहायतासे होनेवाली क्षुधादि वेदनाओंका अभाव होनेसे 'नहीं हैं' यह वाक्यशेष उपन्यस्त किया गया है ।

विशेषार्थ—जिन भगवान्‌के असाता वेदनीयका उदय होता है और यह क्षुधादि वेदनाका कारण है इसलिए यहाँ जिन भगवान्‌के कारणकी दृष्टिसे क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे जाते हैं । पर क्या सचमुचमें जिन भगवान्‌के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते हैं यह एक प्रश्न है जिसका समाधान टीकामें दो प्रकारसे किया है । पहले तो जिन भगवान्‌के क्षुधादि परीषहोंके होनेके कारणके सद्भावकी अपेक्षा उनके अस्तित्वका निर्देश किया है पर कार्यरूपमें ये क्षुधादि ग्यारह परीषह जिन भगवान्‌के नहीं होते इसलिए इस दृष्टिसे 'न सन्ति' इस वाक्यशेषकी योजना कर वहाँ उनका निषेध

१. 'खुप्पिवासुण्हसीयाणि सेज्जा रोगो वहो मलो । तणफासो चरीया य दंसेक्कारस जोगिसु ॥'–पञ्चसं० द्वा० ४, गा०, २२ । २. ननु मोह–मु० । ३. 'कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि'–पा० म० भा० १, १, ८ । ४. –भावात् । आह मु० ।

§ ८४२. आह, यदि सूक्ष्मसांपरायादिषु व्यस्ताः परिषहाः अथ समस्ताः[1] ताः क्वेति—

[2]बादरसांपराये सर्वे ॥१२॥

§ ८४३. सांपरायः कषायः । बादरः सांपरायो यस्य स बादरसांपराय इति । नेदं

किया है। अब यहाँ यह देखना है कि जिन भगवान्के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते यह कैसे समझा जाय। वे इस कालमें पाये तो जाते नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष देखकर तो यह जाना नहीं जा सकता। एक मात्र आगमको पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ ही शेष रहती हैं जिनके अवलम्बनसे यह बात समझी जा सकती है, अतः यहाँ उन्हींका निर्देश करते हैं—

१. केवली जिनके शरीरमें निगोद और त्रस जीव नहीं रहते। उनका क्षीणमोह गुणस्थान में अभाव होकर वे परम औदारिक शरीरके धारी होते हैं। अतः भूख, प्यास और रोगादिकका कारण नहीं रहनेसे उन्हें भूख, प्यास और रोगादिककी बाधा नहीं होती। देवोंके शरीरमें इन जीवोंके न होनेसे जो विशेषता होती है उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीरमें उत्पन्न हो जाती है। २. श्रेणि आरोहण करने पर प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा हीन होता जाता है। इसलिए तेरहवें गुणस्थानमें होनेवाला असाता प्रकृतिका उदय इतना बलवान् नहीं होता जिससे उसे क्षुधादि कार्योंका सूचक माना जा सके। ३. असाताकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है, आगे नहीं होती, इसलिए उदीरणाके अभावमें वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्यका वेदन करानेमें असमर्थ है। जब कि केवली जिनके शरीरको पानी और भोजनकी ही आवश्यकता नहीं रहती तब इनके न मिलनेसे जो क्षुधा और तृषा होती है वह उनके हो ही कैसे सकती है। वेदनीय कर्मका कार्य कुछ शरीरमें पानी तत्त्व और भोजन तत्त्वका अभाव करना नहीं है। वास्तवमें इनका अभाव अन्य कारणोंसे होता है। हाँ, इनका अभाव होनेपर इनकी पूर्तिके लिए जो वेदना होती है वह वेदनीय कर्मका काम है। सो जब कि केवली जिनके शरीरको उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती, तब वेदनीयके निमित्तसे तज्जनित वेदना कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। ४. केवली जिनके साताका आस्रव सदाकाल होनेसे उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है, इसलिए जिस कालमें असाताका उदय होता है उस कालमें केवल उसका ही उदय नहीं होता किन्तु अनन्तगुणी शक्तिवाले साताके साथ वह उदयमें आता है। माना कि उस समय उसका स्वमुखेन उदय है पर वह प्रति समय बँधनेवाले साता कर्मपरमाणुओंकी निर्जराके साथ ही होता है, इसलिए असाताका उदय वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाका कारण नहीं हो सकता। ५. सुख दुखका वेदन वेदनीय कर्मका कार्य होने पर भी वह मोहनीयकी सहायतासे ही होता है। यतः केवली जिनके मोहनीयका अभाव होता है अतः वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओंका सद्भाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इन प्रमाणोंसे निश्चित होता है कि केवली जिनके क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते।

§ ८४२. कहते हैं—यदि सूक्ष्मसाम्पराय आदि में अलग-अलग परीषह होते हैं तो मिलकर वे कहाँ होते हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बादरसाम्परायमें सब परीषह सम्भव हैं ॥१२॥

§ ८४३. साम्पराय कषायको कहते हैं। जिसके साम्पराय बादर होता है वह बादर-

---

१. समस्ताः क्वेति मु०। २. 'निसेज्जा जायणाकोसो अरई इत्थिनग्गया। सक्कारो दंसणं मोहा बावीसा चेव रागिसु ॥' –पञ्चसं० द्वा० ४, गा० २३।

गुणस्थानविशेषग्रहणम्। किं तर्हि। अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम्। तेषु हि अक्षीणकषायदोषत्वात्सर्वे[1] संभवन्ति। कस्मिन् पुनश्चारित्रे सर्वेषां संभवः। सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसंयमेषु[2] प्रत्येकं सर्वेषां संभवः।

§ ८४४. आह, गृहीतमेतत्परिषहाणां स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विद्मः कस्याः प्रकृतेः कः कार्यं इत्यत्रोच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

§ ८४५. इदमयुक्तं वर्तते। किमत्रायुक्तम्। ज्ञानावरणे सत्यज्ञानपरिषह उपपद्यते, प्रज्ञापरिषहः पुनस्तदपाये भवतीति कथं ज्ञानावरणे स्यात्। इत्यत्रोच्यते—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति न सकलावरणक्षये इति ज्ञानावरणे सतीत्युपपद्यते।

साम्पराय कहलाता है। यह गुणस्थान विशेषका ग्रहण नहीं है। तो क्या है? सार्थकनिर्देश है। इससे प्रमत्त आदिक संयतोंका ग्रहण होता है। इनमें कषाय और दोषोंके क्षीण न होनेसे सब परीषह सम्भव हैं। **शंका**—तो किस चारित्रमें सब परीषह सम्भव हैं? **समाधान**—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धिसंयम इनमेंसे प्रत्येकमें सब परीषह सम्भव हैं।

विशेषार्थ—बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानका दूसरा नाम है। नौवें गुणस्थान तक स्थूल कषायका सद्भाव होता है, इसलिए अन्तदीपक न्यायसे इस गुणस्थानका नाम भी बादरसाम्पराय है। यहाँ 'बादरसाम्पराय' पदसे इस गुणस्थानका ग्रहण न हो इसीलिए टीकामें इसका निषेध किया है, क्योंकि बादरसाम्परायमें तो बाईस परीषह सम्भव हैं, बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानमें नहीं। कारण कि इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय नहीं होता। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं। उनमेंसे सम्यक्त्वमोहनीयका उदय सातवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योंकि यहीं तक वेदक सम्यक्त्व होता है, इसलिए यहाँ पर बादरसाम्पराय अर्थात् स्थूल कषायमें सब परीषह सम्भव हैं यही अर्थ लेना चाहिए।

§ ८४४. कहते हैं—इन परीषहोंके स्थानविशेषका अवधारण किया, किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस प्रकृतिका क्या कार्य है इसलिए यहाँपर यह कहते हैं—

ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं ॥१३॥

§ ८४५. **शंका**—यह अयुक्त है? **प्रतिशंका**—यहाँ क्या अयुक्त है। **शंका**—माना कि ज्ञानावरणके होनेपर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है परन्तु प्रज्ञा परीषह उसके अभावमें होता है इसलिए वह ज्ञानावरणके सद्भावमें कैसे हो सकता है? **समाधान**—यहाँ कहते हैं—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके होनेपर मदको उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणके क्षय होनेपर नहीं, इसलिए ज्ञानावरणके होनेपर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है।

विशेषार्थ—विकल्पका अर्थ श्रुतज्ञान है, इसलिए जहाँ तक श्रुतज्ञान होता है वहाँ तक 'मैं अधिक जानता हूँ, यह कुछ भी नहीं जानता' ऐसा विकल्प देखा जाता है। यद्यपि इस प्रकारका विकल्प करनेवाले व्यक्तिको अधिक ज्ञानका लाभ ज्ञानावरण कर्मके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे होता है तथापि जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान होता है तभी तक यह विकल्प होता है और क्षायोपशमिक ज्ञान उदयसापेक्ष होता है इसलिए यहाँ पर इस प्रकारके विकल्पका मुख्य कारण ज्ञानावरण कर्मका उदय कहा है। बहुतसे जीवोंको मोहका उदय रहते हुए भी ऐसा भाव होता है कि 'मैं महाप्राज्ञ हूँ, मेरी बराबरी करनेवाला अन्य कोई नहीं।' पर यहाँ मोहके उदयसे होनेवाले इस भावका ग्रहण

---

१. अक्षीणाशयत्वात्सर्व–आ०, दि० १, दि० २, ता०। २. –संयमेष्वेतेषु प्रत्येकं सर्वे–मु०, ता०।

§ ८४६. पुनरपरयोः परिषहयोः प्रकृतिविशेषनिर्देशार्थमाह—

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

§ ८४७. यथासंख्यमभिसंबन्धः। दर्शनमोहे अदर्शनपरिषहो, लाभान्तराये अलाभपरिषह इति। आह, यद्याद्ये मोहनीयभेदे एकः परिषहः. अथ द्वितीयस्मिन् कति भवन्तीत्यत्रोच्यते—

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

§ ८४८. पुंवेदोदयादिनिमित्तत्वान्नाग्न्यादिपरिषहाणां मोहोदयनिमित्तत्वं प्रतिपद्यामहे।

नहीं किया है। यहाँ तो अपनी अज्ञानतावश जो अल्पज्ञानको महाज्ञान माननेका विकल्प होता है उसीका ग्रहण किया है। इस प्रकार ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान दो परीषह होते हैं यह निश्चित होता है।

§ ८४६. पुनः अन्य दो परीषहोंकी प्रकृति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमें क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं ॥१४॥

इस सूत्रमें 'यथासंख्य' पदका सम्बन्ध होता है। दर्शनमोहके सद्भावमें अदर्शन परीषह होता है और लाभान्तरायके सद्भावमें अलाभ परीषह होता है।

विशेषार्थ— दर्शनमोहसे यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्वके रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें नाना विकल्प होना चल दोष है। जिस प्रकार जलके स्वस्थ होते हुए भी उसमें वायुके निमित्तसे तरंगमाला उठा करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने स्वरूपमें स्थित रहता है तथापि सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है। यही चल दोष है। मलका अर्थ मैल है। शंकादि दोषोंके निमित्तसे सम्यग्दर्शनका मलिन होना मल दोष है। यह भी सम्यक्त्व मोहनीयके उदयमें होता है। तथा अगाढका अर्थ स्थिर न रहना है। सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्वसे चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ—अन्य अन्यका कर्ता नहीं होता यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भले प्रकार जानता है पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह पाता। वह पारमार्थिक कार्यको भी लौकिकप्रयोजनका प्रयोजक मान बैठता है। इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे ये तीन दोष होते हैं। ये तीनों एक हैं फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्रायकी दृष्टिसे यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् रूपसे परिगणित किया है। प्रकृतमें इसी दोषको ध्यानमें रखकर अदर्शन परीषहका निर्देश किया है। यह दर्शनमोहनीयके उदयसे होता है इसलिए इसे दर्शनमोहनीयका कार्य कहा है। भोजनादि पदार्थोंका न प्राप्त होना अन्य बात है पर भोजनादि पदार्थोंके न मिलने पर जिसके 'अलाभ' परिणाम होता है उसका वह परिणाम लाभान्तराय कर्मका कार्य होनेसे अलाभको लाभान्तराय कर्मका कार्य कहा है। परके लाभको स्वका लाभ मानना मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयका कार्य है इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो अलाभ परिणाम किसके उदयमें होता है इतना ही विचार किया गया है। इस प्रकार अदर्शनभाव मोहनीय कर्मका और अलाभभाव लाभान्तराय कर्मका कार्य है यह निश्चित होता है।

§ ८४७. कहते हैं—यदि आदिके मोहनीयके भेदके होनेपर एक परीषह होता है तो दूसरे भेदके होनेपर कितने परीषह होते हैं इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं ॥१५॥

§ ८४८. शंका—नाग्न्यादि परीषह पुंवेदोदय आदिके निमित्तसे होते हैं इसलिए मोहोदयको

निषद्यापरिषहस्य कथम्। तत्रापि प्राणिपीडापरिहारार्थत्वात्। मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणामः संजायत इति।

§ ८४९. अवशिष्टपरिषहप्रकृतिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

§ ८५०. उक्ता एकादश परिषहाः। तेभ्योऽन्ये शेषाः वेदनीये सति 'भवन्ति' इति वाक्यशेषः। के पुनस्ते। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरिषहाः।

§ ८५१. आह, व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पाः प्रत्यात्मनि प्रादुर्भवन्तः कति युगपदवतिष्ठन्त इत्यत्रोच्यते—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः ॥१७॥

उनका निमित्त कहते हैं पर निषद्यापरीषह मोहोदयके निमित्तसे कैसे होता है? **समाधान**—उसमें भी प्राणिपीड़ाके परिहारकी मुख्यता होनेसे वह मोहोदय निमित्तक माना गया है, क्योंकि मोहोदयके होनेपर प्राणिपीड़ारूप परिणाम होता है।

विशेषार्थ—आगे चर्या और शय्याको वेदनीयनिमित्तक कहा है और यहाँ निषद्याको मोहनीयनिमित्तक। ये तीनों परीषह एक श्रेणीके हैं। फिर क्या कारण है कि इनमें-से निषद्याको मोहोदय निमित्तक कहा है। यदि चर्या और शय्या परीषह वेदनीयनिमित्तक होते हैं तो इसे वेदनीयनिमित्तक क्यों नहीं माना जाता। यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर टीकामें दिया है। वहाँ बतलाया है कि प्राणिपीड़ारूप परिणाम मोहोदयसे होता है और निषद्यापरीषहजयमें इस प्रकारके परिणामपर विजय पानेकी मुख्यता है। यही कारण है कि निषद्याको चारित्रमोहनिमित्तक माना है। माना कि इस विवक्षासे चर्या और शय्या परीषहको भी मोहोदयनिमित्तक मान सकते थे पर वहाँ कण्टकादिकके निमित्तसे होनेवाली वेदनाकी मुख्यता करके उक्त दोनों परीषह वेदनीयनिमित्तक कहे हैं। तात्पर्य यह है कि चर्या, शय्या और निषद्या इनमें प्राणिपीड़ा और कण्टकादिनिमित्तक वेदना ये दोनों कार्य सम्भव हैं। इसलिए इन दोनों कार्योंका परिज्ञान करानेके लिए निषद्याको मोहनिमित्तक और शेष दोको वेदनीयनिमित्तक कहा है।

§ ८४९. अब अवशिष्ट परीषहोंकी प्रकृति विशेषका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाकीके सब परीषह वेदनीयके सद्भावमें होते हैं ॥१६॥

§ ८५०. ग्यारह परीषह पहले कह आये हैं। उनसे अन्य शेष परीषह हैं। वे वेदनीयके सद्भावमें होते हैं। यहाँ 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है। **शंका**—वे कौन-कौन हैं? **समाधान**—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या. वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरीषह।

विशेषार्थ—शरीरमें भोजनका कम होना, पानीका कम होना. कण्ठका सूखना, ऋतुमें ठण्डी या गरमीका होना, डांस-मच्छरका काटना, गमन व शयन करते समय कण्टक आदिका चुभना, किसीके द्वारा मारना, गाली-गलौज करना, शरीरमें रोगका होना, तिनका आदिका चुभना और शरीरमें मलका जमा होना आदि अपने-अपने कारणोंसे होते हैं। इनका कारण वेदनीय कर्मका उदय नहीं है पर इन कामोंके होने पर भूखकी वेदना होती है, प्यास लगती है आदि वह वेदनीय कर्मका कार्य है। ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिए।

§ ८५१. कहते हैं, परीषहों के निमित्त, लक्षण और भेद कहे। प्रत्येक आत्मामें उत्पन्न होते हुए वे एक साथ कितने हो सकते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक आत्मामें एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्पसे हो सकते हैं ॥१७॥

§ ८५२. आङभिविध्यर्थः। तेन एकोनविंशतिरपि क्वचित् युगपत्संभवतीत्यवगम्यते। तत्कथमिति चेदुच्यते—शीतोष्णपरिषहयोरेकः शय्यानिषद्याचर्याणां[1] चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि। कुतः। विरोधात्। तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषां संभवादेकोनविंशतिविकल्पा[2] बोद्धव्याः। ननु प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्युगपदसंभवः। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषहः अवधिज्ञाना[3]द्यभावापेक्षया अज्ञानपरिषह इति नास्ति विरोधः।

§ ८५३. आह, उक्ता गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयाः संवरहेतवः पञ्च। संवरहेतुश्चारित्रसंज्ञो वक्तव्य इति तद्भेदप्रदर्शनार्थमुच्यते—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

§ ८५४. अत्र चोद्यते—दशविधे धर्मे संयम उक्तः स एव चारित्रमिति पुनर्ग्रहणमनर्थकमिति। नानर्थकम्; धर्मेऽन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम्। सामायिकमुक्तम्। क्व। 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक–' इत्यत्र। तद् द्विविधं नियतकालमनियतकालं च। स्वाध्यायादि नियतकालम्। ईर्यापथाद्यनियतकालम्[4]। प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा। परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः।

---

§ ८५२. यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ में आया है। इससे किसी एक आत्मामें एक साथ उन्नीस भी सम्भव हैं यह ज्ञात होता है। **शंका**—यह कैसे? **समाधान**—एक आत्मामें शीत और उष्ण परीषहोंमें-से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इनमें-से कोई एक परीषह ही होते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनोंके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोंके एक साथ होनेमें विरोध आता है। इन तीनोंके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामें इतर परीषह सम्भव होनेसे वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए। **शंका**—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी विरोध है, इसलिए इन दोनों का एक साथ होना असम्भव है? **समाधान**—एक साथ एक आत्मामें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं है।

§ ८५३. कहते हैं, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये पाँच संवरके हेतु कहे। अब चारित्रसंज्ञक संवरका हेतु कहना चाहिए इसलिए उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है ॥१८॥

§ ८५४. **शंका**—दश प्रकारके धर्ममें संयमका कथन कर आये हैं और वह ही चारित्र है इसलिए उसका फिरसे ग्रहण करना निरर्थक है? **समाधान**—निरर्थक नहीं है, क्योंकि धर्ममें अन्तर्भाव होनेपर भी चारित्र मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह दिखलानेके लिए उसका अन्तमें ग्रहण किया है। सामायिकका कथन पहले कर आये हैं। **शंका**—कहाँ पर? **समाधान**—'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक'—इस सूत्रका व्याख्यान करते समय। वह दो प्रकारका है—नियतकाल और अनियतकाल। स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है। प्रमादकृत अनर्थप्रबन्धका अर्थात् हिंसादि अव्रतोंके अनुष्ठानका विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करनेपर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतोंका ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना

---

१. –चर्याणामन्यतम मु०। २. कल्पो बोद्धव्यो। ननु आ०, दि० १, दि० २। ३. –ज्ञानापेक्षया मु०। ४. –कालञ्च। प्रमा–ता०।

तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्मसांपरायचारित्रम्। मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः[2]। 'यथाख्यातम्' इति वा; यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। 'इति'शब्दः परिसमाप्तौ द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात्सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते। सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्ष[3]ख्यापनार्थं क्रियते।

चारित्र है। अथवा विकल्पोंकी निवृत्तिका नाम छेदोस्थापनाचारित्र है। प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार करते हैं। इस युक्त शुद्धि जिस चारित्रमें होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। जिस चारित्रमें कषाय अतिसूक्ष्म हो जाता है वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है। समस्त मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र कहा जाता है। पूर्व चारित्रका अनुष्ठान करनेवालोंने जिसका कथन किया है पर मोहनीयके क्षय या उपशम होनेके पहले जिसे प्राप्त नहीं किया इसलिए उसे अथाख्यात कहते हैं। 'अथ' शब्द 'अनन्तर' अर्थवर्ती होनेसे समस्त मोहनीय कर्मके क्षय या उपशमके अनन्तर वह आविर्भूत होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अथवा इस चारित्रका एक नाम यथाख्यात भी है। जिस प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं। सूत्रमें आया हुआ 'इति' शब्द परिसमाप्ति अर्थमें जानना चाहिए। इसलिए इससे यथाख्यात चारित्रसे समस्त कर्मोंके क्षयकी परिसमाप्ति होती है यह जाना जाता है। उत्तरोत्तर गुणोंके प्रकर्षका ख्यापन करनेके लिए सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रमसे इनका नामनिर्देश किया है।

विशेषार्थ—चारित्र यह एक प्रकारका होकर भी उसके पाँच भेद विवक्षाविशेषसे किये गये हैं। सामायिकमें सर्वसावद्यकी निवृत्तिरूप संकल्पकी मुख्यता है। छेदोपस्थापनामें चारित्रमें लगनेवाले दोषोंके परिमार्जनकी मुख्यता है। परिहारविशुद्धि चारित्र ऐसे संयतके होता है जो तीस वर्षतक गृहस्थ अवस्थामें सुखपूर्वक बिताकर संयत होनेपर तीर्थंकरके पादमूलकी परिचर्या करते हुए आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन करता है। यह जन्तुओंकी रक्षा कैसे करनी चाहिए, वे किस द्रव्यके निमित्तसे किस क्षेत्र और किस कालमें विशेषतः उत्पन्न होते हैं, जीवोंकी योनि और जन्म कितने प्रकारके होते हैं इत्यादि बातोंको भले प्रकार जानता है। यह प्रमादरहित, महाबलशाली, कर्मोंकी महानिर्जरा करनेवाला और अति दुष्कर चर्याका अनुष्ठान करनेवाला होता है। तथा यह तीनों संध्याकालोंको छोड़कर दो कोस गमन करनेवाला होता है। इन सब कारणोंसे इस संयतके ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न होती है जिसके बलसे यह अन्य जीवोंको बाधा पहुँचाये बिना चर्या करनेमें समर्थ होता है। सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रका अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार विवक्षाभेदसे एक चारित्र पाँच प्रकारका कहा गया है।

इनमें से सामायिक और छेदोपस्थापनाकी जघन्य विशुद्धिलब्धि सबसे अल्प होती है। इससे परिहारविशुद्धि चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे सामायिक और छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे यथाख्यात चारित्रकी विशुद्धिलब्धि

---

१. -नन्तरार्थवर्ति-मु०, ता०। २. -त्यर्थः। तथा-मु०, ता०, ना०। ३. -कर्षज्ञापनार्थम् मु०।

§ ८५५. आह, उक्तं चारित्रम्। तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् 'तपसा निर्जरा च' इति तस्येदानीं तपसो विधानं कर्तव्यमित्यत्रोच्यते। तद् द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्प्रत्येकं षड्विधम्। तत्र बाह्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

§ ८५६. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्। संयमप्रजागर[1]दोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः[2] संकल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्या[3]द्यर्थो घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तपः। शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमाबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः। आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः[4] तत् षष्ठं तपः। तत्किमर्थम्। देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभा-

---

एक प्रकारकी होकर भी अनन्तगुणी होती है। यही कारण है कि सूत्रमें सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रमसे इन पाँचोंका नाम निर्देश किया है। पहले दस प्रकारके धर्मका निर्देश करते समय संयमधर्म कह आये हैं, इसलिए चारित्रका अन्तर्भाव उसमें हो जानेके कारण यहाँ इसका अलगसे कथन करनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा प्रश्न होता है, फिर भी समस्त कर्मका क्षय चारित्रसे होता है यह दिखलानेके लिए यहाँ चारित्रका पृथक् रूपसे व्याख्यान किया है।

§ ८५५. कहते हैं, चारित्रका कथन किया। संवरके हेतुओंका निर्देश करनेके बाद 'तपसा निर्जरा च' यह सूत्र कहा है, इसलिए यहाँ पर तपका विधान करना चाहिए, अतः यहाँ कहते हैं— वह दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर। उसमें भी यह प्रत्येक छह प्रकारका है। उनमें से पहले बाह्य तपके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है ॥१९॥

§ ८५६. दृष्टफल मन्त्र साधना आदिकी अपेक्षा किये बिना संयमकी सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोंका विनाश, ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिए अनशन तप किया जाता है। संयमको जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदिकी सुखपूर्वक सिद्धिके लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। भिक्षाके इच्छुक मुनिका एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ताका अवरोध करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। आशाकी निवृत्ति इसका फल जानना चाहिए। इन्द्रियोंके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए घृतादि गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है। एकान्त जन्तुओंकी पीड़ासे रहित शून्य घर आदिमें निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए संयतको शय्यासन लगाना चाहिए। यह पाँचवाँ तप है। आतापनयोग, वृक्षके मूलमें निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकारके प्रतिमास्थान इत्यादि करना कायक्लेश है, यह छठवाँ तप है। यह किसलिए किया जाता है? यह देह-दुःखको सहन करनेके लिए, सुखविषयक आसक्तिको कम करनेके लिए और प्रवचनकी प्रभावना

---

१. –गरणदोष–आ०, दि० १, दि० २, ना०। २. –विषयसंकल्पचिन्ताव–ता०, मु०। –विषयः संकल्पचिन्ताव– दि० १, दि० २। ३. –सिद्ध्यर्थो मु०, दि० २। ४. –क्लेशः षष्ठं मु० ता०।

वनाद्यर्थम् । परिषहस्यास्य च को विशेषः । यदृच्छयोपनिपतितः परिषहः । स्वयंकृतः कायक्लेशः । बाह्यत्वमस्य कुतः । बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् ।

§ ८५७. आभ्यन्तरतपोभेदप्रदर्शनार्थमाह—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

§ ८५८. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् । मनोनियमनार्थत्वात् । प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम् । पूज्येष्वादरो विनयः । कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं[1] वैयावृत्त्यम् । ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः । आत्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः । चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् ।

§ ८५९. तद्भेदप्रतिपादनार्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

§ ८६०. 'यथाक्रमम्' इति वचनान्नवभेदं प्रायश्चित्तम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्त्यं दशविधम्, स्वाध्यायः पञ्चविधः, द्विभेदो[2] व्युत्सर्गं इत्यभिसंबध्यते । 'प्राग्ध्यानात्' इति वचनं ध्यानस्य बहुवक्तव्यत्वात्पश्चाद्वक्ष्यत इति ।

§ ८६१. आद्यस्य भेदस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

करनेके लिए किया जाता है । **शंका**—परीषह और कायक्लेशमें क्या अन्तर है ? **समाधान**—अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनोंमें अन्तर है। **शंका**—इस तपको बाह्य क्यों कहते हैं ? **समाधान**—यह बाह्य-द्रव्यके आलम्बनसे होता है और दूसरोंके देखनेमें आता है इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं ।

§ ८५७. अब आभ्यन्तर तपके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है ॥२०॥

§ ८५८. **शंका**—इसे आभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ? **समाधान**—मनका नियम करनेवाला होनेसे इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमादजन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है। शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्यद्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है। आलस्यका त्यागकर ज्ञानकी आराधना करना स्वाध्याय तप है। अहंकार और ममकार-रूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है, तथा चित्तके विक्षेपका त्याग करना ध्यान तप है।

§ ८५९. अब इनके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ध्यानसे पूर्वके आभ्यन्तर तपोंके अनुक्रमसे नौ, चार, दश, पाँच और दो भेद हैं ॥२१॥

§ ८६०. सूत्रमें 'यथाक्रमम्' यह वचन दिया है। इससे प्रायश्चित्त नौ प्रकारका है, विनय चार प्रकारका है, वैयावृत्य दश प्रकारका है, स्वाध्याय पाँच प्रकारका है और व्युत्सर्ग दो प्रकारका है ऐसा सम्बन्ध होता है। सूत्रमें—'प्राग्ध्यानात्' यह वचन दिया है, क्योंकि ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहना है, इसलिए उसका आगेका कथन करेंगे।

§ ८६१. अब पहले आभ्यन्तर तपके भेदोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है ॥२२॥

१. –रेण वोप–ता· । २. द्विविधो व्युत्स–मु० ।

§ ८६२. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम्।[1] मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्। [तदुभय] संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम्। संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तपः। दिवसपक्षमासादिना[2] प्रव्रज्याहापनं छेदः। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं[3] परिहारः। पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना।

---

§ ८६२. गुरुके समक्ष दश दोषोंको टालकर अपने प्रमादका निवेदन करना आलोचना है। 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरुसे ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है। संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदिका विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है, अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है। दिवस, पक्ष और महीना आदिकी प्रव्रज्याका छेद करना छेदप्रायश्चित्त है। पक्ष, महीना आदिके विभागसे संघसे दूर रखकर त्याग करना परिहारप्रायश्चित्त है। पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

विशेषार्थ—यहाँ प्रायश्चित्तके नौ भेद गिनाये हैं। प्रायः शब्दका अर्थ साधुलोक है। उसका जिस कर्ममें चित्त होता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है। अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है, इसलिए प्रायश्चित्तका अर्थ अपराधोंका शोधन करना होता है। ये ही वे नौ भेद हैं जिनके द्वारा साधु दोषोंका परिमार्जन करता है। पहला भेद आलोचना है। आलोचना इन दश दोषोंसे रहित होकर की जाती है। दश दोष यथा—उपकरण देनेपर मुझे लघु प्रायश्चित्त दगे ऐसा विचारकर उपकरण प्रदान करना यह प्रथम आलोचना दोष है। मैं प्रकृतिसे दुर्बल हूँ, ग्लान हूँ, उपवास आदि नहीं कर सकता। यदि लघु प्रायश्चित्त दें तो दोष कहूँगा ऐसा कहना दूसरा दोष है। अन्य अदृष्ट (गुप्त) दोषोंको छिपा कर प्रकाशमें आये हुए दोषका निवेदन करना तीसरा मायाचार दोष है। आलस्यवश या प्रमादवश अपने अपराधोंकी जानकारी प्राप्त करनेमें निरुत्सुक होनेपर स्थूल दोष कहना चौथा दोष है। महा दुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे महादोष छिपा कर उससे हलके दोषका ज्ञान कराना पाँचवाँ दोष है। व्रतमें इस प्रकार दोष लगनेपर हमें क्या प्रायश्चित्त करना पड़ेगा इस विधिसे गुरुकी उपासना करना छठा दोष है। पाक्षिक और चातुर्मासिक आदि क्रिया कर्मके समय बहुत साधुओं द्वारा की जानेवाली आलोचनाजन्य शब्दोंसे प्रदेशके व्याप्त होनेपर पूर्व दोष कहना सातवाँ दोष है। गुरुद्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त क्या युक्त है, आगममें इसका विधान है या नहीं इस प्रकारकी शंका अन्य साधुके समक्ष प्रकट करना आठवाँ दोष है। किसी प्रयोजनवश अपने समान साधुके समक्ष दोष कह कर प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है। इस विधिसे लिया हुआ बड़ासे बड़ा प्रायश्चित्त भी फलदायक नहीं होता। मेरा दोष इसके अपराधके समान है। इसे यह भी जानता है। इसे जो प्रायश्चित्त मिलेगा वह मुझे भी युक्त है इस प्रकार अपने दोषको छिपाना दसवाँ दोष है।

अन्यत्र इन दश दोषोंके आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये नाम आये हैं। प्रायश्चित्तका दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण है। यह शिष्य करता है और गुरुके द्वारा जो आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है वह तदुभय कहलाता है। यह प्रायश्चित्तका तीसरा भेद है। आगेके प्रायश्चित्तोंके जिनके जो नाम हैं तदनुसार उनका स्वरूप है। यहाँ प्रायश्चित्तके ये नौ भेद कहे

---

१. –लोचनम्। आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्हं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि ।। इति दश दोषाः। मिथ्या–मु०। २. –मासादीनां प्रव्र–मु०। ३. परिवर्जनीयं परि–आ०।

§ ८६३. विनयविकल्पप्रतिपत्त्यर्थमाह—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

§ ८६४. 'विनयः' इत्यधिकारेणाभिसंबन्धः क्रियते। ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति। सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। शङ्कादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। तद्वतश्चारित्रे[1] समाहितचित्तता चारित्रविनयः। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरञ्जलिक्रियागुणसङ्कीर्तनानुस्मरणादिः।

§ ८६५. वैयावृत्त्यभेदप्रतिपादनार्थमाह—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥

§ ८६६. वैयावृत्त्यं दशधा भिद्यते। कुतः। विषयभेदात्। आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्यायवैयावृत्त्यमित्यादि। तत्र आचरन्ति[2] तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य[3] तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः। रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। गणः स्थविरसंततिः। दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः[4] कुलम्। चातुर्वर्णं[5] श्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्र-

---

हैं किन्तु मूलाचारमें इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इस प्रकार दस भेद किये हैं। टीकाकारने इनका स्पष्टीकरण करते समय मूलका वही अर्थ किया है जो यहाँ उपस्थापनाका किया गया है। तथा मानसिक दोषके होनेपर उसके परिमार्जनके लिए मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा अभिव्यक्त करनेको श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त बतलाया है।

§ ८६३. विनयके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय यह चार प्रकारका विनय है ॥२३॥

§ ८६४. अधिकारके अनुसार 'विनय' इस पदका सम्बन्ध होता है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। बहुत आदरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। शंकादि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना दर्शनविनय है। सम्यग्दृष्टिका चारित्रमें चित्तका लगना चारित्रविनय है तथा आचार्य आदिकके समक्ष आनेपर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचारविनय है तथा उनके परोक्षमें भी काय, वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोंका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचारविनय है।

§ ८६५. अब वैयावृत्त्यके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्त्यके भेदसे वैयावृत्त्य दश प्रकारका है ॥२४॥

§ ८६६. वैयावृत्त्यके दश भेद हैं, क्योंकि उसका विषय दश प्रकारका है। यथा—आचार्य-वैयावृत्त्य और उपाध्याय-वैयावृत्त्य आदि। जिसके निमित्तसे व्रतोंका आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है। मोक्षके लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह उपाध्याय कहलाता है। महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी कहलाता है। शिक्षाशील शैक्ष कहलाता है। रोग आदिसे क्लान्त शरीरवाला ग्लान कहलाता है। स्थविरोंकी सन्ततिको गण कहते हैं। दीक्षकाचार्य-

---

१. तत्त्वतश्चा–मु०। २. –रन्ति सस्या–आ०, दि० १, दि० २, ता०, ना०। ३. 'उपेत्याधीयते तस्मादुपाध्यायः।' –पा० म० भा० ३, ३, ११। ४.–संस्त्ययः मु०। ५. चातुर्वर्ण्यश्र –मु०।

जितः साधुः। मनोज्ञो लोकसंमतः। तेषां व्याधिपरिषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्[2]।

§ ८६७. स्वाध्यायविकल्पविज्ञानार्थमाह—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

§ ८६८. निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः प्रच्छना। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। स एष पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थः। प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।

§ ८६९. व्युत्सर्गभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

§ ८७०. व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते। स किमर्थः। निस्सङ्गत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थः।

के शिष्यसमुदायको कुल कहते हैं। चार वर्णके श्रमणोंके समुदायको संघ कहते हैं। चिरकालसे प्रव्रजितको साधु कहते हैं। लोकसम्मत साधुको मनोज्ञ कहते हैं। इन्हें व्याधि होनेपर, परीषहके होनेपर व मिथ्यात्व आदिके प्राप्त होनेपर शरीरकी चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्यद्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्त्य तप है। यह समाधिकी प्राप्ति, विचिकित्साका अभाव और प्रवचनवात्सल्यकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है।

§ ८६७. अब स्वाध्यायके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय है ॥२५॥

§ ८६८. निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंका प्रदान करना वाचना है। संशयका उच्छेद करनेके लिए अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना प्रच्छना है। जाने हुए अर्थका मनमें अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। उच्चारणकी शुद्धिपूर्वक पाठको पुनः-पुनः दुहराना आम्नाय है और धर्मकथा आदिका अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। **शंका**—यह पूर्वोक्त पांच प्रकारका स्वाध्याय किसलिए किया जाता है। **समाधान**—प्रज्ञामें अतिशय लानेके लिए, अध्यवसायको प्रशस्त करनेके लिए, परम संवेगके लिए, तपमें वृद्धि करनेके लिए और अतीचारोंमें विशुद्धि लाने आदिके लिए किया जाता है।

§ ८६९. अब व्युत्सर्ग तपके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाह्य और अभ्यन्तर उपधिका त्याग यह दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥२६॥

§ ८७०. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका अर्थ त्याग होता है। वह दो प्रकारका है—बाह्य उपधित्याग और अभ्यन्तर उपधित्याग। आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि है और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। यह निःसंगता, निर्भयता और जीविताशाका व्युदास आदि करनेके लिए किया जाता है।

---

१. –माध्यायान– मु०। २. –व्यक्तार्थम् आ०, दि० १, दि० २, ना०।

§ ८७१. यद् बहुवक्तव्यं ध्यानमिति पृथग्व्यवस्थापितं तस्येदानीं भेदाभिधानं प्राप्तकालम्। तदुल्लङ्घ्य तस्य प्रयोक्तृस्वरूपकालनिर्द्धारणार्थमुच्यते—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो [1]ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

§ ८७२. आद्यं त्रितयं संहननमुत्तमं वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमिति। तत्त्रितयमपि ध्यानस्य साधनं भवति। मोक्षस्य तु आद्यमेव। तदुत्तमं संहननं यस्य सोऽयमुत्तमसंहननः, तस्योत्तमसंहननस्येति। अनेन प्रयोक्तृनिर्देशः कृतः। अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्रः। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति। मुहूर्त इति कालपरिमाणम्। अन्तर्गतो मुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्तः। 'आ अन्तर्मुहूर्तात्' इत्यनेन कालावधिः कृतः। ततः परं [2]दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः। चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभावः, तेन ध्यानमसत्खरविषाणवत्स्यात्। नैष दोषः; अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयासदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्तेः सदिति च; अभावस्य भावान्तरत्वाद् हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च। अथवा नायं भावसाधनः, निरोधनं

विशेषार्थ—यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब कि पाँच महाव्रतोंमें परिग्रहत्यागका उपदेश दिया है, दश धर्मोंमें त्याग धर्मका उपदेश दिया है तथा नौ प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त अलगसे कहा है ऐसी अवस्थामें पुनः व्युत्सर्ग तपका अलगसे कथन करना कोई मायने नहीं रखता, क्योंकि इस प्रकार एक ही तत्त्वका पुनः-पुनः कथन करनेसे पुनरुक्त दोष आता है। समाधान यह है कि पाँच महाव्रतोंमें जो परिग्रह त्याग महाव्रत है उसमें गृहस्थसम्बन्धी उपधिके त्यागकी मुख्यता है। त्यागधर्ममें आहारादि विषयक आसक्तिके कम करनेकी मुख्यता है, व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तमें परिग्रह त्याग धर्ममें लगनेवाले दोषके परिमार्जनकी मुख्यता है, और व्युत्सर्ग तपमें वसतिका आदि बाह्य व मनोविकार तथा शरीर आदि अभ्यन्तर उपधिमें आसक्तिके त्यागकी मुख्यता है, इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता।

§ ८७१. जो बहुवक्तव्य ध्यान पृथक् स्थापित कर आये हैं उसके भेदोंका कथन करना इस समय प्राप्तकाल है तथापि उसे उल्लंघन करके इस समय ध्यानके प्रयोक्ता, स्वरूप और कालका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तम संहननवालेका एक विषयमें चित्तवृत्तिका रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥२७॥

§ ८७२. आदिके वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन संहनन उत्तम हैं। ये तीनों ही ध्यानके साधन हैं। मोक्षका साधन तो प्रथम ही है। जिसके ये उत्तम संहनन होते हैं वह उत्तम संहननवाला कहलाता है उस उत्तम संहननवाले के। यहाँ इस पदद्वारा प्रयोक्ताका निर्देश किया है। 'अग्र' पदका अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखोंसे लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषयमें नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है। इस द्वारा ध्यानका स्वरूप कहा गया है। मुहूर्त यह कालका विवक्षित परिमाण है। जो मुहूर्तके भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। 'अन्तर्मुहूर्त काल तक' इस पद द्वारा कालकी अवधि की गयी है। इतने कालके बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर होती है। शंका—यदि चिन्ताके निरोधका नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है इसलिए गधेके सींगके समान ध्यान असत् ठहरता

---

१. 'ध्यानं निर्विषयं मनः।'-सां० सू० ६, २५। २.-दुर्धरत्वात्। चिन्ताया नि- ता०, ना०।

निरोध इति। किं तर्हि। कर्मसाधनः, 'निरुध्यत इति निरोधः'। चिन्ता चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति। एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।

§ ८७३. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

§ ८७४. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। धर्मो व्याख्यातः। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः। प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्।

§ ८७५. किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

§ ८७६. परमुत्तरमन्त्यम्। तत्सामीप्याद्धर्म्यमपि 'परम्' इत्युपचर्यते। [1]द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणमपि गृह्यते। '[2]परे मोक्षहेतू' इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति। कुतः। तृतीयस्य साध्यस्याभावात्।

है? **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य चिन्ताकी निवृत्तिकी अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूपसे प्रवृत्ति होनेके कारण वह सत् कहा जाता है, क्योंकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है और अभाव वस्तुका धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व विपक्षव्यावृत्ति इत्यादि हेतुके अंग आदिके द्वारा सिद्ध होती है। अथवा, यह निरोध शब्द 'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भावसाधन नहीं है। तो क्या है? 'निरुध्यत इति निरोधः'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है। चिन्ताका जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखाके समान निश्चल रूपसे अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

§ ८७३. अब उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यानके चार भेद हैं ॥२८॥

८७४. आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एकसे बना है। इनमें से ऋतका अर्थ दुःख है और अर्तिकी 'अर्दनं अर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋतमें या अर्तिमें) जो होता है वह आर्त है। रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है। इसका कर्म या इसमें होनेवाला रौद्र है। धर्मका व्याख्यान पहले कर आये हैं। जो धर्मसे युक्त होता है वह धर्म्य है। तथा जिसमें शुचि गुणका सम्बन्ध है वह शुक्ल है। यह चार प्रकारका ध्यान दो भागोंमें विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है। जो पापास्रवका कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मोंके निर्दहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है वह प्रशस्त है।

§ ८७५. तो वह क्या है ऐसा प्रश्न करनेपर आगेका सूत्र कहते हैं—

उनमें से पर अर्थात् अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं ॥२९॥

§ ८७६. पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है। अन्तिम शुक्लध्यान है और इसका समीपवर्ती होनेसे धर्मध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है, क्योंकि सूत्रमें 'परे' यह द्विवचन दिया है इसलिए उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण होता है। 'पर अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये मोक्षके हेतु हैं' इस वचनसे पहलेके अर्थात् आर्त और रौद्र ये संसारके हेतु हैं यह तात्पर्य फलित होता है क्योंकि मोक्ष और संसारके सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है।

१.–वचनसाम-मु०। २. परे धर्म्यशुक्ले मोक्ष–आ०, दि० १, दि० २, ता०, ना०।

§ ८७७. तत्रार्तं चतुर्विधम् । तत्रादिविकल्पलक्षणनिर्देशार्थमाह—

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

§ ८७८. अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकरणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते। तस्य संप्रयोगे, स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते ।

§ ८७९. द्वितीयस्य विकल्पस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

§ ८८०. कुतो विपरीतम् । पूर्वोक्तात् । तेनैतदुक्तं भवति—मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदारधनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तमवगन्तव्यम् ।

§ ८८१. तृतीयस्य विकल्पस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनायाश्च ॥३२॥

§ ८८२. 'वेदना'शब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनायां प्रवर्तते, तस्या वातादिविकारजनितवेदनाया उपनिपाते तस्या अपायः कथं नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तृतीयमार्तमुच्यते ।

§ ८८३. तुरीयस्यार्तस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

निदानं च ॥३३॥

---

§ ८७७. आर्तध्यान चार प्रकारका है। उनमें से प्रथम भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अमनोज्ञ पदार्थके प्राप्त होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्तासातत्यका होना प्रथम आर्तध्यान है ॥३०॥

§ ८७८. विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधाके कारण होनेसे अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होनेपर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकारका संकल्प चिन्ता प्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है ।

§ ८७९. अब दूसरे भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिकी सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है ॥३१॥

§ ८८०. किससे विपरीत ? पूर्वमें कहे हुएसे । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनोज्ञ अर्थात् इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धनादिकके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान जानना चाहिए ।

§ ८८१. अब तीसरे भेदके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदनाके होनेपर उसे दूर करनेके लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है ॥३२॥

§ ८८२. वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थोंमें विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यानका प्रकरण होनेसे उससे दुःखवेदना ली गयी है। वातादि विकारजनित दुःख वेदनाके होनेपर उसका अभाव मेरे कैसे होगा इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान कहा जाता है ।

§ ८८३. अब चौथे आर्तध्यानके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निदान नामका चौथा आर्तध्यान है ॥३३॥

§ ८८४. भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तुरीयमार्तं निदानमित्युच्यते।

§ ८८५. तदेतच्चतुर्विधमार्तं किंस्वामिकमिति चेदुच्यते—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

§ ८८६. अविरता असंयतसम्यग्दृष्टचन्ताः। देशविरताः संयतासंयताः। प्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः। तत्राविरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्तं[1] भवति; असंयमपरिणामोपेतत्वात्। प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्स्यात्।

§ ८८७. व्याख्यातमार्तं संज्ञादिभिः। द्वितीयस्य संज्ञाहेतुस्वामिनिर्द्धारणार्थमाह—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

§ ८८८. हिंसादीन्युक्तलक्षणानि। तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते। तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः 'स्मृतिसमन्वाहारः' अभिसंबध्यते। हिंसायाः स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। तद्रौद्रध्यानमविरतदेशविरतयोर्वेदितव्यम्। अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य

---

§ ८८४. भोगोंकी आकांक्षाके प्रति आतुर हुए व्यक्तिके आगामी विषयोंकी प्राप्तिके लिए मनःप्रणिधानका होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नामका चौथा आर्तध्यान कहा जाता है।

§ ८८५. इस चार प्रकारके आर्तध्यानका स्वामी कौन है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवोंके होता है ॥३४॥

§ ८८६. असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे युक्त क्रिया करनेवाले जीव प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। इनमें से अविरत और देशविरत जीवोंके चारों ही प्रकारका आर्तध्यान होता है, क्योंकि ये असंयमरूप परिणामसे युक्त होते हैं। प्रमत्तसंयतोंके तो निदानके सिवा बाकीके तीन प्रमादकी तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।

विशेषार्थ—पुराण साहित्यमें मुनियों द्वारा निदान करनेके कई उदाहरण हैं पर इन उदाहरणोंसे प्रमत्तसंयत अवस्थामें उन साधुओंने निदान किया ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए। एक तो भावलिंगी साधुके आगामी भोगोंकी आकांक्षा होती ही नहीं और कदाचित् होती है तो उस समयसे वह भावलिंगी नहीं रहता ऐसा अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

§ ८८७. संज्ञा आदिके द्वारा आर्तध्यानका व्याख्यान किया। अब दूसरे ध्यानकी संज्ञा, हेतु और स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरतके होता है ॥३५॥

§ ८८८. हिंसादिकके लक्षण पहले कह आये हैं। वे रौद्रध्यानकी उत्पत्तिके निमित्त होते हैं इसलिए हेतुनिर्देश जाना जाता है। हेतुका निर्देश करनेवाले इन हिंसादिक के साथ अनुवृत्तिको प्राप्त होनेवाले 'स्मृतिसमन्वाहार' पदका सम्बन्ध होता है। यथा – हिंसाका स्मृतिसमन्वाहार आदि। यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके जानना चाहिए। शंका—रौद्रध्यान अविरतके

---

१. –विधमार्तं ता० मु०।

कथम् । तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति । तत्पुनर्नारकादीनामकारणं; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । संयतस्य तु न भवत्येव; तदारम्भे संयमप्रच्युतेः ।

§ ८८९. आह, 'परे मोक्षहेतू' उपदिष्टे । तत्राद्यस्य मोक्षहेतोर्ध्यानस्य भेदस्वरूपस्वामिनिर्देशः कर्तव्य इत्यत आह—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

§ ८९०. विचयनं विचयो विवेको विचारणे[1]त्यर्थः । आज्ञापायविपाकसंस्थानानां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः । 'स्मृतिसमन्वाहारः' इत्यनुवर्तते । स प्रत्येकं संबध्यते—आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । तद्यथा—उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं "नान्यथावादिनो जिनाः" इतिगहनपदार्थश्रद्धाना[2]दर्थावधारणमाज्ञाविचयः । अथवा—स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते । जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ।

होओ देशविरतके कैसे हो सकता है ? **समाधान**—हिंसादिकके आवेशसे या वित्तादिके संरक्षणके परतन्त्र होनेसे कदाचित् उसके भी हो सकता है । किन्तु देशविरतके होनेवाला वह रौद्रध्यान नारकादि दुर्गतियोंका कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की ऐसी ही सामर्थ्य है । परन्तु संयतके तो वह होता ही नहीं है, क्योंकि उसका आरम्भ होनेपर संयमसे पतन हो जाता है ।

§ ८८९. कहते हैं, अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं यह कह आये । उनमें से मोक्षके हेतुरूप प्रथम ध्यानके भेद, स्वरूप और स्वामीका निर्देश करना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणाके निमित्त मनको एकाग्र करना धर्म्यध्यान है ॥३६॥

§ ८९०. विचयन करना विचय है । विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं । आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनका परस्पर द्वन्द्व समास होकर विचय शब्दके साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है और इस प्रकार 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः' पद बना है । 'स्मृतिसमन्वाहारः' पदकी अनुवृत्ति होती है । और उसका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है । यथा—आज्ञाविचयके लिए स्मृतिसमन्वाहार आदि । स्पष्ट इस प्रकार है—उपदेश देनेवालेका अभाव होनेसे, स्वयं मन्दबुद्धि होनेसे, कर्मोंका उदय होनेसे और पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे तथा तत्त्वके समर्थनमें हेतु और दृष्टान्तका अभाव होनेपर सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थके श्रद्धानद्वारा अर्थका अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है । अथवा स्वयं पदार्थोंके रहस्यको जानता है और दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धान्तके अविरोधद्वारा तत्त्वका समर्थन करनेके लिए उसके जो तर्क, नय और प्रमाणकी योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रकाशित करनेवाला होनेसे आज्ञाविचय कहा जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुषके समान सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्गका परिज्ञान न होनेसे वे मोक्षार्थी पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देते हैं इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर

---

१. विचारणमित्यर्थः मु० । विचारमित्यर्थः ता० । २. –द्धानमर्था–मु० ।

कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः। उत्तमक्षमादिलक्षणो धर्म उक्तः। तस्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम्। तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।

चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फलके अनुभवके प्रति उपयोगका होना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। तथा लोकके आकार और स्वभावका निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। पहले उत्तम क्षमादि-रूप धर्मका स्वरूप कह आये हैं। उससे अनपेत अर्थात् युक्त धर्म्यध्यान चार प्रकारका जानना चाहिए। यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके होता है।

विशेषार्थ—संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेके लिए या विरक्त होनेपर उस भावको स्थिर बनाये रखनेके लिए जो प्रणिधान होता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यह उत्तम क्षमादिरूप धर्मसे युक्त होता है इसलिए इसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यहाँ निमित्तभेदसे इसके चार भेद किये गये हैं। यथा—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। आज्ञाविचय तत्त्वनिष्ठामें सहायक होता है, अपायविचय संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करता है। विपाक विचयसे कर्मफल और उसके कारणोंकी विचित्रताका ज्ञान दृढ़ होता है और संस्थानविचयसे लोककी स्थितिका ज्ञान दृढ़ होता है।

मूल टीकामें विपाकविचयके स्वरूपका निर्देश करते हुए जो द्रव्य, क्षेत्र और काल आदिके निमित्तसे कर्मफलकी चर्चा की है उसका आशय यह है कि यद्यपि कर्मोंके उदय या उदीरणासे जीवके औदयिक भाव और विविध प्रकारके शरीरादिककी प्राप्ति होती है पर इन कर्मोंका उदय और उदीरणा बिना अन्य निमित्तके नहीं होती किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदिका निमित्त पाकर ही कर्मोंका उदय और उदीरणा होती है। आगे इसी बातको विशेष रूपसे स्पष्ट करते हैं। द्रव्यनिमित्त—मान लो एक व्यक्ति हँस खेल रहा है, वह अपने बाल-बच्चोंके साथ गप्पागोष्ठीमें तल्लीन है। इतनेमें अकस्मात् मकानकी छत टूटती है और वह उससे घायल होकर दुःखका वेदन करने लगता है तो यहाँ उसके दुःखवेदनके कारणभूत असाता वेदनीयके उदय और उदीरणामें टूट कर गिरनेवाली छतका संयोग निमित्त है। टूट कर गिरनेवाली छतके निमित्तसे उस व्यक्तिके असातावेदनीयकी उदय-उदीरणा हुई और असातावेदनीयके उदय-उदीरणासे उस व्यक्तिको दुःखका अनुभवन हुआ यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसी प्रकार अन्य कर्मोंके उदय-उदीरणामें बाह्य द्रव्य कैसे निमित्त होता है इसका विचार कर लेना चाहिए। कालनिमित्त—कालके निमित्त होने-का विचार दो प्रकारसे किया जाता है। एक तो प्रत्येक कर्मका उदय-उदीरणा काल और दूसरा वह काल जिसके निमित्तसे बीचमें ही कर्मोंकी उदय-उदीरणा बदल जाती है। आगममें अध्रुवोदय रूप कर्मके उदय-उदीरणा कालका निर्देश किया है उसके समाप्त होते ही विवक्षित कर्मके उदय-उदीरणाका अभाव होकर उसका स्थान दूसरे कर्मकी उदय-उदीरणा ले लेती है। जैसे सामान्यसे हास्य और रतिका उत्कृष्ट उदय-उदीरणाकाल छह महीना है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोककी उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह महीनाके भीतर यदि हास्य और रतिके विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीचमें ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है। यह कर्मका उदय-उदीरणा काल है। अब एक ऐसा जीव लो जो निर्भय होकर देशान्तरको जा रहा है किन्तु किसी दिन मार्गमें ही ऐसे जंगल में रात्रि हो जाती है जहाँ हिंस्र जन्तुओंका प्राबल्य है और विश्राम करनेके लिए कोई निरापद स्थान नहीं है। यदि दिन होता तो उसे रंचमात्र भी भय न होता किन्तु रात्रि होनेसे वह भयभीत होता है इससे इसके असाता, अरति, शोक और भय कर्मकी उदय-उदीरणा होने लगती है। यह कालनिमित्तक उदय-उदीरणा है। इसी प्रकार क्षेत्र,

भव और भावनिमित्तक उदय और उदीरणा जान लेनी चाहिए। कालप्राप्त कर्मपरमाणुओंके अनुभव करनेको उदय कहते हैं और उदयावलिके बाहर स्थित कर्मपरमाणुओंको कषायसहित या कषायरहित योग संज्ञावाले वीर्यविशेषके द्वारा उदयावलिमें लाकर उनका उदयप्राप्त कर्मपरमाणुओं के साथ अनुभवन करनेको उदीरणा कहते हैं। इस प्रकार कर्मपरमाणुओंका अनुभवन उदय और उदीरणा दोनोंमें लिया जाता है। यदि इनमें अन्तर है तो कालप्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओं-का है। उदयमें कालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणामें अकालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहाँ उसकी उदीरणा अवश्य होती है। फिर भी इनमें जो विशेषता है उसका यहाँ निर्देश करते हैं—मिथ्यात्वका उदय और उदीरणा मिथ्यात्व गुणस्थानमें होती है। इतनी विशेषता है कि उपशम सम्यक्त्वके अभिमुख हुए जीवके अन्तिम आवली प्रमाण कालमें मिथ्यात्वकी उदीरणा नहीं होती वहाँ मात्र उसका उदय होता है। एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियोंका मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी चतुष्कका प्रारम्भके दो गुणस्थानोंमें ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्वका तीसरे गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है, अन्यत्र नहीं। अप्रत्याख्यान चार, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्ति इन ग्यारह प्रकृतियोंका चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। नरकायु और देवायुका चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलिकालमें उदीरणा नहीं होती। चार आनुपूर्वियोंका प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है अन्यत्र नहीं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यंचगति, उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियोंका संयतासंयत गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। तिर्यंच आयुका पाँचवें गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलि कालके शेष रहनेपर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, सातावेदनीय और असातावेदनीय इन पाँच प्रकृतियोंका छठे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र निद्रानिद्रादि त्रिकको उदीरणा वही करता है जिसने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। ऐसा जीव यदि उत्तर शरीरकी विक्रिया करता है या आहारकसमुद्घातको प्राप्त होता है तो इन्हें प्राप्त होनेके एक आवलि कालपूर्वसे लेकर मूल शरीरमें प्रवेश होने तक इन तीनकी उदीरणा नहीं होती। तथा देव, नारकी और भोगभूमियाँ जीव भी इन तीनकी उदीरणा नहीं करते। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगकी प्रमत्तसंयतमें ही उदीरणा और उदय होता है, आगे पीछे नहीं। मनुष्यायुकी छठे गुणस्थानतक उदीरणा और १४वें गुणस्थान तक उदय होता है। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलि काल शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती। सम्यक्त्वप्रकृतिकी उदीरणा और उदय चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थानतक वेदकसम्य-ग्दृष्टिके होता है। मात्र कृतकृत्यवेदकके कालमें व द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके उत्पत्तिकालमें एक आवलि शेष रहनेपर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अन्तके तीन संहननोंकी उदीरणा व उदय सातवें गुणस्थान तक ही होता है आगे नहीं। हास्यादि छहकी उदीरणा और उदय आठवें गुणस्थान तक होता है आगे नहीं। इतनी विशेषता है कि देवोंके उत्पत्ति समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक हास्य और रतिकी नियमसे उदीरणा होती है आगे भजनीय है। तथा नारकियोंके उत्पत्तिसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक अरति और शोककी नियमसे उदीरणा होती है आगे भजनीय है। तीन वेद और क्रोधादि तीन संज्वलनोंकी उदीरणा व उदय नौवेंके उपान्त्य भाग तक ही होता है आगे नहीं। इतनी विशेषता है कि जो जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसके प्रथम

§ ८९१. त्रयाणां ध्यानानां निरूपणं कृतम् । इदानीं शुक्लध्यानं निरूपयितव्यम् । तद्वक्ष्यमाणचतुर्विकल्पम् । तत्राद्ययोः स्वामिनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

§ ८९२. वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः । 'च'शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते । तत्र "[1]व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते ।

§ ८९३. अवशिष्टे कस्य भवत इत्यत्रोच्यते—

परे केवलिनः ॥३८॥

§ ८९४. प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिनः सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवतः ।

स्थितिमें एक आवलिकाल शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती । लोभसंज्वलनकी दसवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होता है । मात्र दसवें गुणस्थानके अन्तिम आवलि कालके शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती, उदय होता है । वज्रनाराच और नाराच संहननकी ग्यारहवें गुणस्थान तक उदीरणा और उदय होता है । निद्रा और प्रचलाकी बारहवें गुणस्थानमें एक समय अधिक एक आवलि काल शेष रहने तक उदय व उदीरणा दोनों होते हैं, आगे बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समय तक इनका उदय ही होता है । पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका उदय तो बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक होता है और उदीरणा बारहवें गुणस्थानमें एक आवलि काल शेष रहने तक होती है । मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, छह संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण और उच्चगोत्र इन अड़तीस प्रकृतियोंकी तेरहवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होता है आगे नहीं । तथा तीर्थंकर प्रकृतिकी तेरहवें गुणस्थानमें ही उदीरणा व उदय होता है । इस प्रकार आज्ञा आदिके निमित्तसे सतत चिन्तन करना धर्म्यध्यान है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

§ ८९१. तीन ध्यानोंका कथन किया, इस समय शुक्लध्यानका कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहनेवाले हैं उनमें-से आदिके दो भेदोंके स्वामीका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद्के होते हैं ॥३७॥

§ ८९२. आगे कहे जानेवाले शुक्लध्यानके भेदोंमें-से आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं । सूत्रमें 'च' शब्द आया है उससे धर्म्यध्यानका समुच्चय होता है । 'व्याख्यानसे विशेष ज्ञान होता है' इस नियमके अनुसार श्रेणि चढ़नेसे पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनों श्रेणियोंमें आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ।

§ ८९३. शेषके दो शुक्लध्यान किसके होते हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेषके दो शुक्लध्यान केवलीके होते हैं ॥३८॥

§ ८९४. जिसके समस्त ज्ञानावरणका नाश हो गया है ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवलीके पर अर्थात् अन्तके दो शुक्लध्यान होते हैं ।

---

१. 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।'–परि० शे०, पृ० ८ । पा० म० भा०; पृ० ५७, १३०, १५४ । वक्खाणओ विसेसो न हि संदेहादलक्खणया ॥'—वि० भा० गा०, ३४७ ।

§ ८९५. यथासंख्यं तद्विकल्पप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

§ ८९६. पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् । वक्ष्यमाणलक्षण[1]मपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्वमवसेयम् ।

§ ८९७. तस्यालम्बनविशेषनिर्धारणार्थमाह—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

§ ८९८. 'योग' शब्दो व्याख्यातार्थः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र । उक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैस्त्रियोगादीनां चतुर्णां यथासंख्येनाभिसंबन्धो वेदितव्यः । त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति ।

§ ८९९. तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

§ ९००. एक आश्रयो ययोस्ते एकाश्रये । [3]उभेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते, इत्यर्थः । वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ, सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तेत इति सवितर्कवीचारे । पूर्वे पृथक्त्वैकत्ववितर्के इत्यर्थः ।

---

§ ८९५. अब क्रमसे शुक्लध्यानके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिर्वति ये चार शुक्लध्यान हैं ॥३९॥

§ ८९६. पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिर्वति ये चार शुक्लध्यान हैं । आगे कहे जानेवाले लक्षणकी अपेक्षा सबका सार्थक नाम जानना चाहिए ।

§ ८९७. अब उसके आलम्बन विशेषका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे चार ध्यान क्रमसे तीन योगवाले, एक योगवाले, काययोगवाले और अयोगके होते हैं ॥४०॥

§ ८९८. 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें योग शब्दका व्याख्यान कर आये हैं । पूर्वमें कहे गये शुक्लध्यानके चार भेदोंके साथ त्रियोग आदि चार पदोंका क्रमसे सम्बन्ध जान लेना चाहिए । तीन योगवालेके पृथक्त्ववितर्क होता है । तीन योगोंमें-से एक योगवालेके एकत्ववितर्क होता है । काययोगवालेके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगीके व्युपरतक्रियानिर्वृति ध्यान होता है ।

§ ८९९. अब इन चार भेदोंमें-से आदिके दो भेदोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहलेके दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं ॥४१॥

§ ९००. जिन दो ध्यानोंका एक आश्रय होता है वे एक आश्रयवाले कहलाते हैं । जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं । यह उक्त कथनका तात्पर्य है । जो वितर्क और वीचारके साथ रहते हैं वे सवितर्कवीचार ध्यान कहलाते हैं । सूत्रमें आये हुए पूर्व पदसे पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिये गये हैं ।

---

१. -क्षणमुपेत्य सर्वे-मु० । २. -मन्वर्थमव-मु० । ३. उभयेऽपि आ०, दि० १, दि० २, ना० ।

§ ९०१. तत्र यथासंख्यप्रसंगेऽनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

§ ९०२. पूर्वयोर्यद् द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम्। एतदुक्तं भवति—आद्यं सवितर्कं सवीचारं च भवति। द्वितीयं सवितर्कमवीचारं चेति।

§ ९०३. अथ वितर्कवीचारयोः कः प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

§ ९०४. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः।

§ ९०५. अथ को वीचारः।

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

§ ९०६. अर्थो ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा। व्यञ्जनं वचनम्। योगः कायवाङ्मनःकर्मलक्षणः। संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च[1] त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते[2]। तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं च पूर्वोदितगुप्त्यादिबहुप्रकारोपायं संसारनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति कृतपरिकर्मा। तत्र द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहितवित-

---

§ ९०१. पूर्व सूत्रमें यथासंख्यका प्रसंग होनेपर अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दूसरा ध्यान अवीचार है ॥४२॥

§ ९०२. पहलेके दो ध्यानोंमें जो दूसरा ध्यान है वह अवीचार जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है तथा दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अवीचार होता है।

§ ९०३. अब वितर्क और वीचारमें क्या भेद है यह दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वितर्कका अर्थ श्रुत है ॥४३॥

§ ९०४. विशेष रूपसे तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है।

§ ९०५. अब वीचार किसे कहते हैं यह बात अगले सूत्र द्वारा कहते हैं—

अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति वीचार है ॥४४॥

§ ९०६. अर्थ ध्येयको कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं। व्यञ्जनका अर्थ वचन है तथा काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं। संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है। द्रव्यको छोड़कर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड़कर द्रव्यको प्राप्त होता है। यह अर्थ-संक्रान्ति है। एक श्रुतवचनका आलम्बन लेकर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचनका आलम्बन लेता है। यह व्यञ्जन-संक्रान्ति है। काययोगको छोड़कर दूसरे योगको स्वीकार करता है और दूसरे योगको छोड़कर काययोगको स्वीकार करता है। यह योग-संक्रान्ति है। इस प्रकारके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। सामान्य और विशेष रूपसे कहे गये इस चार प्रकारके धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकारके उपायोंसे युक्त होनेपर संसारका नाश करनेके लिए जिसने भले प्रकारसे परिकर्मको किया है ऐसा मुनि ध्यान

१.–न्तरं त्यक्त्वा मु०। २. इत्युच्यते। संक्रान्तौ सत्यां कथं ध्यानमिति चेत् ध्यानसंतानमपि ध्यानमुच्यते इति न दोषः। तदेतत्सामान्य–मु०, दि० १, दि० २, आ०।

र्कसामर्थ्यः[1] अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता[2] मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । स एव पुनः समूलतूलं[3] मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणवि[4]शुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुराणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितिह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो[5] निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम् । एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनः प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव घर्मरश्मिर्वा भासमानो भगवांस्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुषः पूर्वकोटीं देशोनां विहरति । स यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्वं वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति । यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाय-

करनेके योग्य होता है । जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साहसे युक्त बालक अव्यवस्थित और मौथरे शस्त्रके द्वारा भी चिरकालमें वृक्षको छेदता है उसी प्रकार चित्तके सामर्थ्यको प्राप्तकर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचनमें पृथक्त्व रूपसे संक्रमण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचारध्यानको धारण करनेवाला होता है । पुनः जो समूल मोहनीय कर्मका दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धिविशेषको प्राप्त होकर बहुत प्रकारकी ज्ञानावरणकी सहायीभूत प्रकृतियोंके बन्धको रोक रहा है, जो कर्मोंकी स्थितिको न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञानके उपयोगसे युक्त है, जो अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्तिसे रहित है, निश्चल मनवाला है, क्षीण कषाय है और वैडूर्यमणिके समान निरुपलेप है वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है । इस प्रकार उसके एकत्ववितर्क ध्यान कहा गया है । इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा जिसने चार घातिया कर्मरूपी ईंधनको जला दिया है, जिसके केवलज्ञानरूपी किरणसमुदाय प्रकाशित हो गया है, जो मेघमण्डलका निरोध कर निकले हुए सूर्यके समान भासमान हो रहा है ऐसे भगवान्, तीर्थंकर, केवली या सामान्य केवली इन्द्रोंके द्वारा आदरणीय और पूजनीय होते हुए उत्कृष्ट रूपसे कुछ कम पूर्व कोटि काल तक बिहार करते हैं । वह जब आयुमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थिति आयुकर्मके बराबर शेष रहती है तब सब प्रकारके वचनयोग, मनोयोग और बादरकाययोगको त्यागकर तथा सूक्ष्म काययोगका अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते हैं, परन्तु जब उन सयोगी जिनके आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और शेष तीन कर्मोंकी स्थिति उससे अधिक शेष रहती है तब जिन्हें सातिशय आत्मोपयोग प्राप्त है, जिन्हें सामायिकका अवलम्बन है, जो विशिष्ट करणसे युक्त हैं, जो कर्मोंका महासंवर कर रहे हैं और जिनके स्वल्पमात्रामें कर्मोंका परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने आत्मप्रदेशोंके फैलनेसे कर्मरजको परिशातन करनेकी शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको चार समयोंके द्वारा करके अनन्तर प्रदेशोंके विसर्पणका संकोच

१.–सामर्थ्यादर्थ–मु० । २. मनसा पर्याप्त– मु० । ३. समूलतलं मु०, दि० १, दि० २, आ० । ४.–शुद्धियोग –मु० । ५.–योगे निवृत्ता–मु० ।

योगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते। तस्मिन्समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिकेवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदा ध्यानातिशयाग्निनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धनो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। तदेतद् द्विविधं तपोऽभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं प्राक्तनकर्मरजोविधूननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति।

§ ९०७. अत्राह सम्यग्दृष्टयः किं सर्वे समनिर्जरा आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

§ ९०८. त एते दश सम्यग्दृष्टयादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। तद्यथा—भव्यः पञ्चेन्द्रियसंज्ञी पर्याप्तकः पूर्वोक्तकाललब्ध्यादिसहायः परिणामविशुद्धया वर्धमानः क्रमेणापूर्वकरणादिसोपानपङ्क्त्योत्प्लवमानो बहुतरकर्मनिर्जरो भवति। स एव पुनः प्रथमसम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तसंनिधाने सति सम्यग्दृष्टिर्भवन्नसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्याना-

---

करके तथा शेष चार कर्मोंकी स्थितिको समान करके अपने पूर्व शरीरप्रमाण होकर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते हैं। इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यानको आरम्भ करते हैं। इसमें प्राणापानके प्रचाररूप क्रियाका तथा सब प्रकारके काययोग, वचनयोग और मनोयोगके द्वारा होनेवाली आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप क्रियाका उच्छेद हो जानेसे इसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं। इस समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमें सब प्रकारके कर्मबन्धके आस्रवका निरोध हो जानेसे तथा बाकीके बचे सब कर्मोंके नाश करनेकी शक्तिके उत्पन्न हो जानेसे अयोगिकेवलीके संसारके सब प्रकारके दुःखजालके सम्बन्धका उच्छेद करनेवाला सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्षका कारण उत्पन्न होता है। वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्निके द्वारा सब प्रकारके मल-कलंकबन्धनको जलाकर और किट्ट धातु व पाषाणका नाशकर शुद्ध हुए सोनेके समान अपने आत्माको प्राप्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह दोनों प्रकारका तप नूतन कर्मोंके आस्रवके निरोधका हेतु होनेसे संवरका कारण है और प्राक्तन कर्मरूपी रजके नाश करनेका हेतु होनेसे निर्जराका भी हेतु है।

§ ९०७. यहाँ कहते हैं कि सब सम्यग्दृष्टि क्या समान निर्जरावाले होते हैं या कुछ विशेषता है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रमसे असंख्यगुण निर्जरावाले होते हैं ॥४५॥

§ ९०८. सम्यग्दृष्टि आदि ये दश क्रमसे असंख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं। यथा—जिसे पूर्वोक्त काललब्धि आदिकी सहायता मिली है और जो परिणामोंकी विशुद्धि द्वारा वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ऐसा भव्य पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रमसे अपूर्वकरण आदि सोपान पंक्तिपर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला होता है। सर्वप्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके निमित्त मिलनेपर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण कर्मनिर्जरावाला होता है। पुनः वह ही

वरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको भवन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनः प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारणपरिणामविशुद्धियोगाद् विरतव्यपदेशभाक् सन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनरनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां वियोजनपरो भवति यदा तदा परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगात्ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनर्दर्शनमोहप्रकृतित्रयतृणनिचयं निर्दिधक्षन् परिणामविशुद्धयतिशययोगाद्दर्शनमोहक्षपकव्यपदेशभाक्[1] पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धिप्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनरशेषचारित्रमोहोपशमनिमित्तसंनिधाने परिप्राप्तोपशान्तकषायव्यपदेशः पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्धया वर्द्धमानः क्षपकव्यपदेशमनुभवन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स यदा निःशेषचारित्रमोहक्षपणकारणपरिणामाभिमुखः क्षीणकषायव्यपदेशमास्कन्दन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव द्वितीयशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मनिचयः सन् जिनव्यपदेशभाक् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति।

चारित्र मोहनीय कर्मके एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी प्राप्तिके समय विशुद्धिका प्रकर्ष होनेसे श्रावक होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही प्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी विशुद्धिवश विरत संज्ञाको प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभकी विसंयोजना करता है तब परिणामोंकी विशुद्धिके प्रकर्षवश उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही दर्शनमोहनीयत्रिकरूपी तृणसमूहको भस्मसात् करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिके अतिशयवश दर्शनमोह क्षपक संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहलेसे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणिपर आरोहण करनेके सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीयके उपशम करनेके लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धिके प्रकर्षवश उपशमक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयके उपशमके निमित्त मिलनेपर उपशान्तकषाय संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामोंकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर क्षपक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके कारणोंसे प्राप्त हुए परिणामोंके अभिमुख होकर क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येय गुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही द्वितीय शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा घातिकर्म समूहका नाश करके जिन संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है।

विशेषार्थ—यहाँ मुख्य रूपसे गुणश्रेणि निर्जराके दस स्थानोंका निर्देश किया गया है। असंख्यात गुणितक्रम श्रेणिरूपसे कर्मोंकी निर्जरा होना गुणश्रेणिनिर्जरा है। यह गुणश्रेणि निर्जरा सर्वदा नहीं होती किन्तु उपशमना और क्षपणाके कारणभूत परिणामोंके द्वारा ही गुणश्रेणि रचना होकर यह निर्जरा होती है। गुणश्रेणि रचना दो प्रकारकी होती है—एक तो गलितावशेष गुणश्रेणि रचना और दूसरी अवस्थित गुणश्रेणि रचना। यह कहाँ किस प्रकारकी होती है इसे लब्धिसार क्षपणासारसे जान लेना चाहिए। यहाँ इतना ही विशेष वक्तव्य है कि यहाँ जो दस स्थान बतलाये

१.–भाक् तेष्वेव पूर्वो–मु०।

§ ९०९. आह सम्यग्दर्शनसंनिधानेऽपि यद्यसंख्येयगुणनिर्जरत्वात्परस्परतो न साम्यमेषां किं तर्हि श्रावकवदमी विरतादयो गुणभेदान्न निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति। उच्यते, नैतदेवम्। कुतः। यस्माद् गुणभेदादन्योऽन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात्सर्वेऽपि हि भवन्ति—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

§ ९१०. उत्तरगुणभावना[1]पेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽ[2]विशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते। नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा[3] मोहशबलयुक्ता बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः। कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति। अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तरगुण[4]विराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः। वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीलाः। उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधाः स्नातकाः। त एते पञ्चापि निर्ग्रन्थाः। चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते।

हैं उनमें उत्तरोत्तर गुणश्रेणिनिर्जराके लिए असंख्यातगुणा द्रव्य प्राप्त होता है किन्तु आगे-आगे गुणश्रेणिका काल संख्यातगुणा हीन-हीन है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिको गुणश्रेणि निर्जरामें जो अन्तर्मुहूर्त काल लगता है उससे श्रावकको संख्यात गुणा हीन काल लगता है पर सम्यग्दृष्टि गुणश्रेणि द्वारा जितने कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करता है उससे श्रावक असंख्यात गुणे कर्मपरमाणुओंकी निर्जरा करता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए।

§ ९०९. कहते हैं सम्यग्दर्शनका सान्निध्य होनेपर भी यदि असंख्येयगुण निर्जराके कारण ये परस्परमें समान नहीं हैं तो श्रावकके समान ये विरत आदिक भी केवल गुणभेदके कारण निर्ग्रन्थपनेको नहीं प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए कहते हैं कि यह बात ऐसी नहीं है क्योंकि यतः गुणभेदके कारण परस्पर भेद होनेपर भी नैगमादि नयकी अपेक्षा वे सभी होते हैं—

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं ॥४६॥

§ ९१०. जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतोंमें भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्धपुलाक (तुच्छ धान्य) के समान होनेसे पुलाक कहे जाते हैं। जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्ड रूपसे पालन करते हैं, शरीर और उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेमें लगे रहते हैं, परिवारसे घिरे रहते हैं और विविध प्रकारके मोहसे युक्त होते हैं वे बकुश कहलाते हैं। यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है। कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो परिग्रहसे घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणोंमें परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणोंकी विराधना करते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं। जिन्होंने अन्य कषायोंके उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके अधीन हैं। वे कषायकुशील कहलाते हैं। जिस प्रकार जलमें लकड़ीसे की गयी रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मोंका उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रकट होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करते हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है ऐसे दोनों प्रकारके केवली स्नातक कहलाते हैं। ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं। इनमें चारित्ररूप परिणामोंकी न्यूनाधिकताके कारण भेद होनेपर भी नैगम और संग्रह आदि नयोंकी अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

---

१. –भावनोपेत–मु०। २. शुद्धाः पुलाक–मु०। ३. –वारा मोहछेदशवल–आ०, दि० १। –वारातु मोहसवल –दि० २। ४. –विरोधिनः मु०।

§ ९११. तेषां पुलाकादीनां भूयोऽपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

§ ९१२. त एते पुलाकादयः संयमादिभिरष्टभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येयाः। तद्यथा—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते। कषायकुशीला द्वयोः संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोः पूर्वयोश्च। निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे सन्ति।

§ ९१३. श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः।

§ ९१४. प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्चेति। तत्रोपकरणबकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी। शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।

§ ९१५. तीर्थमिति सर्वे सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थेषु भवन्ति।

§ ९१६. लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः।

---

§ ९११. अब उन पुलाक आदिके सम्बन्धमें पुनरपि ज्ञान प्राप्त करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थानके भेदसे इन निर्ग्रन्थोंका व्याख्यान करना चाहिए ॥४७॥

§ ९१२. ये पुलाक आदि संयम आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा साध्य हैं अर्थात् व्याख्यान करने योग्य हैं। यथा—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमोंमें रहते हैं। कषायकुशील पूर्वोक्त दो संयमोंके साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय इन दो संयमोंमें रहते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक मात्र यथाख्यात संयममें रहते हैं।

§ ९१३. श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्ट रूपसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्य रूपसे पुलाक श्रुत आचार वस्तुप्रमाण होता है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोंका श्रुत आठ प्रवचनमातृका प्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवली होते हैं।

§ ९१४. प्रतिसेवना—दूसरोंके दबाववश जबरदस्तीसे पाँच मूलगुण और रात्रिभोजन वर्जन व्रतमें से किसी एकको प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक होता है। बकुश दो प्रकारके होते हैं, उपकरणबकुश और शरीरबकुश। उनमें से अनेक प्रकारकी विशेषताओंको लिये हुए उपकरणोंको चाहनेवाला उपकरणबकुश होता है तथा शरीरका संस्कार करनेवाला शरीरबकुश होता है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणोंकी विराधना न करता हुआ उत्तरगुणोंकी विराधनाकी प्रतिसेवना करनेवाला होता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके प्रतिसेवना नहीं होती।

§ ९१५. तीर्थ—ये सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें होते हैं।

§ ९१६. लिंग—लिंग दो प्रकारका है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी अपेक्षा पाँचों ही साधु निर्ग्रन्थ लिंगवाले होते हैं। द्रव्यलिंग अर्थात् शरीरकी ऊँचाई, रंग व पीछी आदिकी अपेक्षा उनमें भेद है।

§ ९१७. लेश्याः—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रः बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि[1]। कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः। सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला। अयोगा अलेश्याः।

§ ९१८. उपपादः—पुलाकस्योत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्टस्थितिदेवेषु सहस्रारे। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।

§ ९१९. स्थानम्—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः। तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः। ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गच्छत्येकाकी। ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति। ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं[2] प्राप्नोतीत्येतेषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः।

---

§ ९१७. लेश्या—पुलाकके आगेकी तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलके छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशीलके अन्तकी चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय कषायकुशीलके तथा निर्ग्रन्थ और स्नातकके केवल शुक्ल लेश्या होती है और अयोगी लेश्यारहित होते हैं।

§ ९१८. उपपाद—पुलाकका उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार कल्पके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत कल्पमें बाईस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थका उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धिमें तैंतीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें होता है। इन सभीका जघन्य उपपाद सौधर्म कल्पमें दो सागर की स्थितिवाले देवोंमें होता है। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं।

§ ९१९. स्थान—कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक और कषायकुशीलके सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों असंख्यात स्थानोंतक एक साथ जाते हैं। इसके बाद पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है। आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानोंतक अकेला जाता है। इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थानोंतक एक साथ जाते हैं। यहाँ बकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। पुनः इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषाय कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त होता है। उसकी भी असंख्यातस्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाणको प्राप्त होता है। इनकी संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमें नौवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. षडपि। कृष्णलेश्यादित्रितयं तयोः कथमिति चेदुच्यते–तयोरुपकरणासक्तिसंभवादार्तध्यानं कदाचित्संभवति, आर्तध्यानेन च कृष्णादिलेश्यात्रितयं संभवतीति। कषाय–मु०। २. प्राप्नोति तेषां मु०।

अथ दशमोऽध्यायः

§ ९२०. आह, अन्ते निर्दिष्टस्य मोक्षस्येदानीं स्वरूपाभिधानं प्राप्तकालमिति। सत्यमेवम्। मोक्षप्राप्तिः केवलज्ञानावाप्तिपूर्विकेति केवलज्ञानोत्पत्तिकारणमुच्यते—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

§ ९२१. इह वृत्तिकरणं न्याय्यम्। कुतः। लघुत्वात्। कथम्[2]। एकस्य 'क्षय'शब्दस्याकरणाद् विभक्त्यन्तरनिर्देशस्य चाभावात् 'च' शब्दस्य चाप्रयोगाल्लघु सूत्रं भवति 'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' इति। सत्यमेतत्, क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः क्रियते। प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति। तत्क्षयो[3] हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणो विभक्तिनिर्देशः कृतः। कथं प्रागेव मोहः क्षयमुपनीयते इति चेदुच्यते—भव्यः सम्यग्दृष्टिः परिणामविशुद्ध्या वर्धमानोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानेषु कस्मिंश्चिन्मोहस्य सप्त प्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखोऽधःप्रवृत्तकरणमप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्यापूर्वकरणप्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धितनूकृतपापप्रकृतिस्थित्यनु-

---

§ ९२०. कहते हैं कि अन्तमें कहे गये मोक्षके स्वरूपके कथनका अब समय आ गया है। यह कहना सही है तथापि केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने पर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिए पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कारणोंका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है ॥१॥

§ ९२१. इस सूत्रमें समास करना उचित है क्योंकि इससे सूत्र लघु हो जाता है। **शंका**—कैसे ? **प्रतिशंका**—क्योंकि ऐसा करनेसे एक क्षयशब्द नहीं देना पड़ता है और दूसरी विभक्तिके निर्देशका अभाव हो जानेसे 'च' शब्दका प्रयोग नहीं करना पड़ता है इसलिए सूत्र लघु हो जाता है। यथा—'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्'। **समाधान**—यह कहना सही है तथापि क्षयके क्रमका कथन करनेके लिए वाक्योंका भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोहका क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त कालतक क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका एक साथ क्षय करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है। इन कर्मोंका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्तिका निर्देश किया है। **शंका**—पहले ही मोहके क्षयको कैसे प्राप्त होता है ? **समाधान**—वृद्धिको प्राप्त होता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोंमें-से किसी एक गुणस्थानमें मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपकश्रेणिपर आरोहण करनेके लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तकरणको प्राप्त होकर अपूर्वकरणके प्रयोग द्वारा अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान संज्ञाका अनुभव करके और वहाँपर नूतन-परिणामोंकी विशुद्धिवश

---

१. -ज्ञानास्ति-आ०। २. कथम् ? क्षय-मु०। ३. तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति मु०, ता०।

भागो विवर्धितशुभकर्मानुभवोऽनिवृत्तिकरणप्राप्त्यानिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमधिरुह्य तत्र कषायाष्टकं नष्टं कृत्वा नपुंसकवेदनाशं समापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने, क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं[1] च लोभसंज्वलने क्रमेण बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसांपरायक्षपकत्वमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकषायं कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्यावतारितमोहनीयभार उपान्त्यप्रथमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां[2] चान्तमन्ते समुपनीय[3] तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेषमवाप्नोति।

§ ९२२. आह कस्माद्धेतोर्मोक्षः किंलक्षणश्चेत्यत्रोच्यते—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

§ ९२३. मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्माभावः पूर्वोदितनिर्जराहेतुसंनिधाने चार्जितकर्मनिरासः। ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः। ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य[4] युगपदात्यन्तिकः[5] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः प्रत्येतव्यः। कर्माभावो द्विविधः—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः असत्त्वात्। यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिंश्चि-

---

पापप्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभागको कृश करके तथा शुभकर्मोंके अनुभागकी वृद्धि करके अनिवृत्तिकरणकी प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादरसाम्पराय क्षपकगुणस्थानपर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायोंका नाश करके तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्रमसे नाश करके, छह नोकषायका पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेदका क्रोधसंज्वलनमें, क्रोधसंज्वलनका मानसंज्वलनमें. मानसंज्वलनका मायासंज्वलनमें और मायासंज्वलनका लोभसंज्वलनमें क्रमसे बादरकृष्टिविभागके द्वारा संक्रमण करके तथा लोभसंज्वलनको कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्वका अनुभव करके, समस्त मोहनीयका निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थानपर आरोहण करके, मोहनीयके भारको उतारकर क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचलाका नाश करके तथा अन्तिम समयमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शनस्वभावरूप केवल पर्यायको प्राप्त होता है।

§ ९२२. कहते हैं कि किस कारणसे मोक्ष प्राप्त होता है और उसका लक्षण क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध-हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है ॥२॥

§ ९२३. मिथ्यादर्शनादिक हेतुओंका अभाव होनेसे नूतन कर्मोंका अभाव होता है और पहले कही गयी निर्जरारूप हेतुके मिलनेपर अर्जित कर्मोंका नाश होता है। इन दोनोंसे 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्' यह हेतुपरक विभक्तिका निर्देश है। जिसने भवस्थितिके हेतुभूत आयुकर्मके बराबर शेष कर्मोंकी स्थितिको कर लिया है उसके उक्त कारणोंसे एक साथ समस्त कर्मोंका आत्यन्तिक वियोग होना मोक्ष है ऐसा जानना चाहिए। कर्मका अभाव दो प्रकारका है—यत्नसाध्य और अयत्नसाध्य। इनमें-से चरम देहवालेके नरकायु, तिर्यंचायु और देवायुका अभाव यत्नसाध्य नहीं होता, क्योंकि उसके उनका सत्त्व नहीं उपलब्ध होता। यत्नसाध्य अभाव इससे आगे कहते हैं—असंयत-

---

१. –लनं लोभ–मु०। २. –याणामन्त–मु०। ३. समुपगमय्य तद–मु०, ता०। ४. –वस्थितस्य मु०, ता०। ५. –दात्यतीकृतक–मु०।

त्सप्तप्रकृतिक्षयः क्रियते । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञिकानां षोडशानां कर्मप्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसांपरायस्थाने युगपत्क्षयः क्रियते । ततः परं तत्रैव कषायाष्टकं नष्टं क्रियते । नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च[1] क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति । नोकषायषट्कं[2] च सहैकेनैव प्रहारेण विनिपातयति । ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायाः क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसमास्कन्दन्ति । लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसांपरायान्ते यात्यन्तम् । निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थस्योपान्त्यसमये प्रलयमुपव्रजतः । पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च तस्यैवान्त्यसमये प्रक्षयो भवति । अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरपञ्चबन्धनपञ्चसंघातसंस्थानषट्कौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपञ्चप्रशस्तवर्णपञ्चाप्रशस्तवर्णगन्धद्वयपञ्चप्रशस्तरसपञ्चाप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनामनीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयोऽयोगकेवलिन उपान्त्यसमये विनाशमुपयान्ति । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगकेवलिनश्चरमसमये व्युच्छेदो भवति ।

सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानमें सात प्रकृतियोंका क्षय करता है। पुनः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नामवाली सोलह कर्मप्रकृतियोंका अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानमें एक साथ क्षय करता है। इसके बाद उसी गुणस्थानमें आठ कषायोंका नाश करता है। पुनः वहींपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्रमसे क्षय करता है। तथा छह नोकषायोंको एक ही प्रहारके द्वारा गिरा देता है। तदनन्तर पुरुषवेद संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमाया वहाँपर क्रमसे अत्यन्त क्षयको प्राप्त होते हैं। तथा लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें विनाशको प्राप्त होता है। निद्रा और प्रचला क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थानके उपान्त्य समयमें प्रलयको प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका उसी गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है। कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, छह संहनन, पाँच प्रशस्तवर्ण, पाँच अप्रशस्तवर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्तरस, पाँच अप्रशस्तरस, आठ स्पर्श, देवगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र नामवाली बहत्तर प्रकृतियोंको अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें विनष्ट करता है तथा कोई एक वेदनीय मनुष्य आयु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियोंका अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें वियोग होता है।

विशेषार्थ—कुल उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से चरमशरीरी जीवके नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सत्त्व होता ही नहीं। आहारकचतुष्क और तीर्थंकरका सत्त्व किसीके होता है

---

१. –वेदश्च तत्रैव मु० । २. नोकषायाष्टकं च सहै–मु० ।

§ ९२४. आह, किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयते उत भावकर्मणोऽपीत्यत्रोच्यते—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

§ ९२५. किम् । 'मोक्षः' इत्यनुवर्तते । भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकनिवृत्त्यर्थम् । तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्यौपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यभ्युपगम्यते ।

§ ९२६. आह, यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते ननु[1] औपशमिकादिभावनिवृत्तिवत्सर्वक्षायिकभावनिवृत्तिर्व्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति । स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत । अस्त्यत्र विशेष इत्यपवादविधानार्थमिदमुच्यते—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

§ ९२७. अन्यत्रशब्दापेक्षया 'का'निर्देशः[2] । केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यत्रान्यस्मिन्नयं विधिरिति । यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति । नैष दोषः,

---

और किसीके नहीं होता । इनके सिवा शेष प्रकृतियोंका सत्त्व नियमसे होता है । यह जीव गुणस्थान क्रमसे बन्धहेतुओंका अभाव करता है इसलिए क्रमसे नूतन बन्धका अभाव होता जाता है और सत्तामें स्थित प्राचीन प्रकृतियोंका परिणाम-विशेषसे क्षय करता जाता है इसलिए सत्तामें स्थित कर्मोंका भी अभाव होता जाता है और इस प्रकार अन्तमें सब कर्मोंका वियोग हो जानेसे यह जीव मुक्त होता है । यहाँ मोक्ष शब्दका प्रयोग कर्म, नोकर्म और भावकर्मके वियोग अर्थमें किया गया है । संसारी जीव बद्ध है अतएव वह परतन्त्र है । उसके बन्धनके टूट जाने पर वह मुक्त होता है अर्थात् अपनी स्वतन्त्रताको प्राप्त करता है । इस प्रकार मोक्ष क्या है इसका निर्देश किया ।

§ ९२४. कहते हैं कि क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रकृतियोंके वियोगसे ही मोक्ष मिलता है या भावकर्मोंके भी अभावसे मोक्ष मिलता है इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तथा औपशमिक आदि भावों ओर भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है ॥३॥

§ ९२५. क्या होता है ? मोक्ष होता है । यहाँ पर 'मोक्ष' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । अन्य पारिणामिक भावोंकी निवृत्ति करनेके लिए सूत्रमें भव्यत्व पदका ग्रहण किया है । इससे पारिणामिक भावोंमें भव्यत्वका और औपशमिक आदि भावोंका अभाव होनेसे मोक्ष होता है यह ज्ञात होता है ।

§ ९२६. कहते हैं, यदि भावोंके अभाव होनेसे मोक्षकी प्रतिज्ञा करते हो तो औपशमिक आदि भावोंकी निवृत्तिके समान समस्त क्षायिक भावोंकी निवृत्ति मुक्त जीवके प्राप्त होती है ? यह ऐसा होवे यदि इसके सम्बन्धमें कोई विशेष बात न कही जावे तो । किन्तु इस सम्बन्धमें विशेषता है इसलिए अपवादका विधान करनेके लिए यह आगेका सूत्र कहते हैं—

पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भावका अभाव नहीं होता ॥४॥

§ ९२७. यहाँ पर अन्यत्र शब्दकी अपेक्षा पंचमी विभक्तिका निर्देश किया है । केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इनके सिवा अन्य भावोंमें यह विधि होती है । **शंका**—सिद्धोंके यदि चार ही भाव शेष रहते हैं तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है ।

---

१. –यते नत्वौप–मु० । –यतेतदौप– ता० । २. 'कापदाने' –जैनेन्द्र० १, ४, ४१ । 'अपादाने कारके का विभक्तिर्भवति ।' – वृत्तिः । प्रतिषु 'को निर्देशः' इति पाठः ।

ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वादनन्तवीर्यादीनामविशेषः,अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावाज्ज्ञान-मयत्वाच्च[1] सुखस्येति । अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न; अतीतानन्तरशरीराकारत्वात्[2] ।

§ ९२८. स्यान्मतं, यदि शरीरानुविधायी जीवः, तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति । नैष दोषः । कुतः । कारणाभावात् । नामकर्मसंबन्धो[3] हि संहरणविसर्पणकारणम् । तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः ।

§ ९२९. यदि कारणाभावान्न संहरणं न विसर्पणं तर्हि गमनकारणाभावादूर्ध्वगमनमपि न प्राप्नोति अधस्तिर्यग्गमनाभाववत्, ततो यत्र मुक्तस्तत्रैवावस्थानं प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥ ५ ॥

§ ९३०. तस्यानन्तरम् । कस्य । सर्वकर्मविप्रमोक्षस्य । आङभिविध्यर्थः । ऊर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ।

§ ९३१. अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमित्यत्रोच्यते—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

§ ९३२. आह, हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमित्यत्रोच्यते—

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ज्ञानदर्शनके अविनाभावी अनन्तवीर्य आदिक भी सिद्धोंमें अवशिष्ट रहते हैं। क्योंकि अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति नहीं हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है। **शंका**—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोंका अभाव प्राप्त होता है। **समाधान**—नहीं। क्योंकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है।

§ ९२८. **शंका**—यदि जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है तो शरीरका अभाव होनेसे उसके स्वाभाविक लोकाकाशक प्रदेशोंके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है। **समाधान**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। नामकर्मका सम्बन्ध जीवके संकोच और विस्तारका कारण है किन्तु उसका अभाव हो जाने से जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं होता।

§ ९२९. यदि कारणका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं होता तो गमनके कारणका अभाव हो जानेसे जिस प्रकार यह जीव तिरछा और नीचेकी ओर गमन नहीं करता है उसी प्रकार उसका ऊर्ध्वगमन भी नहीं प्राप्त होता है। इसलिए जिस स्थानपर मुक्त होता है उसी स्थानपर उसका अवस्थान प्राप्त होता है, ऐसी शंकाके होनेपर आगेके सूत्र द्वारा उसका समाधान करते हैं।

तदनन्तर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ऊपर जाता है ॥५॥

§ ९३०. उसके अनन्तर। **शंका**—किसके ? **समाधान**—सब कर्मोंके वियोग होनेके। सूत्रमें 'आङ्' पद अभिविधि अर्थमें आया है। लोकके अन्त तक ऊपर जाता है।

§ ९३१. जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है इसका कोई हेतु नहीं बतलाया, इसलिए इसका निश्चय कैसे होता है अतः इसी बातका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वप्रयोगसे, संगका अभाव होनेसे, बन्धनके टूटनेसे और वैसा गमन करना स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥६॥

§ ९३२. कहते हैं, पुष्कल भी हेतु दृष्टान्त द्वारा समर्थनके बिना अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं होते इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१. -मयपर्यायत्वाच्च मु०, ता०। २. अतीतानन्तशरी-मु०। ३. -कर्मसंसर्गो हि ता०।

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

§ ९३३. पूर्वसूत्रे[1] विहितानां हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्तानां च यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा—कुलालप्रयोगापादितहस्तदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणम्। उपरतेऽपि तस्मिन्पूर्वप्रयोगादा संस्कारक्षयाद् भ्रमति। एवं भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं तदभावेऽपि तदावेश-पूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते। किं च, असङ्गत्वात्। यथा मृत्तिकालेपजनितगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधःपतितं जलक्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभाराक्रान्तिवशी-कृत आत्मा तदावेशवशात्संसारे अनियमेन गच्छति। तत्सङ्गविमुक्त[2]स्तूपर्येवोपयाति। किं च, बन्धच्छेदात्। यथा बीजकोशबन्धच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजाति-नामादिसकलकर्मबन्धच्छेदान्मुक्तस्य ऊर्ध्वगतिरवसीयते। किं च, तथागतिपरिणामात्। यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिर्वारणे सत्यूर्ध्वगतिस्वभावा[3]दूर्ध्वमेवारोहति।

§ ९३४. आह, यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

घुमाये गये कुम्हारके चक्रके समान, लेपसे मुक्त हुई तूमड़ीके समान, एरण्डके बीजके समान और अग्निकी शिखाके समान ॥७॥

§ ९३३. पिछले सूत्रमें कहे गये सूत्रोंका और इस सूत्रमें कहे गये दृष्टान्तोंका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—कुम्हारके प्रयोगसे किया गया हाथ, दण्ड और चक्रके संयोगपूर्वक जो भ्रमण होता है उसके उपरत हो जानेपर भी पूर्व प्रयोगवश संस्कारका क्षय होने तक चक्र घूमता रहता है। इसी प्रकार संसारमें स्थित आत्माने मोक्षकी प्राप्तिके लिए जो अनेक बार प्रणिधान किया है उसका अभाव होनेपर भी उसके आवेश पूर्वक मुक्त जीवका गमन निश्चित होता है। असंगत्वात्—जिस प्रकार मृत्तिकाके लेपसे तूमड़ीमें जो भारीपन आ जाता है उससे जलके नीचे पड़ी हुई तूमड़ी जलसे मिट्टीके गीले हो जानेके कारण बन्धनके शिथिल होनेसे शीघ्र ही ऊपर ही जाती है उसी प्रकार कर्मभारके आक्रमणसे आधीन हुआ आत्मा उसके आवेशवश संसारमें अनियमसे गमन करता है किन्तु उसके संगसे मुक्त होनेपर ऊपर ही जाता है। बन्धच्छेदात्—जिस प्रकार बीजकोषके बन्धनके टूटनेसे एरण्ड बीजकी ऊर्ध्व गति देखी जाती है उसी प्रकार मनुष्यादि भवको प्राप्त करानेवाले गतिनाम और जातिनाम आदि समस्त कर्मोंके बन्धका छेद होनेसे मुक्त जीवकी ऊर्ध्व-गति जानी जाती है। तथागतिपरिणामात्—जिस प्रकार तिर्यग्वहन स्वभाववाले वायुके सम्बन्धसे रहित प्रदीपशिखा स्वभावसे ऊपरकी ओर गमन करती है उसी प्रकार मुक्त आत्मा भी नानागति रूप विकारके कारणभूत कर्मका अभाव होनेपर ऊर्ध्वगति स्वभाव होनेसे ऊपरकी ओर ही आरोहण करता है।

§ ९३४. कहते हैं कि यदि मुक्तजीव ऊर्ध्व गति स्वभाववाला है तो लोकान्तसे ऊपर भी किस कारणसे नहीं गमन करता है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे मुक्त जीव लोकान्तसे और ऊपर नहीं जाता ॥८॥

---

१. पूर्वसूत्रोदितानां–मु०। २. –विप्रमुक्तौ तूपर्येवोप–मु०। –विमुक्ते तूपर्येवोप–ता०। –विमुक्तोऽत्र–दि० १, दि० २। ३. –भावत्वादू–मु०।

§ ९३५. गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते।

§ ९३६. आह, अमी परिनिर्वृत्ता गतिजात्यादिभेदकारणाभावादतीतभेदव्यवहारा एवेति। अस्ति कथंचिद् भेदोऽपि। कुतः—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-
वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

§ ९३७. क्षेत्रादिभिर्द्वादशभि[1]रनुयोगैः सिद्धाः साध्या विकल्प्या इत्यर्थः, प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयविवक्षावशात्। तद्यथा—क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति। भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म[2] प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः। कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्धचन् सिद्धो भवति। भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिध्यति। विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिध्यति। न तु दुःषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति। गत्या कस्यां गतौ सिद्धिः। सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वा। लिङ्गेन केन सिद्धिः। अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः

---

§ ९३५. गतिरूप उपकारका कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्तके ऊपर नहीं है इसलिए अलोकमें गमन नहीं होता। और यदि अलोकमें गमन माना जाता है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है।

§ ९३६. कहते हैं कि निर्वाणको प्राप्त हुए ये जीव गति जाति आदि भेदके कारणोंका अभाव होनेसे भेद व्यवहारसे रहित ही हैं। फिर भी इनमें कथंचित् भेद भी है क्योंकि—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं ॥९॥

§ ९३७. क्षेत्रादिक तेरह अनुयोगोंके द्वारा सिद्ध जीव साध्य हैं अर्थात् विभाग करने योग्य हैं और यह विभाग वर्तमान और भूतका अनुग्रह करनेवाले दो नयोंकी विवक्षासे किया गया है। यथा—क्षेत्रकी अपेक्षा किस क्षेत्रमें सिद्ध होते हैं। वर्तमानको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा सिद्धि क्षेत्रमें, अपने प्रदेशमें या आकाश-प्रदेशमें सिद्धि होती है। अतीतको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्रमें सिद्धि होती है। काल—कालकी अपेक्षा किस कालमें सिद्धि होती है? वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है। अतीतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा सामान्य रूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेष रूपसे अवसर्पिणी कालमें सुषमा-दुःषमाके अन्त भागमें और दुःषमा-सुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुःषमामें उत्पन्न हुआ दुःषमामें सिद्ध नहीं होता। इस कालको छोड़कर अन्यकाल में सिद्ध नहीं होता है। संहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें सिद्ध होता है। गति—गतिकी अपेक्षा किस गतिमें सिद्धि होती है? सिद्धगतिमें या मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है। लिङ्ग—किस लिङ्गसे सिद्धि होती है? अवेद भावसे या तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है। यह कथन भावकी अपेक्षा है द्रव्यकी अपेक्षा नहीं। द्रव्यकी

---

१. -दिभिः त्रयोदश-ता॰ ना॰। २. जन्मप्रभृति पञ्चदशकर्म-मु॰।

पुल्लिङ्गेनैव। अथवा निर्ग्रन्थलिङ्गेन। सग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। तीर्थेन[1], तीर्थसिद्धिः द्वेधा, तीर्थकरेतरविकल्पात्। इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति। चारित्रेण केन सिध्यति। अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः। स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः। ज्ञानेन केन। एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः। आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद् द्विविधम्, उत्कृष्टजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशोनाः। मध्ये विकल्पाः। एकस्मिन्नवगाहे सिध्यति। किमन्तरम्। सिध्यतां सिद्धानामनन्तरं[2] जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ। अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः। संख्या, जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषोऽल्पबहुत्वम्। तद्यथा—प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते, क्षेत्रसिद्धा द्विविधा—जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पे संहरणसिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः। क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति। तत्र स्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः। अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। सर्वतः स्तोकाः समुद्रसिद्धाः। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवं तावदविशेषेण। सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः

अपेक्षा पुंलिंगसे ही सिद्धि होती है अथवा निर्ग्रन्थलिंगसे सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिंगसे सिद्धि होती है। तीर्थ—तीर्थसिद्धि दो प्रकारकी है—तीर्थंकरसिद्ध और इतरसिद्ध। इतर दो प्रकारके हैं, कितने ही जीव तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कितने ही जीव तीर्थंकरके अभावमें सिद्ध होते हैं। चारित्र—किस चारित्रसे सिद्धि होती है? नामरहित चारित्रसे सिद्धि होती है या एक, चार और पाँच प्रकारके चारित्रसे सिद्धि होती है। प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध—अपनी शक्ति रूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे प्रत्येकबुद्ध होते हैं और परोपदेश रूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बोधितबुद्ध होते हैं, इस प्रकार ये दो प्रकारके हैं। ज्ञान—किस ज्ञानसे सिद्धि होती है। एक, दो, तीन और चार प्रकारके ज्ञानविशेषोंसे सिद्धि होती है। अवगाहना—आत्मप्रदेशमें व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पचीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि है। बीचके भेद अनेक हैं। किसी एक अवगाहनामें सिद्धि होती है। अन्तर—क्या अन्तर है? सिद्धिको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंका जघन्य अनन्तर दो समय है और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है। जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। संख्या—जघन्य रूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूपसे एक समयमें एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं। अल्पबहुत्व—क्षेत्रादि भेदोंकी अपेक्षा भेदको प्राप्त हुए जीवोंकी परस्पर संख्याका विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है। यथा—वर्तमान नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षा विचार करते हैं—क्षेत्रसिद्ध जीव दो प्रकारके हैं—जन्मसिद्ध और संहरणसिद्ध। इनमें-से संहरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं। इनसे जन्मसिद्ध जीव संख्यातगुणे हैं। क्षेत्रोंका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक। इनमें से ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे अधोलोक सिद्ध संख्यातगुणे हैं, इनसे तिर्यग्लोकसिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे द्वीपसिद्ध संख्यातगुणे हैं। यह सामान्य रूपसे कहा है। विशेष रूपसे विचार करनेपर लवण समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे

---

१. तीर्थेन केन तीर्थेन सिद्धिः मु०। २. सिद्धानामन्तरं मु०।

संख्येयगुणाः। जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करद्वीपार्ध[1]-सिद्धाः संख्येयगुणा इति। एवं कालादिविभागेऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदितव्यम् ॥१०॥

§ ९३८. स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
जैनेन्द्रशासनवरामृतसार ता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥१॥
तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥२॥
येनेदमप्रतिहतं सकलार्थतत्त्व-
मुद्द्योतितं विमलकेवललोचनेन।
भक्त्या तमद्भुतगुणं प्रणमामि वीर-
मारान्नरामरगणार्चितपादपीठम् ॥३॥

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां दशमोऽध्यायः समाप्तः।

शुभं भवतु सर्वेषाम्।

कालोदसिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे जम्बूद्वीपसिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे धातकी खंड सिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे पुष्करार्द्धद्वीपसिद्ध संख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार कालादिका विभाग करनेपर भी आगमके अनुसार अल्पबहुत्व जान लेना चाहिए।

§ ९३८. स्वर्ग और अपवर्गके सुखको चाहनेवाले आर्य पुरुषोंने इस तत्त्वार्थवृत्तिका सर्वार्थसिद्धि यह नाम रखा है। यह जिनेन्द्रदेवके शासनरूपी अमृतका सार है, अतः मनःपूर्वक इसे निरन्तर धारण करना चाहिए ॥१॥ सब तत्त्वोंके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्मभक्तिसे सुनते हैं और पढ़ते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखामृतको अपने हाथमें ही कर लिया है, फिर, चक्रवर्ती और देवेन्द्रके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥२॥ जिन्होंने अपने विमल केवलज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा इस निर्विवाद सकल तत्त्वार्थका प्रकाश किया है, मनुष्यों और देवोंके द्वारा पूजित अद्भुतगुणवाले उन वीर भगवान् को भक्तिपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. –द्वीपसिद्धाः मु०।

परिशिष्ट १

सूत्रपाठ

प्रथम अध्याय

सूत्र	पैराग्राफ संख्या
१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।	४
२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।	९
३. तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।	१३
४. जीवाजीवास्रव[1]बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।	१७
५. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।	२१
६. प्रमाणनयैरधिगमः ।	२३
७. निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।	२५
८. सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।	३२
९. मतिश्रुतावधिमनःपर्यय[2]केवलानि ज्ञानम्	१६३
१०. तत्प्रमाणे ।	१६५
११. आद्ये परोक्षम् ।[3]	१७३
१२. प्रत्यक्षमन्यत् ।	१७५
१३. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।	१८१
१४. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।	१८४
१५. अवग्रहेहावाय[4]धारणाः ।	१८९
१६. बहुबहुविधक्षिप्रानि[5]ःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।	१९१
१७. अर्थस्य ।	१९७
१८. व्यञ्जनस्यावग्रहः ।	१९९
१९. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।	२०१
२०. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।	२०५
२१. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।[6]	२१२
२२. क्षयोपशमनिमित्तः[7] षड्विकल्पः शेषाणाम् ।	२१४
२३. ऋजुविपुलमतीमनःपर्ययः ।[8]	२१६
२४. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः	२१९
२५. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ।[9]	२२१
२६. मतिश्रुतयोर्निबन्धो[10] द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।	२२३

---

१. आश्रव—हारिभ० । २. मनःपर्याय—त० भा० । ३. तत्र आद्ये—हारिभ० । ४.—हेहापाय—त०, भा०, हारिभ० सि० । तत्त्वार्थवार्तिकमें 'अवाय और अपाय' दोनों पाठ हैं । ५.—निश्रिता—त० भा०, क्षिप्रनिःसृतानु— स०, श्रितनिश्चितध्रु— सि० वृ० पा० । ६. त० भा० में भवप्रत्ययो इत्यादि सूत्रके स्थान पर द्विविधोऽवधिः ॥२१॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥२२॥ ऐसे दो सूत्र हैं । ७. यथोक्तनिमित्तः । त० भा० । ८. —मनःपर्यायः । त० भा० । ९.—मनःपर्याययोः । त० भा० । १०. सर्वद्रव्ये—त० भा० ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

दूसरा अध्याय

---

१. मनःपर्यायस्य त० भा० । २.–श्रुतिविभंगा विप– हारिभ० । ३.–सूत्रशब्दा नयाः त० भा० । ४.–त० भ० में आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥३५॥ यह सूत्र अधिक है । ५.–दानादिलब्धय–त० भा० । ६–त० भा० में 'यथाक्रमम्' इतना पाठ अधिक है । ७. सिद्धत्व–त० भा० । ८. भव्यत्वादीनि–त० भा० । ९. 'स' पाठ नहीं है सि० वृ० पा० । १०. 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' त० भा० । ११. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः त० भा० । १२. 'स्पर्शनरसन'–इत्यादि सूत्रके पूर्व 'उपयोगः स्पर्शादिषु' ॥१९॥ यह सूत्र त० भा० में अधिक है । १३. शब्दास्तेषामर्थाः । त० भा० ।

२२. वनस्पत्यन्तानामेकम्।[1] ३०३
२३. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि। ३०५
२४. संज्ञिनः समनस्काः। ३०७
२५. विग्रहगतौ कर्मयोगः। ३०९
२६. अनुश्रेणि गतिः। ३११
२७. अविग्रहा जीवस्य। ३१३
२८. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। ३१५
२९. एकसमयाविग्रहा।[2] ३१७
३०. एकं द्वौ[3] त्रीन्वानाहारकः। ३१९
३१. संमूर्च्छनगर्भोपपादा[4] जन्म। ३२१
३२. सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। ३२३
३३. जरायुजाण्डज[5]पोतानां गर्भः। ३२५
३४. देवनारकाणामुपपादः[6]। ३२७
३५. शेषाणां संमूर्च्छनम्। ३२८
३६. औदारिकवैक्रियिकाहा[7]रकतैजसकार्मणानि शरीराणि। ३३०
३७. परं परं सूक्ष्मम्। ३३२
३८. प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ३३४
३९. अनन्तगुणे परे। ३३६
४०. अप्रतीघाते[8]। ३३८
४१. अनादिसंबन्धे च। ३४०
४२. सर्वस्य। ३४२
४३. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना[9]चतुर्भ्यः। ३४४
४४. निरुपभोगमन्त्यम्। ३४६
४५. गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम्। ३४८
४६. औपपादिकं वैक्रियिकम्।[10] ३५०
४७. लब्धिप्रत्ययं च। ३५२
४८. तैजसमपि।[11] ३५४
४९. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं[12] प्रमत्तसंयतस्यैव। ३५६
५०. नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि। ३५८
५१. न देवाः। ३६०
५२. शेषास्त्रिवेदाः।[13] ३६२
५३. औपपादिकचरमोत्तमदेहा[14]ऽसंख्येय[15]वर्षायुषोनपवर्त्यायुषः। ३६४

इति द्वितीयोऽध्यायः।

---

१. वाय्वन्तानामेकम् त० भा०। २. एकसमयोऽविग्रहः त० भा०। ३. द्वौ वानाहारकः त० भा०। ४. –गर्भोपपाता त० भा०। ५. जराय्वण्डपोतजानां त० भा०। ६. नारकदेवानामुपपातः त० भा०। ७. –वैक्रियाहारक–। त० भा०। ८. अप्रतिघाते। त० भा०। ९. युगपदेकस्या। १०. वैक्रियमौपपातिकम्। त० भा०। ११. त० भा० में यह सूत्र नहीं है। १२. चतुर्दशपूर्वधरस्यैव। त० भा० में इतना पाठ अधिक है। १३. त० भा० में यह सूत्र नहीं है। १४. 'चरमदेहा' यह भी पाठान्तर है। स०, त० वा०। १५. औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येय–। त० भा०।

तीसरा अध्याय

---

१. त० भा० में पृथुतराः पाठ अधिक है। २. त० भा० में तासु नरकाः इतना ही सूत्र है। नरकोंकी संख्याएँ तत्त्वार्थ भाष्यमें दी हैं। ३. त० भा० में नारकाः यह पाठ नहीं है। ४. –लवणादयः त० भा०। ५. त० भा० में 'तत्र' इतना पाठ अधिक है। ६. वंशधरपर्वताः सि०। ७. यहाँसे लेकर आगे 'द्विर्धातकीखण्डे' इस सूत्रके पूर्वतकके २१ सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें नहीं हैं।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चौथा अध्याय

---

१. म्लिशश्च । त० भा०, हारिभ० । २. परापरे । त० भा० । ३. तिर्यग्योनीनां च त० भा० । ४. -श्चतुर्निकायाः त० भा० । ५. त० भा० में तृतीयः पीतलेश्यः ऐसा सूत्र है । ६. -पारिषद्यात्म०-त० भा० । ७. त० भा० में इस सूत्र के आगे 'पीतान्तलेश्याः' सूत्र अधिक है । ८. त० भा० में द्वयोर्द्वयोः इतना पाठ अधिक है । ९. गान्धर्व०-त० भा० । १०. सूर्याश्चन्द्रमसो । त० भा० । ११. प्रकीर्णतारकाश्च । त० भा० । १२. -ब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत-त० भा० । १३. सर्वार्थसिद्धे च त० भा० ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

पाँचवाँ अध्याय

---

१. पीतमिश्र-पद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु इति त० भा० । २. लोकान्तिकाः त० भा० । ३. व्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च । त० भा० । ४. औपपातिक-त० भा० । ५. इस एक सूत्र के स्थान पर त० भा० में चार सूत्र हैं । वे इस प्रकार हैं:—स्थितिः॥२९॥ भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्॥३०॥ शेषाणां पादोने॥३१॥ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥३२॥ ६. त० भा० में इस एक सूत्र के स्थान पर 'सौध-र्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥ सागरोपमे ॥३४॥ अधिके ॥३५॥ ऐसे तीन सूत्र हैं । ७. त० भा० में 'सप्त सानत्कुमारे' ऐसा सूत्र है । ८. त० भा० में 'विशेषत्रिसप्तदशैकादशपञ्चदशभिरधिकानि च' ऐसा सूत्र है । ९. सर्वार्थसिद्धे च त० भा० । १०. -मधिकं च त० भा० । ११. त० भा० में इस सूत्र के पूर्व दो सूत्र और पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—सागरोपमे ॥४०॥ अधिके च॥४१॥ १२. ज्योतिष्काणामधिकम् त० भा०। १३. इस सूत्रके स्थान पर त० भा० में निम्नलिखित सूत्र हैं:—ग्रहाणामेकम् ॥४९॥ नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥ तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥ जघन्या त्वष्टभागः ॥५२॥ चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५४॥ १४. त० भा० में यह सूत्र नहीं है । १५. त० भा० में 'द्रव्याणि जीवाश्च' ऐसा दो सूत्रोंके स्थान पर एक सूत्र है ।

४. नित्यावस्थितान्यरूपाणि । ५३२
५. रूपिणः पुद्गलाः । ५३४
६. आ[1] आकाशादेकद्रव्याणि । ५३६
७. निष्क्रियाणि च । ५३८
८. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्[2] । ५४०
९. आकाशस्यानन्ताः । ५४२
१०. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् । ५४४
११. नाणोः । ५४६
१२. लोकाकाशेऽवगाहः । ५४८
१३. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । ५५०
१४. एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । ५५२
१५. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् । ५५४
१६. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां[3] प्रदीपवत् । ५५६
१७. गतिस्थित्युपग्रहौ[4] धर्माधर्मयोरुपकारः । ५५८
१८. आकाशस्यावगाहः । ५६०
१९. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् । ५६२
२०. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च । ५६४
२१. परस्परोपग्रहो जीवानाम् । ५६६
२२. वर्तनापरिणामक्रियाः[5] परत्वापरत्वे च कालस्य । ५६८
२३. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । ५६९
२४. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च । ५७१
२५. अणवः स्कन्धाश्च । ५७३
२६. भेदसंघातेभ्य[6] उत्पद्यन्ते । ५७५
२७. भेदादणुः । ५७७
२८. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः[7] । ५७९
२९. सद्द्रव्यलक्षणम्[8] । ५८१
३०. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । ५८३
३१. तद्भावाव्ययं नित्यम् । ५८५
३२. अर्पितानर्पितसिद्धेः । ५८७
३३. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः । ५८९
३४. न जघन्यगुणानाम् । ५९१
३५. गुणसाम्ये सदृशानाम् । ५९३
३६. द्व्यधिकादिगुणानां तु । ५९५
३७. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।[9] ५९७
३८. गुणपर्ययवद्[10] द्रव्यम् । ५९९

---

१. त० भा० में 'आकाशदेशद्रव्याणि' 'सूत्र है। २. इस सूत्र के स्थान पर त० भा० में दो सूत्र हैं :— असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥७॥ जीवस्य ॥८॥ ३. विसर्गाभ्यां—त० भा० । ४. स्थित्युपग्रहो—त० भा० । ५. वर्तना परिणामः क्रिया त० भा० । ६. संघातभेदेभ्यः त० भा० । ७. चाक्षुषाः । ८. त० भा० में यह सूत्र नहीं है । ९. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ त० भा० । १०. पर्यायवद् द्रव्यम् त० भा० ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

छठवाँ अध्याय

---

१. कालश्चेत्येके त० भा० । २. इस सूत्र से आगे त० भा० में तीन सूत्र और पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं :—अनादिरादिमांश्च ॥४२॥ रूपिष्वादिमान् ॥४३॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥४४॥ ३. इसके स्थान पर त० भा० में दो सूत्र हैं—शुभः पुण्यस्य ॥३॥ अशुभः पापस्य ॥४॥ ४. अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया । त० भा० । ५. ज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः । त० भा० । ६. भूतव्रत्यनुकम्पादानं सरागसंयमादि योगः । त० भा० । ७. कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणाम—त० भा० । ८. परिग्रहत्वं च त० भा० । ९. १७-१८ नं० के सूत्रों के स्थान पर त० भा० में एक सूत्र है:—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य । १०. त० भा० में यह सूत्र नहीं है ।

इति षष्ठोऽध्यायः ।

सातवाँ अध्याय

---

१. अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग–त०भा० । २. संघसाधुसमाधिवैयावृत्त्य–त० भा० । ३. तीर्थकृत्त्वस्य । त० भा० । ४. गुणाच्छाद–त० भा० । ५. तद्विपर्ययो त० भा० । ६. इससे आगेके भावनावाले पाँचों सूत्र त० भा० में नहीं हैं । ७. -मुत्र चापाया । त० भा० । ८. माध्यस्थ्यानि त० भा० । ९. त० भा० में 'च' पद नहीं है । १०. त० भा० में 'वा' के स्थान में 'च' पाठ है । ११. पौषधोप-। त० भा० । १२. संलेखनां त० भा० ।

इति सप्तमोऽध्यायः।

आठवाँ अध्याय

---

१. -रतिचाराः त० मा०। २. वधच्छविच्छेदा-त० मा०। ३. रहस्याभ्याख्यान-त० मा०। ४. करणेत्वरपरिगृहीता-त० मा०। ५. क्रीडातीव्रकामाभि-त० मा०। ६. स्मृत्यन्तर्धानानि त० मा०। ७. भोगाधिकत्वानि। त० मा०। ८. -नुपस्थापनानि। त० मा०। ९. निक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि। त० मा०। १०. संबद्ध-त० मा०। ११. निक्षेपविधान। त० मा०। १२. निदानकरणानि। त० मा०। १३. त० मा० में 'सम्बन्ध' इतना अंश पृथक् सूत्र है। १४. -त्यनुभाव-त० मा०। १५. -नीयायूष्कनाम। त० मा०। १६. त० मा० में 'मत्यादीनाम्' इतना ही सूत्र है। १७. स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च त० मा०।

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

नौवाँ अध्याय

---

१. दर्शनचारित्रमोहनीयकषायाकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥१०॥ त० भा० । २. पूर्व्यगुरु—त० भा० । ३. यशांसि सेतराणि त० भा० । ४. तीर्थकृत्त्वं च त० भा० । ५. —दानादीनाम् त० भा० । ६. नामगोत्रयोर्विंशतिः । त० भा० । ७. —माण्यायुष्कस्य त० भा० । ८. —मन्तर्मुहूर्तम् त० भा० । ९. —नुभावः त० भा० । १०. वगाढस्थिताः त० भा० । ११. सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि त० भा० । १२. त० भा० में यह सूत्र नहीं है ।

---

१. उत्तमः क्षमा । त० मा० । २. शुचित्वास्रव० । त० मा० । ३. युगपदेकोनविंशतेः । त० मा० । ४. -पस्थाप्यपरिहार । त० मा० । ५. सूक्ष्मसंपराय० । त० मा० । ६. यथाख्यातानि त० मा० । ७. द्विभेदं त० मा० । ८. स्थापनानि त० मा० । ९. शैक्षक-त० मा० । १०. साधुसमनोज्ञानाम् त० मा० । ११. इस सूत्र के स्थान में त० मा० में उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥२७॥ आ अन्तर्मुहूर्तात् ॥२८॥ ये दो सूत्र हैं । १२. धर्म । त० मा० । १३. -ममनोज्ञानां त० मा० । १४. त० मा० में 'विपरीतं मनोज्ञानाम्' ऐसा पाठ है और यह सूत्र 'वेदनायाश्च' इस सूत्र के बादमें है ।

इति नवमोऽध्यायः

दसवाँ अध्याय

इति दशमोऽध्यायः ।

●

---

१. धर्ममप्रमत्तसंयतस्य त० भा० । २. इस सूत्रके पूर्व त० भा० में 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' ऐसा एक सूत्र और है । ३. निवृतीनि त० भा० । ४. तत् त्र्येककाययोगा–त० भा० । ५. सवितर्के पूर्वे त० भा० । ६. अविचारं त० भा० । ७. लेश्योपपातस्थान–त० भा० । ८. त० भा० में 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥२॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥३॥ इस प्रकारके दो सूत्र हैं । ९. त० भा० में तीसरे चौथे सूत्रके स्थानपर 'औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' ऐसा एक सूत्र है । १०. 'परिणामाच्च तद्गतिः' त० भा० । ११. त० भा० में सातवें और आठवें नम्बरके दो सूत्र नहीं हैं ।

परिशिष्ट २

श्रीप्रभाचन्द्रविरचिततत्त्वार्थवृत्तिपदम्

सिद्धं जिनेन्द्रममलप्रतिमबोधं[1] त्रैलोक्यवन्द्यमभिवन्द्य गतप्रबन्धम् ।
दुर्वारदुर्जयतमःप्रविभेदनार्कं तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

§.१

१.२ कश्चिद्भव्यः प्रसिद्धचैकनामा । 'प्रत्यासन्ननिष्ठः' निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते । प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः ।

१.३ अवाग्विसर्गं न विद्यते वाचां विसर्गो विसर्जनमुच्चारणं यत्र निरूपणकर्मणि ।

१.४ उपसद्य समीपे गत्वा ।

§.२

२.१ निराकारत्वात् स्वपरव्यवसायलक्षणाकारशून्यत्वात् ।

२.३ आहत्यनिरूपिता हठात् समर्थिता ।

सम्यग्दर्शन—॥१॥

§.५

४.५ एतेषां निर्देक्ष्यामः निर्देशं करिष्यामः ।

§.१

१.१ 'मोक्षमार्गस्य' मीमांसं प्रति । 'भेत्तारं' यौगं प्रति । 'ज्ञातारं' सौगतं प्रति ।

[मंगलाचरणमें 'मोक्षमार्गस्य' पद मीमांसकको लक्ष्य करके रखा गया है क्योंकि वह मोक्षको स्वीकार नहीं करता । 'भेत्तारं कर्मभूभृतां' पद नैयायिक वैशेषिकको लक्ष्य करके रखा गया है क्योंकि वे ईश्वरको अनादि सिद्ध मानते हैं । तथा 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां' पद बौद्धको लक्ष्य करके रखा गया है]

१.१ विविक्ते त्रसबाधारहिते ।

१.६ कर्म द्रव्यकर्म, मल भावकर्म ।

१.९ प्रमाणेन शून्यो वादः प्रवादः । तीर्थङ्करमिवात्मानं मन्यन्ते तीर्थङ्करंमन्याः निश्चयस्वरूपशून्यत्वात् ।

२.१ 'बुद्धि - सुख - दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।'

'वर्गः[2] शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः ॥'
—[अमित० पञ्चसं० १।४५]

§.५

४.५ लक्षणतो लक्षणमाश्रित्य । विधानतो विधानं प्रकारमाश्रित्य । उद्देश्यमात्रं स्वरूपकथनमात्रम् ।

४.७ मोहः अनध्यवसायम् (यः)

८.८ आगूर्णस्य उद्यतस्य ।

§.२२

नामस्थापना...॥५॥

१३.३ अतद्गुणे न विद्यते शब्दवृत्तिनिमित्तभूताः ते प्रसिद्धजाति-गुण-क्रिया - द्रव्यलक्षणगुणा - विशेषणानि यत्र वस्तुनि तद् अतद्गुणं तस्मिन् । पुरुषाकारात् हठात् । पुस्तकर्म लेपकर्म ।

१३.३ अक्षाणां पाशानां, निक्षेपो विवक्षितप्रदेशे स्थापनम् । आदि शब्दात् वराटकादी(दि) निक्षेपग्रहणम् ।

१३.११ मनुष्यभाविजीवो यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति अग्रे तु ज्ञास्यति तद्भाविनोआगमः ।

---

१. 'मलमप्रतिमप्रबोधं' इत्यपि पाठान्तरं । अनेकान्त वर्ष १, कि० १, पृ० १९७ । अंकों के पहले सन्दर्भ पैराग्राफ (§), तथा दूसरे पृष्ठ और पंक्तिके हैं । २. एतत्पद्यं किमर्थमत्रागतमिति न प्रतीयते । अमितगतिकृत-पञ्चसंग्रहस्य पञ्चचत्वारिंशत् संख्याकमिदं पद्यमस्ति ।

१३.१२ औदारिक-वैक्रियिकाहारकलक्षणत्रयस्य षट्-पर्याप्तीनां च योग्यपुद्गलादानं नोकर्म ।

१३. १४. आविष्टः परिणतः ।

१३. १५. अप्रकृतनिराकरणाय अप्रकृतस्याप्रस्तुतस्य मुख्यजीवादेर्निराकरणाय । प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य नाम-स्थापनाजीवादेर्निरूपणाय ।

§. २३

प्रमाणनयै····॥६॥

§. २४

१५. ४ प्रगृह्य—परिच्छिद्य । प्रमाणतः—प्रमाणेनार्थं, पश्चात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वमेव पररूपादि-चतुष्टयापेक्षयाऽसत्त्वमेवेत्यादिरूपतया,परिणतिविशेषात् प्रवीणिताविशेषात् । यदि वा परिणतिविशेषात् सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादिलक्षणमर्थगतं परिणाम-विशेषमाश्रित्य ।

निर्देशस्वामित्व···॥७॥

§. २६

१६. ६ नरकगतौ पूर्वं बद्धायुष्कस्य पश्चाद् गृहीत-क्षायिकक्षयोपशमिकसम्यक्त्वस्याधः पृथिव्यामुत्पादा-भावात् । प्रथमपृथिव्यां पर्याप्तकापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । ननु वेदकयुक्तस्य तिर्यक्नरकेषू-[1]त्पादाभावात् कथमपर्याप्तकानां तेषां क्षायोपशमिक-मिति । तदयुक्तं, सप्तप्रकृतीनां क्षपणाप्रारम्भकवेदक-युक्तस्य कृतकरणस्य जीवस्यान्तर्मुहूर्ते सति क्षायिकाभि-मुखस्य तत्रोत्पादे विरोधाभावात् । एवं तिरश्चामप्य-पर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयम् ।

[जिसने पहले नरकगतिकी आयुका बन्ध किया है और पीछे क्षायिक या क्षायोशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण किया है वह जीव नीचे के नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता। अतः पहले नरकमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियों के क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते हैं ।

शंका—वेदक सम्यक्त्व सहित जीव तिर्यंचोंमें नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता । तब कैसे उनके अपर्याप्त अवस्थामें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सम्भव है ?

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि सात प्रकृतियोंकी क्षपणाके प्रारम्भक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जब क्षायिक-सम्यक्त्वके अभिमुख होता है तब यदि वह मरता है तो कृतकृत्य वेदक कालके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चार भागोंमें-से यदि प्रथम भागमें मरता है तो देवोंमें उत्पन्न होता है, दूसरे भागमें मरनेपर देव या मनुष्यों-में उत्पन्न होता है, तीसरे भागमें मरनेपर देव मनुष्य या तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है और चतुर्थ भागमें मरने-पर चारोंमें-से किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है, अतः वेदक सम्यग्दृष्टिके तिर्यंचगति और नरक गतिमें उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं है, इसी तरह तिर्यंच अपर्याप्तकोंके भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना चाहिए] ।

१७.१ तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति । कुत इति चेदु-च्यते—कर्मभूमिजो मनुष्य एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भ-को भवति । क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्को-ऽप्युत्कृष्टभोगभूमिजतिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्-स्त्रीषु । तदुक्तम्—

'दंसणमोहक्खवगो पट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु ।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥'
(कसायपा० १०६)

पट्ठवगो प्रारम्भकः । णिट्ठवगो स्फेटिकः ।

[तिर्यंचियोंके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, क्योंकि कर्मभूमिमें जन्मा हुआ मनुष्य ही दर्शन मोहके क्षपण-का प्रारम्भ करता है । क्षपण प्रारम्भ करनेसे पहले तिर्यंचोंकी आयु बाँध लेनेपर भी वह मरकर उत्कृष्ट भोगभूमिके तिर्यंच पुरुषोंमें ही उत्पन्न होता है तिर्यंचस्त्रियोंमें नहीं । कहा भी है 'दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रारम्भक नियमसे मनुष्य गतिमें कर्म-भूमिमें जन्मा जीव ही होता है । और निष्ठापक सब गतियोंमें होता है ।' गाथामें 'आये पट्ठवगो' शब्द का अर्थ प्रारम्भक है और 'णिट्ठवगो'का अर्थ पूरक है ।]

१७.३ मानुषीणां भाववेदस्त्रीणां न द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात् ।

[मानुषीका अर्थ भाववेदी स्त्री है द्रव्यवेदी स्त्री नहीं, क्योंकि द्रव्यवेदी स्त्रियोंके क्षायिक सम्यक्त्व संभव नहीं है] ।

---

१. उत्पद्यते हि वेदकदृष्टिः स्वमरेषु कर्मभूमिनृषु ।
कृतकृत्यः क्षायिकदृग् बद्धायुष्कश्चतुर्गतिषु ॥'

१७.५ अपर्याप्तावस्थायां देवानां कथमौपशमिकं तद्युक्तानां मरणासंभवात्। तदनुत्पन्नं मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकयुक्तानामेव मरणासंभवात्. वेदकपूर्वका औपशमिकयुक्तास्तु नियमेन श्रेण्यारोहणं कुर्वन्तीति श्रेण्यारूढान् चारित्रमोहोपशमेन सह मृतानपेक्ष्यापर्याप्तावस्थायामपि देवानामौपशमिकं संभवति।

[शंका—अपर्याप्त अवस्थामें देवोंके कैसे औपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है क्योंकि औपशमिकसम्यक्त्वसे युक्त जीवोंका मरण असंभव है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। जो जीव मिथ्यात्व गुणस्थानसे औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं उनका ही मरण असंभव है किन्तु जो वेदकसम्यक्त्वपूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त होते हैं वे नियमसे श्रेणिपर आरोहण करते हैं। श्रेणिपर आरूढ़ होकर चारित्रमोहनीयके उपशमके साथ मरणको प्राप्त हुए जीव मरकर नियमसे देव होते हैं। उन देवोंके अपर्याप्तावस्थामें भी औपशमिक सम्यक्त्व होता है।]

§. २७

१७.१३ परिहारशुद्धिसंयतानामौपशमिकं कुतो नास्तीति चेदुच्यते, मनःपर्ययपरिहारशुद्धचौपशमिकसम्यक्त्वाहारकर्द्धीनां मध्येऽन्यतरसंभवे परं त्रितयं न संभवत्येव। यतो मनःपर्यये तु मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकप्रतिषेधो द्रष्टव्यो न वेदकपूर्वस्य। उक्तं च—

मणपज्जवपरिहारो उवसमसम्मत्तहारया दोण्णि।
एदेसिं एक्कगदे [1]सेसाणं संभवो णत्थि॥'

आहारया दोण्णि—आहारकाहारकमिश्रकौ—

[परिहार शुद्धि संयतोंके औपशमिकसम्यक्त्व क्यों नहीं होता? इसका उत्तर है कि मनःपर्यय, परिहारशुद्धि, औपशमिक सम्यक्त्व और आहारकऋद्धिमें-से किसी एकके होनेपर शेष तीन नहीं होते। किन्तु मनःपर्ययज्ञानके साथ मिथ्यात्वगुणस्थानपूर्वक होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वका निषेध जानना चाहिए, वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वका नहीं। कहा भी है—'मनःपर्यय, परिहारशुद्धि संयम, उपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक, इनमेंसे एकके होनेपर शेष नहीं होते।' 'आहारयादोण्णि' से आहारक और आहारकमिश्र लेना चाहिए।]

§. २८

१९.६ नवग्रैवेयकवासिनामहमिन्द्रत्वात् कथं धर्मश्रवणमिति चेत्, उच्यते—कश्चित् सम्यग्दृष्टिः परिपाटीं करोति तां श्रुत्वाऽन्यस्तत्र स्थित एव सम्यक्त्वं गृह्णाति। अथवा प्रणामादिकं (प्रमाणादिकं) तेषां न (?) विद्यते तत्त्वविचारस्तु लिङ्गिनामिव विद्यते इति न दोषः।

[शंका—नव ग्रैवेयकवासी देव तो अहमिन्द्र होते हैं उनके धर्मश्रवण कैसे संभव है? उत्तर—कोई सम्यग्दृष्टी पाठ करता है उसे सुनकर दूसरा कोई वहीं रहते हुए सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। अथवा उनमें प्रमाण नय आदिको लेकर चर्चा नहीं होती। लिंगियोंकी तरह सामान्य तत्त्वविचार कोई होता है अतः दोष नहीं है।]

§. ३०

२०.३ संसारिक्षायिकसम्यक्त्वस्योत्कृष्टा स्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। सागरोपमस्य लक्षणं—"दहकोडाकोडिओ पंल्लजाव, सा सायरु उच्चइ एक्कुताव।" सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि। पश्चात् संसारिविशिष्टत्वं तस्य व्यावर्तते। तथाहि—कश्चित् कर्मभूमिजो मनुष्यः—

'पुव्वस्स दु [2] परिमाणं सदरिं खलु सदसहस्सकोडिओ। छप्पण्णं च सहस्सा णायव्वा वासगणणाए॥'

इत्येवंविधवर्षपरिमाणपूर्वकोटचायुरुत्पन्नो गर्भाष्टमवर्षानन्तरमन्तर्मुहूर्तेन दर्शनमोहं क्षपयित्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिः संजातः। तपश्चरणं विधाय सर्वार्थसिद्धावुत्पन्नस्तत आगत्य पुनः पूर्वकोटचायुरुत्पन्नाः, कर्मक्षयं कृत्वा मोक्षं गतः। तस्याधिककालावस्थित्यसंभवात्। यद्भवेऽसौ दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति ततोऽन्यद्भवत्रयं नातिक्रामतीति। तदुक्तं—

खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अण्णं।
णाकामदि तिण्णि भवे दसणमोहम्मि खीणम्मि॥

[प्रा० पञ्चसं० १।२०३]

---

१. गो० जी०, गा० ७२८। प्रा० पञ्चसं० १।१९४ 'णत्थित्ति असेसयं जाणे'।

२. पु''''कोडिसदसहस्साइं।''''बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ —सर्वा० सि० उद्धृत। जम्बू. प्र० १३।१.२

[संसारी क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो पूर्वकोटि होती है। सागरोपमका लक्षण दस कोडाकोड़ी पल्योंका एक सागर कहा जाता है। उतने कालके पश्चात् संसारी विशेषण छूट जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—कोई कर्मभूमिया जीव एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। वर्षोंकी गणनाके अनुसार सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षोंका एक पूर्व होता है। इस प्रकार आयु लेकर उत्पन्न होनेके पश्चात् गर्भसे आठ वर्ष अनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें दर्शनमोहका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। तथा तपश्चरण करके सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ। वहांसे आकर पुनः एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ तथा कर्मोंका क्षय करके मोक्ष गया क्योंकि वह इससे अधिक समय तक संसारमें नहीं रह सकता। ऐसा नियम है कि जिस भवमें वह दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भक होता है उससे अन्य तीन भवोंको नहीं लांघता है। कहा भी है—'जिस भवमें क्षपणाका प्रारम्भक होता है दर्शनमोहके क्षीण हो जानेपर नियमसे उससे अन्य तीन भवोंका अतिक्रमण नहीं करता है।']

२०.५ वेदकस्य षट्षष्टिः। तथाहि सौधर्मशुक्रशताराग्रग्रैवेयकमध्येन्द्रकेषु यथासंख्यं द्वि-षोडशाष्टादशत्रिंशत्सागरोपमाणि। अथवा सौधर्मे द्विरुत्पन्नस्य चत्वारि सागरोपमाणि, सानत्कुमारब्रह्मलान्तवाग्रग्रैवेयकेषु यथाक्रमं सप्तदशचतुर्दशैकत्रिंशत्सागरोपमाणि। मनुष्यायुषा सहाधिकानि प्राप्नुवन्तीति नाशंकनीयम्, अन्त्यसागरोपमायुःशेषेऽवशिष्टातीतमनुष्यायुःकालपरिमाणो तत्त्यागात्।

[वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है। वह इस प्रकार है—सौधर्मस्वर्ग, शुक्रस्वर्ग, सतारस्वर्ग और उपरिम ग्रैवेयकके मध्यम इन्द्रक विमानमें क्रमसे दो सागर, सोलह सागर, अठारह सागर और तीस सागरकी स्थिति है (इन सबका जोड़ छियासठ सागर है) अथवा सौधर्मस्वर्गमें दो बार उत्पन्न होनेपर चार सागर होते हैं। और सानत्कुमार, ब्रह्मस्वर्ग, लान्तवस्वर्ग और उपरिमग्रैवेयकमें क्रमसे सात सागर, दस सागर, चौदह सागर और इकतीस सागरकी स्थिति है (इन सबका जोड़ भी छियासठ सागर होता है)।

शंका—इसमें मनुष्यायुको जोड़नेपर छियासठ सागरसे अधिक काल प्राप्त होता है ?

उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वर्गोंकी आयुके अन्तिम सागरमें-से मनुष्यायु कम कर दी जाती है।

§. ३१

२०.७ संख्येया विकल्पा शब्दतः। एकं सम्यग्दर्शनमित्यादि सम्यग्दर्शनप्ररूपकशब्दानां संख्यातत्वात्। असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति तद्विकल्पाः श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। तत्र श्रद्धातॄणां भेदोऽसंख्यातानन्तमानावच्छिन्नतद्वृत्तित्वात्। श्रद्धेयस्याप्येतदवच्छिन्नत्वमेव भेदस्तद्विषयत्वात् सम्यग्दर्शनस्य तावद्धा विकल्पा भवन्तीति।

[शब्दकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके संख्यात भेद हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनका कथन करनेवाले शब्द संख्यात हैं। श्रद्धा करनेवाले जीवों और श्रद्धाके योग्य भावोंके भेदसे सम्यग्दर्शनके असंख्यात और अनन्त भेद हैं क्योंकि श्रद्धा करनेवालोंकी वृत्तियां असंख्यात और अनन्त प्रमाण होती हैं। श्रद्धेयके भी असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं और सम्यग्दर्शनका विषय श्रद्धेय होता है अतः उसके भी असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।]

§. ३२

सत्संख्या·····॥ ८॥

§. ३३

२२.१ अवरोधः स्वीकारः। सदाद्यनुयोगः सदाद्यधिकारः।

§. ३५

२२.१५ एकस्यैवानिवृत्तिगुणस्थानस्य सवेदत्वमवेदत्वं च कथमिति चेदुच्यते, अनिवृत्तिः षड्भागीक्रियते। तत्र प्रथमे भागत्रये वेदानामनिवृत्तेः सवेदत्वमन्यत्र तेषां निवृत्तेरवेदत्वम्।

[शंका—एक ही अनिवृत्तिगुणस्थानमें सवेदपना और अवेदपना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—अनिवृत्ति गुणस्थानके छह भाग किये जाते हैं उनमेंसे प्रथम तीन भागोंमें वेद रहता है अतः सवेदपना है। शेष भागोंमें वेद चला जाता है अतः अवेदपना है।]

§.३७

२३.२ सम्यगित्यविरोधः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानं वा केवलं न संभवति। तस्याज्ञानत्रयमिश्रज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तं च—

'मिस्से णाणाणतयं मिस्सं अण्णाणतिदयेण' इति।

तेन ज्ञानानुवादे तस्य वृत्तिकारैरनभिधानं परमार्थतस्तु तस्याज्ञानप्ररूपणायामेवाभिधानं द्रष्टव्यं तद्ज्ञानस्य यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टिके न तो अकेला ज्ञान ही होता है और न अज्ञान ही होता है। किन्तु उसके तीन अज्ञानोंसे मिश्रित तीन ज्ञान होते हैं। कहा भी है—'मिश्र गुणस्थानमें तीन ज्ञान तीन अज्ञानोंसे मिले हुए होते हैं।' इसीसे ज्ञानकी अपेक्षा कथन करते हुए सर्वार्थसिद्धिकारने उनका कथन नहीं किया, परमार्थसे तो उसका अज्ञान प्ररूपणमें ही कथन देखना चाहिए क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टिका ज्ञान यथावस्थित अर्थको नहीं जानता।]

§. ४५

२४.११ संख्या, सासादनसम्यग्दृष्टचादिसंयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। शब्दतश्चात्र साम्यं नार्थतः परस्परं स्तोकबहुत्वभेदात्। तत्र प्रथमापेक्षया द्वितीया बहवः। द्वितीयापेक्षया तृतीया बहवः। संयतासंयतास्तु सर्वतः स्तोकाः। प्रमत्तसंयताः कोटिपृथक्त्वसंख्याः—कोटिपञ्चकत्रिनवतिलक्षाष्टनवतिसहस्रषडधिकशतद्वयपरिमाणा भवन्ति ५९३९८२०६।

[आगे संख्या कहते हैं—सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत पर्यन्त प्रत्येककी संख्या पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इस संख्यामें केवल शब्दोंसे समानता है अर्थरूपसे नहीं, क्योंकि संख्यामें कमती बढ़तीपना है। सासादनसम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा मिश्र गुणस्थान वालोंकी संख्या अधिक है और मिश्रसे सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या बहुत है। संयतासंयत तो सबसे कम हैं। प्रमत्त संयतोंकी संख्या कोटि पृथक्त्व प्रमाण है अर्थात् पाँच करोड़ तिरानबे लाख अठानबे हजार दो सौ छह है।]

२४.१३ अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। तदर्धेन कोटिद्वयषण्णवतिलक्षनवनवतिसहस्रत्र्यधिकशतपरिमाणाः २९६९९१०३। तदुक्तं—

'छ सुण्णवेण्णिअट्ठयणवतियणव पंच होंति हु पमत्ता। ताणद्धमप्पमत्ता इति।'

[अप्रमत्त संयत संख्यात हैं अर्थात् प्रमत्त संयतोंसे आधे हैं—दो करोड़ छियानबे लाख निन्यानबे हजार एक सौ तीन है। कहा भी है—प्रमत्त संयत ५९३९८२०६ है और अप्रमत्त उनसे आधे हैं]

चत्वार उपशमकास्ते प्रत्येकमेकत्रैकत्र गुणस्थाने अष्टसु अष्टसु समयेषु एकस्मिन्नेकस्मिन् समये यथासंख्यं षोडशचतुर्विंशतिः त्रिंशत् षट्त्रिंशत् द्विचत्वारिंशत् अष्टचत्वारिंशत् द्विःचतुःपञ्चाशद् भवन्तीति। अष्टसमयेषु चतुर्गुणस्थानवर्तिनां सामान्येनोत्कृष्टा संख्या १६,२४,३०,३६,४२,४८,५४,५४। विशेषेण तु प्रथमादिसमयेष्वेको वा द्वौ वा त्रयो वेत्यादि षोडशाद्युत्कृष्टसंख्या यावत् प्रतिपत्तव्या। उक्तं च—

'सोलसगं चउवीसं तीसं छत्तीसमेव जाणाहि।
बादालं अडदालं दो चउवण्णा य उवसमगा॥'

प्रवेशेनैको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशदिति तु वृत्तिकारैरुत्कृष्टाष्टमसमयप्रवेशापेक्षया प्रोक्तम्। स्वकालेन समुदिताः संख्येया नवनवत्यधिकशतद्वयपरिमाणा एकत्रैकत्र गुणस्थाने भवन्ति ॥२९९॥ तदुक्तम्—

णवणवदी दोण्णि सया एक्कट्ठाणम्मि उवसंता॥ इति।

[चार उपशमकोंमें-से प्रत्येक एक-एक गुणस्थानमें आठ-आठ समयोंमें-से एक-एक समयमें क्रमसे १६, २४,३०,३६,४२,४८,५४,५४ होते हैं। आठ समयोंमें चार गुणस्थानवर्तियोंकी सामान्यसे उत्कृष्ट संख्या १६,२४,३०,३६,४२,४८,५४,५४ होती है। विशेषसे प्रथमादि समयोंमें एक अथवा दो अथवा तीन इत्यादि १६ उत्कृष्ट संख्या पर्यन्त जानना चाहिए। कहा है—'उपशमकोंकी संख्या सोलह, चौबीस, तीस, छत्तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन और चौवन जानो।'

प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टसे चौवन जो सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है वह उत्कृष्टसे आठवें समयमें प्रवेशकी अपेक्षा कहा है। अपने कालमें

एकत्र हुए जीवोंकी संख्या संख्यात अर्थात् एक-एक गुणस्थानमें २९९ होती है। कहा भी है—'एक गुणस्थानमें २९९ उपशमक होते हैं।'

विशेषार्थ—उपशम श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानमें एक समयमें चारित्रमोहनीयका उपशम करता हुआ जघन्यसे एक जीव प्रवेश करता है और उत्कृष्टसे चौवन जीव प्रवेश करते हैं। यह कथन सामान्यसे है। विशेषकी अपेक्षा तो आठ समय अधिक वर्ष पृथक्त्व कालमें उपशम श्रेणीके योग्य लगातार आठ समय होते हैं। उनमें से प्रथम समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे सोलह जीव तक उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं। दूसरे समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे चौबीस जीव तक चढ़ते हैं। तीसरे समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे तीस जीव तक चढ़ते हैं; चौथे समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे छत्तीस जीव तक चढ़ते हैं। पाँचवें समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे बयालीस जीव तक चढ़ते हैं। इसी तरह छठे समयमें अड़तालीस जीव तक और सातवें तथा आठवें समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्टसे चौवन-चौवन जीव तक उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं। इन सबका जोड़ ३०४ होता है किन्तु कितने ही आचार्य उसमें पाँच कम करके २९९ कहते हैं। धवलामें वीरसेन स्वामीने २९९ के प्रमाणको ही आचार्य-परम्परागत कहा है देखो पु० ३, पृ० ९२।

ननु चाष्टसमयेषु षोडशादीनां समुदितानां चतुरधिकशतत्रयं प्राप्नोति; तदयुक्तम्, अष्टसमयेषूपशामका निरन्तरं भवन्तः परिपूर्णा न लभ्यन्ते। किं तर्हि? पञ्चहीना भवन्तीति चतुर्गुणस्थानवर्तिनामप्युपशमकानां समुदितानां षण्णवत्यधिकान्येकादशशतानि भवन्ति ॥११९६॥

[शंका—आठ समयोंमें सोलह आदि संख्याओंका जोड़ तीन सौ चार प्राप्त होता है? समाधान—ऐसा कहना युक्त नहीं है आठ समयोंमें उपशामक निरन्तर होते हुए भी पूर्ण नहीं होते हैं किन्तु पाँच कम होते हैं। इसलिए आठवेंसे ग्यारहवें तक चार गुणस्थानवर्ती उपशमकोंका जोड़ ग्यारह सौ छियानबे होता है।]

२४. १४—चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां चाष्टधा समयक्रमः पूर्ववद् द्रष्टव्यः। केवलं तेषामुपशामकेभ्यो द्विगुणा संख्या प्रतिपत्तव्या। तदुक्तं—

'बत्तीसं अडदालं सट्ठी बाहत्तरीय चुलसीदि।
छण्णऊदी अट्ठुत्तर सयमट्ठुत्तरसयं च बोधव्वा॥'
[गो० जी०, ६२७]

३२,४८,६०,७२,८४,९६,१०८,१०८। अत्राप्येको वा द्वौ वा इत्याद्युत्कृष्टाष्टमसमयप्रवेशापेक्षया प्रोक्तम्। स्वकालेन समुदिताः प्रत्येकमष्टानवत्युत्तरपञ्चशतपरिमाणा भवन्ति ।५९८। गुणस्थानपञ्चकवर्तिनां क्षपकाणां समुदितानां दशोनानि त्रीणि सहस्राणि भवन्ति। तदुक्तम्—

'खीणकसायाण पुणो तिण्णि सहस्सा दसूणया भणिया।' ॥२९९०॥

[चारों क्षपकोंका और अयोगकेवलियोंका आठ रूप समयक्रम उपशमकोंकी तरह जानना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि उनकी संख्या उपशमकोंसे दूनी जाननी चाहिए, कहा है—'बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानबे, एक सौ आठ, एक सौ आठ जानना चाहिए॥'

यहाँ भी एक, दो या तीन आदिसे लेकर उत्कृष्टसे आठवें समयमें प्रवेश तक उक्त संख्या कही है। अपने कालमें एकत्र हुए प्रत्येक क्षपकका परिमाण ५९८ होता है। और चारों क्षपक तथा पाँचवें अयोगकेवलि गुणस्थानवर्ति जीवोंका परिमाण दस कम तीन हजार होता है। कहा भी है—क्षीण कषायोंका परिमाण दस कम तीन हजार अर्थात् दो हजार नौ सौ नब्बे होता है।]

२४. १५—सयोगकेवलिनामप्युपशमकेभ्यो द्विगुणत्वादष्टसमयेषु प्रथमादिसमयक्रमेणैको वा द्वौ वेत्यादि द्वात्रिंशदाद्युत्कृष्टसंख्या यावत् संख्याभेदः प्रतिपत्तव्यः। नन्वेवमुदाहृतक्षपकेभ्यो भेदेनाभिधानमेषामनर्थकमिति चेत् न, स्वकालसमुदितसंख्यापेक्षया तेषां तेभ्यो विशेषसंभवात्। सयोगकेवलिनो हि स्वकाले समुदिताः शतसहस्रपृथक्त्वसंख्याः अष्टलक्षाष्टनवतिसहस्राद्यधिकपञ्चशतपरिमाणाः ८९८५०२। उक्तं च—

'अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाणवदि तहा सहस्साणं।
संखा जोगिजिणाणं पंचेव सया विउत्तरा होदि ॥'[1]
—[गो० जी० ६२८]

[सयोगकेवलियोंकी संख्या भी उपशमकोंसे दूनी होती है अतः आठ समयोंमें प्रथम आदि समयके क्रमसे एक अथवा दो इत्यादिसे लेकर बत्तीस आदि उत्कृष्ट संख्या पर्यन्त संख्या भेद जानना चाहिए।
शंका—तब तो कहे गये क्षपकोंसे सयोगकेवलियोंका भिन्न कथन करना व्यर्थ है (क्योंकि क्षपक भी उपशमकोंसे दूने हैं ?)
उत्तर—नहीं, क्योंकि स्वकालमें समुदित (एकत्रीभूत) संख्याकी अपेक्षा सयोगकेवलियोंमें क्षपकोंसे भेद सम्भव है। स्वकालमें समुदित सयोगकेवलियोंका परिमाण लाखपृथक्त्व है अर्थात् आठ लाख अठानबे हजार पाँच सौ दो है। कहा भी है—'सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानबे हजार पाँच सौ दो है।']

सर्वेऽप्येते प्रमत्ताद्ययोगकेवल्यन्ताः समुदिता उत्कर्षेण यदि कदाचिदेकस्मिन् समये संभवन्ति तदा त्रिहीननवकोटिसंख्या एव भवन्ति। ८९९९९९९७। तदुक्तम्—

'सत्ताई अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।[2]
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धो णमंसामि ॥'
[गो० जी० ६३२]

[प्रमत्त संयतसे लेकर अयोग केवली पर्यन्त ये सभी संयत उत्कृष्ट रूपसे यदि एक समयमें एकत्र होते हैं तो उनकी संख्या तीन कम नौ करोड़ होती है। कहा भी है—सभी संयतोंका परिमाण आठ करोड़ निन्यानबे लाख नौ सौ सत्तानबे होता है। हाथोंकी अंजुलि बनाकर और मन वचन कायको शुद्ध करके उन्हें नमस्कार करता हूँ]।

§.४६

२५.२ असंख्येयाः श्रेणयः। अथ केयं श्रेणिरिति चेदुच्यते—सप्तरज्जूमयी मुक्ताफलमालावदाकाशप्रदेशपङ्क्तिः श्रेणिर्मानविशेषः। किं विशिष्टास्ता इत्याह—प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। श्रेणिः श्रेण्या गुणिता प्रतरा भवति। तदसंख्यातभागप्रमितानामसंख्यातश्रेणीनां यावदन्तःप्रदेशास्तावन्तस्तत्र नारका इत्यर्थः।

[प्रथम पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकी असंख्यात श्रेणि प्रमाण हैं। शंका—यह श्रेणी क्या वस्तु है ? उत्तर—सात राजू लम्बी मोतियोंकी मालाके समान आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं। यह श्रेणि एक परिमाणविशेष है। वे श्रेणियाँ प्रतरके असंख्यात भाग प्रमाण यहाँ जानना। श्रेणिको श्रेणिसे गुणा करने पर प्रतर होता है। उस प्रतरके असंख्यात भाग प्रमाण, असंख्यात श्रेणियोंके अन्तर्गत जितने प्रदेश होते हैं उतने ही प्रथम नरकमें मिथ्यादृष्टि नारकी हैं।]

२५.६ सूक्ष्ममनुष्यं प्रति मनुष्या मिथ्यादृष्टयः सासादनादिसंयतासंयतान्ताः संख्येयाः। तद्यथा सासादनाः ५२००००००० । मिश्राः १०४०००००००। असंयताः—७०००००००००। देशाः १३०००००००। तथा चोक्तम्।

'तेरसकोडी देसे बावण्णं सासणे मुणेयव्वा।[3]
मिस्से वि य तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसया ॥'

[मनुष्यगतिमें सासादन गुणस्थानीसे लेकर संयतासंयत पर्यन्त मनुष्यसंख्या संख्यात है। कहा भी है—'पाँचवें देशविरत गुणस्थानमें तेरह करोड़ मनुष्य होते हैं सासादन गुण स्थानमें बावन करोड़ और मिश्र गुणस्थानमें उससे दुगुने अर्थात् एक सौ चार करोड़ मनुष्य होते हैं। असंयतसम्यग्दृष्टी सात सौ करोड़ होते हैं।]

§. ४८

२६.१ पर्याप्तपृथिव्यादिकायिका असंख्येयलोकाः। अथ कोऽयं लोको नाम। प्रतरः श्रेण्या गुणितो लोको भवति मानविशेषः।

[पर्याप्त पृथिवीकायिक आदि जीवोंका परिमाण असंख्यात लोक है। प्रतरको श्रेणिसे गुणा करनेपर लोक होता है यह एक परिमाणका भेद है]।

१. धवला पु० ३, पृ० ९६। गो० जी० गा० ६२९। २. गो० जी०, गा० ६३३। ३. धवला पु० ३, पृ० २५४। गो० जी० गा० ६४१।

§. ६०

२९.७ क्षेत्रं, सयोगकेवलिनां दण्डकवाटावस्थापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम् प्रतरापेक्षया असंख्येयभागाः वातवलयत्रयादर्वागेव तदात्मप्रदेशैर्निरन्तरं लोकव्याप्तेः। लोकपूरणापेक्षया सर्वलोकः।

[सयोगकेवलियोंका क्षेत्र दण्ड और कपाट रूप समुद्घातकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवां भाग है। प्रतर रूप समुद्घातकी अपेक्षा असंख्यात बहुभाग क्षेत्र है क्योंकि तीनों वातवलयसे पहले तक ही उनकी आत्माके प्रदेशोंसे बिना किसी अन्तरालके लोक व्याप्त होता है। और लोक पूरण समुद्घातकी अपेक्षा सयोगकेवलियोंका क्षेत्र सर्वलोक है।]

§. ६२

२९.१३ एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोकः, तेषां सर्वत्र संभवात्। विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः। देवनारकमनुष्यवत्तेषां नियतोत्पादस्थानत्वात्। ते हि अर्धतृतीयद्वीपे लवणोदकालोद-समुद्रद्वये स्वयम्भूरमणे द्वीपे समुद्रे चोत्पद्यन्ते, न पुनरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु नरकस्वर्गादिषु भोगभूमिषु म्लेच्छादिषु च। पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवत्। इत्ययुक्तम्, मनुष्याणां प्राग्मानुषोत्तरादेव संभवाल्लोकस्यासंख्येयभागो युक्तो न पुनः पञ्चेन्द्रियाणां नारकतिर्यग्लोके देवलोके च तत्संभवात्। तदसुन्दरं तेषामपि त्रसनाड्या मध्ये नियतेष्वेव स्थानकेषूत्पादसंभवात् लोकस्यासंख्येयभागोपपत्तेः।

[एकेन्द्रियोंका क्षेत्र सर्वलोक है क्योंकि वे सर्वत्र पाये जाते हैं। विकलेन्द्रियोंका क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग है क्योंकि देव और नारकियों और मनुष्योंकी तरह विकलेन्द्रिय भी नियत स्थानमें उत्पन्न होते हैं। वे अढाई द्वीपमें लवणोद और कालोद समुद्रमें तथा स्वयंभूरमणद्वीप और स्वयंभूरमण समुद्रमें उत्पन्न होते हैं। शेष असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें नरक और स्वर्गादिमें भोगभूमियोंमें और म्लेच्छादिमें विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न नहीं होते। पंचेन्द्रियोंका क्षेत्र मनुष्योंकी तरह कहा है। शंका—यह युक्त नहीं है क्योंकि मनुष्य तो मानुषोत्तर पर्वतसे पहले तक ही पाये जाते हैं अतः उनका क्षेत्र तो लोकका असंख्यातवाँ भाग उचित है। पंचेन्द्रियोंका नहीं, क्योंकि पंचेन्द्रिय तो नरक लोकमें मध्यलोकमें तथा देवलोकमें पाये जाते हैं? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि पंचेन्द्रिय भी त्रसनालीके भीतर नियत स्थानोंमें ही पाये जाते हैं अतः उनका क्षेत्र भी लोकका असंख्यातवां भाग बनता है।]

§. ७५

३३.१ स्पर्शनम्। असंख्यातयोजनकोटयाकाशप्रदेशपरिमाणा रज्जूः। तल्लक्षणसमचतुरस्ररज्जुत्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमाणो लोकः। तत्र स्वस्थानविहारः परस्थानविहारो मारणान्तिकमुत्पादश्च जीवैः क्रियते। तत्र स्वस्थानविहारापेक्षया सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। सर्वत्राग्रे लोकस्यासंख्येयभागः स्वस्थानविहारापेक्षया द्रष्टव्यः। परस्थानविहारापेक्षया तु सासादनदेवानां प्रथम पृथिवीत्रये विहाराद् रज्जुद्वयम्। अच्युतान्तोपरि विहारात् षड्रज्जव इत्यष्टौ चतुर्दशभागाः। त्रसनाडीचतुर्दशरज्जूनां मध्ये अष्टौ रज्जव इत्यर्थः। सर्वत्राप्यष्टौ चतुर्दशभागा इत्थं द्रष्टव्याः। तथा द्वादश। तथाहि सप्तमपृथिव्यां परित्यक्तसासादनादिगुणस्थान एव मारणान्तिकं करोतीति नियमात्। षष्ठीतो मध्यलोके पञ्चरज्जूः सासादनो मारणान्तिकं करोति। मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिव्यां वनस्पतिकायिकेषु सप्तरज्जव इति द्वादश। सासादनो हि वायुकायतेजस्कायनरकसर्वसूक्ष्मकायलक्षणानि चत्वारि स्थानकानि वर्जयित्वान्यत्र सर्वत्रोत्पद्यते। तदुक्तम्—
'वज्जिय ठाणचउक्कं तेऊ वाऊ य णिरयसुहुमं च।
अण्णत्थ सव्वट्ठाणे उववज्जदि सासणो जावो॥'
केचित्प्रदेशाः सासादनस्य स्पर्शनयोग्या न भवन्तीति देशोनाः। सर्वत्र चाग्रे स्पर्शनायोग्यप्रदेशापेक्षया देशोनत्वं द्रष्टव्यम्।

[आगे स्पर्शनका कथन करते हैं। असंख्यात करोड़ योजन आकाश प्रदेशोंके परिमाण वाली एक राजू होती है। और तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण लोक होता है। उसमें जीवोंके द्वारा स्वस्थानविहार, परस्थानविहार, मारणान्तिकसमुद्घात और उत्पाद किया जाता है। उसमेंसे स्वस्थानविहारकी अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शन किया है। आगे भी सर्वत्र स्वस्थान विहारकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवां भाग जानना

चाहिए। परस्थानविहारकी अपेक्षा तो सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंका प्रथम तीन पृथिवियोंमें विहार करनेसे दो राजु और ऊपर अच्युत स्वर्ग तक विहार करनेसे छह राजू इस तरह आठ बटे चौदह राजु स्पर्शन होता है अर्थात् त्रसनाडीके चौदह राजुओंमेंसे आठ राजु प्रमाण। सर्वत्र आठ बटे चौदह इसी प्रकार जानना। तथा बारह बटे चौदह इस प्रकार जानना—सातवीं पृथ्वीमें सासादन आदि गुणस्थानोंको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानवाला जीव ही नियमसे मारणान्तिक समुद्घात करता है ऐसा नियम है। और छठी पृथ्वीसे मध्य लोक पर्यन्त पाँच राजू सासादन सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक करता है। और मध्यलोकसे लोकके अग्रभागमें बादर पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकायमें मारणान्तिक करनेसे सात राजू, इस तरह बारह राजू स्पर्श होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि वायुकाय, तेजस्काय, नरक और सर्व सूक्ष्मकाय, इन चार स्थानोंको छोड़कर सर्वत्र उत्पन्न होता है। कहा भी है—'तेजस्काय, वायुकाय, नरक और सूक्ष्मकायोंको छोड़कर, अन्यत्र सर्वत्र सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है।' कुछ प्रदेश सासादन जीवके स्पर्शन योग्य नहीं होते इसलिए देशोन (कुछ कम) कहा है। आगे सर्वत्र स्पर्शनके अयोग्य प्रदेशोंकी अपेक्षा देशोनपना जानना।]

§ ७६

३३.३ **सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्देवैः** परस्थानविहारापेक्षयाष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः। **संयतासंयतैः** स्वयंभूरमणतिर्यग्भिरच्युते मारणान्तिकापेक्षया षड्रज्जवः स्पृष्टाः। प्रमत्तसंयतादीनां नियतक्षेत्रत्वात् भवान्तरे नियतोत्पादस्थानत्वाच्च उत्पादे चतुर्थगुणभावात् समचतुरस्ररज्जूप्रदेशव्याप्त्यभावाल्लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां क्षेत्रवल्लोकस्यासंख्येयभागोऽसंख्येया भागाः सर्वलोको वा स्पर्शनम्। सर्वनारकाणां नियमेन संज्ञिपर्याप्तकपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु वा प्रादुर्भावः। तत्र प्रथमपृथिव्याः संनिहितत्वेनाधोरज्जुपरिमाणाभावात्तत्रत्यनारकैश्चतुर्गुणस्थानैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। द्वितीयपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधो रज्जूपरिमाणत्वादधःपृथिवीनां चैकैकाधिकरज्जूपरिमाणत्वात् तत्रत्यमिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्यथासंख्यमेका द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां मारणान्तिकोत्पादायुर्बन्धावस्थायां नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात् स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनम्। असंयतसम्यग्दृष्टीनां मारणान्तिकापेक्षयापि लोकस्यासंख्येयभागः तेषां नियमेन मनुष्येष्वेवोत्पादात्तेषां चाल्पक्षेत्रत्वात्।

सप्तम्यां मिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकोत्पादापेक्षया षड्रज्जवः शेषैस्त्रिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। स्वस्थानविहारापेक्षया मारणान्तिकापेक्षयाप्येषां स्पर्शनं कुतो न कथितमिति चेत् तत्रत्यनारकाणां मारणान्तिकोत्पादात्पूर्वकाले नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात्। सासादनोऽधो न गच्छतीति नियमात्तिर्यक्सासादनस्य लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षयापि सप्तरज्जवः।

मनुष्यैर्मिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकापेक्षया सर्वलोकः स्पृष्टः। पृथिवीकायिकादेस्तत्रोत्पादापेक्षया वा। यो हि यत्रोत्पद्यते तस्योत्पादावस्थायां तद् व्यपदेशो भवति। सर्वलोकस्पर्शनं चाग्रे सर्वत्रेत्थं द्रष्टव्यम्। मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिदेवानां तृतीयपृथिवीगतानां लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षया नव रज्जवः। नवरज्जुस्पर्शनमग्रेऽपीत्थं द्रष्टव्यम्। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां त्वेकेन्द्रियेषूत्पादाभावात् विहारापेक्षयाष्टौ रज्जवः।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि देवोंके द्वारा परस्थान विहारकी अपेक्षा आठ राजु स्पृष्ट किये गये हैं। स्वयंभूरमणके पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंचोंके द्वारा अच्युत स्वर्गमें मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा छह राजू स्पष्ट किये गये हैं। प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंका क्षेत्र नियत है, भवान्तरमें उत्पादस्थान भी नियत है तथा उत्पाद अवस्थामें चौथा गुणस्थान हो जाता है अतः समचतुरस्र रज्जू प्रदेशमें व्याप्त न होनेसे उनका स्पर्शन लोकका असंख्यातवाँ भाग है। सयोगकेवलियोंका स्पर्शन क्षेत्रकी तरह लोकका असंख्यातवाँ भाग असंख्यात बहुभाग और सर्वलोक है। सब नारकी नियमसे संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचों अथवा मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। उनमें-से पहली पृथिवी तो मध्यलोकके निकट है, मध्यलोकसे नीचे पहली पृथिवी तक एक राजुका भी परिमाण नहीं है।

अतः पहली पृथिवीके चारों गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन लोकका असंख्यातवाँ भाग है। दूसरी पृथिवी मध्यलोकसे नीचे एक राजूके परिमाणपर स्थित है तथा उससे नीचेकी तीसरी आदि पृथिवियाँ भी एक-एक राजूका अन्तराल देकर स्थित हैं अतः उन पृथिवियोंके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोंने क्रमसे एक, दो, तीन, चार और पाँच राजुका स्पर्शन किया है। सम्यगमिथ्यादृष्टि मारणान्तिकसमुद्घात, उत्पाद और आयुबन्धके समय नियमसे तीसरे गुणस्थानको छोड़ देते हैं क्योंकि तीसरे गुणस्थानमें ये तीनों कार्य नहीं होते। अतः स्वस्थान विहारकी अपेक्षा उनका स्पर्शन लोकका असंख्यातवाँ भाग है। असंयतसम्यग्दृष्टि नारकियोंका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा भी लोकका असंख्यातवाँ भाग है क्योंकि वे नियमसे मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं और मनुष्योंका क्षेत्र अल्प है।

सातवीं पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकियोंने मारणान्तिक और उत्पादकी अपेक्षा छह राजुका स्पर्श किया है। शेष तीन गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन लोकका असंख्यातवाँ भाग है।

शंका—स्वस्थानविहारकी अपेक्षा और मारणान्तिककी अपेक्षा इन तीन गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—सप्तम पृथिवीके नारकी मारणान्तिक और उत्पादसे पूर्व नियमसे उन गुणस्थानोंको छोड़ देते हैं।

सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें नहीं जाता ऐसा नियम है। अतः सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंचका स्पर्शन लोकाग्रमें बादर पृथिवी आदिमें मारणान्तिककी अपेक्षा भी सात राजु है। मिथ्यादृष्टि मनुष्योंका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा सर्वलोक है। अथवा पृथिवीकायिक आदिके मनुष्योंमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा सर्वलोक है; क्योंकि जो मरकर जहाँ उत्पन्न होता है वह उत्पाद अवस्थामें वही कहा जाता है अर्थात् पृथिवीकायिक आदिसे मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले जीव उत्पाद अवस्थामें मनुष्य ही कहलाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन आगे सर्वत्र इसी प्रकार जानना चाहिए। तीसरे नरक गये मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंका लोकके अग्रभागमें बादरपृथिवीकायिक आदिमें मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा नौ राजु स्पर्शन है। नौ राजु स्पर्शन आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। और सम्यग्मिथ्यादृष्टि तथा असंयत सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते। उनका विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा आठ राजू स्पर्शन है।]

§. ७७

३५.१. पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिभिः अष्टौ देवान् प्रति सर्वलोको मनुष्यान् प्रति। सयोगकेवलिनां दण्डाद्यवस्थायां वाङ्मनसवर्गणामवलम्ब्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावाल्लोकस्यासंख्येयभागः।

[पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियोंका आठ राजु स्पर्शन देवोंकी अपेक्षा जानना अर्थात् पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिदेव तीसरे नरक तक विहार करते हैं अतः मेरुके मूलसे ऊपर छह राजु और नीचे दो राजु, इस प्रकार आठ राजु क्षेत्रके भीतर सर्वत्र उक्त प्रकारसे पंचेन्द्रिय पाये जाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन मनुष्योंकी अपेक्षा है सयोगकेवलियोंके दण्ड आदि अवस्थामें वचनवर्गणा मनोवर्गणाका अवलम्बन लेकर आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन नहीं होता अतः लोकका असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन है]

§. ८५

३७. ३ सप्तनरकेषु नारका यथासंख्यमेतल्लेश्या भवन्ति। उक्तं च—

'काऊ काऊ तह काऊणीला णीला य णीलकिण्हाए।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रयणादिपुढवीसु॥'

—[मूलाचार ११३४]

तत्र षष्ठपृथिव्यां कृष्णलेश्यैः सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया पञ्च। पञ्चमपृथिव्यां कृष्णलेश्याऽविवक्षया नीललेश्यैश्चतस्रो रज्जवः स्पृष्टाः। तृतीयपृथिव्यां नीललेश्याविवक्षया कापोततलेश्यैर्द्वे रज्जू स्पृष्टे। सप्तमपृथिव्यां यद्यपि कृष्णलेश्यास्ति तथापि मारणान्तिकाद्यवस्थायां सासादनस्य तत्र न सा संभवति तदा नियमेन मिथ्यात्वग्रहणादिति नोदाहृता।

१. गो०जी०गा०। मूलाचार गा० ११३४।

तेजोलेश्यैः संयतासंयतैः प्रथमस्वर्गे मारणान्तिकाद्यपेक्षया सार्धरज्जुः स्पृष्टा । पद्मलेश्यैः संयतासंयतैः सहस्रारे मारणान्तिकादिविधानात् पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः । शुक्लेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तैर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया । सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिस्तु मारणान्तिके तद्गुणस्थानत्यागाद्विहारापेक्षया षड्रज्जवः स्पृष्टाः । अष्टावपि कुतो नेति नाशङ्कनीयम्, शुक्ललेश्यानामधो विहाराभावात् । यथा च कृष्णलेश्यादित्रयापेक्षयावस्थितलेश्या नारकाः, तथा तेजोलेश्यादित्रयापेक्षया देवा अपि । तदुक्तम्—

'तेऊ तेऊ तह तेऊपम्मा पम्मा य पम्मसुक्काय ।
सुक्का य परमसुक्कालेस्सा भवणादिदेवाणं ॥

—[प्रा० पंचसं० १८९]

तद्यथा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु जघन्या तेजोलेश्या । सौधर्मैशानयोर्मध्यमा । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कृष्टा तेजोलेश्या जघन्यपद्मलेश्याविवक्षया । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु मध्यमा पद्मलेश्या । शतारसहस्रारयोरुत्कृष्टा पद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्याविवक्षया । आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकेषु मध्यमा शुक्ललेश्या। नवानुदिशपञ्चानुत्तरेषूत्कृष्टा । उक्तं च—

'तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च ।
एत्तो य चोदसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥'

—[पंच० गा० १८८]

ततोऽन्यत्र लेश्यानियमाभावः ।

[सातों नरकोंमें नारकियोंके ये लेश्या होती हैं । कहा भी है—'रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें क्रमसे कापोत, कापोत, कापोत नील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या होती हैं ।' उनमें-से छठी पृथिवीमें कृष्णलेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टि नारकियोंने मारणान्तिक आदिकी अपेक्षा पाँच राजु और पाँचवीं पृथ्वीमें कृष्णलेश्याकी विवक्षा न करके नीललेश्यावाले नारकियोंने चार राजु स्पृष्ट किये हैं । तीसरी पृथ्वीमें नीललेश्याकी विवक्षा न करके कापोत लेश्यावाले नारकियोंने दो राजु स्पृष्ट किये हैं । सातवीं पृथिवीमें यद्यपि कृष्णलेश्या है तथापि मारणान्तिक आदि अवस्थामें सासादन सम्यग्दृष्टिके वहाँ कृष्णलेश्या नहीं होती क्योंकि उस अवस्थामें नियमसे वह मिथ्यात्वमें चला जाता है इसलिए यहाँ उसका कथन नहीं किया है ।

तेजोलेश्यावाले संयतासंयत जीवोंने प्रथम स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक समुद्घात आदि करनेकी अपेक्षा डेढ़ राजु स्पृष्ट किया है । पद्मलेश्यावाले संयतासंयतोंने सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक आदि करनेकी अपेक्षा पाँच राजु स्पृष्ट किये हैं । शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत पर्यन्त जीवोंने मारणान्तिक आदिकी अपेक्षा छह राजु स्पृष्ट किये हैं । किन्तु मारणान्तिक समुद्घात होनेपर सम्यग्मिथ्यादृष्टि उस गुणस्थानको छोड़ देता है अतः उनमें विहारकी अपेक्षा छह राजु स्पर्शन होता है ।

शंका—विहारकी अपेक्षा आठ राजु स्पर्श क्यों नहीं कहा ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि शुक्ललेश्यावाले देवोंका नीचे विहार नहीं होता ।

जैसे कृष्ण आदि तीन लेश्याओंकी अपेक्षा नारकी जीवोंकी लेश्या अवस्थित होती है वैसे ही तेजोलेश्या आदि तीन लेश्याओंकी अपेक्षा देव भी अवस्थित लेश्यावाले होते हैं । कहा भी है—'भवनवासी आदि देवोंमें तेजोलेश्या, तेजोलेश्या, तेज और पद्मलेश्या, पद्मलेश्या, पद्म और शुक्ललेश्या, शुक्ललेश्या और परमशुक्ललेश्या होती है ।'

इसका अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें जघन्य तेजोलेश्या होती है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें मध्यमतेजोलेश्या होती है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें उत्कृष्ट तेजोलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य पद्मलेश्या होती है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गोंमें मध्यम पद्मलेश्या होती है । शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य शुक्ललेश्या होती है । आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रैवेयकोंमें मध्यम शुक्ललेश्या होती है । नौ अनुदिशों और पाँच अनुत्तरोंमें उत्कृष्ट शुक्ललेश्या होती है । कहा भी है—

'भवनवासी आदि देवोंमें-से तीनमें, दोमें, दोमें, छहमें, दोमें, तेरहमें और चौदहमें (उक्त क्रमसे) लेश्या होती है ।'

इनके सिवाय अन्यत्र लेश्याका नियम नहीं है।

§. ८७

३८. ६ क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तसंयतासंयतानामितरसम्यक्त्वयुक्तसंयतासंयतानामिव षडपि रज्जवः कुतो नेति नाशङ्कनीयं तेषां नियतक्षेत्रत्वात्। कर्मभूमिजो हि मनुष्यः सप्तप्रकृतिक्षयप्रारम्भको भवति। तद्दर्शनलाभात्प्रागेव तिर्यक्षु बद्धायुष्कस्तु संयतासंयतत्वं न प्रतिपद्यते। औपशमिकसम्यक्त्वयुक्त-संयतासंयतानां कुतो लोकस्यासंख्येयभाग इति चेत् मनुजेष्वेव तत्संभवात्। वेदकपूर्वकौपशमिकसम्यक्त्वयुक्तो हि श्रेण्यारोहणं विधाय मारणान्तिकं करोति। मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकयुक्तानां मारणान्तिकासंभवात्।

[शंका—क्षायिकसम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंका अन्य सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंकी तरह छह राजु स्पर्शन क्यों नहीं है?

उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनका क्षेत्र नियत है। कर्मभूमिमें जन्मा मनुष्य सात प्रकृतियोंके क्षयका प्रारम्भ करता है। क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे पहले ही जो तिर्यंचगतिकी आयुका बन्ध कर लेता है वह तो संयतासंयतपनेको प्राप्त नहीं कर सकता।

शंका—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंका स्पर्शन कैसे लोकका असंख्यातवाँ भाग है?

उत्तर—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयत मनुष्योंमें ही होते हैं क्योंकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त मनुष्य श्रेणिपर आरोहण करके मारणान्तिक समुद्घात करता है। और मिथ्यात्वपूर्वक औपशमिक सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते।]

§. ८९

३९. १ सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः कुतः। इति चेत्, आहारकावस्थायां समचतुरस्ररज्ज्वादिव्याप्त्यभावात् दण्डद्वयावस्थायां कपाटद्वयावस्थायां च सयोगकेवली औदारिकौदारिकमिश्रशरीरयोग्यपुद्गलादानेनाहारकः।

उक्तं च—

दंडदुगे ओराले कवाटजुगले य पयरसंवरणे।
मिस्सोरालं भणियं सेसतिए जाण कम्मइयं॥[1]

दण्डकवाटयोश्च पिण्डतोऽल्पक्षेत्रतया समचतुरस्ररज्ज्वादिव्याप्त्यभावात् सिद्धो लोकस्यासंख्येयभागः। अनाहारकेषु सासादनस्य षष्ठपृथ्वीतो निसृत्य तिर्यग्लोके प्रादुर्भावात् पञ्च, अच्युतादागत्य तत्रैवोत्पादात् षडित्येकादश। ननु पूर्वं द्वादशोक्ता इदानीं त्वेकादशेति पूर्वापरविरोधः। तदयुक्तम्, मारणान्तिकापेक्षया पूर्वं तथाभिधानात्। न च मारणान्तिकावस्थायामनाहारकत्वं किन्तूत्पादावस्थायाम्। सासादनश्च मारणान्तिकमेकेन्द्रियेषु करोति नोत्पादं तदा सासादनत्वत्यागात्।

[शंका—सयोगकेवलियोंका स्पर्शन लोकके असंख्यातवें भाग कैसे है?

उत्तर—आहारक अवस्थामें समचतुरस्र रज्जु आदिकी व्याप्तिका अभाव होनेसे सयोगकेवलीके आहारक अवस्थामें स्पर्शन लोकका असंख्यातवाँ भाग है। तथा विस्तार और संकोच रूप दोनों दण्डसमुद्घातोंमें तथा दोनों कपाटसमुद्घातोंमें औदारिक और औदारिकमिश्र शरीरके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करनेसे सयोगकेवली आहारक होते हैं। कहा भी है—

'विस्तार और संकोचरूप दोनों दण्डसमुद्घातोंमें औदारिककाययोग होता है। विस्तार और संकोचरूप दोनों कपाट समुद्घातोंमें तथा संकोचरूप प्रतर समुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग होता है। शेष तीनमें कार्मणकाययोग होता है।'

दण्ड और कपाटमें पिण्डरूपसे अल्पक्षेत्र होनेके कारण समचतुरस्ररज्जु आदिकी व्याप्तिका अभाव होनेसे लोकका असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन सिद्ध होता है। अनाहारकोंमें सासादन सम्यग्दृष्टिके छठी पृथिवीसे निकलकर तिर्यग्लोकमें उत्पन्न होनेसे पाँच राजु होते हैं और अच्युतस्वर्गसे आकर तिर्यग्लोकमें उत्पन्न होनेसे छह राजु होते हैं इस तरह ग्यारह राजु होते हैं।

१. 'कम्मइओसेस तत्थ अणहारी'॥ —प्रा० पं० सं० १।१९९।

शंका—पहले तो आपने बारह राजु कहे थे अब ग्यारह कहे हैं इससे तो पूर्वापर विरोध आता है ?

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है, पहले मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा बारह राजु स्पर्शन कहा है। किन्तु मारणान्तिक अवस्थामें जीव अनाहारक नहीं होता किन्तु उत्पाद अवस्थामें अनाहारक होता है। सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक करता है उत्पाद नहीं करता; क्योंकि उत्पाद अवस्थामें सासादनपना छूट जाता है।]

§. ९०

३९.५ कालः— जघन्येनान्तर्मुहूर्तः मुहूर्तश्च सहस्रत्रितयसप्तशतत्र्यधिकसप्ततिपरिमाणोच्छ्वासलक्षणः । तस्यान्तरन्तर्मुहूर्तः समयाधिकामावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत् । स चेत्थमसंख्यातभेदो भवति । तदुक्तम्—

'तिण्णि सहस्सा सत्तय सदाणि तेहत्तरिं च उस्सासा।
एसो हवदि मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाणं ।'

उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । स च 'संसारिणो मुक्ताश्च' (त. सू. २,१०) इत्यत्र वक्ष्यते । सासादनैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण षडावलिकाः । आवलिका चासंख्यातसमयलक्षणा भवति ।

'आवलि[1] असंखसमया संखेज्जा आवली य उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोवो लवो भणियो ॥
[2]अट्ठत्तीसद्धलवा णाली बे णालियामुहुत्तं तु ।
तीसमुहुत्तं दिवसं पणरस दिवसाण हवइ तह पक्खं ॥'

इति वचनात् । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रति जघन्येन जघन्योऽन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण चोत्कृष्टो अन्तर्मुहूर्तश्च पश्चाद् गुणान्तरं यातीत्यग्रे बोद्धव्यम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । तथाहि कश्चिज्जीवः पूर्वकोटचायुरुत्पन्नस्सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षानन्तरं सम्यक्त्वमादाय तपोविशेषं विधाय सर्वार्थसिद्धावुत्पद्यते ततश्च्युत्वा पूर्वकोटचायुरुत्पन्नोऽष्टवर्षानन्तरं संयममाददातीति । जघन्येनैकः समयः । तथाहि-सर्वो जीवः परिणामविशेषवशात् प्रथमतोऽप्रमत्तगुणं प्रतिपद्यते । पश्चात्तत्प्रतिपक्षभूतं प्रमत्तगुणम् । तत्र गुणस्थानान्तरस्थितो निजायुःसमयशेषेऽप्रमत्तगुणं प्रतिपद्य म्रियत इत्यप्रमत्तैकजीवं प्रति जघन्येनैकसमयः । तथाऽप्रमत्तस्थाने स्थितो निजायुःकालान्त्यसमये प्रमत्तगुणं प्रतिपद्य म्रियते इति प्रमत्तैकजीवं प्रत्यपि जघन्येनैकसमयः । चतुर्णामुपशमकानां चतुःपञ्चाशद्यावद्यथासंभवं भवतां युगपदपि प्रवेशे[3]मरणसंभवान्नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । नन्वेवं मिथ्यादृष्टेरप्येकसमयः कस्मान्न संभवतीत्यप्यनुपपन्नं, प्रतिपन्नमिथ्यात्वस्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मरणासंभवात् । तदुक्तं, श्लोकः—

'मिथ्यादर्शनसंप्राप्तेर्नास्त्यनन्तानुबन्धिनाम् ।
यावदावलिकापाकोऽन्तर्मुहूर्ते मृतिर्न च ।'

सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि मरणकाले तद्गुणस्थानत्यागान्नैकसमयः संभवति । प्रतिपन्नासंयतसंयतासंयतगुणोऽपि नान्तर्मुहूर्तमध्ये म्रियते ततो नासंयतसंयतासंयतयोरप्येकसमयः संभवति । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलीनां च मुक्तिभाक्त्वेनावान्तरमरणासंभवान्नैकजीवापेक्षया जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । सयोगकेवल्येकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तस्तद्गुणस्थानप्राप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तमध्येऽयोगगुणस्थानप्राप्तेः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षानन्तरं तपो गृहीत्वा केवलमुत्पादयतीति कियद्वर्षहीनत्वात् देशोना ।

[अब कालका कथन करते हैं । जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है । तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है । उसके अन्तर्गत अन्तर्मुहूर्त होता है । अर्थात् एक समय अधिक आवलीसे लेकर

१. गो. जी. ५७३ । २. गो. जी. ५७४ । 'एगसमएण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं' इति उत्तरार्धपाठः । जम्बू० प० १३।५-६ । ३. अपूर्वकरणस्य अवरोहणकाले मरणमवबोद्धव्यम् । आरोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे—'मिस्साहारस्स य खवगा चढमाणपढमपुव्वा य । पढमुवसम्मा तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरंति ॥' इत्यागमोक्तप्रकारेण मरणाभावात् । ननु अधस्तनगुणस्थानेभ्यः स्वस्वगुणस्थानानि प्राप्य तत्रैकैकसमयान् स्थित्वा निवृत्तानां चतुर्णामुपशमकानामप्येकैकसमयाः संभवन्तीति न शङ्कनीयम्, तदसंभवात्, तत्संभवे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तान्तरवचनानुपपत्तेः । वक्ष्यते च तत् चतुर्णामुपशमकानामेकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त इति ।

एक समय कम मुहूर्त पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तके असंख्यात भेद होते हैं। कहा भी है—'सभी मनुष्योंके तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है।'

उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्त है। उसका कथन आगे 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रके अन्तर्गत करेंगे। सासादन गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे छह आवली है। असंख्यात समयोंको एक आवली होती है। कहा है—असंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली होती है। दो नालीका एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका दिन होता है और पन्द्रह दिनका एक पक्ष होता है।'

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त आगे गुणित होता जाता है ऐसा आगे जानना चाहिए। असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे कुछ अधिक तेतीस सागर है। उसका खुलासा इस प्रकार है—कोई जीव एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। एक अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षके पश्चात् सम्यक्त्वको ग्रहण करके तथा तपस्या करके सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ वहाँसे च्युत होकर पुनः एकपूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। आठ वर्षके पश्चात् संयमको स्वीकार किया। इस तरह सातिरेक तेतीस सागर काल होता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय है वह इस प्रकार है—सभी जीव विशेष परिणामोंके वश सर्वप्रथम अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। उसके पश्चात् उसके प्रतिपक्षी प्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। अतः अन्य गुणस्थानमें स्थित जीव अपनी आयुमें एक समय शेष रहनेपर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करके मर जाता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा अप्रमत्तका काल जघन्यसे एक समय होता है। तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें स्थित जीव अपनी आयुके कालमें एक समय शेष रहनेपर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त करके मरता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा प्रमत्त गुणस्थानका काल भी एक समय है। चारों उपशमकोंका यथा सम्भव चौवन संख्यापर्यन्त एक साथ भी प्रवेश और मरण सम्भव होनेसे नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है।

शंका—इस तरह मिथ्यादृष्टिका भी काल एक समय क्यों नहीं होता ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवका मरण अन्तर्मुहूर्तके मध्य असम्भव है। कहा है—'अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर एक आवलीकाल तक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता तथा एक अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता। सम्यग्मिथ्यादृष्टि का भी काल एक समय नहीं है क्योंकि मरणकाल आनेपर वह गुणस्थान छूट जाता है। असंयत और संयतासंयत गुणस्थानको प्राप्त होनेवाला भी अन्तर्मुहूर्त तक नहीं मरता अतः असंयत और संयतासंयत का भी काल एक समय नहीं होता।

चारों क्षपकों और अयोगकेवलियोंके मुक्तिगामी होनेके कारण अवान्तरमें मरण सम्भव न होनेसे नाना जीवों और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सयोगकेवलीका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि उस गुणस्थानको प्राप्त होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें अयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटी है क्योंकि जन्मसे आठ वर्षके पश्चात् तप स्वीकार करके केवलज्ञानको उत्पन्न करता है इसलिए पूर्वकोटिमें कुछ वर्ष कम हो जाते हैं।

§. ९२

४०. १५ तिर्यगसंयतसम्यग्दृष्टयेकजीवं प्रत्युत्कर्षेण दर्शनमोहक्षपकवेदकापेक्षया त्रीणि पल्योपमानि। पश्चाद् गत्यतिक्रमः।

[तिर्यंचगतिमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे दर्शनमोहका क्षय करनेवाले वेदक सम्यक्दृष्टिकी अपेक्षा तीन पल्योपम है। उसके पश्चात् गति बदल जाती है]

§. ९३

४१. २ मिथ्यादृष्टिमनुष्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वैः सप्तचत्वारिंशत् पूर्वकोटिभिरभ्यधिकानि । तथाहि—नपुंसक-स्त्री-पुंवेदेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोटयायुषोत्पद्यावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्येऽपर्याप्तकमनुष्यक्षुद्रभवेनाष्टौ वारानुत्पद्यते । पुनरपि नपुंसकस्त्रीवेदेनाष्टावष्टौ पुंवेदेन तु सप्तति । ततो भोगभूमौ त्रिपल्योपमायुष्कः, भोगभूमिजानां नियमेन देवेषूत्पादात् । पश्चाद् गत्यतिक्रमः । असंयतसम्यग्दृष्टिमनुष्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि । कर्मभूमिजो हि मनुष्यः क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तो दर्शनमोहक्षपकवेदकयुक्तो वा भोगभूमिजमनुष्येषूत्पद्यते । इति मनुष्यगत्यपरित्यागात् सातिरेकाणि पश्चाद्गत्यतिक्रमः ।

[मनुष्य गतिमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व तथा सैंतालीस पूर्वकोटीसे अधिक तीन पल्य है। उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदके साथ आठ-आठ बार पूर्वकोटीकी आयुसे उत्पन्न होकर अवान्तरमें अन्तर्मुहूर्तके अन्दर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यके क्षुद्रभवके साथ आठ बार उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् पुनः नपुंसक वेद और स्त्रीवेदके साथ आठ-आठ बार उत्पन्न होता है किन्तु पुरुषवेदके साथ सात-सात बार उत्पन्न होता है। उसके बाद भोगभूमिमें तीन पल्यकी आयुसे उत्पन्न होता है। भोगभूमिके जीव मरकर देवोंमें ही उत्पन्न होते हैं अतः उसके बाद गति बदल जाती है। असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे तीन पल्य है। क्योंकि कर्मभूमिका जन्मा (बद्धमनुष्यायु) मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त हो या दर्शनमोहके क्षपक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त हो, मरकर भोगभूमिज मनुष्योंमें उत्पन्न होता है। अतः मनुष्यगतिके न छूटनेसे साधिक तीन पल्य काल होता है। उसके बाद गति बदल जाती है]

§. ९५

४१.११ एकेन्द्रियैकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । तत्कीदृशमिति चेदुच्यते । उक्तलक्षणमुहूर्तमध्ये तावदेकेन्द्रियो भूत्वा कश्चिज्जीवः षट्षष्टिसहस्रद्वात्रिंशदधिकशतपरिमाणानि जन्ममरणान्यनुभवति । ६६१३२ । तथा स एव जीवस्तस्यैव मुहूर्तस्य मध्ये द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियो भूत्वा यथासंख्यमशीतिषष्टिचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिजन्ममरणानि स्वकृतकर्मवैचित्र्यादनुभवति ॥८०।६०।४०।२४॥ सर्वेऽप्येते समुदिताः क्षुद्रभवा एतावन्तो भवन्ति ॥६६३३६॥ उक्तं च—

"[1]तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठीसहस्सजम्ममरणाणि ।
एवदिया खुद्दभवा हवंति अंतोमुहुत्तस्स ॥
[2]विगलिंदिए असीदिं सट्ठी चालीसमेव जाणाहि ।
पंचेंदिय चउवीसं खुद्दभवांतोमुहुत्तस्स ॥"

यदा चैवंमुहूर्तस्य मध्ये एतावन्ति जन्ममरणानि भवन्ति तदैकस्मिन्नुच्छ्वासेऽष्टादश जन्ममरणानि लभ्यन्ते । तत्रैकस्य क्षुद्रभवसंज्ञा । उत्कर्षेणानन्तकालोऽसंख्यातपुद्गलपरिवर्तनलक्षणो. निरन्तरमेकेन्द्रियत्वेन मृत्वा-मृत्वा पुनर्भवनात् । ततो विकलेन्द्रियः पञ्चेन्द्रियो वा भवति ।

[एकेन्द्रिय एक जीवके प्रति जघन्यकाल क्षुद्रभवग्रहण है। वह क्षुद्रभव किस प्रकार है यह कहते हैं—उक्त लक्षणवाले मुहूर्तमें एकेन्द्रिय होकर कोई जीव छियासठ हजार एक सौ बत्तीस जन्म मरणका अनुभव करता है। तथा वही जीव उसी मुहूर्तके भीतर दो इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होकर यथाक्रमसे अस्सी, साठ, चालीस और चौबीस जन्म मरणोंको अपने द्वारा किये गये कर्मबन्धकी विचित्रतासे अनुभव करता है। ये सभी क्षुद्रभव मिलकर छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस होते हैं। कहा है—छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस जन्ममरण होते हैं। एक अन्तर्मुहूर्तमें उतने ही क्षुद्रभव होते हैं। इसी अन्तर्मुहूर्तमें विकलेन्द्रियके अस्सी, साठ और चालीस तथा पञ्चेन्द्रियके चौबीस क्षुद्रभव जानना चाहिए।'

जब एक मूहूर्तके भीतर (अन्तर्मुहूर्तमें) इतने जन्म-मरण होते हैं तब एक उच्छ्वासमें १८ जन्ममरण प्राप्त होते हैं। उनमेंसे एककी संज्ञा क्षुद्रभव है। उत्कर्षसे अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परावर्त

१. गो० जी० गा० १२२,१२३। २. कल्लाणा-लोयणा ६।

रूप है। इस कालमें निरन्तर एकेन्द्रिय रूपसे मर-मरकर पुनः जन्म लेते रहते हैं उसके बाद विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय होते हैं]।

§. ९५

४२. १ पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टचेकजीवं प्रति उत्कर्षेण सागरोपमसहस्र (–स्रं) पूर्वकोटीपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकम्। तथाहि–नपुंसकस्त्रीपुंवेदे संज्ञित्वेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोटचायुषोत्पद्यते। तथासंज्ञित्वेन द्वावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्ये पञ्चेन्द्रियक्षुद्रभवेनाष्टौ। पुनरपि नपुंसकस्त्रीपुंवेदे संज्ञित्वासंज्ञित्वाभ्यामष्टचत्वारिंशत्पूर्वकोटचो योजनीयाः। एवं त्रसकायेऽपि पूर्वकोटिपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकत्वं द्रष्टव्यम्।

[पंचेन्द्रियमें मिथ्यादृष्टि एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे पूर्वकोटिपृथक्त्वके साथ छियानवे पूर्वकोटियोंसे अधिक एक हजार सागर काल होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदमें संज्ञीरूपसे आठ-आठ बार एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न होता है। इसी तरह असंज्ञीरूपसे उत्पन्न होता है। बीचमें अन्तर्मुहूर्तमें आठ बार क्षुद्रभवधारी पंचेन्द्रिय होता है। पुनः दूसरी बार नपुंसकवेद स्त्रीवेद और पुरुषवेदमें संज्ञी और असंज्ञीके रूपमें अड़तालीस पूर्वकोटी लगा लेना चाहिए। इसी तरह त्रसकायमें भी पूर्वकोटिपृथक्त्वके साथ छियानवे पूर्वकोटि अधिक जानना चाहिए।]

§. ९७

४२. ९ वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्टचादीनां योगपरावर्तगुणपरावर्तापेक्षया जघन्येनैकः समयः। तथाहि–विवक्षितयोगयुक्तमिथ्यात्वादिगुणस्थानकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसंक्रमणं योगपरावर्तस्तदपेक्षया गुणान्तरयुक्वाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये मिथ्यात्वादिगुणसंक्रमो गुणपरावर्तस्तदपेक्षया वा। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तो योगकालं यावदित्यर्थः। पश्चात्तेषां योगान्तरसंक्रमः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया योगगुणपरावर्तमपेक्ष्य जघन्येनैकः समयः। तथाहि–केषांचिद् गुणान्तरयुक्तवाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये यदा (यथा) सम्यग्मिथ्यात्वसंक्रमणं तथैवान्येषां योगान्तरानुभूतसम्यग्मिथ्यात्वकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसंक्रम इति क्षपकोपशमकानामप्येवमेकः समयो द्रष्टव्यः, शेषाणां सासादनादीनां मनोयोगिवत्। यथा मनोयोगिनो योगगुणपरावर्तापेक्षेतराभ्यां जघन्योत्कृष्टः कालस्तद्वत्तेषामपि।

[वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि आदिका कालयोगपरिवर्तन और गुणस्थानपरिवर्तनकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय है जो इस प्रकार है—विवक्षित योगसे युक्त मिथ्यात्व आदि गुणस्थानके कालके अन्तिम समयमें वचनयोग और मनोयोगमेंसे किसी एक योगका बदलना योगपरिवर्तन है उसकी अपेक्षासे एक समय काल होता है। तथा गुणस्थानान्तरसे युक्त वचनयोग और मनोयोगमेंसे किसी एक योगके कालके अन्तिम समयमें मिथ्यात्व आदि गुणस्थानका बदलना गुणस्थान परिवर्तन है उसकी अपेक्षासे एक समय होता है। उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्तकाल है अर्थात् योगकाल पर्यन्त; क्योंकि वचनयोग और मनोयोगका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। उसके बाद योग बदल जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नानाजीवोंकी अपेक्षा योगपरिवर्तन और गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षासे जघन्यसे एक समय है। जो इस प्रकार है—किन्हींके अन्यगुणस्थानसे युक्त वचनयोग और मनोयोगमेंसे किसी एक योगके कालके अन्त समयमें जैसे सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानमें संक्रमण हो जाता है वैसे ही दूसरोंके योगान्तरसे अनुभूत सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानके कालके अन्त समयमें वचनयोग और मनोयोगमेंसे कोई एक योग बदल जाता है। क्षपक और उपशमकोंके भी इसी प्रकार एक समय जानना चाहिए। शेष सासादन आदिका काल मनोयोगीकी तरह जानना। अर्थात् जैसे मनोयोगियोंके योगपरिवर्तन और गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल होता है उसी प्रकार उनका भी जानना]।

---

१. उक्कस्सेण सागरोवमसहस्साणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि। १३६। षट्खं० पु० ४। 'उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्।'—सर्वार्थ० १।८।

§. ९८

४३.१ एकजीवस्य मिथ्यात्वयुक्तस्त्रीवेदकालो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। ततो गुणान्तरसंक्रमः। उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम्। तथाहि—स्त्रीवेदयुक्तो मिथ्यादृष्टिर्देवेषु आयुर्बध्नाति। ततस्तिर्यग्मनुष्येषु नारकसम्मूर्च्छनवर्जं तावद्यावत्पल्योपमशतपृथक्त्वं ततो वेदपरित्यागः। स्त्रीवेदासंयतसम्यग्दृष्टयैकजीवं प्रति उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशतपल्योपमानि, गृहीतसम्यक्त्वस्य स्त्रीवेदेनोत्पादाभावात् पर्याप्तः सम्यक्त्वं ग्रहीष्यतीति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्तहीनत्वाद्देशोनानि। नपुंसकवेदासंयतसम्यग्दृष्टयैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र च पर्याप्तः कियत्कालं विश्रम्य विशुद्धो भूत्वा सम्यक्त्वं गृह्णात्यन्ते त्यजति चेति देशोनानि।

[एक जीवके मिथ्यात्वयुक्त स्त्रीवेदका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है। उसके बाद गुणस्थान बदल जाता है। उत्कर्षसे सौ पल्योपमपृथक्त्व है जो इस प्रकार है—स्त्रीवेदसे युक्त मिथ्यादृष्टि देवगतिकी आयुका बन्ध करता है। वहाँसे तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है। इस तरह नारक और सम्मूर्छनको छोड़कर सौ पल्योपमपृथक्त्व तक स्त्रीवेद सहित रहता है फिर वेद बदल जाता है। स्त्रीवेद सहित असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीवका उत्कर्षसे पचपन पल्य काल है। सम्यग्दृष्टि तो स्त्रीवेदके साथ उत्पन्न नहीं होता अतः स्त्रीवेदी जीव पर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्वको ग्रहण करता है इसलिए पर्याप्तिकी पूर्ति में लगनेवाला अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेसे देशोन (कुछ कम पचपन पल्य) होता है। नपुंसकवेदी असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीवका उत्कर्षसे सातवें नरकमें तेतीस सागर काल है। क्योंकि वहाँ पर्याप्त होकर कुछ काल विश्राम करके विशुद्ध होकर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है और अन्तमें छोड़ देता है इसलिए देशोन (कुछ कम) तेतीस-सागर होता है।]

§. ९९

४३.११ चतुःकषायाणां मिथ्यादृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां कषायगुणपरावर्तापेक्षया एकजीवं प्रति मनोयोगिवज्जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः।

[चारों कषायोंका मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त कषाय और गुणस्थानके बदल जानेकी अपेक्षासे एक जीवके मनोयोगीकी तरह जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल है।]

§. १००

४३.१४ विभङ्गज्ञानिमिथ्यादृष्टयैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नारकापेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। पर्याप्तिश्च विभङ्गज्ञानं प्रतिपद्यत इति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्तहीनत्वाद्देशोनानि।

[विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि एक जीवके उत्कर्षसे नारकोंकी अपेक्षासे तेतीस सागर काल है। पर्याप्त जीव ही विभंगज्ञानको प्राप्त होता है इसलिए पर्याप्तिके समापक अन्तर्मुहूर्तके कम कर देनेसे देशोन लेना चाहिए।]

§. १०३

४४.७ कृष्णनीलकापोतलेश्यमिथ्यादृष्टयैकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, तिर्यग्मनुष्यापेक्षया तेषामेव लेश्यापरावर्तसंभवात्। सर्वत्र च लेश्यायुक्तस्यान्तर्मुहूर्तः तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यः। उत्कर्षेण नारकापेक्षया यथासंख्यं सप्तमपञ्चम-तृतीयपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत् सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देवनारकाणामवस्थितलेश्यत्वात्। व्रजन्नियमेन तल्लेश्यायुक्तो व्रजति आगच्छतो नियमो नास्तीति सातिरेकाणि। उक्तलेश्यायुक्तासंयतसम्यग्दृष्टयैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नारकापेक्षया उक्तान्येव सागरोपमाणि। पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्ते सप्तम्यां मारणान्तिके च सम्यक्त्वाभावाद्देशोनानि। तेजःपद्मलेश्यमिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण यथासंख्यं प्रथमद्वादशस्वर्गापेक्षया द्वे सागरोपमे अष्टादश च। तद्युक्तानां मारणान्तिकोत्पादः संभवतीति सातिरेकाणि। शुक्ललेश्यमिथ्यादृष्टयैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि अग्रग्रैवेयकदेवापेक्षया तेषां मारणान्तिकोत्पादावस्थायामपि शुक्ललेश्यासंभवात् सातिरेकाणि। संयतासंयतशुक्ललेश्यैकजीवं प्रति गुणलेश्यापरावर्तापेक्षेतराभ्यां जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः।

[कृष्ण नील या कापोतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यसे अन्तर्मुहूर्तकाल है क्योंकि तिर्यंच और मनुष्यकी अपेक्षासे उनकी लेश्यामें परिवर्तन

सम्भव है। सर्वत्र लेश्यायुक्त जीवका अन्तर्मुहूर्तकाल तिर्यंच और मनुष्यकी अपेक्षासे देखना चाहिए। उत्कर्षसे नारकोंकी अपेक्षा सातवीं, पाँचवीं और तीसरी पृथिवीमें क्रमसे तेतीस सागर, सतरह सागर और सात सागर काल होता है क्योंकि देवों और नारकोंकी लेश्या अवस्थित होती है। जब वे अपनी गतिमें जाते हैं तो नियमसे उसी लेश्याके साथ जाते हैं किन्तु वहाँसे आते हुए नियम नहीं हैं इसलिए कुछ अधिक उक्त काल होता है। उक्त लेश्याओंसे युक्त असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे नारकोंकी अपेक्षासे उक्त तेतीस आदि सागर ही काल है। किन्तु पर्याप्ति समापक अन्तर्मुहूर्तमें और सातवीं पृथिवीमें मारणान्तिक समुद्घातमें सम्यक्त्व नहीं होता इसलिए कुछ कम उक्त काल होता है। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे क्रमानुसार प्रथम और बारहवें स्वर्गकी अपेक्षा दो सागरोपम और अठारह सागरोपमकाल है। उक्त अवस्थाविशिष्ट उन जीवोंके मारणान्तिक और उत्पाद सम्भव है इसलिए कुछ अधिक उक्त काल लेना चाहिए। शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे सबसे ऊपरवाले ग्रैवेयकके देवोंकी अपेक्षा इकतीस सागर काल है। उनके मारणान्तिक और उत्पाद अवस्थामें भी शुक्ललेश्या होती है अतः कुछ अधिक इकतीस सागर लेना चाहिए। शुक्ललेश्यावाले संयतासंयत-गुणस्थानवर्ती एक जीवके प्रति गुणस्थान और लेश्यापरिवर्तनकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल है।]

§. १०७

४६.४ आहारकेषु मिथ्यादृष्टचैकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। वक्रेण गतः क्षुद्रभवेनोत्पन्नः पुनरपि वक्रेण गतः। उत्कर्षेणासंख्यातासंख्यातमानावच्छिन्नो-त्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणोऽङ्गुल्यसंख्येयभागः शश्वदृक्रजुगतिमत्त्वात्। अनाहारकसासादनसम्यग्दृष्टचसंयतसम्यग्दृष्टचोर्नानाजीवापेक्षयोत्कर्षेणावलिकाया असंख्येयभागः। नन्वावलिकाया असंख्यातसमयमानलक्षणत्वात्तदसंख्येयभाग एकसमय एव स्यात्। तदयुक्तं, बृहदसंख्यातसमयमानलक्षणत्वात्। आवलिकासंख्येयभागस्य चाल्पासंख्यातसमयमानलक्षणत्वादिति। सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः समसमये दण्डादिप्रारम्भकत्वात्। उत्कर्षेण सख्येयाः समयाः अजघन्योत्कृष्टसंख्यातमानावच्छिन्नाः निरन्तरं विषमसमये दण्डादिप्रारम्भकत्वात्। एकजीवं प्रति जघन्य उत्कृष्टश्च त्रयः समयाः प्रतरद्वयलोकपूरणलक्षणाः।

[आहारकोंमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त काल है, वक्रगतिसे जाकर क्षुद्रभवसे उत्पन्न हुआ और पुनः मरकर वक्रगतिसे गया (वक्रगतिमें अनाहारक रहा और मध्यमें आहारक)। उत्कर्षसे अंगुलके असंख्यातवें भाग है जो असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालप्रमाण है।

शंका—आवलीका प्रमाण असंख्यात समय है अतः उसका असंख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि आवलीके समयोंका प्रमाण बृहत् असंख्यात है और आवलीके असंख्यातवें भागके समयोंका प्रमाण अल्प असंख्यात है।

सयोगकेवलियोंका काल नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्यसे तीन समय है क्योंकि समान समयमें दण्डादि समुद्घातका प्रारम्भ करते हैं। उत्कर्षसे संख्यातसमय है जो मध्यमसंख्यात प्रमाण है क्योंकि लगातार विभिन्न समयोंमें दण्डादिसमुद्घातका प्रारम्भ करते हैं। एक जीवकी अपेक्षा अनाहारकका जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है विस्तार और संकोच रूप दो प्रतर और एक लोकपूरणसमुद्घात के समय।]

§. १०८

४६. १२ अन्तरम्। मिथ्यादृष्टचैकजीवं प्रत्यन्तरमुत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्। तथाहि—वेदकसम्यक्त्वेन युक्त एकां षट्षष्टीं तिष्ठति तत्सम्यक्त्वस्योत्कर्षेणैतावन्मात्रस्थितिकत्वात्। पुनरवान्तरेऽन्त-

१. आदावन्ते च वक्रगतिकालयोरनाहारकः। मध्येऽन्तर्मुहूर्तं यावदाहारक इत्यर्थः।

र्मुहूर्तं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते। पुनरपरां षट्षष्टीं वेदकसम्यक्त्वेन तिष्ठति। अन्त्यसागरोपमावसानशेषे मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति देशोने। सासादनैकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः। अन्तर्मुहूर्तः कस्मान्नेति च न चोद्यम्, अन्तर्मुहूर्तमध्ये पुनः सासादनगुणग्रहणे योग्यतासंभवात्। परित्यक्तौपशमिकसम्यक्त्वो हि मिथ्यात्वप्राप्त्यन्तराले वर्तमानः सासादनोऽभिधीयते। तस्य च मिथ्यात्वं गतस्य पुनरौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणे योग्यता पल्योपमासंख्येयभागे सत्येव नावान्तरे तत्र वेदकग्रहणयोग्यताया एव संभवात्।

[आगे अन्तरका कथन करते हैं। मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तरकाल उत्कर्षसे दो छियासठ सागर है। जो इस प्रकार है—वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव एक छियासठसागर तक रहता है क्योंकि वेदकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही है। उसके पश्चात्[1] एक अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त करता है। पुनः दूसरे छियासठ सागर तक वेदकसम्यक्त्वके साथ रहता है। अन्तिम सागरके अन्तमें कुछ काल शेष रहनेपर मिथ्यात्वमें चला जाता है इस प्रकार देशोन दो छियासठ सागर अन्तरकाल होता है। सासादन एक जीवके प्रति अन्तरकाल जघन्यसे पल्योपमके असंख्यातवें भाग है।

शंका—अन्तर्मुहूर्त अन्तरकाल क्यों नहीं है।

उत्तर—ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि अन्तर्मुहूर्तकालके अन्दर पुनः सासादनगुणस्थानको ग्रहण करनेकी योग्यता सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्तिके बीचके समयमें रहता है उसे सासादन कहते हैं। उसके मिथ्यात्वमें चले जानेपर पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता पल्योपमके असंख्यातवें भाग काल बीतनेपर ही मानी है उससे पहले नहीं। उससे पहले वेदक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता ही सम्भव है।]

§. ११०

४८. ४ तिर्यग्मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमान्यन्तरम्। अधिकमपि कस्मान्नेति चेत्, वेदकयुक्तस्य तिर्यक्षूत्पादाभावात् तद्युक्तो हि देवेष्वेवोत्पद्यते। अतो मिथ्यात्वयुक्तस्त्रिपल्योपमायुष्को भोगभूमिषूत्पद्यते। तत्र चोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनेषु सम्यक्त्वग्रहणयोग्यता भवतीति नियमादेतावद्दिनेषु गतेषु मिथ्यात्वपरित्यागेन सम्यक्त्वं गृह्णातीति त्रिपल्योपमायुःशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति गर्भकालेन किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनैरवसानकालशेषेण च हीनत्वाद्देशोनानि।

[तिर्यंचमिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे तीन पल्योपम अन्तरकाल है।

शंका—अधिक क्यों नहीं है?

उत्तर—क्योंकि वेदक सम्यक्त्वसे युक्त जीव तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होता, देवोंमें ही उत्पन्न होता है। अतः तीन पल्यकी आयुका बन्ध करनेवाला मिथ्यादृष्टि भोगभूमिमें उत्पन्न होता है। भोगभूमिमें उत्पन्न हुए तिर्यंच और मनुष्योंमें कुछ अधिक अड़तालीस दिन बीतने पर सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यता आती है ऐसा नियम है। अतः इतने दिन बीतने पर वह मिथ्यात्वको त्याग कर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है और तीन पल्यकी आयुमें कुछ शेष रहने पर पुनः मिथ्यात्वको ग्रहण कर लेता है। इस तरह गर्भकालसे किंचित् अधिक अड़तालीस दिनों और अन्तिमकालसे हीन होनेसे देशोन[2] तीन पल्य अन्तरकाल होता है।]

§. १११

४८. ७ मनुष्यगतौ सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टयः पूर्वकोटिपृथक्त्वकाले सति स्वस्वगुणं परित्यज्य भोगभूमावुत्पद्यन्ते। पश्चात् स्वगुणं गृह्णन्ति। एकमेव जीवं प्रति उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकानि भवन्ति।

---

१. धवला पु० ५, पृ० ७ में प्रथम छियासठ सागरमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर ही सम्यक् मिथ्यात्वको प्राप्त कराया है—सं०। २. धवला पु० ५, पृ० ३२ में आदिके मुहूर्तपृथक्त्वसे अधिक दो मास और आयुके अवसानमें उपलब्ध दो अन्तर्मुहूर्तोंसे हीन तीन पल्योपम अन्तरकाल कहा है—सं०।

[मनुष्यगतिमें सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि जीव अपने-अपने गुणस्थानको छोड़कर पूर्वकोटिपृथक्त्वकाल होनेपर भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं। पीछे अपने गुणस्थानको ग्रहण करते हैं इस तरह एक जीवके प्रति उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम अन्तरकाल होता है।]

§. ११२

४९. ५ देवगतौ मिथ्यादृष्टेरेकजीवं प्रत्युत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि—मिथ्यात्वयुक्तोऽग्रग्रैवेयकेषूत्पद्यते पश्चात् सम्यक्त्वमादायैकत्रिंशत्सागरोपमाणि तिष्ठति। अवसानकालशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यतेऽन्यथा गत्यतिक्रमः स्यादिति देशोनानि। एवमसंयतसम्यग्दृष्टेरपि योजनीयम्।

[देवगतिमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे इकतीस सागर अन्तरकाल है जो इस प्रकार है—एक द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उपरिमग्रैवेयकमें उत्पन्न हुआ। पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण करके इकतीस सागर तक रहा। अन्त समयमें पुनः मिथ्यादृष्टि हो गया। यदि ऐसा न हो तो गति बदल जायेगी। अतः देशोन इकतीससागर होता है। इसी तरह असंयत सम्यग्दृष्टिका भी अन्तरकाल लगा लेना चाहिए।]

§. ११३

४३. ९ एकेन्द्रियैकजीवस्योत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकेऽन्तरम्। अग्रे हीत्थं सर्वत्र सागरोपमसहस्रद्वयस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकत्वं द्रष्टव्यम्। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां च गुणस्थानान्तरासंभवादिन्द्रियेणान्तरम्। पञ्चेन्द्रियाणां तु तत्संभवान्मिथ्यात्वादेः सम्यक्त्वादिनान्तरं द्रष्टव्यम्।

[एकेन्द्रिय एक जीवका अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व छियानबे पूर्वकोटियोंसे अधिक दो हजार सागर है। आगे इस प्रकार सर्वत्र पूर्वकोटिपृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागर जानना चाहिए। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंके मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त अन्य गुणस्थान नहीं होता इसलिए इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तर लगा लेना अर्थात् विकलेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पुनः विकलेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो और एकेन्द्रियजीव विकलेन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पुनः एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो तो अन्तरकाल आता है। किन्तु पंचेन्द्रियोंमें तो गुणस्थान बदलना सम्भव है अतः मिथ्यात्व आदिका अन्तर सम्यक्त्व आदिके द्वारा लगा लेना चाहिए।]

§. ११४

५०. ५ पृथिव्यादिकायिकानां वनस्पतिकायिकैरन्तरमुत्कर्षेणासंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः। तेषां तु नैरन्तरमुत्कर्षेणासंख्येया लोकाः वनस्पतिकायिकेभ्योऽन्येषामल्पकालत्वात्।

[पृथिवीकायिकोंका वनस्पतिकायिक जीवोंके द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असंख्यात पुद्गलपरावर्त है और वनस्पतिकायिकोंका पृथिवीकायिक आदिके द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असंख्यातलोक है क्योंकि वनस्पतिकायिकोंसे पृथिवीकायिक आदिका काल थोड़ा है।]

§. ११५

५१. ३ कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिषड्गुणस्थानानां नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया कथं नास्तीति चेत् कायादियोगानामन्तर्मुहूर्तकालत्वात् कायादियोगे स्थितस्यात्मनो मिथ्यात्वादिगुणस्य गुणान्तरेणान्तरं पुनस्तत्प्राप्तिश्च संभवतीति। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्येकजीवापेक्षया तत एव नास्त्यन्तरम्।

[काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलोका नानाजीवों और एकजीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

शंका—एक जीवकी अपेक्षा अन्तर क्यों नहीं है?

उत्तर—क्योंकि कायादियोगोंका अन्तर्मुहूर्त काल है इसलिए कायादि योगमें स्थित जीवके मिथ्यात्व आदि गुणस्थानका अन्य गुणस्थानसे अन्तर करके पुनः उसी गुणस्थानमें आना सम्भव नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका भी एक जीवकी अपेक्षा इसीलिए अन्तर नहीं है।]

§. ११७

५२. ६ पुंवेदे द्वयोः क्षपकयोरिति पृथग्वचनमुत्तरत्र

वेदाभावात्। नानाजीवापेक्षया उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः अष्टादशमासा इत्यर्थः।

[पुरुषवेदमें 'दो क्षपकोंका' पृथक् कथन इसलिए किया है कि आगे वेदका अभाव हो जाता है। नाना जीवोंकी अपेक्षा उत्कर्षसे कुछ अधिक एक वर्ष अन्तर है। कुछ अधिक एक वर्षसे १८ मास लेना चाहिए।]

§. ११८

५२. १२ अवेदेषूपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं सवेदत्वात्।

[अपगत वेदियोंमें उपशान्तकषाय एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि उपशान्तकषायसे नीचेके गुणस्थान नौवें आदिमें वेद पाया जाता है अर्थात् नीचे गिरनेपर अवेदरूपसे उपशान्तकषाय गुणस्थानको प्राप्त करना सम्भव नहीं है।]

§. १२०

५३. ४ अज्ञानत्रययुक्तैकजीवेऽपि मिथ्यात्वस्यान्तरं नास्ति गुणान्तरेऽज्ञानत्रयव्यभिचारात्। सासादनेऽस्तीति चेन्न, तस्य सम्यक्त्वग्रहणपूर्वकत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च मिथ्याज्ञानविरोधात्। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिष्वसंयतसम्यग्दृष्टयेकजीवं प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी देशविरतादिगुणस्थानेनान्तरमवसानकाले शेषे पुनरसंयतत्वं प्रतिपद्यत इति देशोना। संयतासंयतैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि, असंयतप्रमत्तादिगुणस्थानेनान्तरं पूर्वकोटिचतुष्टयाष्टवर्षैः सातिरेकाणि मनुजेषूत्पन्नो हि अष्टवर्षानन्तरं संयतासंयतत्वं प्रतिपद्यत इति। मनःपर्ययज्ञानिष्वेकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। अधिकमपि कस्मान्नेति चेत् अधोगुणस्थानेषु वर्तमानानां मनःपर्ययासंभवात्। तेषु वर्तमानानां चाधिकमन्तरं संभवतीति। चतुर्णामुपशमकानामुत्कर्षेण पूर्वकोटी। उपशमश्रेणितो हि पतितास्ते मनःपर्ययज्ञानमपरित्यजन्तः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थाने वर्तन्ते यावत्पूर्वकोटिकालशेषः पुनस्तदारोहणं कुर्वन्तीति देशोना।

[कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गज्ञानसे युक्त एक जीवके प्रति मिथ्यात्वका अन्तर नहीं है क्योंकि अन्य गुणस्थानमें कुमति, आदि तीनों ज्ञान नहीं होते।

शंका—सासादन में जानेपर अन्तर पड़ सकता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि सासादन गुणस्थान सम्यक्त्व ग्रहण करनेके बाद होता है और सम्यग्दृष्टिके मिथ्याज्ञान नहीं होता। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टी एक जीवके प्रति उत्कर्षसे देशविरत आदि गुणस्थानके द्वारा पूर्वकोटि अन्तर काल है। अर्थात् एक असंयतसम्यग्दृष्टी जीव संयमासंयमको प्राप्त हुआ। कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक संयमासंयमका पालन करके अन्तमें असंयमी हो गया तो कुछ कम पूर्वकोटी अन्तर होता[1] है। संयतासंयत[2] एक जीवके प्रति उत्कर्षसे छियासठ सागर अन्तरकाल है। असंयत प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानके द्वारा अन्तर होने पर चार पूर्वकोटी और आठ वर्ष अधिक छियासठ सागर होता है क्योंकि मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ जीव आठ वर्षके अनन्तर संयतासंयतपनेको प्राप्त करता है। मनःपर्ययज्ञानियोंमें एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है।

शंका—अधिक अन्तर क्यों नहीं होता ?

उत्तर—नीचे के गुणस्थानोंमें आनेपर ही अधिक अन्तर संभव है किन्तु उनमें मनःपर्ययज्ञान संभव नहीं है। मनःपर्ययज्ञानी चारों उपशमकोंका उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी है क्योंकि उपशमश्रेणीसे गिरकर मनःपर्ययज्ञानको अपनाये हुए प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें

---

१. धवलामें लिखा है—पूर्वकोटिकाल प्रमाण संयमासंयमको पालकर मरा और देव हुआ। पु० ५, पृ० ११३।

२. धवलामें लिखा है—एक जीव मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ। आठ वर्षका होकर एक साथ संयमासंयम और वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। पुनः अन्तर्मुहूर्तमें संयमको प्राप्त करके अन्तरको प्राप्त हुआ। संयमके साथ पूर्वकोटि काल बिताकर तेतीस सागरकी आयुके साथ देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर पूर्वकोटि आयुके साथ मनुष्य हुआ। पुनः मरकर तेतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँसे च्युत हो पुनः पूर्वकोटि आयु लेकर मनुष्य हुआ वहाँ दीर्घकाल तक रहकर संयमासंयमको प्राप्त हुआ। इस तरह आठ वर्ष कुछ अन्तर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागर अन्तर होता है।—पु० ५, पृ० ११६।

(कुछ कम) पूर्वकोटिकाल तक रहता है पुनः उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है इस तरह देशोन पूर्वकोटिअन्तर होता है।]

§. १२१

५४. १ सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु द्वयोरुपशमकयोरेकजीवं प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षानन्तरं तपो गृहीत्वोपशमश्रेणिमारुह्य पतितः प्रमत्ताप्रमत्तयोः पूर्वकोटिकालशेषं यावद् वर्तित्वा पुनस्तदारोहणं करोतीति देशोना। सूक्ष्मसांपरायसंयमे उपशमकस्यकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं गुणान्तरे तत्संयमाभावात्। असंयमेषु मिथ्यादृष्टचैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नरके सप्तमपृथिव्यामुत्पद्यतेऽन्तर्मुहूर्ते गते सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते मुहूर्तशेषे त्यजतीति देशोनानि।

[सामायिक छेदोपस्थापना संयमियोंमें दो उपशमकोंका एक जीवके प्रति उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटि अन्तर है क्योंकि पूर्वकोटिकी आयुवाला मनुष्य आठवर्षके पश्चात् संयमको ग्रहण करके उपशम श्रेणिपर आरोहण करके गिरा और प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानोंमें पूर्वकोटिकालके शेष होने तक रहकर पुनः उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है इस तरह देशोन होता है। सूक्ष्मसाम्पराय संयममें एक जीवके प्रति उपशमकका अन्तर नहीं है क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय संयम दसवें गुणस्थानमें ही होता है। असंयमियोंमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे कुछ कम तेतीससागर अन्तर है क्योंकि एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न होता है। अन्तर्मुहूर्त बीतनेपर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वमें आ जाता है इस प्रकार देशोन तेतीससागर अन्तर होता है।]

§. १२४

५५. ११ तेजःपद्मलेश्यसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामेकजीवापेक्षयापि नास्त्यन्तरमन्तर्मुहूर्ते परावर्तमानलेश्यत्वात्।

[तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, और अप्रमत्तसंयतोंका एक जीवकी अपेक्षासे भी अन्तर नहीं है क्योंकि अन्तर्मुहूर्तमें लेश्या बदल जाती है (और लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल बहुत है।]

§. १२५

५६. ३ शुक्ललेश्येष्वप्रमत्तादीनामुपशमश्रेण्यारोहणाभिमुख्यारोहणसद्भावाभ्यां लेश्यान्तरपरावर्तभावादेकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। उपशान्तकषायस्य पतितस्य प्रमत्ते लेश्यान्तरं संस्पृश्य श्रेण्यारोहणादेकजीव प्रति नास्त्यन्तरम्।

[शुक्ललेश्यामें अप्रमत्तसंयत आदिका एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है. क्योंकि शुक्ललेश्यावाला कोई एक अप्रमत्तसंयत उपशम श्रेणिपर चढ़कर अन्तरको प्राप्त हुआ और सर्वजघन्यकालमें लौटकर अप्रमत्त संयत हुआ। इसी प्रकार उत्कृष्ट अन्तर भी होता है, इस कालमें लेश्या परिवर्तन नहीं होता। शुक्ललेश्यावाले उपशान्त कषायका एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि उपशान्तकषायसे गिरकर छठे गुणस्थानमें लेश्या परिवर्तन होकर ही श्रेणिपर आरोहण होता है।]

§. १२९

५७. ७ औपशमिकासंयतसम्यग्दृष्टीनां सान्तरत्वान्नानाजीवापेक्षया सप्तरात्रिंदिनानि। औपशमिकसम्यक्त्वं हि यदि कश्चिदपि न गृह्णाति तदा सप्तरात्रिंदिनान्येव। संयतासंयतस्य चतुर्दश, प्रमत्ताप्रमत्तयोः पञ्चदश एकजीवं प्रति जघन्येन जघन्य उत्कर्षेण चोत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तः। तदुक्तम्—

सम्मत्ते सत्तदिणा विरदाविरदेसु चोद्दसा होंति।
विरदेसु य पण्णरसा विरहणकालो य बोधव्वो॥

[प्रा० पं० सं० २०५]

उपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं वेदकपूर्वकौपशमिकेन हि श्रेण्यारोहणभाग् भवति, तस्याः पतितो न तेनैव श्रेण्यारोहणं करोति, सम्यक्त्वान्तरं मिथ्यात्वं वा गत्वा पश्चात्तदादाय करोतीति। अतो नास्ति तस्यान्तरम्। सासादनसम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वयुक्तैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं गुणे गुणान्तरविरोधतः सासादनादिगुणे स्थितस्य मिथ्यात्वादिनान्तरासंभवात्।

[औपशमिक असंयतसम्यग्दृष्टियोंके सान्तर होनेसे नाना जीवोंकी अपेक्षा सात रातदिन अन्तरकाल है।

यदि कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण नहीं करता तो सात रातदिन तक ही ग्रहण नहीं करता। औपशमिक सम्यक्त्वके साथ संयतासंयतोंका अन्तरकाल चौदह दिन है और प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयतका पन्द्रह दिन है। एक जीवके प्रति जघन्य अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तरकाल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। कहा है— औपशमिक सम्यक्त्वका अन्तरकाल सात दिन, औपशमिक सम्यक्त्वके साथ विरताविरतका अन्तरकाल चौदह दिन और विरतोंका अन्तरकाल पन्द्रह दिन जानना चाहिए।

उपशान्तकषायका एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिकसम्यक्त्वसे जीव उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है। उससे गिरनेपर पुनः उसी सम्यक्त्वसे श्रेणिपर आरोहण नहीं करता किन्तु अन्य सम्यक्त्वको ग्रहण करके या मिथ्यात्वमें जाकर पुनः सम्यक्त्वको ग्रहण करके तब श्रेणिपर आरोहण करता है। अतः उसका अन्तर नहीं है। सासादनसम्यक्त्व, सम्यक्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसे युक्त एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि एक गुणमें दूसरे गुणका विरोध होनेसे सासादन आदि गुण स्थानमें स्थित जीवका मिथ्यात्व आदि गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§. १३०

५८. ९ असंज्ञिनां नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्, एक मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तित्वेन तेषां सासादिनान्तरासंभवात्।

[असंज्ञियोंका नाना और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है क्योंकि असंज्ञियोंके केवल एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही होता है अतः उनका सासादन आदि गुणस्थानोंसे अन्तर सम्भव नहीं है।]

§. १३२

५९. ३ अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टयैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरमनाहारकत्वस्यैक-द्वि-त्रिसमयत्वात् गुणस्थानस्य च ततो बहुकालत्वात् तत्र तस्य गुणान्तरेणान्तरासंभवदिति।

[अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि अनाहारकपनेका काल एक, दो या तीन समय है; और मिथ्यात्व गुणस्थानका काल उससे बहुत है अतः वहाँ उसका अन्य गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§. १३३

५९. ९ भावः—मिथ्यादृष्टिरित्यौदयिको भावो मिथ्यात्वप्रकृतेरुदये प्रादुर्भावात्। सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। नन्वनन्तानुबन्धिक्रोधाद्युदयेऽस्य प्रादुर्भावादौदयिकत्वं कस्मान्नोच्यत इति चेत्, अविवक्षितत्वात्। दर्शनमोहापेक्षया हि मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानचतुष्टये भावो निरूपयितुमभिप्रेतोऽतः सासादने सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयलक्षणस्य त्रिविधस्यापि दर्शनमोहस्योदय-क्षय-क्षयोपशमाभावात् पारिणामिकत्वम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः। ननु सर्वघातिनामुदयाभावे देशघातीनां चोदये य उत्पद्यते भावः स क्षायोपशमिकः। न च सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतेर्देशघातित्वं संभवति, सर्वघातित्वेनागमे तस्याः प्रतिपादितत्वादिति। तदयुक्तम्, उपचारतस्तस्या देशघातित्वस्यापि संभवात्। उपचारनिमित्तं च देशतः सम्यक्त्वस्य घातित्वं, न हि मिथ्यात्वप्रकृतिवत् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृत्या सर्वस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्वरूपस्य (सम्यक्त्वस्वरूपस्य) घातः संभवति सर्वज्ञोपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यंशस्यापि संभवात्। तदुपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यरुच्यात्मको हि परिणामः सम्यग्मिथ्यात्वमिति।

[अब भावका कथन करते हैं— मिथ्यादृष्टि यह औदयिक भाव है क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक भाव है।

शङ्का—अनन्तानुबन्धि क्रोध आदि कषायके उदयमें सासादन गुणस्थान प्रकट होता है तो इसे औदयिक क्यों नहीं कहते?

उत्तर—उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। दर्शनमोहकी अपेक्षासे ही मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें भाव बतलाना इष्ट है अतः सासादनमें सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंका उदय, क्षय और क्षयोपशमका अभाव होनेसे पारिणामिक भाव कहा है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक भाव है।

शङ्का—सर्वघातिप्रकृतियोंके उदयके अभावमें और देशघाती प्रकृतियोंके उदयमें जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिको देशघातिपना तो संभव नहीं हैं क्योंकि आगममें उसे सर्वघाती कहा है ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है, उपचारसे सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृतिको देशघातिपना भी सम्भव है। उपचारका निमित्त हैं एक देशसे सम्यक्त्वका घाती होना। मिथ्यात्वप्रकृतिकी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके द्वारा समस्त सम्यक्त्वरूप और मिथ्यात्व-रूपका घात सम्भव नहीं है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंमें रुचिका भी अंश रहता है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंमें रुचि और अरुचिरूप परिणामको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं।]

§. १४८

६२. २ अल्पबहुत्वम्। उपशमकानामितरगुणस्थानवर्तिभ्योऽल्पत्वात् प्रथमतोऽभिधानम्। तत्रापि त्रय उपशमकाः सकषायत्वादुपशान्तकषायेभ्यो भेदेन निर्दिष्टाः। प्रवेशेन तुल्यसख्याः सर्वेऽप्येते षोडशादिसंख्याः। त्रयः क्षपकाः संख्येयगुणा उपशमकेभ्यो द्विगुणा इत्येवमादिसंख्या संख्याविचारे विचारितमिह द्रष्टव्यम्। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता विशेषाधिकास्तत्संयमयुक्तानामुपशमकानामिव क्षपकाणामपि ग्रहणात्। संयतासंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वमेकगुणस्थानवर्तित्वात् संयतानामिव गुणस्थानभेदासंभवादिति।

[उपशमक उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाले अन्य गुणस्थानवर्ती जीवोंसे अल्प होते हैं इसलिए उनका प्रथम कथन किया है। उनमें भी तीन उपशमकोंको कषायसहित होनेके कारण उपशान्तकषायोंसे भिन्न निर्दिष्ट किया है। प्रवेशकी अपेक्षा इन सभीकी संख्या सोलह आदि समान है। तीन क्षपक संख्यातगुने हैं, उपशमकोंसे दूने हैं इत्यादि संख्याका संख्याविचारमें विचार किया है उसे ही यहाँ देख लेना चाहिए। सूक्ष्मसाम्पराय संयमवाले विशेष हैं क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय संयमसे युक्त उपशमकोंकी तरह क्षपकोंको भी ग्रहण किया है। संयतासंयतोंमें अल्पबहुत्व नहीं है क्योंकि उनके एक ही गुणस्थान होता है, संयतोंकी तरह उनमें गुणस्थानभेद नहीं है।]

§. १६४

मति......॥९॥

६६.४ अवाग्धानात् अवस्ताद् बहुतरविषयग्रहणात्। अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा रूपिलक्षणविविक्तविषयत्वाद्वा।

६६.७ स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते यथा परमनस्थितमर्थं मनसा परिविद्यत (परिच्छिद्यत) इति।

६६.८ यदर्थं केवन्ते सेवां कुर्वन्ति। कस्येति चेत्, केवलस्यैव संपन्नतत्प्राप्तिपरिज्ञाततदुपायस्यार्हदादेर्वा।

६७.१ सुगमत्वात् सुखप्राप्त्यत्वात्।

६७.२ मतिश्रुतपद्धतिः-मतिश्रुतानुपरिपाटी। तस्या वचनेन श्रुतायाः सकृत्स्वरूपसंवेदनमात्रत्वं परिचितत्वम्। अशेषविशेषतः पुनश्चेतसि तत्स्वरूपपरिभावनमनुभूतत्वम्।

बहुबहुविध.....॥१६॥

§ १९५

७९.५ अपरेषां निस्सृत इति पाठः। तत्र द्विः सकारनिर्देशस्यायमर्थो मयूरस्य कुररस्य वेति स्वतः परोपदेशमन्तरेणैव कश्चित् प्रतिपद्यते। येषां तु निसृत इति पाठस्तेषां 'अपरः' प्रतिपत्तौ स्वरूपमेव शब्दमेवाश्रित्य विशेषरूपतयानवधार्य प्रतिपद्यत इति व्याख्या।

§ २००

व्यञ्जनस्य ......॥१८॥

८१.१ व्यञ्जनं शब्दादिजातं शब्दादिसंघातः।

८१. ३ अन्तरेणैवकारं—एवकारं विना।

§ २०२

न चक्षु........॥१९॥

८२.२ अविदिक्कं—यन्मुखदिशम्।

§ २०६

श्रुतं मतिपूर्वं·······॥२०॥

८३.४ उपादाय—आश्रित्य ।

८३.५ पर्यवदाते क्षेमे ।

§ २०७

८४.२ द्रव्यादिसामान्यार्पणात्—द्रव्यक्षेत्रकाल-भावार्पणात् ।

८४.३ उत्प्रेक्षितं—कृतम् । तेषामेव—द्रव्यादीनामेव ।

§ २०८

८४.८ सम्यक्त्वस्य—समीचीनत्वस्य । ज्ञाने तद-पेक्षत्वात्-सम्यक्त्वापेक्षत्वात् । तदुक्तम्—

[1]कारणकज्जविहाणं दीवपयासाण जुगवजम्मे वि ।
जुगवुप्पण्णं पि तहा हेऊ णाणस्स सम्मत्तं ॥

§ २०९

८४.१० आहितो धृतः स्थापितो वा । कृतसंगीतिः—कृतसंकेतः । घट इत्युक्ते घकार-टकार-विसर्जनीयात्मकं शब्दं मतिज्ञानेन प्रतिपद्यते । ततो घट-शब्दात् घटाद्यर्थं श्रुतज्ञानेन, तस्मादपि घटार्था-ज्जलधारणादिकार्यम् । तथा चक्षुरादिविषयाद्धूमादेः । तत्रापि धूमदर्शनं मतिज्ञानं तस्मादग्निविषयं ज्ञानं श्रुतज्ञानम् । तस्मादपि दाहादिकार्यज्ञानं श्रुतमिति ।

§ २११

८५.१० आरातीयोऽवान्तरः ।

§ २१२

८६. ३ व्याक्रियतां—व्युत्पाद्यताम् ।

§ २१३

भवप्रत्यय·······॥२२॥

८७. ८ प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिरागमतः । तथाहि, देवानां तावत्—

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं[2] च सणक्कुमारमाहिंदा ।
बह्मालांतव तइयं सुक्कसहस्सारया चउत्थीओ ॥
पंचम माणदपाणद छट्ठीओ आरणाच्चुदाय पस्संति ।
णवगेवेज्जा सत्तम[3] माणुत्तरा सव्वलोयं तु ॥

तथा नारकाणां—

रयणप्पहाए जोयणमेगं ओहिविसओ मुणेयव्वो ।
पुढवीदो पुढवीदो गाउ[4]दयद्ध परिहरेज्जा ॥

[अवधिज्ञानकी हीनाधिकता आगमसे जाननी चाहिए । जो इस प्रकार है—देवोंमें सौधर्म ऐशान स्वर्गके देव पहली पृथिवीपर्यन्त, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथिवीपर्यन्त, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देव तीसरी पृथ्वीपर्यन्त, शुक्र-महाशुक्र, शतार, सहस्रार स्वर्गके देव चतुर्थ पृथ्वीपर्यन्त, आनत, प्राणत स्वर्गके देव पाँचवीं पृथिवीपर्यन्त, आरण-अच्युत स्वर्गके देव छठी पृथिवीपर्यन्त, नवग्रैवेयकोंके देव सातवीं पृथिवीपर्यन्त और अनुदिश अनुत्तरवासी सर्वलोकको जानते हैं । तथा नारकोंमें रत्नप्रभा पृथिवीमें एक योजन क्षेत्र अवधिज्ञानका विषय है । आगे प्रत्येक पृथिवीमें आधा-आधा कोस कम करते जाना चाहिए ।

§ २१५

क्षयोपशमनिमित्तः·······॥२२॥

८८. २ देशघातिस्पर्धकानां किं पुनः स्पर्धकम् इति चेत्, कर्मपुद्गल शक्तीनां क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च स्पर्धकम् । शान्तः—उपशान्तः । उन्मुग्धेत्यादि, उन्मुग्धस्य विवेकपराङ्मुखस्य, प्रश्ने सति आदेशि-पुरुषवचनं यथा तत्रैवातिपतति नाभिहितेऽर्थे तेनाग्रे प्रवर्त्यते । लिङ्गवत्—लाञ्छनवत् ।

रूपि·······॥२७॥

---

१. कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि । दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥ —पुरुषार्थ०, ३४ । २. विदियं ···।—मूलाचार ११४८ । ३. ····सत्तमि अणुदिस अणुत्तराय लोगं तु ॥ —मूलाचार ११४९ । ४. ··· गाऊ अद्धद्ध परिहाणी ॥—मूलाचार, ११५२ ।

न च पुद्गलद्रव्यसंबन्धजीवानां रूपित्वाभिधाने प्रवचनविरोधः । तत्रापि तेषां तथाभिधानात् । उक्तञ्च—

[1]'बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं । तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो हवदि जीवाणं ॥'

नैगम..........॥३३॥

वस्तुनि—जीवादौ । अनेकात्मन्यनेकरूपे । अविरोधेन-प्रतीत्यनतिक्रमेण हेत्वर्पणात्—द्रव्यपर्यायार्पणात् । साध्यविशेषस्य-नित्यत्वादेः । याथात्म्यप्रापणप्रवण-प्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थव्यापारो नयो वस्त्वेक-देशग्राही ज्ञातुरभिप्रायः । उक्तं च—

[2]'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । स्यान्नयोऽर्थान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतेः ॥'

अनभिनिवृत्तार्थः—अनिष्पन्नार्थः ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वात् । नैगमात् खलु संग्रहोऽल्पविषयः, सन्मात्रग्राहित्वात्, नैगमस्तु भावाभाव-विषयत्वाद् बहुविषयः । यथैव हि भावे संकल्पस्तथा-भावेऽपि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । अर्थमात्रः—प्रयोजनलेशः ।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

औपशमिक क्षायिकौ.......॥१॥

§. २५३

१०५. ११ औपशमिकमादौ लभ्यते । तदुक्तम्—

'पढमप्पढमं णियदं पढमं विदियं च सव्वकालेसु । खाइयसम्मत्तं पुण जत्थ जिणा केवलीकाले ॥'

द्रव्यतः जीवतः । संसारिक्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवानां तत औपशमिकसम्यग्दृष्टिजीवेभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् ।

संसारिणः.......॥१०॥

§. २७५

११३. १८ नोकर्मपरिवर्तनम्—औदारिकवैक्रियिकाहारकलक्षणानां त्रयाणां शरीराणामाहारशरीरेन्द्रियान-प्राणभाषामनोलक्षणषट्पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकजीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धादिस्वरूपैस्तीव्रमन्दं मध्यमभावेन चेति । तेषां फलदानसामर्थ्यस्वरूपनिरूपणम् । तेषामल्पकालत्वात् । द्वितीयादिसमयेषु यथावस्थितास्तीव्रादिभावेन स्थिता निर्जीर्णाः फलमनुभूय त्यक्ताः । पश्चाद्ये कदाचनापि शरीरत्रयादिरूपतया न गृहीतास्तानेवागृहीतान् गृहीत्वा त्यजत्यवान्तरे स पूर्वान् मिश्रकांश्च गृहीतानपरिगणय्य यावत्तेषामेवानन्तवारत्वं पश्चादेकवारं मध्ये मिश्रकान् स्वगृहीतानादाय त्यजति । पुनरप्यगृहीताने वानन्तवारानादाय त्यजति । पुनरप्येकवारं मिश्रकानेव तावद्यावन्मिश्रकाणामप्यनन्तवारत्वं पश्चाद् गृहीताने-वैकवारमादाय त्यजति । अनेनोक्तविधिनाऽरगर्त-भ्रमणन्यायेन मिश्रकाननन्तवारान् गृहीत्वा गृहीता-नेवादाय त्यजति । यावत्तेषामप्यनन्तवारत्वं पश्चात्त एव ये प्रथमतो गृहीतास्तेनैव स्निग्धादितीव्रादि-प्रकारेण तस्यैव नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत् समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते । तदेवार्द्धित-मर्धपुद्गलावर्त इति । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं संसारयोग्यं बहुस्थितिकं कर्म बध्नाति । तस्यापक्वपाचनलक्षणो-दीरणापेक्षया समयाधिकामावलिकामतीत्येत्युक्तम् । पूर्ववत् प्रक्रिया द्रष्टव्या ।

§. २७६

११७. ११ क्षेत्रपरिवर्तनम् । अनन्तमानावच्छिन्नवन-स्पतिकायाः साधारणशरीराहारोच्छ्वासनिःश्वास-मरणोत्पादा निगोताः । जघन्यावगाहप्रतिपादनार्थं सूक्ष्म-अपर्याप्तकविशेषणम् । तेषामपि परस्परतः तरतमभावसद्भावात् सर्वजघन्यप्रदेशशरीरत्वविशे-षणम् । स इत्थंभूतो जीवो मेरोरधोभागे गोस्त-नाकाराष्टलोकमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः । सर्वजघन्यप्रदेशशरीरस्याष्टप्रदेशव्यापित्वं विरुद्धमिति चेत् न, तच्छरीरस्यासंख्याताकाश-प्रदेशावगाहित्वात् । क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतःस

---

१. सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत । २. अकलंकदेवकृत अष्टशतीमें उद्धृत, अष्टस०, पृ० २९० ।

एव पुनस्तेनैव सर्वजघन्यशरीराष्टलोकमध्यप्रदेशावगाहेन द्विरुत्पन्नो निरन्तरम् । अन्यत्रोत्पद्य वा तत्रैवाधिकामवगाहेन वा उत्पद्यमानं न गणयित्वा तथा त्रिस्तथा चतुरिति एवं यावतो विस्तारोत्सेधावगाहतः समचतुरस्रोत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाश - प्रदेशास्तावतो वारान् तत्रैवोत्पद्य पुनर्व्याप्तक्षेत्रापरित्यागेनाभिनवैकैकप्रदेशाधिक्यावगाहेनैव सर्वलोकव्याप्तिः । नन्वेवं लोकपरिमाणं तत् शरीरं स्यादिति चेत् न, पूर्वपूर्वव्याप्ताकाशप्रदेशपरित्यागेन तद् व्याप्त्यभ्युपगमात् ।

§. २७७

११८. ३ कालपरिवर्तनम् । प्रथमद्वितीयाद्युत्सर्पिणीनां क्रमेण प्रथमद्वितीयादिसमयेषूत्पद्यते यावद्दशसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता भवति । तथा तत्परिमाणावसर्पिणी च । एवं मरणनैरन्तर्यमपि ज्ञेयम् । क्रमातिक्रमेणोत्पन्नस्योत्पत्तिमरणे न परिगण्येते ।

§. २७९

११९. ३ भावपरिवर्तनम् । ज्ञानावरणप्रकृतेराद्यत्वात्तामधिकृत्योच्यते । पञ्चेन्द्रियादिविशेषेण विशिष्टो मिथ्यादृष्टिरेवैकविधां सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नातीति तस्य सा स्वयोग्येत्युच्यते । सागरोपमैककोट्या उपरि कोटीकोट्या मध्यमन्तःकोटीकोटीत्युच्यते । कषायाध्यवसायस्थानानि असंख्यातलोकमानावच्छिन्नानि षट्स्थानानि अनन्तभागवृद्ध्यसंख्यातभागवृद्धि-संख्यातभागवृद्धि-संख्यातगुणवृद्ध्यसंख्यातगुणवृद्ध्यनन्तगुण - वृद्धिरूपाणि तेषु पतितानि तद्वृद्ध्या वृद्धिं गतानि । अनेन तेषां न्यूनाधिकत्वं सूचितम् । तानीत्थंभूतानि कषायाध्यवसायस्थानानि तस्य मिथ्यादृष्टिजीवस्य तत्स्थितिं बध्नतो योग्यानि भवन्ति । तेषां मध्ये सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानमुक्तस्थितियोग्यकषा - याध्यवसायस्थानेभ्योऽतिशयेन मन्दकषायाध्यवसायस्थानं जघन्यत्वमुत्कृष्टं च स्वरूपं तेषां स्थितिकार्यं प्रति सर्वेषां विशेषाभावात् । तथाविधां स्थितिं कुर्वत्तदेव कषायाध्यवसायस्थानं कर्मणां फलदानसामर्थ्यलक्षणानुभवान्नाना करोतीति तन्निमित्तानीत्युच्यते । 'जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो कुणादि' इत्यभिधानात् । अतस्तदेव जघन्यनानाशक्तिविशेषैर्युक्तमनुभवाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि विदधते । सर्वजघन्यमेतत्त्रितयमेवमास्कन्दतः कर्तृत्वेन व्रजतस्तद्योग्यं तदनुकूलं सर्वजघन्ययोगस्थानं भवति । योगादीनां च अन्तर्मुहूर्तकालत्वाद्योगान्तरं कषायान्तरं च प्रतिपद्य कदाचित् कालविशेषे प्रथमसर्वजघन्ययोगस्थानात्तेषामेव सर्वजघन्यस्थित्यादीनां सम्बन्धि द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति । एवं चतुःस्थानपतितानि । अनन्तभागानन्तगुणवृद्धिहीनेतरचतुःस्थानवृद्ध्या वृद्धिं नीतानि तावद् भवन्ति यावच्छ्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि । एवं सर्वजघन्यानुभवाध्यवसायस्थाने श्रेण्यसंख्येयभाग परिमितेषु योगस्थानेषु सत्सु सर्वजघन्यस्थिति-कषायाध्यवसायस्थानयुक्तस्यैव द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति । तस्यापि योगस्थानानि चतुःस्थानपतितानि । तानि श्रेण्यसंख्येयभाग परिमितानि पूर्ववद् वेदितव्यानि । एवं तृतीयाद्यनुभवस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेरयं क्रमो वेदितव्यः । एवं तामेव सर्वजघन्यां स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि असंख्यातलोकपरिमितानि प्रत्येकं चतुःस्थानपतितश्रेण्यसंख्येयभागपरिमितयोगस्थानयुक्तानि पूर्ववद् वेदितव्यानि । उक्तसर्वजघन्यस्थितेरेकैकसमयाधिकक्रमेण वृद्धिं गच्छन्त्यास्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटिपरिमितोत्कृष्टस्थितिः यावत् कषायानुभवयोगस्थानानि प्रत्येकमुदाहृतक्रमेण वेदितव्यानि ।

§ २८४

संसारिणस्त्रस·······॥१२॥

१२२. ३ अभ्यर्हितत्वात् पूज्यत्वात् ।

§ २८५

१२२. ५ विभज्यानुपूर्वी उल्लङ्घ्यानुपूर्वी ।

§ २८६

१२२. ८ पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तम् । तथाहि—

पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाया य पुढविजीवा य ।
साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥

§ २९०

पञ्चेन्द्रियाणि·······॥१५॥

१२४. ४ कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाद-पाणि-पायूपस्थान-लक्षणानाम्।

§ २९४

निर्वृत्ति·······॥१६॥

१२५. २ उत्सेधाङ्गुलपरिभाषानिष्पन्नं यस्यैकस्मिन् प्रमाणाङ्गुले पञ्चशतानि भवन्ति।

§ ३१६

विग्रहवती·······॥२८॥

१३२. १२ सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे सर्वोत्कृष्टविग्रहस्त्रिवक्रता, तस्य निमित्तं यन्निष्कुटक्षेत्रं वक्रक्षेत्रम्।

§ ३२०

एकं द्वौ·······॥३०॥

१३३. १० यथेच्छातिसर्गः यथेष्टप्रवृत्तिः।

§ ३२२

संमूर्छ·······॥३१॥

१३४. ४ उपेत्य-गत्वा पद्यते-उत्पद्यते।

§ ३२४

सचित्त·······॥३२॥

१३५. १३ तद्भेदाश्चतुरशीतिसहस्रसंख्याः। तथाहि—नित्येतरनिगोतस्य पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां च प्रत्येकं सप्त सप्त योनिलक्षाणि। वनस्पतिकायिकानां दश। द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वे द्वे। सुरनारकतिरश्चां प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि। मनुष्याणां चतुर्दशेति॥ तदुक्तम्—

'णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥'

[वारसअणु० गा० ३५]

औदारिक·······॥३६॥

§ ३३१

१३७. ८ अष्टगुणैश्वर्ययोगात् अणिमा-महिमा-लघिमा-प्राकाम्य-प्राप्तीशित्व-वशित्व-कामरूपित्वलक्षणात्।

प्रदेशतो·······॥३८॥

§ ३३५

१३८. ८ को गुणाकारः। पल्योपमासंख्येयभागः। तथाहि-औदारिकात् पल्योपमासंख्येयभागाधिकं वैक्रियिकं तस्मादप्याहारकम्।

अनन्तगुणे·······॥३९॥

§ ३३७

१३८. १३ को गुणाकारोऽभव्यानन्तगुणः सिद्धानन्तभागः। अत्रोभयोरेकार्थत्वं यदेव ह्यभव्यानामनन्तगुणत्वं तदेव सिद्धानामनन्तभागत्वमिति। अनेनाजघन्योत्कृष्टं चानन्तमानमत्र द्रष्टव्यम्।

निरुपभोगः·······॥४४॥

§ ३४७

१४०. १२ इन्द्रियप्रणालिकया इन्द्रियद्वारेण। इन्द्रियलब्धौ-इन्द्रियशक्तौ।

शुभं·······॥४९॥

§ ३५७

१४३. ४ प्रत्याम्नायः पुरभिधानम्।

§ ३६५

१४५. ६ चरमदेहस्योत्तमविशेषणात्तीर्थकरदेहो गृह्यते। ततोऽन्येषां चरमदेहानामपि गुरुदत्तपाण्डवादीनामग्न्यादिना मरणदर्शनात्। उक्तेभ्योऽन्येषां विषादिनापवर्त्यमायुः उक्तं च—

'विसवेयणरत्तक्खय-भय सत्थगहणसंकिलेसेहिं।
आहारुस्सासाण णिरोहओ छिज्जए आऊ।'

—[गो० कर्म० गा० ५७]

[चरम शरीरके साथ उत्तम विशेषण लगाने से तीर्थकरका शरीर ग्रहण किया जाता है क्योंकि चरमशरीरी भी गुरुदत्त, पाण्डवों आदिका अग्नि आदिसे मरण देखा गया है। इनसे जो अतिरिक्त

होते हैं उनकी आयुका विषादिके द्वारा घात होता है। कहा है—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, तथा आहार और श्वासोछ्वासके रुकनेसे आयु छिद जाती है]।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

तासु त्रिंश·······॥२॥

§ ३६१

१४९. ५ इतरो विशेषो नरकप्रस्ताराणां रचनाप्रमाणादिलक्षणो लोकानुयोगतः लोकानुयोगनाम्न आगमविशेषात्।

परस्परो·······॥४॥

§ ३७२

१५१. ६ भिण्डिवालो—गोफणा।

संक्लिष्टा·······॥५॥

§ ३७५

१५२. २ कूटशाल्मलिः कृत्रिमशाल्मलिः। अम्बरीषो भ्राष्ट्रः।

तद्विभाजिनः·······॥११॥

§ ३८७

१५६. ६ क्षुद्रहिमवान् लघुहिमवान्। हरिवर्षस्य हरिक्षेत्रस्य।

हेमार्जुन······ ॥१२॥

§ ३८९

१५६. १३ चीनपट्टं—शुभ्रपट्टोलकम्।

पद्म·······॥१४॥

§ ३९५

१५७. १२ प्राक् पूर्वः। प्रत्यक् पश्चिमः। उदक् उत्तरः। अवाक् दक्षिणः।

§ ३९९

१५८. ५ जलतलाज्जलोपरितनभागात्। तावद्बहुलपत्रप्रचयं क्रोशद्वयस्थौल्योपेतपत्रप्रचयम्।

द्विर्धातकी·······॥३३॥

§ ४३०

१६६. ५ टंकच्छिन्नतीर्थः टंकछिन्नतटः।

भरतै·······॥३७॥

§ ४३७

१६९. १० नन्वशुभकर्मणः सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनं। मित्याद्ययुक्तं स्वयंभूरमणजलधिजमत्स्यानां सप्तमनरकप्रापकाशुभकर्मारम्भकत्वाभावप्रसंगात्। तदयुक्तं तत्परभागस्य कर्मभूमित्वात्। तथाहि—स्वयंभूरमणद्वीपमध्ये तद्द्वीपार्धकारी मानुषोत्तराकारः स्वयंप्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थितस्तस्यार्वाग्भाग आमानुषोत्तराद् भोगभूमिभागः। तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनस्तिर्यञ्चः सन्ति। ततः परतः आलोकान्तात् कर्मभूमिभागः। तत्र पञ्चगुणस्थानवर्तिनः प्रकृष्टशुभाशुभकर्मारम्भकास्ते सन्तीति कर्मभूमित्वम्। कथमन्यथा तत्र पूर्वकोटचायुरर्वाग्भागे चासंख्येयवर्षायुरिति। मनुष्यक्षेत्रप्रधानतयाभिधानाद्वा न दोषः।

[शंका—सातवें नरकमें ले जानेवाले अशुभकर्मका उपार्जन भरत आदिमें ही होता है यह कथन मिथ्या होनेसे अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कहनेसे स्वयम्भूरमण समुद्रमें वर्तमान महामत्स्यके सातवें नरकमें ले जानेवाले अशुभ कर्मके उपार्जनके अभावका प्रसंग आता है।

उत्तर—ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि स्वयंभूरमणका पर भाग कर्मभूमि है। इसका खुलासा इस प्रकार है—स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें उस द्वीपको दो भागोंमें विभाजित करनेवाला, मानुषोत्तर पर्वतके आकार स्वयंप्रभ नामक पर्वत स्थित है। उसके पूर्वभागमें मानुषोत्तर पर्यन्त भोगभूमि है। वहाँ चारगुणस्थानवाले तिर्यंच रहते हैं। स्वयंप्रभ पर्वतसे आगेवाले भागमें लोकान्त तक कर्मभूमि है। वहाँ पाँच गुणस्थानवाले प्रकृष्ट शुभ और अशुभ

कर्मोंका उपार्जन करनेवाले तिर्यंच रहते हैं अतः वहाँ कर्मभूमि है। यदि ऐसा न होता तो वहाँ पूर्वकोटिकी आयु और उससे पूर्वके भागमें असंख्यात वर्षकी आयु कैसे होती। अथवा उक्त कथन मनुष्य-क्षेत्रकी प्रधानतासे किया है इसलिए कोई दोष नहीं है।]

नृस्थिती........॥३८॥

§ ४३९

१७०. ९ उत्सर्पिण्या अन्त्यचक्रवर्तिनः अवसर्पिण्याश्च प्रथमचक्रवर्तिनः अङ्गुलप्रमाणं प्रमाणाङ्गुलम्। अविकवालाः—मेषकेशाः।

इति तृतीयोऽध्यायः।

इन्द्र.....॥४॥

§. ४४९

१७५. ९ अर्थचरो अर्थचिन्तकः। आरक्षिकः कोट्टपालः। पदात्यादीनि सप्तानीकानि हस्त्यश्वरथपदातिवृषगन्धर्व-नर्तकीलक्षणानि। उत्सर्गेण सामान्येन।

पूर्व........॥६॥

§. ४६३

१७६. ८ सप्तपर्णः—पर्वणि पर्वणि सप्त पर्णानि यस्यासौ सप्तपर्णो वृक्षविशेषः। तथा अष्टापदः—पङ्क्तौ पङ्क्तौ अष्टौ पदानि यस्यासौ अष्टापदो द्यूतफलकः।

तत्कृतः........॥१४॥

§. ४६९

१८१. ३ क्रियाविशेषपरिच्छिन्नः—आदित्यगमनेन परिच्छिन्नः। अन्यस्य जात्यादेः अपरिच्छिन्नस्य कालनैयत्येनानवधारितस्य परिच्छेदहेतुः।

सौधर्म.......॥१९॥

§. ४७९

१८४. १२ सर्वमन्यद् विमानरचना प्रमाणादिकं लोकानुवेदाद्वेदितव्यम्।

स्थिति.......॥२०॥

वसनं वस्त्रं।

गति.......॥२१॥

'दो दो चउ चउ दो दो तिय तिय चोद्दस य अंग उस्सेहो।
सत्त छप्पं च चउरो हत्थादो अद्धद्ध हीणादो॥'

पीत........॥२२॥

औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं यथा द्रुतायाः तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति। भरते हि द्रुतरीतिः लक्षणसूत्रं 'द्रुतौ वैस्त'[1] इति। तत्र द्रुतोवै रिति सिद्धे तपरकरणं व्यर्थमतस्तस्यां लक्षणसूत्रे तपरकरणे मध्यविलम्बितयोरुपसंख्यानसंग्रहो भवति। अत्र च यथोत्तरपदिकं ह्रस्वत्वमेवं पीतपद्मादावपि द्रष्टव्यम्।

इति चतुर्थोऽध्यायः।

अजीव........॥१॥

§. ५२७

१९७.२ जीवलक्षणाभावमुखेन जीवलक्षणाभावद्वारेण।

द्रव्याणि.....॥२॥

§. ५२९

१९७.१० गुणसंद्रावो गुणसंघातः।

§. ५३०

१९८. ४ अध्यावापार्थं (अध्यापरोपणार्थं) समुच्चयार्थम्

जीवाश्च ....॥३॥

---

१. पा० महाभा०, १।१।९।६९।

§. ५३१

१९९. ५ तेषामपि वायुमनःपुद्गलानामपि, तदुपपत्तेः रूपादिमत्कार्योपपत्तेः।

रूपिणः·········॥५॥

§. ५३५

२०१. २ तद्विकल्पः स्कन्धपरमाणुरूपपुद्गलभेदः। उपरिष्टात् अग्रे।

आकाशस्य·········॥९॥

§. ५४३

२०४. १ पूर्ववद् धर्मादीनामजघन्योत्कृष्टासंख्येयप्रदेशवत्, अस्याप्याकाशस्यापि अजघन्योत्कृष्टानन्तप्रदेशकल्पना अवसेया।

लोकाकाशे·········॥१२॥

एवंभूतनयापेक्षया निश्चयनयापेक्षया।

एक प्रदेश·········॥१४॥

§. ५५३

२०७. ७ अविरोधेनावरोधः अविरोधेनावस्थानम्।

प्रदेश·········॥१६॥

§. ५५७

२०८. १३ मानिका ढक्कणिका।

गति·········॥१७॥

§. ५५९

२०९. ११ पृथिवीधातुरिव-ददातीति (दधातीति) शि(?)धातुः आधारः। पृथिव्येव धातुः पृथिवीधातुरिति।

शरीर·········॥१९॥

§. ५६३

२१२. १३ मूर्तिमता श्रोत्रेण ग्रहणं मूर्तिमता भीत्यादिनाऽवरोधः प्रतिबन्धः मूर्तिमतश्च श्रोत्रस्य काहलादिशब्देन व्याघातो बाधिर्यादिलक्षणः। मूर्तिमता प्रतिकूलवायुना वा शब्दस्य व्याघातो विवक्षितदेशे गच्छतो व्यावर्तनम्। अभिभवः श्रोत्रस्य झटिति शब्दप्रतिपत्तिजननसामर्थ्यखण्डनं घण्टादिशब्देन क्रियते। तिर्यग्वातेन वा शब्दस्य तथा तज्जननसामर्थ्यखण्डनं भेर्यादिशब्दैर्वा मशकादिना स्वरूपाभिभवः। साचिव्यं सहायत्वम्।

स्पर्शरस·········॥२३॥

§ ५७०

२१८. ६ त एते स्पर्शादीनां मूलभेदाः प्रत्येकं द्वित्र्यादिसंयोगेन संख्येयासंख्येयानन्ताश्च भवन्ति॥

शब्दबन्ध·········॥२४॥

§ ५७२

२१९. ४ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामेकेन्द्रियापेक्षया यदतिशयज्ञानं तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतुः। तथाहि—तेषां शब्दविषयं विशिष्टं ज्ञानमस्ति शब्दकरणान्यथानुपपत्तेः। एकेन्द्रियाणां तु ज्ञानमात्रं नातिशयज्ञानं तत्करणाभावात्। अथवा अतिशयज्ञानं केवलज्ञानं तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतुः। अतिशयज्ञानवान् सर्वज्ञोऽनक्षरात्मकशब्देनार्थप्रतिपादकत्वात्। यस्तु नेत्थं स न तथा, यथा रथ्यापुरुषः। उक्तं च—'नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः'। इति। बलाहको—मेघः। पुष्करः—पटहः। दर्दुरो रुजा (?)। सुघोषः किन्नरकः। जतु—लाक्षा।

उत्पाद·········॥३०॥

§ ५८४

२२४. २ समाधिवचनस्तादात्म्यवचनः। युक्तशब्दो युजिर योग इत्यस्य त्यागेन 'युज् समाधौ' इत्यस्य ग्रहणात्।

तद्भावा·········॥३१॥

§ ५८६

२२५. ३ तदेवेदमिति स्मरणं तदेवेदमिति विकल्पः।

बन्धेऽधिकौ·········॥३७॥

§ ५९८

२३०. १ तृतीयमेव तार्तीयिकम्। 'स्वार्थे तीयादिकण्'।

कालश्च·········॥३९॥

§ ६०२

२३३. ९ पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयो व्यवहारनयः।

सोऽनन्त.......॥४०॥

§ ६०४

२३५. ६ परमनिरुद्धो बुद्धचा अविभागभेदेन भेदितः।

इति पञ्चमोऽध्यायः।

काय.......॥१॥

§ ६१०

२३८. ८ औदारिकादिसप्तविधः कायः औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्र - कार्मणलक्षणो। मिश्रत्वं च कायस्यापरिपूर्णत्वम्।

शुभ.......॥३॥

§ ६१४

२३९. १२ शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्। यथा उपोषितादेः पठतो विश्रम्यतामिति वागादियोगस्य।

सकषाय.......॥४॥

§ ६१६

२४०. ८ ईरणमीर्या यमाह योग इति कायादिव्यापार इत्यर्थः। अस्यापि तात्पर्यमाह गतिरित्यर्थः। कायादिवर्गणालम्बी आत्मप्रदेशपरिस्पन्द इत्यर्थः। सैव न कषायादिद्वारमास्रवः मार्गो यस्य तत्तद्द्वारकं कर्म।

इन्द्रिय.......॥५॥

§ ६१८

२४१. १५ विशसनं मारणम्।

निवर्तना.......॥९॥

५२

§ ६२६

२४५. ४ अनाभोगनिक्षेपः पुनरनालोकितरूपतयोपकरणादिस्थापनम्।

तत्प्रदोष.......॥१०॥

§ ६२८

२४५. ९ अनभिव्याहरतः। वचनमनुच्चारयतः।

दुःखशोक.......॥११॥

§ ६३०

२४६. ७ वैक्लव्यविशेषो दीनत्वविशेषः। आविलान्तःकरणस्य कलुषितान्तःकरणस्य। तीव्रानुशयो अतिशयेन पश्चात्तापः।

§ ६३०

२४७. ३ आस्थीयते (आस्तीर्यते) प्रतिज्ञायते।

§ ६३०

२४७. ८. न दुःखं न सुखमित्यादि। चिकित्सिते हेतुः—शस्त्रादिः, स न दुःखं सुख वा-दुःखरूपः सुखरूपो वा स्वरूपेण न भवति जडत्वात्। चिकित्सायां तु युक्तस्य वैद्यादेर्यदि क्रोधादिरस्ति तदा दुःखं स्यात् दुःखहेत्वधर्मोपार्जनत्वात्। एवं मोक्षसाधने हेतुः उपवासलोचादिः, स स्वरूपेण दुःखरूपः सुखरूपो वा न भवति। यस्तु तेन युक्तो गुरुशिष्यादिः स पूर्ववत् सुखदुःखरूपो वेदितव्यः क्रोधादिसद्भावासद्भावाभ्याम्।

भूत.......॥१२॥

§ ६३२

२४८. ३ अक्षीणाशयः—गृहादावनिवृत्ताभिप्रायः। अवरोधः (अनुरोधः)—स्वीकारः।

कषायोदय.......॥१४॥

§ ६३६

२४९. १३ अतिसन्धानं-वंचनम्।

§ २३६

२५०. १ व्यपरोपणं विनाशनम्। पराङ्गनावस्कन्दः परभार्यापहारः।

बह्वारम्भ·······॥१५॥

§. ६३८

२५०. ८ अजस्रं—अनवरतम् ।

अल्पारम्भ·······॥१७॥

§. ६४२

२५१. ४ तद्व्यासः—प्रपञ्चः ।

सरागसंयम·······॥२०॥

§. ६४८

२५२. ५ चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु चारकेण बन्धन विशेषेण निरोधबन्धनबद्धेषु—गाढबन्धनबद्धेषु ।

तद्विपरीत·······॥२३॥

§. ६५४

२५३. १२ संभ्रमसद्भावोपनयन संभ्रमः—आदरः, सद्भावेन—अमायया उप—समीपे गमनम् ।

दर्शनविशुद्धि·······॥२४॥

§. ६५६

सत्कारः पूजा । अनिगूहितवीर्यस्य प्रकटीकृतस्व-सामर्थ्यस्य ।

२५४. ७ प्रत्यूहे विघ्ने ।

इति षष्ठोऽध्यायः ।

हिंसानृत·······॥१॥

§, ६६४

संभिन्नबुद्धिः विपरीतमतिः ।

§. ६६४

२५८. ६ संवरपरिकर्मत्वात्—संवरपरिकरत्वात् । कृतपरिकर्मा कृतानुष्ठानः ।

हिंसादि·······॥९॥

§. ६७९

२६१. ६ मिथ्याभ्याख्यानं—मिथ्यावचनम् । वासिताविञ्चितः—हस्तिनीवंचितः ।

जगत्·······॥१२॥

§. ६८५

२६३. १० दुःखं भोजंभोजं—दुःखं भुक्त्वा भुक्त्वा ।

प्रमत्त·······॥१३॥

§. ६८७

२६४. ११ आवादेज्ज—आपतेत् । कुलिङ्गः सूक्ष्म-जन्तुः । तं जोगमासेज्ज—पादयोगमासाद्य । मुच्छा-परिग्गहोत्तिय-मूर्छापरिग्रह इति । अज्झप्पपमाणदो—अध्यात्मप्रमाणतः । अन्त्यः संकल्पानतिक्रमेणेत्यर्थः । तथा हिंसापीति ।

अगार्य·······॥१९॥

§. ६९९

२६९. ४ प्रतिश्रयार्थिभिः—गृहार्थिभिः ।

दिग्देश·······॥२१॥

§. ७०३

२७२. ७ अवहितान्तरङ्गः—एकाग्रमनाः । शृङ्गवेर-मार्द्रकम् ।

मिथ्योपदेश·······॥२६॥

§. ७१२

२७६. १० पराकूतं पराभिप्रायः ।

क्षेत्रवस्तु·······॥२९॥

§. ७१५

२७८. २ क्षौमं शुभ्रपटोलकः । कौशेयं तसरीचीरं ।

§. ७१७

२७८. १२ आविष्टाभिसन्धिः (आधिक्याभि····) आविष्टाभिप्रायो लोभावेशात् । यथा मान्यखेटाव-स्थितेन केनचिच्छ्रावकेण क्षेत्रपरिमाणं कृतं दारा (धारा) लंघनं मया न कर्तव्यमिति । पश्चादुज्ज-

यिन्यामनेन भाण्डेन महान् लाभ इति तदतिक्रम्य गच्छति ।

§. ७१९

२७९. ४ तदेवोभयं—प्रहासाशिष्टवागुभयं दुष्टकायकर्मप्रयुक्तं भण्डिमाप्रदर्शककार्यव्यापारविशिष्टं । परत्र उपहसनीये प्राण्यन्तरे ।

§. ७२१

२८०. ४ क्षुदभ्यर्दितत्वात्—बुभुक्षापीडितत्वात् ।

§. ७२२

२८०. ८ द्रवो वृष्यो वाभिषवः—द्रवो रात्रिचतुःप्रहरैः क्लिन्न ओदनादिः । वृष्यं इन्द्रियबलवर्धनं माषविकारादि । दुष्पक्वस्य प्रासुकत्वात्तत्सेवने को दोषः । इति चेदुच्यते दुष्पक्वोऽक्लिन्नस्तत्सेवने चोदरपीडादिप्रादुर्भावादग्न्यादिप्रज्वालने महानसंयम इति तत्परिहारः श्रेयान् ।

§. ७२३

२८०. १३ परव्यपदेशः कथमतीचारः । इति चेदुच्यते, लोभावेशादतिथिवेलायामपि द्रव्योपायं परित्यक्तुमशक्नुवताऽन्यदातृहस्तेन दाप्यते इति ।

§. ७२८

२८२. १ विधिः प्रतिग्रहादिक्रमः ।

[1]पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदगमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीए णवविहं पुण्णं ॥
—[वसु० श्रा० २२४]

इति सप्तमोऽध्यायः ।

§. ७३२

२८४. ७ षट्कायः षड्जीवनिकायः । चत्वारो मनोयोगाः सत्यासत्योभयानुभयविकल्पात् । तथा वाग्योगाश्च । एवं काययोगा औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकार्मणभेदात् पञ्च । शुद्ध्यष्टकं शुद्धया उपलक्षितमष्टकं शुद्ध्यष्टकम् । किं पुनरष्टकमिति चेत् । मनोवाक्काय-भैक्षेर्यापथशयनासनविनयप्रतिष्ठापनलक्षणम् ।

§. ७३४

२८५. ६ जठराग्न्याशयात् जठराग्निवशात् । अहस्तः अबाहुः । मिथ्यादर्शनाद्यावेशात् मिथ्यादर्शनाद्याग्रहात् आर्द्रीकृतस्य सकषायीकृतस्य । अविभागेन एकाकारेण ।

§. ७३६

२८७. ११ अपरिणद उपशान्तकषायः । उच्छिण्णः क्षीणकषायादिः । अथवा अपरिणदो—नित्यैकान्तवादी । उच्छिण्ण–क्षणिकैकान्तवादी ।

§. ७४९

२९२. ५ सत्कर्मापेक्षया—कर्मसत्तामात्रापेक्षया । निरुत्सुकः पराङ्मुखः । शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं—शुभपरिणामनिराकृतफलदानसामर्थ्यं । सामिशुद्धस्वरसं ईषत्प्रक्षालितसामर्थ्यम् ।

§. ७५५.

२९५. ११ शरीरनिर्वृत्तिः—शरीरनिष्पत्तिः । अंगोपांगः तत्राष्टावङ्गानि ।

उक्तं च—

णलया बाहू या तहा णियंवपुट्ठी उरो य सीसं च ।
अट्ठेवदु अंगाइं सेस[2] उवंगा दु देहस्स ॥

कर्णनासिकानयनोत्तराधरोष्ठाङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि ।

न्यग्रोधो वटवृक्षः । स्वातिः वल्मीकः । हुण्डसंस्थानमविच्छिन्नावयवसंस्थानम् । असृक्पाटिका चिंचा ।

§ ७५५

२९७. ४ स्वयंकृतोद्बन्धन—उद्वेगाद् गले पाशं बद्ध्वा मरणार्थं वृक्षादावलम्बनम् । मरुत्पतनं—प्राणापातनिरोधनं गिरिपतनं च ।

---

१. वसु० श्रा०, २२४ । २. देहे सेसा उवंगाइं ।–कर्म० गो०, गा० २८ ।

§ ७५५

२९७. १० साधारणं शरीरमनन्तकायिकानाम् । तदुक्तम्—

"साहारणमाहारो[1] साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एदं ॥
गूढसिरसंधिपव्वं[2] समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं शरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥"

§ ७५९

दान·······॥१३॥

३००. १ भेदनिर्देशः—षष्ठी निर्देशः ।

§ ७६१

आदितस्तिसृणां·······॥१४॥

३००. १२ अन्येषामागमात् संप्रत्ययः । तथाहि—एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिपर्याप्तकानां यथासंख्यं प्रत्येकं त्रिगुणितसप्तविभक्त एक-पञ्चविंशति-पञ्चाशच्छतसहस्रसागरोपमाणि । तदुक्तम्—

'एइंदिय वियलिंदिय-असण्णिपज्जत्तयाण बोधव्वा ।
एगं तह पणुवीसं पंचासं तह सयसहस्सं च ॥
तिहयं सत्तविहत्तं सायरसंखा ट्ठिदी एसा ॥'

तेषां चापर्याप्तकानामियमेव स्थितिरेकेन्द्रियाणां पल्योपमासंख्येयभागोना । शेषाणां संख्येयभागोना ।

उक्तं च—

'अप्पजत्ताण पुणो थावर वियलिंदियादीणं ।
ठिदि एसा परिहीणा पल्लासंखेयसंखभागेहि ॥
अंतोकोडाकोडी सण्णी अपज्जत्तयस्स णायव्वा ।
दंसणणाणावरणे वेदे तह अंतराये य ॥'

[अन्य जीवोंके आगमसे जानना चाहिए । वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तकोंके क्रमानुसार प्रत्येकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए । कहा भी है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए ।

आशय यह है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टिके मोहनीय कर्मका उत्कृष्टबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है किन्तु एकेन्द्रिय पर्याप्तकके एक सागर प्रमाण, दोइन्द्रिय पर्याप्तकके पच्चीस सागर प्रमाण, तेइन्द्रिय पर्याप्तकके पचास सागर प्रमाण, चौइन्द्रिय पर्याप्तकके सौ सागर प्रमाण और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके एक हज़ार सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है । इसी अनुपातसे त्रैराशिक द्वारा इन जीवोंके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मका भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जाना जाता है । इन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है । अतः तीस कोड़ाकोड़ी सागरमें सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरसे भाग देकर एक, पच्चीस, पचास, सौ और एक हज़ारसे गुणा करनेपर उक्त जीवोंके इन कर्मोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण निकलता है । इन्हीं जीवोंके अपर्याप्तक अवस्थामें यही स्थिति एकेन्द्रियोंके पल्योपमके असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण तथा शेष दोइन्द्रिय आदिके पल्यके संख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर आदि प्रमाण बँधती है । कहा भी है—

अपर्याप्तक एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदिके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकी वही स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जानना चाहिए तथा संज्ञी अपर्याप्तकके अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण जानना चाहिए ।]

§ ७६३

सप्तति·······॥१५॥

३०१. ४ इतरेषां यथागमं तथाहि—

एगं पणवीसं पिय पंचासं तह सयं सहस्सं च ।
ताणं सायर संखा ठिदि एसा मोहणीयस्स ॥

अयं तु विशेषो मोहनीयस्येयं स्थितिः सप्तगुणा सप्त विभक्ता च कर्तव्या । इयमेवापर्याप्तकानां पल्योपमासंख्येयसंख्येयभागोना पूर्ववत् प्रतिपत्तव्या ।

---

१. गो० जी०, गा० १९२ । २. वही गा० १८७ ।

[मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति अन्य जीवोंके आगमके अनुसार जानना चाहिए। वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय आदि जीवोंके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर होती है। इतना विशेष है कि मोहनीयकी इस स्थितिमें सातसे गुणा और सातसे भाग देना चाहिए। अपर्याप्तक जीवोंके उक्त स्थिति पूर्ववत् पल्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जानना।]

विंशतिर्नाम······॥१६॥

§ ७६५

३०१. ८ इतरेषां यथागमम्—या पूर्वं चतसृणां कर्मप्रकृतीनां स्थितिरुक्ता सा न त्रिगुणा किन्तु द्विगुणा कर्तव्या ततो नामगोत्रयोर्भवति। शेषं पूर्ववत्।

[अर्थात् पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके नाम और गोत्र-कर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरके सात भागोंमें से दो भाग प्रमाण है। पर्याप्तक दो इन्द्रिय जीवके पच्चीस सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीवके पचास सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। पर्याप्तक चार इन्द्रिय जीवके सौ सागर-के सात भागोंमें से दो भाग है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके हजार सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। इनके जघन्य स्थिति पूर्ववत् पल्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जाननी चाहिए।]

त्रय······॥१७॥

§ ७६७

३०१. १२ शेषाणामागमतः, तथाहि—असंज्ञिनः स्थितिरायुषः पल्योपमासंख्येयभागः, तिर्यगसंज्ञी हि स्वर्गे नरके वा पल्योपमासंख्येयभागमायुर्बध्नाति। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु पूर्वकोटिप्रमाणं, पश्चाद्विदेहादावुत्पद्यन्ते।

[असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग है क्योंकि तिर्यंच असंज्ञी स्वर्ग या नरककी पल्योपमके असंख्यातवें भाग आयु का बँध करता है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव पूर्वकोटि प्रमाण आयुका बन्ध करते हैं। पीछे विदेह आदिमें उत्पन्न होते हैं।]

अपरा······॥१८॥

§ ७६९

३०२. ४ सूक्ष्मसाम्पराये इति वाक्यशेषः।

विपाकः ···॥२१॥

§ ७७४

३०३. ३ स्वमुखेन मतिज्ञानावरणं मतिज्ञानावरण-रूपेणैव। परमुखेन श्रुतज्ञानावरणरूपेणापि भुज्यते।

§ ७७५

३०३. ८ प्रसंख्यातोऽन्वर्थः। अप्रसंख्यातोऽनन्वर्थः।

स यथा······॥२२॥

§ ७७६

३०३. १० दर्शनशक्त्युपरोधो—दर्शनशक्तिप्रच्छादनता।

ततश्च ······॥२३॥

§ ७७८

३०४. २ जातिविशेषावघूर्णिते एकेन्द्रियादिजीव-विशेषैः संस्कृते। अनुभवोदयावलीस्रोतः अनुभवोदयावलीप्रवाहः।

नामप्रत्यया······॥२४॥

§ ७८०

३०६. ६ नामप्रत्ययाः कर्मकारणभूताः। यैः पुद्गलैः कर्माणि प्रारभ्यन्ते त एव कृष्यन्ते नान्ये इति। एकक्षेत्रावगाहस्थिताः—जीव संलग्ना इत्यर्थः। पञ्चरस····मधुररसे लवणरसस्यान्तर्भावात्। स्पर्श-स्याष्टविधत्वात्कथं चतुःस्पर्शास्ते, इति नाशङ्कनीयं, शीतोष्णस्पर्शादीनां विरोधिना सहभावाभावात्।

इत्यष्टमोऽध्यायः।

स गुप्ति·······॥२॥

§ ७८९

३१२. ५ शीर्षोपहारो—मस्तकेन पूजा।

उत्तम·······॥६॥

§ ७९७

३१४. ३ मार्गणार्थं अन्वेषणार्थम्। धर्मोपबृंहणार्थं धर्मोपचयार्थम्।

अनित्य·······॥७॥

§ ७९९

३१५. १० समुदितं समुत्पन्नम्। अभिष्वंगाभावात् अनुबन्धाभावात्। विनिपातो दुःखम्।

§ ८००

३१५. १५ व्यसनोपनिपाते दुःखोपनिपाते।

§ ८०१

३१६. १२ निर्वेदो वैराग्यम्।

§ ८०६

३१८. ४ क्रमस्रुतजलाभिप्लवे—क्रमप्रविष्टजलेन नावो निमज्जते।

§ ८०८

३१८. १ बहुमध्यप्रदेशे अतिशयेन मध्यप्रदेशः।

§ ८०९

३१९. २ सरीसृपः करकेन्दुकः। दुरासदो दुष्प्रापः।

§ ८१०

३१९. १३ नियताऽवश्यंभाविनी।

मार्गा·······॥८॥

§ ८१३

३२०. ६ तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन—जिनोपदिष्ट-मार्गानुशीलसंबन्धेन।

क्षुत्पिपासा·······॥९॥

§ ८१६

३२१. ४ आसनं उपवेशस्थापनम्। आवसथो गृहम्। महर्द्धि महिमानम्।

§ ८१९

३२२. २ पुत्तिका मधुमक्षिका।

§ ८२०

३२२. ५ जातरूपवत् जातिसुवर्णवत्। कुणपं मृतकम्।

§ ८२२

३२२. १३ स्मितं—ईषद्हसितम्।

§ ८२३

३२३. १ अनूषितं सेवितम्। संयमायतनं यतिः।

§ ८२४

३२३. ८ चतुर्विधोपसर्ग देवमानवतिर्यगचेतन-कृतोपसर्गभेदात्।

§ ८२५

३२३. ११ व्यपगतासुवत् मृतकवत्।

§ ८२६

३२४. १ मिथ्यादर्शनोद्दृप्तः मिथ्यादर्शनोद्धतः।

§ ८२७

३२४. ५ विशसनं शस्त्रम्।

§ ८२८

३२४. ९ निस्सारीकृतमूर्तेः कृशतरशरीरस्य।

§ ८२९

३२४. १३ वाचंयमस्य मौनिनः। तत्समितस्य परिमितभाषिणः।

§ ८३०

३२५. ५ विरुद्धाहारस्य सकृदुपभोगः सेवा, पुनः पुनरुपभोग आसेवा पथ्यापथ्याहारसेवनं वैषम्यम्।

§ ८३२

३२५. १२ सक्तो—लग्नः। सिध्म—दुर्भित्तं (?)।

§ ८३३

३२६. २ चिरोषितब्रह्मचर्यस्य चिरतपस्विनः। प्रत्यग्रपूजा झटितिपूजा।

§ ८३६

३२७. १ एवमसमादधानस्य एवमसमाहितचेतसः।

एकादश……॥११॥

§ ८४१

३२८. ९ तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया चिन्ताकार्यकर्माभावफलापेक्षया।

ज्ञानावरणे……॥१३॥

§ ८४५

३३०. ८ क्षायोपशमिकी श्रुतविषया प्रज्ञा अभ्यस्मिनवध्याद्यावरणे सति मदं जनयति।

सामायिक……॥१८॥

§ ८५४

३३३. १३ प्रमादेन कृतो योऽनर्थप्रबन्धो हिंसाद्यव्रतानुष्ठानं तस्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगागमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपणं छेदोपस्थापना। छेदेन दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्याहापनेन उपस्थापना व्रतारोपणम्।

अनशन……॥१९॥

§ ८५६

३३५. ७ एकागारादिविषयो यः संकल्पः तेन चित्तस्यावरोधो नियंत्रणम्। दुःखतितिक्षा दुःखसहनम्। सुखानभिष्वंगः सुखानुबन्धाभावः।

§ ८६२

३३७. १ उपासनमाराधनम्। दशदोषवर्जितमालोचनम्। तथाहि उपकरणादिदानेन गुरुमनुकम्प्य आलोचयति, वचनेनानुमान्य वा। यल्लोकैर्दृष्टं तदेव वा, स्थूलमेव वा, सूक्ष्ममेव वा, व्याजेन वा। यादृशस्तस्य दोषस्तादृशो ममापीति। शब्दाकुलो वा यथा गुरुर्न श्रृणोति, बहुगुरुजनस्य वा। अबुद्धस्य वा तद्दोषसेविनो वा। यास्त्वेवमालोचयतीति आलोचनादोषाः। तदुक्तम्–

[१]आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि॥

अन्नपानाद्युपकरणस्य पूर्वं परित्यक्तस्य पश्चात् कुतश्चित् कारणात् संसक्तस्य उपढौकितस्य प्राप्तस्येति यावत्। यद्विभजनं विगतसेवनं परित्याग इत्यर्थः। तदेव प्रायश्चित्तम्।

ज्ञान……॥२३॥

§ ८६४

३३८. ४ सबहुमानं—बहुपूजासहितम्।

आचार्यो……॥२४॥

§ ८६६

३३८. १२ क्लिष्टशरीरः–पीडितशरीरः। संस्त्यायः–संघातः।

उत्तम……॥२७॥

§ ८७२

३४०. १२ हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धिः—तदुक्तम्—

[२]भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत्॥

—[युक्त्यनुशा० ६०]

निदानं……॥३३॥

§ ८८४

३४३. २ तुरीयस्य—चतुर्थस्य।

१. भगवती आरा० गा० ५६२। २. युक्त्यनुशा० श्लो० ६०।

आज्ञा·······॥३६॥

§ ८९०

३४४. ९ हेतुदृष्टान्तोपरमे हेतुदृष्टान्ताभावे। गहनपदार्थश्रद्धानात्—अशेषविशेषतोऽस्मदादिबुद्धयगोचरपदार्थसंघातश्रद्धानात्। विमुखाः पराङ्मुखाः।

एकाश्रये·······॥४१॥

§ ९००

३४८. १३ प्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेन प्राप्तश्रुतज्ञानपर्यवसानेन।

वीचारो·······॥४४॥

§ ९०६

३४९. १५ द्रव्यपरमाणुं—द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वम्। भावपरमाणुं—पर्यायस्य सूक्ष्मत्वम्। अपर्याप्तबालोत्साहवत्—असमर्थबालोत्साहवत्। समूलतूलं—तत्कारणभूतसूक्ष्मलोभेन सह। निरुपलेपः—अकलङ्कः। गभस्तिः—किरणः। मेघपञ्जरवि(नि)रोधः—मेघपटलप्रच्छादनम्। घर्मरश्मिः—आदित्यः। आत्मन उपयोगातिशयस्य—व्यापारविशेषस्य। विशिष्टकरणस्य—विशिष्टानि दण्डकपाटादीनि करणानि यत्र। सामायिकसहायस्य— सामायिकं यथाख्यातचारित्रं सहायं यस्य।

पुलाक·······॥४६॥

§ ९१०

३५३. ६ अविशुद्धपुलाकसादृश्यात्—अविशुद्धतण्डुलसादृश्यात्। अविविक्तपरिवारः—असंयतपरिवारः। परिपूर्णोभयाः—परिपूर्णमूलोत्तरगुणाः। दण्डराजिवत्—दण्डरेखावत्। उद्भिद्यमानः—उत्पद्यमानः।

संयम·······॥४७॥

§ ९१२

३५४. ३ अनुयोगैः—प्रश्नैः।

§ ९१३

३५४. ७ अभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः—परिपूर्णदशपूर्वधराः अक्षरेणापि भिन्नानि न्यूनानि न भवन्तीति।

§ ९१३

३५४. ९ अष्टौ प्रवचनमातरः—पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकागमः।

§ ९१४

३५४. १० पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्—परोपरोधात्। श्रावकाद्युपकारोऽनेनेति मत्वा। अन्यतममेकं प्रतिसेवमानो—विराधयन्। रात्रिभोजनवर्जनस्य कथं विराधनेति चेत् छात्रादिकं रात्रौ भोजयन् विराधको भवति।

§ ९१४

३१४. १२ शरीरसंस्कारो—अभ्यङ्गमर्दनादिः।

§ ९१७

३५५. १ बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि। कृष्णलेश्यादित्रयं कथं तयोरिति चेदुच्यते तयोरुपकरणासक्तिसंभवादार्तध्यानं कादाचित्कं संभवति। आर्तध्यानेन च कृष्णलेश्यादित्रयं संभवतीति। कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः कापोतलेश्या ततोऽप्युक्तन्यायेन बोधव्या तस्यापि संज्वलनमात्रान्तरङ्गकषायसद्भावेन परिग्रहासक्तिमात्रसद्भावात्।

§ ९१९

३५५. ७ कषायनिमित्तानि—कषायास्तरतमभावेन भिद्यन्ते इति कषायनिमित्तानीत्युच्यन्ते। तत्र तेषु असंख्यातमानावच्छिन्नसंयमस्थानेषु मध्ये सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि—संयमस्थानानि।

इति नवमोऽध्यायः।

मोहक्षयात्·······॥१॥

§ ९२१

३५६. १२ अथाप्रवृत्तकरणमपूर्वचारित्रम्। यदि वा अथाप्रवृत्तकरणं—अथाप्रवृत्तकरणमुच्यते परिणामविशेष इत्यर्थः। कीदृशास्ते तच्छब्दवाच्या इति चेत् उच्यते—एकस्मिन्नेकस्मिन् समये एकैकजीवस्यासंख्येयलोक-

मानावच्छिन्नाः परिणामा भवन्ति । तत्राप्रमत्तादिगुणस्थाने पूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशाः परिणामास्तादृशा एव । अथानन्तरमुत्तरसमयेषु आसमन्तात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपा अथाप्रवृत्तकरणशब्दवाच्याः । अभिनवशुभाभिसंधिः—धर्म्यशुक्लध्यानाभिप्रायः । कषायाष्टकं—अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य पूर्वमेव विनष्टत्वात् मध्यमकषायाष्टकं गृह्यते । बादरकृष्टिविभागेन—स्थूलकर्मपर्यायभेदेन उपायद्वारेण फलमनुभूय निर्जीर्यमाणमुद्धरितशेषमुपहतशक्तिकं कर्म कृष्टिरित्युच्यते । घृतकृष्टिवत् । सा च द्विप्रकारा भवति बादरेतरविकल्पात् । 'बादर किट्टी सुहुमं किट्टी इत्यभिधानात् ।' अवतारितमोहनीयभारः—स्फेटितमोहनीयभारः । अप्रतर्क्यविभूतिविशेषं—अचिन्त्यविभूतिमाहात्म्यम् ।

औपशमिक ॥३॥

§ ९२५

३५९. ४ अन्यपारिणामिकभावसत्त्ववस्तुत्वामूर्तत्वादि ।

अन्यत्र ······॥४॥

§ ९२७

३६०. १ अवशेषः—अवस्थितिः ।

पूर्वप्रयोगात् ·······॥६॥

§ ९३२

३६०. १३ हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि—हेतुरूपः प्रचुरोऽपि ।

आविद्ध···· ···॥७॥

संबन्धनिरुत्सुका—संबन्धरहिता ।

क्षेत्र·······॥९॥

§ ९३७

३६२.८ प्रत्युत्पन्नः—ऋजुसूत्रः । भूतानुग्रहतन्त्रो—व्यहारः । संहरणं प्रति क्रोधादिवशाद्देशान्तरे नयनं संहरणम् । मनुष्यक्षेत्रे अर्धतृतीयद्वीपेषु । अव्यपदेशेन—विशेषव्यपदेशरहितेन सर्वसावद्यविरतोऽस्मीत्येवंरूपेण सामायिकेन, ऋजुसूत्रनयाद्यथाख्यातेनैकेन व्यवहारनयात् पञ्चभिः परिहाररहितैश्चतुर्भिर्वा सिद्धिः । स्वयमेव ज्ञानं स्वशक्तिः । ऋजुसूत्रनयादेकेन केवलज्ञानेन, व्यवहारनयात् पश्चात्कृतमतिश्रुतज्ञानद्वयेन मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयेण मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानत्रयेण वा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टयेन वा सिद्धिः । मतिश्रुतयोः पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलमुत्पाद्य सिद्धयन्तीत्येवं सर्वत्र योज्यम् । तदुक्तम्—

पच्छायडेयरसिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरयमे ।

—प्रा० सिद्धभक्ति, गा० ४ ।

अर्धचतुर्थारत्नयः । तथाहि—यः षोडशवर्षैः सप्तहस्तो भविष्यति गर्भाष्टमवर्षेऽर्धचतुर्थारत्निप्रमाणो भवति । तस्य च मुक्तिरस्ति । एवं कालादिविभागेऽपि—कालगतिलिङ्गादिभेदेऽपि । तत्र कालस्त्रिविध उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभेदात् । तत्र सर्वतः स्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः । अवसर्पिणीसिद्धा विशेषाधिकाः । अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणाः । ऋजुसूत्रनयापेक्षया त्वेकसमये सिद्धयन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । गतिं प्रति ऋजुसूत्रनयापेक्षया सिद्धिगतौ सिद्धयन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवहारनयापेक्षया पुनरनन्तरमनुष्यगतौ सिद्धयन्तीत्यल्पबहुत्वाभावः । एकान्तरगतौ त्वस्तीति तदुच्यते—सर्वतः स्तोका स्तिर्यग्योन्यन्तरगतिसिद्धाः, मनुष्ययोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः । नरकयोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः । देवयोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः । ऋजुसूत्रनयापेक्षयाऽवेदास्सिद्धयन्तीत्यल्पबहुत्वाभावः । व्यवहारनयात् सर्वतः स्तोका नपुंसकवेदसिद्धाः । स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः । तदुक्तम्—

'वीस णवुंसयवेदा थीवेदा तहय होंति चालीसं ।
अडदालं पुंवेदा समयेणेगेण ते सिद्धा ॥'

इत्येवमाद्यशेषतः प्रवचनादवगन्तव्यमिति ।

दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रशस्तिः

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननिचयश्चारित्रवीचिचय–
सिद्धान्तादि-समस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।
तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजननं तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं जातं प्रभाचन्द्रतः ॥

श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः ॥

मुनीन्दुर्नन्दितादिन्दन्निजमानन्दमन्दिरम् ।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्तिः काममामोदयज्जनम् ॥

इति तत्त्वार्थवृत्तिपदं समाप्तम् ।

ग्रन्थोऽयं वेणुपुरे (जैनमूडबिडी) निवसिता 'एन नेमिराजेन'
इत्याख्येन मया लिखितः । रक्ताक्षि सं० कार्तिक कृ० प०
सप्तम्यां तिथौ समाप्तश्चेति विरम्यते
समाप्तः ।

परिशिष्ट ३

तत्त्वार्थवृत्तिपदे उद्धृतपद्यानुक्रमणी

परिशिष्ट ४

उद्धृत वाक्य-सूची

[सर्वार्थसिद्धिमें हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे जो गाथा, श्लोक या वाक्य उद्धृत मिलते हैं वे किन ग्रन्थों के हैं या किन ग्रन्थोंके अंग बन गये हैं यहाँ उन ग्रन्थोंके नाम निर्देशके साथ यह सूची दी जा रही है ।]

परिशिष्ट ५

शब्दानुक्रमणिका

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors :

Dr. H. L. Jain, Jabalpur : Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions, etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the Mahādhavalā :

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. Diwakar and Vols. II to VII by Pt. Phoolachandra. Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350; Vol. II : pp. 4 + 40 + 440; Vol. III : pp. 10 + 496; Vol. IV : pp. 16 + 428; Vol. V : pp. 4 + 460 ; Vol. VI : pp. 22 + 370 ; Vol. VII : pp. 8 + 320. First edition 1947 to 1958. Vol. I Second edition 1966. Price Rs. 15/- for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. Modi. Prākrit Grantha No. 2. Third edition. Crown pp. 48. Third edition 1964. Price Rs. 1/50.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Critically edited by Pt. Rajkumar Jain with a Hindī Introduction, Translation, etc. Sanskrit Grantha No. 1. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Second edition 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor, etc. Edited with a Hindī Introduction, etc. by Pt. K. Bhujabali Shastri. Sanskrit Grantha No. 2, Super Royal pp. 32 + 324. First edition 1948. Price Rs. 13/-.

Tattvārtha-vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (c. 16th century Vikrama Saṁvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp. 108 + 548. First edition 1949. Price Rs. 16/-. (out of print)

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. First edition 1949. Price Rs. 3/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c. 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices, etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66 + 468. First edition 1949 and 1954. Price Rs. 18/- each.

Kevalajñāna-Praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology, etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes, etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 7. Second edition 1969. Price Rs. 5/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (c. 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c. 15th century A. D.). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16 + 140. First edition 1950. Price Rs. 4/50.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the

all- important topic of the Self. English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10 + 162 + 244. Second edition 1971. Price Rs. 15/-.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Pāli Grantha No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16 + 384. First edition 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or Thirukkural :

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Nonviolence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by PROF. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Tamil Series No. 1. Demy pp. 8 + 36 + 440. First edition 1951. Price Rs. 12/-. (out of print)

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jaina lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index, etc. by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal : Vol. I : pp. 8 + 68 + 746, Vol. II : pp. 8 + 556; Vol III : pp. 24 + 708; Second edition 1963-68. Price Rs. 20/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by PT. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Prākrit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. First edition 1952. Price Rs. 6/-.

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 430; Vol. II : pp. 18 + 436. First edition 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by PT. HIRALAL a number of texts of the type of

Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara, etc. There are some useful Indices. Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. First edition 1954. Price Rs. 6/-.

Purāṇasāra-Saṃgraha :

This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by Dr. G. C. JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I : pp. 20 + 198; Part II : pp. 16 + 206. First edition 1954 and 1955. Price Rs. 5/- each. (out of print)

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by PT. PHOOLCHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116 + 506, Second edition 1971, Price Rs. 18/-.

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀṀSAKA and some useful Indices at the end. Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56 + 506. First edition 1956. Price Rs. 18/-.

Vratatithinirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80 + 200. First edition 1956. Price Rs. 5/-.

Pauma-cariu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text with Hindī Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 5 Volumes. Apabhraṁśa Grantha. Nos. 1, 2, 3, 8 & 9. Crown Vol. I : pp. 28 + 333; Vol. II : pp. 12 + 377; Vol. III : pp. 6 + 253, Vol. IV : pp. 12 + 342, Vol. V : pp. 18 + 354. First edition 1957 to 1970. Price Rs. 5/- for each vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited

by PT. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by PROF. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4 + 24 + 20 + 344. First edition 1958. Price Rs. 15/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by PT. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44 + 548; Vol. II : pp. 16 + 460; Vol. III : pp. 16 + 472. First edition 1958-1959. Price Vol. I Rs. 16/-, Vol. II Rs. 16/-, Vol. III Rs. 13/-.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 174 + 370 ; Vol II : pp. 8 + 808. First edition 1959. Price Rs. 20/- and Rs. 16/-.

Bhadrabāhu Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents, etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by PT. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72 + 416. First edition 1959. Price Rs. 14/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra, etc. The Text is edited with a Sanskrit Commentary, Prākrit Vṛtti by PT. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 60 + 804. First edition 1960. Price Rs. 21/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by PROF. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned

Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88 + 90. First edition 1962. Price Rs. 8/-.

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp. 12 + 16 + 812 + 160. First edition 1962. Price Rs. 25/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by PT. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Ṭīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32 + 160. First edition 1964. Price Rs. 8/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindī Translation, Introduction and Appendices, etc. by Pt. KAILASHCHANDAR SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539. First edition 1964. Price Rs. 16/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. CH. CHHABRA, Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARNARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. First edition 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā :

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānanda critically edited for the first time by Dr. GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. First edition 1964. Price Rs. 5/-.

Karakaṇḍa-cariu :

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindī & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices, etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No 4. Super Royal pp. 64 + 278. 1964. Price Rs. 15/-.

Sugandha-daśamī-kathā :

This edition contains Sugandha-daśamī-kathā in five languages, viz. Apabhraṁśa, Sanskrit, Gujarātī, Marāṭhī and Hindī, critically edited by Dr. HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No. 6. Super Royal pp. 20 + 26 + 100 + 16 and 48 Plates. First edition 1966. Price Rs. 11/-.

Kalyāṇakalpadruma :

It is a Stotra in twenty five Sanskrit verses Edited with Hindī Bhāṣya and Prastāvanā, etc. by Pt JUGALKISHORE MUKHTAR. Sanskrit Grantha No. 32. Crown pp. 76. First edition 1967. Price Rs. 1/50.

Jambū sāmi cariu :

This Apabhraṁśa text of Vīra Kavi deals with the life story of Jambū Svāmi a historical Jaina Ācārya who passed in 463 A. D. The text is critically edited by Dr. VIMAL PRAKASH JAIN with Hindī translation, exhaustive introduction and indices, etc. Apabhraṁśa Grantha No. 7. Super Royal pp. 16 + 152 + 402. First edition 1968. Price Rs. 15/-.

Gadyacintāmaṇi :

This is an elaborate prose romance by Vādībha Singh Sūri, written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. The Sanskrit text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation, Prastāvanā and indices, etc. Sanskrit Grantha No. 31. Super Royal pp. 8 + 40 + 258. First edition 1968. Price Rs. 12/-.

Yogasāra Prābhṛta :

A Sanskrit text of Amitagati Ācārya dealing with Jaina Yoga vidyā. Critically edited by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR with Hindī Bhāṣya, Prastāvanā, etc. Sanskrit Grantha No. 33. Super Royal pp. 44 + 236. First edition 1968. Price Rs. 8/-.

Karma-Prakṛti

It is a small Sanskrit text by Abhayacandra Siddhāntacakravartī dealing with the Karma doctrine. Edited with Hindī translation, etc. by Dr. GOKUL CHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 34. Crown pp. 92. First edition 1968. Price Rs. 2/-.

Dvisaṁdhāna Mahākāvya

The Dvisaṁdhāna Mahākāvya also called Rāghava-Pāṇḍavīya of Dhanaṁjaya is perhaps one of the oldest if not the only oldest available Dvisaṁdhāna Kāvya. Edited with Sanskrit commentary of Nemicandra and Hindī translation by Prof. KHUSHALCHANDRA GORAWALA. There is a learned General Editorial by Dr. H. L. Jain and Dr. A. N. Upadhye. Sanskrit Grantha No. 35. Super Royal pp. 32 + 404, First edition 1970. Price Rs. 15/-.

Saddarśanasamuccaya

The earliest known compendium giving authentic details about six Darśanas, i.e. six systems of Indian Philosophy by Ācārya Haribhadra Sūri. Edited with the

commentaries of Guṇaratna Sūri and Somatilaka and with Hindī translation, Appendices, etc. by Pt. Dr. MAHENDRA KUMAR JAINA NYĀYĀCARYA. There is a Hindī Introduction by Pt. D. D. MALVANIA. Sanskrit Grantha No. 36. Super Royal pp. 22 + 536. First edition 1970. Price Rs 22/-.

Śākaṭāyana Vyākaraṇa with Amoghavṛtti.

An authentic Sanskrit Grammar with exhaustive auto-commentary. Edited by PT. ŚAMBHU NĀTHA TRIPĀTHI. There is a learned English Introduction by PROF. Dr. R. BIRWE of Germany, and some very useful Indices, etc. Sanskrit Grantha No. 37. Super Royal pp. 14 + 127 + 488. First edition 1971. Price Rs. 32/-.

Jainendra-Siddhānta Kośa

It is an Encyclopaedic work of Jaina technical terms and a source book of topics drawn from a large number of Jaina Texts. Extracts from the basic sources and their translations in Hindī with necessary references are given. Some Twenty-one thousand subjects are delt in four vols. Compiled and edited by Śrī Jinendra Varṇī. Two volumes are published and as Sanskrit Grantha No. 38 and 40. Super Royal pp. Vol. I pp. 516, Vol. II pp. 642. First edition 1970-71. Price Vol. I Rs. 50/-, Vol. II Rs. 55/-. Advance Price for full set Rs. 150/-.

Dharmaśarmābhyudaya

This is a Sanskrit Mahākāvya of very high standard by Mahākavi Haricandra. Edited with Sanskrit commentary, Hindī translation, Introduction and Appendices, etc. by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha No. 39. Super Royal pp. 30 + 397. First edtion 1971. Price Rs. 20/-.

Nayacakra (Dravyasvabhāvaprakāśaka)

This is a Prakrit text by Śrī Māilla Dhavala dealing with the Jaina Theory of Naya covering all the other topic delt in the Ālāpapaddhati. Edited with Hindī translation and useful indices, etc. by PT. KAILASH CHANDR SHASTRI. In this edition Ālāpapaddhati of Devasena and Nayavivaraṇa from Tattvārthavārtika are also included with Hindī translations. Prakrit Grantha No. 12. Super Royal pp. 50 + 276. First edition 1971. Price Rs. 15/-.

Dakṣiṇa Bhārata Men Jaina Dharma

A study in the South Indian Jainism by PT. KAILASH CHANDRA SHASTRI. Hindī Grantha No. 12. Demy pp. 209. First edition 1967. Price Rs. 7/-.

Sanskrit Kāvya ke Vikāsa men Jaina Kaviyon kā Yogadāna

A study of the contribution of Jaina Poets to the Development of Sanskrit Kāvya literature by Dr. NEMI CHANDRA SHASTRI. Hindī Grantha No. 14. Demy pp. 32 + 684. First edition 1971. Price Rs. 30/-.

For Copies Please write to :

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA,
3620/21, Netaji Subhash Marg, Dariyaganj, Delhi-6